भारतीय आर्थिक विकास की नयी प्रवृत्तियां

संपादक

जगन्नाथ मिश्र

अध्यक्ष-सह-महानिदेशक
ललित नारायण मिश्र आर्थिक तथा सामाजिक
परिवर्तन संस्थान, पटना
एवं
भूतपूर्व मुख्य मंत्री, बिहार



विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा० लि०

विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा० लि०
रजिस्टर्ड ऑफिस 5 अंसारी रोड, नई दिल्ली-110002
हैड ऑ० विकास हाउस, 20/4 इण्डस्ट्रियल एरिया, साहिबाबाद-201010
जिला गाजियाबाद, उ० प्र० (भारत)

BHARATIYA ARTHIK VIKAS KI NAI PRAVRITTIAN
(Economics) Edited by Jagannath Mishra

भारतीय आर्थिक विकास की नयी प्रवृत्तियां

BY THE SAME AUTHOR

India's Economic Development
New Dimensions of Federal Finance in India

संपादकीय

विश्वस्तरीय आधुनिक आर्थिक प्रक्रिया में सन् 1850 एक महान् विभाजक रेखा है। यह सत्य है कि 1760 1830 की औद्योगिक क्रान्ति के द्वारा ब्रिटेन ने इस प्रक्रिया की प्रथम मशाल जलायी। किन्तु इस मशाल को व्यापक होने का अवसर इसके दो तीन दशक बाद ही मिल सका। श्रीमती नोएल्स का यह कथन कि उन्नीसवीं शताब्दी की ऐतिहासिक आर्थिक प्रगति फ्रांसीसी विचारधारा एवं ब्रिटिश तकनीक की सामूहिक देन है सर्वथा सत्य है। 1789 की फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति ने विश्व के अन्य भूभागों में व्यापक स्वतंत्रता तथा सामाजिक जागरण का मंत्र फूंका और ब्रिटिश तकनीक ने उत्पादन की अपार सम्भावनाओं का मार्ग प्रशस्त किया। आरम्भ में ब्रिटिश तकनीक का अनुकरण कर और बाद में स्वयं अपनी तकनीकों का विकास कर एक एक करके और साथ साथ अमेरिका फ्रांस जर्मनी जापान इटली आदि देश विकास मार्ग में आगे बढ़े। विकास की यह प्रक्रिया 1850 के आसपास आरम्भ हुई और यह क्रम द्वितीय विश्व युद्ध तक, या कहिये व्यापक विश्वमंदी तक चलता रहा। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि 1850 1937 की अवधि विश्वव्यापी आर्थिक विकास प्रक्रिया का प्रथम चरण थी, जिसके दौरान दुनिया में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। प्रथम और अठारहवीं शताब्दी के बीच की सम्पूर्ण अवधि में जितना उत्पादन बढ़ा उससे कहीं अधिक अकेली उन्नीसवीं शताब्दी में बढ़ा। श्रीमती ह० ए० जी० राबिन्सन का अनुमान है कि इस अवधि यानी 1850 1937 में विश्व की वास्तविक आय में समग्र रूप से 25 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

इस प्रगति ने विश्व के आर्थिक मानचित्र में महान् परिवर्तन ला दिया। उन्नीसवीं शताब्दी से पहले पूर्व और सुदूर पूर्व तथा मध्य के देश धन धान्य से पूर्ण थे। किन्तु अब पासा पलटा। आधुनिक स्तर पर उत्तर अमेरिका तथा पश्चिमी यूरोप के देशों की उपलब्धियां बढ़ीं और पूर्वी एवं मध्य यूरोप तथा सुदूर पूर्व के देशों की उपलब्धियां लगभग उतनी ही घटीं—मोटे रूप से लगभग 23 प्रतिशत के बराबर। आधुनिक विकास प्रक्रिया के दौरान विश्व के आय वितरण में जो व्यापक परिवर्तन आया या जो असन्तुलन आया उसमें सुदूर पूर्व के देशों ने अधिकतम खोया। इस ह्रास का अनुमान आर्थिक इतिहासकार 20 प्रतिशत पर रखते हैं। और इसमें अधिकतम ह्रास आया भारत में। जो भारत अब तक कार्ल मार्क्स के शब्दों में विश्व का कारखाना था और इटालियन इतिहासकार प्लीनी के शब्दों में विश्व का स्वर्ण भंडार था वह अब अन्य राष्ट्रों तथा साम्राज्यों का उत्सोप (ड्राअर्स आफ वाटर एण्ड हिवर्स आफ वुड) रह गया। विकास प्रक्रिया इस दौरान आज के तथाकथित विकसित देशों के बीच ही सीमित

रही, अन्य भू भागों का विकास अवरुद्ध रहा, और विकसित देशों के विकास प्रयत्नों को बलशाली बनाने हेतु उनका अनवरत शोषण होता रहा।

इस अवरोध एव शोषण का प्रमुख कारण यह था कि ये देश उपनिवेश थे। उनमे अपनी राष्ट्रीय सरकारो का अभाव था। इगलैंड को छोड कर विश्व विकास के इस प्रथम चरण मे आर्थिक प्रगति का पल्लवन एव पोषण उन्ही देशो म होता रहा जो स्वतत्र थे, और जिनकी सरकारो ने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष उपायो द्वारा इस प्रगति को सबल बनाया। पूर्व-दक्षिणी एशियायी देश, मध्य पूर्व, लैटिन अमरिका, तथा अफ्रीका के देश इस विकास प्रवाह मे मुख्यतया इसलिए पिछड गये कि इनकी अपनी स्वतत्र राष्ट्रीय सरकारें नही थी। भारत इसका सटीक उदाहरण है। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल (1850-1900) को समस्त विश्व का विकासारम्भ काल कहा जा सकता है। इस बीच अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कुछ ऐसी विशिष्ट परिस्थितया का सृजन हुआ, जिनका लाभ उठाकर स्वतत्र राष्ट्रो ने विकास-यज्ञ का आरम्भ किया और उसका सतत पोषण किया, प्रगति प्रक्रिया की जडें मजबूत की। भारत इन परिस्थितियो का लाभ इसलिये नही उठा सका क्योकि यह गुलाम था। इसलिए 1850-1900 की अवधि को हम भारत के लिय खोये अवसरो की अवधि कह सकते हैं। तत्कालीन सभी उपनिवेशो की भी यही अवस्था थी। उन सबके बीच खोये अवसरो की यह कसक बनी रही। पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित जिस बुद्धिजीवी वर्ग का उदय हुआ, वह राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर आर्थिक शोषण एव प्रगति अवरोधन को प्रकाश म लाने लगा। थोडे-बहुत अन्तरो के साथ सभी उपनिवेशो मे राष्ट्रीय स्वतत्रता की प्राप्ति का महान उद्देश्य महत्त्व अर्जन करने लगा। भारत मे स्वर्गीय श्री दादाभाई नौरोजी, श्री रमेशचन्द्र दत्त, श्री महादेव गोविन्द रानाडे, श्री मदनमोहन मालवीय, औद्योगिक आयोग 1916, वी० के० आर० वी० राव के राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अध्ययन और अन्तत प० सुन्दरलाल का भारत मे अग्रेजी राज्य तथा प० जवाहरलाल नेहरु, विशेषकर डिस्कवरी आफ इन्डिया की विचारधाराओ ने समस्त देश मे उस भावना का प्रसार किया, जिसका मूल उद्देश्य स्वतत्रता-प्राप्ति था, ताकि हम अपना भाग्य निर्माण स्वय कर सकें, प्रगति-परम्परा का जनन और और सवर्धन हो सके। "स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है," और "स्वराज्य सर्वथा सुराज से श्रेयस्कर है": ऐसी भावनाएं देश मे व्याप्त हो गयीं। भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने इसे कारगर मार्गदर्शन दिया, स्वर्गीय महात्मा गाधी ने इसे सफल नेतृत्व दिया, तथा सोवियत रूस के आयोजित विकास प्रयत्नो ने इसे विश्वास दिया। भारत स्वतत्रता-प्राप्ति के लिये आकुल हो उठा, मुख्यतया इसलिए कि स्वय अपनी सरकार के सक्रिय प्रयत्न से शोषण का अन्त हो, विकास-परिपाटी का पोषण हो।

अविकल सादृश्य की बात अतिशयोक्ति होगी। किन्तु इतना निर्विवाद कहा जा सकता है कि विश्वव्यापी आर्थिक विकास के आरम्भकाल मे जो भूमिका प्राक्सिमो विचारधारा ने आज के विकसित देशो मे अदा की है लगभग वैसी ही भूमिका राष्ट्रीय स्वतत्रता प्राप्ति की विचारधारा ने अविकसित एव शोषित उपनिवेशों मे निभायी थी।

सुसंयोगवश द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति ने विश्व में स्वतन्त्रता के विशाल द्वार खोल दिये, लगभग ठीक उसी प्रकार जैसे नैपोलियन-युद्ध ने पश्चिमी देशों में विकास-प्रक्रिया के आगमन के मार्ग प्रशस्त किये। एक के बाद दीगर उपनिवेश स्वतन्त्र होते गये सभी में अपनी राष्ट्रीय सरकारें बनीं, और लगभग सब जगह आयोजित विकास के क्रम आरम्भ हुए। भारत ने इस क्रम में अग्रणी भूमिका निभायी। जनसंख्या-बहुल राष्ट्र भारत ने विकास की गणतन्त्रात्मक पद्धति में विश्वास किया है, जो भले ही अल्पकाल में धीमी हो, किन्तु दीर्घकालीन सम्भावनाओं से परिपूर्ण है, सामाजिक कष्टों से अधिकांशतया अछूती है।

यह अकेला राष्ट्र है जो इस बीच अनवरत रूप से गणतन्त्र रहा है, और जिसके पास प्रशासन एवं प्रबन्धन की ठोस परंपरा है। यह एक महाद्वीपीय राष्ट्र है—अनेकानेक भौगोलिक, सांस्कृतिक, अतर्कणीय विभिन्नताओं से भरपूर, सामाजिक, संस्थागत रूढ़ियों का शिकार, तथा धार्मिक एवं परम्परागत अंधविश्वासों से आक्रान्त। ये समस्याएं विकसित देशों की आरंभिक अवधि में नहीं थीं। भारत में इनकी विद्यमानता विकासकार्य को दुरूह बनाती हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्रोफेसर टॉयनबी के शब्दों में, आयोजित विकास की गणतन्त्रात्मक पद्धति अपनाकर भारत ने आधुनिकीकरण का कठिनतम मार्ग अपनाया है।

स्वभावतः ही, भारत के विकास प्रयत्नों पर समस्त विश्व की आंखें आकर्षित हैं। अपने पिछले लगभग तैंतीस वर्षों के आयोजित विकास के दौरान देश की उपलब्धियां-अनुपलब्धियां तथा समस्याओं एवं सम्भावनाओं का निष्पक्ष मूल्यांकन समीचीन होगा। और राष्ट्र के अन्तिम उद्देश्य तथा लक्ष्यों की पृष्ठभूमि में ही यह मूल्यांकन उचित होगा। हमारे आयोजित विकास का परम उद्देश्य ऐसे समाज का सृजन है, और ऐसी विकास प्रक्रिया का परिपोषण है जिसमें प्रत्येक नागरिक को अपनी योग्यताओं के अनुकूल आगे बढ़ने के सुअवसर मिलते रहें, आर्थिक केन्द्रीयकरण पर नियंत्रण हो, सामाजिक न्याय की प्राप्ति हो, उत्पादन वृद्धि की प्रवृत्तियां सबल हों, आत्मनिर्भरता वृद्धिशील रहे, और देश सदैव आधुनिकीकरण की डगें भरता रहे। ऐसे समाज-सृजन तथा प्रक्रिया-सम्पोषण में राष्ट्र ने जिन प्रमुख लक्ष्यों पर बल दिया है, वे हैं क्रमशः उत्पादन-वृद्धि, आधुनिकीकरण, आत्मनिर्भरता, तथा सामाजिक न्याय।

लगभग सभी क्षेत्रों में हमारी प्रगति यदि श्लाघनीय नहीं तो सराहनीय अवश्य रही है। योजनाकाल के प्रथम तीन दशकों के अन्दर देश ने स्थिरावस्था को पार किया उन्नयन-अवस्था (टेकाफ) को प्राप्त किया, और आज हम औद्योगिक क्रान्ति के द्वितीय चरणों में हैं। इस दौरान हमारी राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति आय, कृषि उत्पादन, औद्योगिक उत्पादन, तथा प्रति व्यक्ति उपभोग में क्रमशः 3 4, 1 2, 2 7, 7 0 तथा 1 1 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि हुई। छठी योजना के दौरान तो सकल राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में क्रमशः 5 4 तथा 3 1 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि प्राप्ति का अनुमान था। हमारा खाद्यान्न उत्पादन जो योजनारम्भ काल यानी

1950-51 में मात्र 51 8 मिलियन टन था, 1983-84 में लगभग तीन गुना यानी 150 मिलियन टन पर पहुच गया। औद्योगिक उत्पादन इस बीच लगभग पाच गुना बढ़ा है।

इस बीच राष्ट्र ने आधुनिकीकरण की लम्बी डगें भरी हैं। कुछ सामान्य सूचकों के सहारे इसे स्पष्ट किया जा सकता है। कृषि, उद्योग और आनुषगिक क्षेत्रों के पारस्परिक सम्बन्ध योगदान तथा ढाचा में व्यापक परिवर्तन आया है। राष्ट्रीय आय में कृषि का योगदान जो योजनारम्भ काल में 59 प्रतिशत था, घट कर आज लगभग 42 प्रतिशत पर आ गया है। साथ ही द्वितीयक उद्योगों (उद्योग खनन निर्माण आदि) का योगदान 18 8 प्रतिशत से बढ़कर 30 8 प्रतिशत आ गया। स्वय औद्योगिक अंचल में व्यापक ढाचात्मक परिवर्तन आया है। हमारी औद्योगिक व्यवस्था काफी विस्तृत, गहन एव बहुविधीकृत हुई है। खाद्यान्न तथा कपडा, पाट जैसे परम्परागत उद्योगों का औद्योगिक उत्पादन में योगदान, जो आरम्भ में लगभग 62 7 प्रतिशत था, घटकर 1983-84 में 27 प्रतिशत पर आ गया। प्रौद्योगिक, रासायनिक, तथा आधारभूत उद्योगों का योगदान जो 1956 में मात्र 21 5 प्रतिशत था, 1978 में बढ़कर 40 प्रतिशत पर आ गया। आधुनिकीकरण की यह प्रवृत्ति कृषि क्षेत्र में भी यथेष्ठ रही जो बहुचर्चित हरित-क्रान्ति की उपलब्धियों से स्पष्ट है।

यह क्रान्ति 1964-65 से 1978-79 के बीच विशेष उद्दाम रही। सदियों से जडताप्राप्त हमारी कृषि की उत्पादकता बढने लगी। पूर्वकालीन 15 वर्षीय अवधि में जहा हमारी अखाद्य और खाद्य फसलों की प्रतिएकड उत्पादन वृद्धि की दरें क्रमश मात्र 1 0 तथा 1 3 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी, हरित-क्रान्ति के दौरान क्रमश 1.3 तथा 2.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष पर पहुच गयी। मानवीय कौशल तथा विज्ञान एव तकनीक के क्षेत्र में देश ने काफी प्रगति की। अमेरिका तथा रूस को छोडकर विश्व के किसी भी देश की तुलना में हमारे वैज्ञानिकों तथा तकनीशियनों की सख्या सर्वाधिक है। इसमें सन्देह नहीं कि आयोजित विकास के माध्यम से इन चौतीस वर्षों के अन्दर देश ने काफी विस्तृत, व्यापक गहन और ठोस रूप से औद्योगिक, तकनीकी तथा वैज्ञानिक कौशल का निर्माण किया है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया सबल एव गतिशील हुई है।

आधुनिकीकरण की प्रगति के फलस्वरूप देश लगातार आत्मनिर्भरता की ओर अग्रसर होता गया है, जो हमारी राष्ट्रीय आय की बहुविधता, विदेशी ऋण की कटौती, महत्त्वपूर्ण उत्पादकों की आयात-निर्भरता की कमी या आयात-प्रतिस्थापन प्रवृत्ति की सफलता, तथा विदेशी विनिमय की वृद्धिशील अर्जन-क्षमता से स्पष्ट है। योजनाओं के दौरान विदेशी सहायता की हमारी निर्भरता लगातार घटती गयी है। द्वितीय योजना में विदेशी सहायता का योगदान 28 1 प्रतिशत हो गया। हमारे आयातों में भी विदेशी सहायता का योगदान इस दौरान 26 1 प्रतिशत था, पर पाचवी योजना के दौरान यह 18 9 प्रतिशत से घटकर 12.8 प्रतिशत पर आ गया। कुल मिलाकर योजनाओं के फलस्वरूप हमारी आयात-निर्भरता में व्यापक कमी आयी है। उदाहरणत 1950-51

की तुलना मे 1978-79 मे हमारी आयात निर्भरता खाद्यान्न मे 5 9 प्रतिशत से घटकर 0 2 प्रतिशत, लोहा इस्पात मे 25 2 प्रतिशत से घटकर 1 1 प्रतिशत, तथा नेत्रजन खाद मे 72 2 प्रतिशत से गिरकर 27 5 प्रतिशत पर आ गयी।

जहा एक तरफ हमारी आयात-निर्भरता लगातार घटी है, देश की विदेशी विनिमय की अर्जन-क्षमता बढती गयी है। भारत की मुद्राव्यक्त निर्यात-क्षमता प्रथम योजना काल मे मात्र 1 8 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी, जो बढकर पाचवी योजना म 17 3 प्रतिशत प्रतिवर्ष पर पहुच गयी। यह ध्यान रखने की बात है कि यह प्रगति उस दौरान हुई जब हमारे मार्ग मे अनेक विश्वस्तरीय कठिनाइया थी, जिनमे 1973 से निरन्तर वृद्धिशील पैट्रोलियम की कीमतें मुख्य थी। केवल पाचवी योजना (1974-78) के दौरान इन बढती कीमतो के फलस्वरूप हमे लगभग 5,000-5,500 करोड रुपयो का घाटा उठाना पडा था, जो हमारी राष्ट्रीय आय का लगभग 1 5 प्रतिशत था। किन्तु हमने उन पर विजय पाने की कोशिश की है विशेष रूप से अपने आन्तरिक साधनों की वृद्धि पर भरोसा करके। समग्र पूजी निर्माण की राष्ट्रीय दर जो 1950-51 मे मात्र 10 2 प्रतिशत थी, आज बढकर 26 प्रतिशत है, जो विकसित देशो से तुलनीय है।

इन आर्थिक प्रगतियो के साथ हमने सामाजिक न्याय की भी प्राप्ति की है। आयोजित विकास काल के दौरान लोगो के सामान्य जीवनयापन-स्तर मे सुधार आया है। राष्ट्रीय निजी उपभोग मे इस दौरान 46 प्रतिशत की वृद्धि हुई और प्रत्याशित जीवनावधि मे 22 वर्ष की वृद्धि हुई। आरम्भिक शिक्षार्थी बच्चो का प्रतिशत जो 1951 मे 32 था, वह 1980 मे बढकर 68 पर पहुच गया। देश मे बेरोजगारी दर 8 2 प्रतिशत के आसपास है, जो अन्य विकसित देशो के वर्तमान 10-12 प्रतिशत से काफी कम है।

आयोजन काल (1950-51 से 1984-85) के पिछले 34 वर्षों की पूरी अवधि मे देश के अन्दर लगभग 1150 लाख व्यक्तियो को नये सिरे से रोजगार अवसर प्राप्त हुए हैं। सामान्यतया देश के गरीब वर्ग की अवस्था मे सुधार आया है। हालाकि इसके लिए प्रत्यक्ष आकडागत सबूतो का अभाव है, किन्तु इतना निर्विवाद है कि उनकी अवस्था मे गिरावटें नही आयी हैं। 1977-78 से 1978-79 के बीच लगभग 150 लाख व्यक्तियों को निर्धनता रेखा से ऊपर लाया गया। योजना आयोग द्वारा आकलित आकडो के आधार पर हम कह सकते हैं कि देश की गरीबी सीमा तथा वितरण विषमता मे बढोतरी नही हुई है। आर्थिक वृद्धि के साथ सामाजिक न्याय-प्राप्ति के प्रयास भारतीय विकास-कार्यक्रम की अनूठी विशेषताए हैं।

तुलनात्मक तराजू पर तौलने पर आयोजित विकास की ये उपलब्धियां हमारे विश्वास को और अधिक सबल बनाती हैं। सर्वप्रथम विकसित देशो को लीजिए। 1961-79 के बीच अमेरिका, रूस, जर्मनी जापान आदि विकसित देशो की आर्थिक विकास दर 5 3 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी पर भारत को मात्र 3.5 प्रतिशत। आलोचक कहते हैं कि भारत की यह प्रगति दर अतिन्यून है। किन्तु आलोचक यह भूल जाते हैं कि विकसित देशो की यह विकास दर जहां उनकी परिपक्वावस्था की अवधि से सम्बन्ध

रखती है, वहां भारत की यह वृद्धि दर इसके आरम्भिक काल की है, जिसे अंग्रेजी में 'टीथिंग पीरियड' कहते हैं। सही तुलना तभी होगी, जब हम दोनों की तुलनात्मक विकासावस्थाओं में उनकी प्रगतियों पर दृष्टिपात करें। विकास की जिस अवस्था में भारत 1951-79 के बीच था, उसकी समकक्ष अवधि विकसित देशों के लिए 1860-1913 की ही तुलनात्मक अवधि कही जाएगी। जहां विकसित देशों की वृद्धि-दरें इस अवधि में 2.2 से लेकर 4.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष रहीं, वहां भारत की 2.2 से 5.2 प्रतिशत के बीच रहीं। निश्चित ही भारत की प्रगति किसी अवस्था में न्यूनतर नहीं रही है। इन देशों में आरम्भिक विकास के दौरान सामाजिक उत्पादन की सीमाएं विस्तृत रहीं, किन्तु भारत इससे अछूता रहा। समग्र दृष्टि से देखने पर भारत की उपलब्धियां अधिक आकर्षक हैं।

इसी अवधि में विश्व के अन्य विकासमान देशों के साथ तुलना करने पर यह ज्ञात होगा कि अन्य विकासमान देशों की वार्षिक वृद्धि दरें 4.6 से 6.1 प्रतिशत प्रतिवर्ष के बीच रहीं। भारत की प्रगति न्यून जान पड़ती है, काफी न्यून। किन्तु यह न्यूनता मात्र धरातलीय है, केवल सांख्यिकी है। वास्तविक नहीं, क्योंकि इस बीच भारत ने वह हासिल किया जो अन्य किसी भी विकासमान देश ने नहीं किया है। इस बीच भारतीय अर्थव्यवस्था का पर्याप्त आधुनिकीकरण हुआ, कृषि उद्योग, तथा आधारभूत संरचना का यथेष्ठ गहनीकरण और बहुविधीकरण हुआ; विज्ञान तथा तकनीक का पर्याप्त विकास कर देश में मानवीय तथा भौतिक संसाधनों के यथेष्ठ प्रयोग का मार्ग प्रशस्त हुआ, आयात-निर्भरता घटी और देश ने स्वावलम्बन की लम्बी डगें भरी। इस दृष्टि से भारत अन्य विकासमान देशों से कोसों आगे है। यदि आर्थिक वृद्धि के साथ सामाजिक न्याय परिवर्धन की भी बात जोड़ी जाए, तो भारत की विकास उपलब्धियां न केवल आज के विकासमान, बल्कि विकसित देशों की तुलना में भी सराहनीय जान पड़ेंगी। विकसित देशों ने अपनी 'टेकाफ-अवस्था' सामाजिक उत्पीड़न के साथ प्राप्त की, किन्तु भारत ने सामाजिक न्याय के साथ। दूसरे इन देशों की विकास की आरम्भिक अवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां अनुकूल थीं।

राजनैतिक जागरण विशेषकर श्रमसंघवादिता का लगभग पूरा अभाव था, जनसंख्या विस्फोट का नामोनिशान नहीं था और विनियोग-पूंजी की उपलब्धि तथा विनिर्मित वस्तुओं की खपत के लिए उपनिवेशों का विस्तृत बाजार था। तात्पर्य यह कि भारत की टेकाफ प्राप्ति की अवस्था जिन कठिनाइयों से आक्रान्त रही, विकसित देश उनसे अछूते थे। अस्तु समग्र व्यावहारिक दृष्टिकोण से भारत की प्रगति निर्विवाद ही सराहनीय है।

सबसे अधिक समीचीन तुलना तो होगी स्वयं अपने से। यह सर्वविदित है कि भारतीय अर्थव्यवस्था स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व लगभग पूर्णतया स्थिर थी। इस अवधि में न तो सांख्यिकी का उतना विकास ही हुआ था, और न ही उसके लिए क्रमबद्ध आंकड़े

ही उपलब्ध है। 1868 से लेकर 1931 के बीच प्रतिव्यक्ति आय के जो आकड़े छिट-पुट मिलते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि इन करीब 60-62 वर्षों की अवधि में प्रतिव्यक्ति आय में मात्र 40 रु० की वृद्धि हो सकी। एक अनुमान तो यह है कि 1921-31 के बीच भारत की प्रतिव्यक्ति आय पूर्णकालीन 46 वर्षों की अवधि में कृषि उत्पादन, औद्योगिक उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय की वृद्धि-दरें क्रमश 0 3, 2 0 तथा 1 2 प्रतिशत थी। किन्तु आयोजन-काल की सम्बन्धित वृद्धि-दरें क्रमश 2 7 6 1 तथा 3 5 प्रतिशत प्रतिवर्ष पर पहुँची है। स्पष्ट है कि आयोजित विकास के माध्यम से देश ने पर्याप्त प्रगति की है। तीस-बत्तीस वर्षों की अवधि में ही—वह भी जब हमें इस बीच तीन युद्धों का सामना करना पड़ा—इतिहास के एक विकटतम सूखा से ग्रस्त होना पड़ा, और कई प्रतिकूल अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से समझौता करना पड़ा। हमारी जड़ अर्थ-व्यवस्था ने 'टेकऑफ' प्राप्त कर औद्योगिक क्रांति के द्वितीय चरण में प्रवेश किया। यह परम श्लाघनीय प्रगति नहीं जायेगी। यों हममें से अनेक इन उपलब्धियों का विमूल्यन करते हैं, और महान अर्थशास्त्री श्री जे० के० गैलब्रेथ के इस कथन की पुष्टि करते हैं कि भारत और चीन के निवासियों में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि जहां चीनी अपनी अनुपलब्धियों को छुपाते, और उपलब्धियों का अतिशय प्रदर्शन करते हैं, वहां भारतीय अपनी उपलब्धियों को छुपाते, और अनुपलब्धियों का प्रचार करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तिका में सम्मिलित सात लेख इन उपलब्धियों एवं अनुपलब्धियों का विशद और आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत करते हैं। नामत ये हैं स्वय अधोहस्ताक्षरी द्वारा 'भारत की आर्थिक प्रगति विश्व सन्दर्भ में' एवं 'आधुनिक कृषि एवं ग्रामीण विकास', डा० पी०सी०जोशी द्वारा 'कृषि की नयी चुनौतियां तथा औचित्य-सह विकास-सम-वयन की समस्या', डा०कामता प्रसाद द्वारा 'भारत में हरित क्रांति - एक मूल्यांकन', डा० प्रधान एच० प्रसाद द्वारा 'स्वातन्त्र्योत्तर काल में भारत का आर्थिक विकास', 'डा० एस० एम० पाटिल द्वारा 'भारत की औद्योगिक उपलब्धियां', और श्री गुप्तार, निवामन, एवं पदम सिंह (योजना-आयोग) द्वारा 'जीवन-यापन स्तर के सूचक'। ये लेख भारत की सर्वांगीण एवं क्षेत्रीय उपलब्धियों का विवरणात्मक सह-आलोचनात्मक मानचित्र उपस्थित करते हैं। साथ-साथ सबधित समस्याओं का दिग्दर्शन तथा उनके सुलझाव प्रयत्नों पर भी प्रकाश डालते हैं।

भारतीय आयोजन की उपलब्धियां अवश्य आकर्षक हैं। किन्तु कुछ अनुपलब्धियां और समस्याएं हमने अनुभव की हैं। उनसे भी मुह मोड़ना वास्तविकता को दरकिनार करना होगा। सच पूछिये तो भविष्य की दृष्टि से इन पर विशेष ध्यान देना होगा। सम्भवत सबसे बड़ी बात जो हमने अनुभव की है, वह यह है कि पश्चिमी विकास पद्धति अधि-कांश रूप से भारत जैसे विकासमान देशों के अनुकूल नहीं है।

पश्चिमी पद्धति उस अर्थव्यवस्था के लिए अधिक अनुकूल है जहां सामान्य जनता के पास एक न्यूनतम मात्रा में साधनों की उपलब्धि हो, ताकि इनके बल पर वे लोग विकास-प्रवाह में भागीदार बन सकें। थोड़े में, यह पद्धति आवश्यकता-प्रेरित है, जरूरत-

आधारित नहीं। यह बाजारीकृत अर्थव्यवस्था के लिए विशेष उपयोगी है। आरम्भ में हमारा यह विश्वास था कि इस पद्धति के अपनाने से जो 'चूनाव प्रभाव' (ट्रिकल-डाउन) पड़ेगा, उससे हमारी बेरोजगारी, निर्धनता, तथा विषमता जैसी प्रमुख समस्याओं का पर्याप्त समाधान अपने आप होता जायेगा। किन्तु हमें इस दृष्टि से काफी निराशा हुई है। अस्तु हमने यह चिंतन आरम्भ किया कि जैसे देश के लिए आर्थिक अर्थविदों ने एक नयी विकास पद्धति की आवश्यकता है। इस दृष्टि से स्वयं प्रो० [illegible] के 'विकासात्मक आयोजन में श्रीमती गांधी की देन' तथा 'षष्ठम योजना की विकास-विधि', डा० आर० लाल के 'बीस सूत्री कार्यक्रम का आर्थिक दर्शन', डा० चक्रधर सिन्हा एवं डा० जीतेन्द्र कुमार सिंह के 'भारतीय नियोजन छठवीं योजना के परिप्रेक्ष्य में' तथा डा० टी० टी० नागर के 'श्रीमती इन्दिरा गांधी और भारत का पुनर्निर्माण' नामक लेख काफी उपयोगी हैं।

पश्चिमी विकास-विधि सामान्य जनता के हाथों के साधनों की पूर्वोक्त स्थिति मानकर उनके उपयोग पर विशेष जोर देती है। किन्तु भारत जैसे आज के विकासमान देशों की विकास-विधि में प्रथम स्थान ऐसे साधनों की सुलभता पर होना चाहिए और तब उनके उपयोग पर। इस अन्तर को हमने पिछले विकास कार्यक्रम में ध्यान में न रखा था। फल यह हुआ कि व्यक्तिगत और क्षेत्रीय (विशेषतः राज्यीय) स्तर पर विकास-विषमताएं बढ़ने लगी। विशेष रूप से राज्यीय स्तरों पर इसका कुरूप देखने को मिला। अस्तु देश में राज्य-स्तरीय विषमताओं, आयोजन-रणनीतियों, विकास-विधियों आदि पर अखिल भारतीय स्तर पर मनन-चिन्तन आरम्भ हुए। विषमताओं का सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक पहलू बड़ा व्यापक एवं कष्टदायक होता है। यह प्रस्तुत पुस्तक में भी प्रतिबिम्बित है। यहां अन्तर्राज्यीय आयोजन एवं प्रगति सम्बन्धी लेखों का बाहुल्य है। इस सन्दर्भ में डा० रामनरेश लाल के 'राज्यों के योजनागत विकास के लिए वित्तीय प्रबन्धन', डा० पी० एन० मिश्र के 'अन्तर्राज्यीय योजना : क्यों और कैसे', डा० बी० कुमार के 'भारत में क्षेत्रीय आर्थिक विषमता के कुछ पहलुओं का अध्ययन', डा० के० बी० सुन्दरम् के 'भारत में क्षेत्रीय नियोजन', डा० चक्रधर सिन्हा के 'भारत में नगरीकरण की आधुनिक प्रवृत्तियां', डा० एम० आर० मलूजा के 'राज्यस्तरीय योजनाकरण में आंकड़ों की आवश्यकता', डा० के० आलम के 'क्षेत्रीय आर्थिक विकास : समस्याएं एवं विधियां', श्री वेद प्रकाश के 'बिहार की विकास-विधि', डा० आर० के० सिन्हा के 'भारत के पूर्वी राज्यों के सन्दर्भ में निर्धनता, विकास तथा राजकोषीय समानीकरण के सन्दर्भ' तथा डा० एम० एम० कमल के 'विकासशील देशों में आय वितरण', नामक लेख विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

साख, वित्त, तथा मुद्रा के उचित प्रबन्धन किसी भी विकास विधि में विशेष महत्त्व रखते हैं। ये मानवीय एवं भौतिक साधनों को क्रियाशील करते हैं, प्रयत्नानुसार प्रेरणाओं का सम्पोषण करते हैं, सम्यक् रूप से स्थायित्व के साथ विकास का अभिवर्द्धन करते हैं, और अन्ततः सामाजिक उत्पीड़न-रहित प्रगति को सम्भव करते हैं, जो भारतीय विकास का

का एक प्रमुख उद्देश्य है। इन तथ्यों की प्राप्ति तब होगी जब साख, वित्त तथा मुद्रा का सही प्रबन्धन हो। कैसे यह सही प्रबन्धन आंशिक या समग्र रूप से हासिल होगा, इस पर चिंतन मिलता है डा० चक्रधर सिन्हा के 'भारत में साख आयोजन' में, श्री एल० के० झा के 'विकास को अवरुद्ध किये बिना मुद्रास्फीति का नियन्त्रण' में, डा० अन्वेषक के 'मुद्रास्फीति परिस्थितियों में विकासशील देशों के योजनाबद्ध विकास की सम्भावनाएं' में, डा० बी० कुमार के, 'भारतीय अर्थव्यवस्था में मौद्रिक प्रसारण-प्रक्रिया पर एक वैकल्पिक दृष्टिपात' में तथा प्रोफेसर एस० के० सिन्हा के 'भारतीय अधिकोषण के नये क्षितिज' में।

भारतीय आर्थिक विकास की समीक्षा अधूरी रह जायेगी, यदि इसमें हमारे राजकीय उपक्रमों की उपलब्धियों और अनुपलब्धियों का लेखा-जोखा न लिया जाय। राजकीय उपक्रमों को अर्थव्यवस्था में समाजवादी समाज-सृजन का अग्रदूती उत्तरदायित्व सौंपा गया है। अर्थव्यवस्था में प्रगति लाने की दिशा में उन्होंने किया भी बहुत है। किन्तु यह न्यून है उनकी क्षमता की दृष्टि से, न्यून है हमारी वांछना की तुलना में, और न्यून है भविष्य की सम्भावनाओं के संदर्भ में। अस्तु राजकीय उपक्रमों की समस्याओं और उनके समाधान तथा कुशलता-वर्धन पर चिंतन सर्वथा उपयुक्त है। यह उत्तरदायित्व निभाते हैं यहां डा० राज के० निगम, डा० चक्रधर सिन्हा एवं डा० जीविनेश कुमार सिंह, तथा डा० नागेश्वर झा अपने सबंधित लेखों क्रमशः 'लोक उद्यमों के कुशल कार्य-निष्पादन हेतु क्रिया-विधि तथा प्रमुख विषय वस्तु,' 'भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र का महत्व' तथा 'हमारे सार्वजनिक क्षेत्र की रुग्णता का क्या कारण है' में।

विकास-अर्थशास्त्र स्वभावतः ही आंकड़ा-बहुल होता है। विकासोन्मुख देशों में सांख्यिकी का अपना विशेष महत्त्व होता है। आंकड़ों की समीचीनता एवं उनकी उपयोगिता, उनकी संग्रह की प्रणाली, तथा उनके चयन एवं अर्थयन बड़े आवश्यक होते हैं आयोजन में चाहे वह योजनाओं का निरूपण हो, सम्पादन हो, मानीटरिंग हो, मूल्यांकन हो, या प्रगति का निश्चयन हो। इस दृष्टि से प्रोफेसर ए० एल० नागर ने अपने लेख में काफी उपयोगी सामग्रियां उपस्थित की हैं।

पुस्तक में अन्य लेख भी हैं, और सबका संबंध है भारतीय आयोजन के किसी-न-किसी पहलू से। समग्र रूप से देखने पर यह निर्विवाद स्पष्ट होगा कि प्रत्येक विचारक-लेखक ने भारतीय आर्थिक विकास के विभिन्न पक्षों पर एक विवरणात्मक-सह-आलोचनात्मक चिंतन प्रस्तुत किया है। सबके चिंतन स्वतन्त्र हैं, और अपने विचारों तथा सुझावों के लिए प्रत्येक लेखक उत्तरदायी हैं। दृष्टिकोण सर्वथा रचनात्मक है। उन सबको मेरा हार्दिक धन्यवाद है।

भारतीय आर्थिक विकास विभिन्न नये अनुभवों से गुजर रहा है। यह सामान्य विकास-विधि के निर्धारण से लेकर विस्तृत धरातलीय लक्ष्यों के कार्यसम्पादन तक

की समस्त प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में सही है। इस पुस्तक के प्रस्तुतीकरण में इन नये अनुभवों तथा प्रवृत्तियों के निरूपण पर विशेष ध्यान इसलिए दिया गया है, कि वे समयानुकूल एवं भविष्य की हमारी विकासगत कल्पनाओं एवं आकांक्षाओं के अनुकूल हैं।

यह संग्रह सामान्य विद्यार्थियों, शिक्षकों, शोधकर्ताओं, नीति-निर्धारकों, प्रशासकों, तथा प्रबन्धकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा ऐसा मेरा विश्वास है। भारतीय आर्थिक विकास की समस्याओं के प्रति यह पुस्तक एक चिन्तन प्रवाह का भी सृजन कर सकी, तो मैं अपने लेखकों के तथा स्वयं अपने श्रम को सार्थक मानूंगा।

जगन्नाथ मिश्र

विषय-सूची

अध्याय 1

विकासात्मक आयोजन में श्रीमती गांधी की देन

जब देश-विदेश के जनमत-सूचक यह स्पष्ट करते है कि भारत की प्रधान मंत्री श्रीमती गाधी आज के विश्व राजनेताओ मे सर्वाधिक लोकप्रिय हैं, तो स्वभावत ही हमारा माथा गौरव से ऊंचा हो जाता है। किन्तु इस अद्वितीय लोकप्रियता की कसौटी मे उनके सार्वजनिक नेतृत्व के मात्र राजनैतिक पक्ष का ही बाहुल्य है। यदि इसमे उनके सार्वजनिक जीवन के मानवीय एव आर्थिक पक्ष का समावेश किया जाये तो निश्चित ही वह द्वितीय विश्व-युद्धोत्तरकालीन अवधि की उच्चतम राजनेता सिद्ध होगी। जैसा कि सभी विशिष्ट राजनेताओ के साथ सटीक उतरता आया है, श्रीमती गाधी की सार्वजनिक मानवीयता उनके आर्थिक विचारो नीतियो तथा सम्पादन-कर्मठता के रूप मे निखरती है। यत्र-तत्र बिखरे उनके इन विचारो के मन्थन एव तदाधारित नीतियो के मनन से यह ज्ञात होगा कि उन्होंने विकास चिन्तन को एक नया मोड दिया है, और विकासात्मक आयोजन को वाछनीय अनूठी देन दी है जो भारत-जैसे विकासशील देशो के लिए अत्यन्त समीचीन होने के साथ साथ सर्वथा अनिवार्य है।

मानवीय राजनेताओ के कार्यकलापो मे सदैव राजनीति के साथ आर्थिक चिन्तन का स्वर्णिम समन्वय रहता है। स्वय श्रीमती गाधी के शब्दो म

> "राजनीति के अभाव मे अर्थशास्त्र नही, और अर्थशास्त्र के अभाव मे राजनीति नही।"

आर्थिक चिन्तन के बिना राजनीति खोखली है और राजनीतिक वास्तविकताओ की विमुखता मे आर्थिक चिन्तन अधूरा है। आर्थिक नीतियो को राजनैतिक पृष्ठभूमि का आदर करना है, और व्यावहारिक राजनीति को आर्थिक परिस्थितियो से प्रेरणा लेनी है। (सम्भवत इसी कारण अर्थशास्त्र के जनक एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक का नाम 'राजनीतिक अर्थव्यवस्था' यानी 'पोलिटिकल इकॉनामी' रखा था) राजनीति एव अर्थशास्त्र के स्वर्णिम समन्वय मे विश्वास के ही कारण लेनिन महात्मा बने, 'भाईजी' ने विश्व को आधुनिक जापान देने का श्रेय लिया और अमेरिका के अब्राहम लिंकन अमर हुए। भारत मे भी यह विश्वास-परम्परा अक्षुण्ण है। निर्धन प्रताडित देश के राष्ट्रपिता महात्मा गाधी ने 'हरिजन' को हरि-जन (प्रभु प्रिय) माना, राष्ट्रनायक प० जवाहरलाल नेहरू ने 'लघु व्यक्ति' के पुनरुद्धार का आदर्श अपनाया, और उसी शृखला मे श्रीमती गाधी ने 'निर्धनता निवारण' का सकल्प लिया है।

एक दिलचस्प सहस्थिति की चर्चा अनिवार्य हो जाती है। 1968 मे मीरडाल

की पुस्तक 'एशियन ड्रामा' का प्रकाशन हुआ, जिसे 'देशों की निर्धनता के कारणों की खोज' की संज्ञा दी गयी है (विश्रुत एडम स्मिथ की विख्यात पुस्तक 'पोलिटिकल इकॉनमी' को वैकल्पिक रूप से 'देशों के वैभव के कारणों की खोज' कहा जाता है।) इसी के आसपास विश्व-बैंक की 'विचारशाला' (थिंक-टैंक) ने निर्धनता के अध्ययन एवं उसके शमन की चर्चाएं निकलीं। और उसी समय-बिन्दु की परिधि में श्रीमती गांधी ने निर्धनता-उन्मूलन का संकल्प लिया—चौथी पंचवर्षीय योजना के प्रमुख व्यापक लक्ष्य के रूप में। आर्थिक चिन्तन किसी कवि की कविता नहीं, जो 'अकस्मात' हृदय से फूट पड़े, वह मनन एवं अवगाहन का परिणाम होता है। अस्तु, यह निश्चित करना कि निर्धनता-सम्बन्धी आर्थिक चिन्तन का प्रथम ठोस श्रेय मीरडाल को है, या विश्व-बैंक की विचारशाला को है, अथवा श्रीमती गांधी को है, यदि असम्भव नहीं कहा जाय तो, परम दुरूह अवश्य है। किन्तु इतना निर्विवाद है कि इन तीनों के सम्बन्धित चिन्तन समसामयिक हैं। समयावधि की समानता है। परन्तु उससे अधिक महत्वपूर्ण है एक विभिन्नता, जो श्रीमती गांधी की विशिष्टता है। श्री मीरडाल ने निर्धनता-निवारण की प्रयास-सफलता के लिए किंचित् 'कठोर' तथा 'किंचित् कम नर्म' राज्य-सरकार (सोफ्ट स्टेट) की पूर्वकल्पना बतायी; विश्व-बैंक के अध्यक्ष श्री मैकनमारा ने अपने कार्यकाल में निर्धनता-शमन हेतु पिछड़े देशों में कुछ छिटपुट एकांगी परियोजनाओं को प्रश्रय दिया, किन्तु प्रधान मंत्री श्रीमती गांधी ने 'नर्म राज्य' के तत्वावधान में ही निर्धनता-निवारण का उद्देश्य अपनाया, व्यापक सर्वांगीण आयोजन के द्वारा उसकी प्राप्ति का बीड़ा उठाया, तथा उसकी प्रक्रिया को ठोस रूप दिया। सच ही आयोजन द्वितीय विश्व-युद्धोत्तरकालीन अवधि का लोकप्रिय नारा है। किन्तु जिस सतत-सन्दर्भ में आयोजन का व्यापक उद्देश्य मुख्यतः उत्पादन वृद्धि रहा, उसमें निर्धनता-उन्मूलन का राष्ट्रीय उद्देश्य स्वयं अपने में एक क्रान्तिकारी नवीनता है, जिसका श्रेय है प्रधान मंत्री को। विकासात्मक आयोजन को यही उनकी अनूठी देन है।

इस देन में स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू के आर्थिक आदर्शों की प्रेरणा है। आयोजन का कार्य देश में 1950 51 यानी प्रथम पंचवर्षीय योजना था। पर प्रथम पंचवर्षीय योजना अधिकांशतः पुनर्स्थापनात्मक थी, जिसमें द्वितीय विश्व-युद्ध और देश-विभाजन की बरबादियों तथा विकराल खाद्यान्न-समस्या एवं मुद्रा-स्फीति जैसी तत्कालीन कठिनाइयों के शमन के लिए विभिन्न परियोजनाओं का समावेश था। भारतीय आयोजन की विकास-विधि का स्वरूप निश्चित हुआ द्वितीय पंचवर्षीय योजना के आरंभ से और इसका निर्धारण हुआ 1954 में जब स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू ने 'सोशलिस्टिक पैटर्न ऑफ सोसाइटी' का रूप स्वीकार किया। ऐसे समाजवादी समाज की रचना में, जो हमारे आयोजन का दीर्घकालीन परम उद्देश्य है, 'लघु व्यक्ति' (स्मॉल मैन) को केन्द्रीय स्थान है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तिम प्रतिवेदन के अनुसार, 'हमारे आयोजन का उद्देश्य है सामान्य जनजीवन के जीवनयापन में सुधार, आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओं का निराकरण, तथा ऐसे समाज व वातावरण का सृजन जिसमें

'लघु व्यक्ति' को सदैव ऊपर उठने के अवसर उपलब्ध होते जाय, ताकि स्वयं ऊपर उठते हुए समस्त राष्ट्र को नित नयी ऊंचाइयां देते जाय।' लघु व्यक्ति के उत्थान में ही राष्ट्रीय उत्थान का रहस्य है। ठीक यही बात अभी हाल में नयी दिल्ली में स्कूल के विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए 21 जनवरी 1982 को श्रीमती गांधी ने दुहरायी है :

'राष्ट्र की प्रगति के लिए निर्धनों की देखभाल न्यूनतम आवश्यक है।'

आलोचक उंगली उठाते हैं कि फिर भी दूसरी योजना के आरम्भ से जो विकास-विधि हमने अपनायी उसमें भारी उद्योगों, देशव्यापी संरचनाशिराओं तथा विज्ञान एवं तकनीकी और विशाल सरकारी अंचल जैसे उन क्षेत्रों को प्राथमिकता दी गयी जो तत्काल में 'लघु व्यक्ति' के हित वर्द्धन में सहायक नहीं। जिज्ञासा जितनी ही स्वाभाविक है, उसके शमन के उत्तर भी उतने ही सरल एवं स्पष्ट हैं। प्रथमतः, जिस प्रतियोगी एवं द्वन्द्वमय अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में हम रह रहे हैं उसमें मात्र राष्ट्रीय स्थिति के लिए यह अनिवार्य है कि इन क्षेत्रों के यथेष्ट विकास और प्रसार से हम अपनी स्थिति पर्याप्त मजबूत करें। दूसरे यह विकास—इतिहास के पृष्ठों की सीख है कि रूस के अतिरिक्त किन्तु आज के विकसित इंग्लैंड, अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस और जापान जैसे सभी देशों में आर्थिक क्रान्ति का सूत्रपात एवं पोषण उनकी कार्यशालाओं (वर्कशाप) में ही हुआ, और क्रान्ति को अग्रसर करने में वहां की सरकारों का व्यापक, भले ही अप्रत्यक्ष हाथ रहा। तीसरे, हमारी उक्त विकास-विधि में प्राथमिकता-प्राप्त अंचल ऐसे हैं जो तेज और व्यापक विकास के लिए आरम्भिक आधार प्रदान करते हैं जिस आधार के बिना हम 'लघु व्यक्ति' के भी उत्थान की प्रक्रिया को टिकाऊ और शीघ्रगामी नहीं बना सकते थे—जैसे चीन के अनुभवों ने स्पष्ट कर दिया है, और जिस कारण आज इतने विलम्ब के बाद उस देश को लगभग उसी विकास-विधि को अपनाना पड़ रहा है जिसे हमने आयोजन के आरम्भ में ही अपनाया। अन्ततः, राष्ट्रीय विकास का आयोजन भी एक ही अर्थ में व्यक्तिगत या पारिवारिक विकास के समान है। साधारण अनुभव है। जब आप घर की नींव दे रहे हैं दीवालें खड़ी कर रहे हैं छतें डाल रहे हैं तो घर पूरी तरह बन जाने के पूर्व तक तो बाहर सर्दी की कड़क, गर्मी की तपिश और बरसात की बौछार बरदाश्त करनी ही पड़ेगी। जब ठोस नींव पर घर बन गया तो अन्य सभी सुविधाएं तेज रफ्तार से प्राप्त होती जायेंगी।

ठीक हमारी विकास विधि ने भी ऐसा ही किया, जिसकी बदौलत देश ने इसी अवधि में तीन युद्धों में दुश्मन के दांत खट्टे किए और आर्थिक क्षेत्र में सराहनीय प्रगति की। हमारी धरती पर हरित क्रान्ति आयी, संरचना शिराओं में विश्वसनीयता आयी, खाद्यान्न में हम स्वावलम्बी हुए, विश्व का दसवां औद्योगिक राष्ट्र बने, न्यूक्लियर क्लब के सदस्य बने, विज्ञान और तकनीकी प्रगति में दुनिया का तीसरा बड़ा राष्ट्र बने—अधिकांश रूप में आज देश आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी है। इसके फलस्वरूप आज हम इस परिस्थिति में हैं कि 'लघुतम व्यक्ति' को व्यापक रूप से लाभान्वित कर सकें।

छठी योजना के आमुख में योजना-आयोग के अध्यक्ष-रूप में प्रधान मंत्री का निम्नोद्धृत विश्वास अक्षरशः सत्य है

> "पिछले तीन दशकों के आयोजन के फलस्वरूप हम अपने देश में एक आधुनिक तथा आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था को सपोषित करने में सफल हुए हैं।...आज विश्वास के साथ हम कह सकते हैं कि बावजूद क्षेत्रीय भाषागत, सामाजिक तथा साम्प्रदायिक विभिन्नताओं के, विकास-विधि ने हमारे राष्ट्र को मजबूत बनाया है, हमारे गणतंत्र को ठोस किया है और समाजवाद का हमारा मार्ग प्रशस्त किया है। हमारा गर्व है कि आज भारत उस अवस्था में है कि विकास का प्रतिफल 'अन्तिम व्यक्ति' तक पहुंचेगा। इस अवस्था में आयोजन प्रक्रिया का महत्व और भी गुणित हो जाता है।"

हमारा यह आत्म-विश्वास कि अब विकास का प्रतिफल लघुतम व्यक्ति की पहुंच में होगा, सिर्फ इसीलिए नहीं है कि छठी योजना का सर्वोपरि उद्देश्य निर्धनता का उन्मूलन है, और इस अकेली योजना में इस मद, सामाजिक कल्याण तथा अन्य सम्बन्धित मदों के लिए उतनी राशि का प्रावधान है, जो पिछली पाचों योजनाओं की प्रासंगिक कुल राशि के लगभग बराबर है, बल्कि मूलतः इसलिए कि हम निर्धन की विकास प्रतिफल को आत्मसात करने की क्षमता-वृद्धि की तकनीक से परिचित हो चुके हैं। इसका एक मात्र श्रेय है श्रीमती गांधी को और उनके बीस-सूत्री कार्यक्रम को। यह कार्यक्रम ऊपर से देखने में तो कुछ बिन्दुओं का समूह लगता है, किन्तु इसकी मौलिक आत्मा में वह विधि (स्ट्रैटजी) कार्यशील है, जो प्रगति-फल को समाज के निर्धन और कमजोर वर्गों के पास पहुंचाने में सहायक होती है।

विकास के जितने भी सिद्धान्त हैं उनके मूल में 'केन्द्र-परिधि' की कल्पना है। विकास का आरम्भिक बिन्दु या क्षेत्र केन्द्र में एक दीप शिखा को मानते हैं, जिससे समीपस्थ या दूरस्थ परिधियों तक विकास किरणों का विकीरण होता है, परिधियों पर स्थित व्यक्ति, समुदाय या अंचल उन विकीरित विकास-किरणों का आत्मसात कर विकास क्रियाओं में रत-संलग्न होकर आगे बढ़ते जाते हैं। किन्तु मौलिक प्रश्न उठता है कि परिधियों पर स्थित व्यक्तियों के पास ऐसी आत्मसाती क्षमता है कि नहीं? यदि है, तब भी यह दूसरा प्रश्न उठता है कि विकास-किरणों के वहां तक पहुंचने के मार्ग में अवरोधक है कि नहीं? तीसरा प्रश्न भी उठ खड़ा होता है कि क्या क्षमताएं ऐसी हैं कि उन अवरोधकों को तोड़कर विकास-किरणों को आत्मसात कर सकें?

निर्धनता-निवारण के प्रयास में बीस-सूत्री कार्यक्रम की मौलिक विधि के हृदयंगम के लिए ये प्रश्न बड़े महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। अन्य विकासशील देशों की भांति भारत में भी सामान्यतः कुछ ही इने-गिने व्यक्ति हैं जिनके पास ऐसी क्षमताएं हैं, साधन हैं—चाहे वह पैतृक सम्पत्ति के रूप में हों, पूर्वप्राप्त कौशल की दोहन शक्ति के रूप में हों, अथवा कानून की आंखों में धूल डालने की ताकत के रूप में हों। एक अनुमान के अनुसार जनता में ऐसे लोगों की संख्या मात्र 1.5% पर रखी गयी है। केन्द्रीय सरकार

के वर्तमान सूचना एव प्रसारण मंत्री श्री वसन्त साठे का अनुमान है कि देश मे लगभग 2-3% ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी वार्षिक आमदनी 2500 रु० है। समाज के सीमित वर्ग मे ही क्षमताओ के केन्द्रित होने का फल यह होता है कि वे ही विकास-प्रतिफल का बड़ा भाग आत्मसात कर जाते हैं। शेष बहुत बड़ा भाग विकास-प्रवाह का दूर खड़ा बेबस मात्र दर्शक बनकर रह जाता है। 1977-78 के आंकडो के अनुसार देश की 48 13% जनता निर्धनता रेखा से नीचे है। नेशनल सैम्पुल सर्वे के विभिन्न एव उत्तरकालीन विश्लेषण इसे 50% पर रखते हैं और निर्धनता-रेखा के नीचे रहने वाली यह 50% जनता कुल राष्ट्रीय निजी उपभोग में मात्र 28% का उपभोग करती है। इन 33-34 करोड़ निर्धनों के पास विकास-किरणों की आत्मसाती क्षमता लगभग नहीं के बराबर है।

श्रीमती गांधी के निर्देशन मे कार्यशील निर्धनता-उन्मूलन की परियोजनाएँ चौथी पचवर्षीय योजना से ही कार्यशील रही हैं। अधिकांश रूप मे इसी आत्मसाती क्षमता के अभाव मे निर्धन व्यक्ति सामान्यत लाभान्वित न हो सके।

न्यूनतम आवश्यकता-कार्यक्रम, लघु एव सीमान्त किसानों के विशेष लाभ की परियोजनाए, सूखा-क्षेत्र-कार्यक्रम, पिछड़ो और प्रताडितो के लाभ की विशिष्ट योजनाओ का फायदा भी निर्धन यथेष्ट मात्रा मे न उठा सके, क्योंकि मार्ग मे अवरोधक कार्यशील रहे। इनमे प्रमुख हैं—आर्थिक शक्ति की असमानताए, देहातो मे विशेष रूप से भू-स्वामीत्व की असमानताए जहा निर्धनों की लगभग 75% संख्या रहती है। अस्तु निर्धनो तक विकास-प्रतिफल पहुचाने के लिए असमानताओ का शमन अत्यावश्यक है। देहातो मे सीमा-निर्धारण के बाद की भूमि-वितरण का महत्त्व सन्दर्भ मे विशेष हो जाता है। योजना-आयोग का कहना है कि यदि 5 एकड़ कर्षित भूमि के स्वामीत्व के बाद की कुल कर्षित भूमि का मात्र 5% भी लघु किसानो और कृषि-मजदूरो के बीच वितरण कर दी जाय, तो इन गरीब वर्गों की आय मे 20% की वृद्धि होगी। यह अनुमान उस तथ्य के समर्थन मे है कि निर्धनता-निवारण प्रक्रिया के दो अन्तर्सम्बन्धित पक्ष हैं। एक, गरीबो की आय और उपभोग मे वृद्धि का प्रावधान, और दूसरे, सम्पत्ति का पुनर्वितरण—निर्धनता-निवारण का मनोवैज्ञानिक पक्ष तो है ही। यह भी स्पष्ट है कि ऐसे पुनर्वितरण के दोहरे लाभ होंगे। प्रथमत, निर्धनो की आय बढ़ेगी, और दूसरे, विकास आत्मसात होने के मार्ग के अवरोधक दूर होंगे।

चौथी योजना मे कार्यशील निर्धनता-निवारण कार्यक्रमो के सम्पादन मे ये समस्याए स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हुई। अस्तु, श्रीमती गांधी ने 1975 मे अपना बीस-सूत्री कार्यक्रम घोषित किया। कार्यक्रम काफी लोकप्रिय रहा है, और सभी राज्यों म सम्पादित भी हुआ। विस्तृत रूप से यह सर्वज्ञात है। यहा इसकी सामान्य मुख्य विशेषताओ की चर्चा यथेष्ट होगी—निर्धनता-निवारण की नयी विधि के रूप मे। यह कार्यक्रम मौलिक आर्थिक है, निर्धनों की चिन्ता से प्राणशील है और निर्धनता-निवारण की जिस विधि का प्रतिपादन करता है उसके विशेष तत्त्व निम्नलिखित हैं।

1 निर्धनों की स्पष्ट पहचान—कार्यक्रम समाज के उन व्यक्तियों-वर्गों की पहचान करता है जिनके पास विकास की आत्मसाती क्षमता नगण्य है, जैसे बंधुआ मजदूर, भूमिहीन खेतिहर मजदूर, सीमान्त किसान, जुलाहे, हरिजन, आदिवासी एवं अनुसूचित जातियां और कबीले, ताकि इनके लिए विशेष सुविधाओं और सेवाओं का प्रावधान हो।

2 विशिष्ट सहायता कार्यक्रम—20सूत्री कार्यक्रम इन निर्धनों के लिए विशिष्ट सुविधाओं का प्रावधान करता है, जैसे बंधुआ मजदूरों का विमोचन, कृषि-मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी-प्राप्ति का प्रावधान, जुलाहों के लिए सूत-व्यवस्था, गरीबों की आवास-व्यवस्था, सस्ते कपड़े की उपलब्धि, भूमिहीन खेतिहर मजदूरों और सीमान्त किसानों के बीच अतिरिक्त भूमि का पुनर्वितरण, नवमोक्षुओं के लिए प्रशिक्षण-व्यवस्था वगैरह अर्थात् ऐसी विशिष्ट सहायताएं जो निर्धनेतर व्यक्ति नगवन कर जाय।

3 विकास के अवरोधकों का दमन—शहरी सम्पत्ति के पुनर्मूल्यांकन की, उसकी हदबन्दी, देहातों में अतिरिक्त भूमि का पुनर्वितरण आदि हैं इस कार्यक्रम के ऐसे बिन्दु, जो स्वार्थलिप्त व्यक्तियों और वर्गों की उन हरकतों पर रोक लगाते हैं जो निर्धनों के लिए निर्धारित लाभों के मार्ग में या तो रोड़ा लगाते हैं या स्वयं इन लाभों को कम या बेश मात्रा में उठा लेते हैं।

कुछ बिन्दु ऐसे हैं बीस-सूत्री कार्यक्रम के, जो प्रत्यक्षतः उपरोक्त वर्गीकरण में नहीं आते। एक है मूल्यतल नियन्त्रण, किन्तु कौन नहीं जानता कि ऊंचे मूल्य गरीबों को तबाह करते हैं और धनिकों को आबाद, साथ-साथ आय की विषमताओं को विकटतर बनाकर निर्धनता के आर्थिक और सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक कष्टों को गुणित करते हैं। मूल्यतल-नियन्त्रण वस्तुतः निर्धनों के पक्ष में अधिक है। सिंचाई-सुविधाओं का विस्तार भी ऐसा ही बिन्दु है इस कार्यक्रम का, जो निर्धनों को विशेषकर देहातों में अधिक लाभ पहुंचाता है। हाल के अनुसंधान बताते हैं कि सिंचाई-विस्तार से कृषि-गहनता बढ़ती है, जिससे भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की रोजगार-सम्भावनाएं बढ़ती हैं। विश्लेषण से ज्ञात होगा कि कार्यक्रम के अवशेष बिन्दु भी अप्रत्यक्ष रूप से निर्धनता-निवारण से सम्बन्धित हैं।

14 जनवरी 1982 को प्रधान मंत्री ने नया या, कहिए, पुनरीक्षित 20-सूत्री कार्यक्रम घोषित किया है। गुणात्मक दृष्टि से यह लगभग पहले के समान है, यद्यपि इसमें पहले की विकास-विधि को और अधिक कारगर और सघन करने पर जोर है। पहले के सभी बिन्दु इसमें समाविष्ट हैं विशेष प्राथमिकता के साथ। कुछ और बिन्दु जुड़े हैं: जैसे दालों और तेलहनों की उत्पादन-वृद्धि, जो गरीबों के प्रोटीन हैं, एकीकृत ग्रामीण विकास तथा राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम, समस्याग्रस्त गांवों के पेय जल का आयोजन, शहरी बस्तियों का सुधार, वन-रोपण-योजना का विस्तार, प्राथमिक स्वास्थ्य-सेवा विस्तार, स्त्रियों और बच्चों के कल्याण-कार्य और सामान्य प्राथमिक शिक्षा का विस्तार—ये सभी मुख्यतया निर्धनों और कमजोर वर्गों से सम्बन्धित हैं। विनियोग-

प्रक्रिया का आसानीकरण, राजकीय उद्योगों का कौशल-वर्धन, तथा परिवार-नियोजन-कार्य का सम्पोषण वगैरह सामान्य आर्थिक विकास से सम्बन्धित हैं। किन्तु निर्धनता-निवारण-कार्यक्रम से इनकी पूर्णतया दीर्घकालीन सहमति है। देश सामान्यत विकसित होगा, तो निश्चित ही प्रतिफल अधिक होंगे, और बीस-सूत्री कार्यक्रम की मौलिक विकास विधि के द्वारा यह प्रतिफल निर्धनों के पास अधिक अश मे पहुचेगा। श्रीमती गाधी ने बीस-सूत्री कार्यक्रम के माध्यम से जिस विकास विधि का निर्देश किया है उसका मुख्य उद्देश्य यही है।

विकासात्मक आयोजन को एक सर्वथा नवीन देन के रूप मे श्रीमती गाधी की इस विकास-विधि (स्ट्रैटेजी) के मानवीय पक्ष स्पष्ट हैं। यह विधि अब तक के आहत, प्रताडित उपेक्षित तथा साधनहीन निर्धनों का अधु-प्रक्षालन कर उन्हे मानवोचित जीवनचर्या प्रदान करने के उद्देश्य से प्रयत्नशील है। यह विधि उनके निजी जीवन के सर्वथा अनुकूल है। राजनैतिक पक्ष भी इसका उतना ही स्पष्ट है। भारत-जैसे गरीब देश की यह सर्वाधिक लोकप्रिय राजनैतिक सिद्ध हुई है, अर्थात् यह मूलत गरीबो की नेता है। इस विकास-विधि मे यह अपना राजनैतिक उत्तरदायित्व सफलता से निभा रही है। आर्थिक पक्ष का तत्कालीन उद्देश्य भी हस्तालम्बत है। किन्तु इस विकास-स्ट्रैटजी की दीर्घकालीन सम्भावनाओ पर विचार वाछनीय है।

श्रीमती गाधी की यह विकास-विधि मानवीय साधन मे विनियोग को प्रश्रय देती है। आर्थिक विकास के अनुभव और अनुसन्धान अब एकमत हैं कि विकास की दीर्घकालीन टिकाऊ प्रक्रिया मे भौतिक पूजी का स्थान तो महत्त्वपूर्ण है ही, किन्तु इससे भी गुणीत महत्त्व है मानवीय पूजी का। प्रोफेसर आरबर्ट की क्रान्तिकारी खोजो ने यह बताया है कि अन्य बातों के समान रहने पर मानवीय पूजी की एक अतिरिक्त इकाई से उत्पादन-वृद्धि होती है, वह उसी समान अवस्था मे भौतिक पूजी की अतिरिक्त इकाई की उत्पादन-वृद्धि से लगभग चौगुनी होती है। ये खोजें यूरोपीय देशो के विकास-विश्लेषण पर आधारित हैं। भारत के लिए सामान्यतया अधिक उपयोगी सीख रखने वाले देश जापान के विकास इतिहास के पृष्ठ यह स्पष्ट करते हैं कि अतिरिक्त उत्पादन-वृद्धि मे यदि भौतिक पूजी का हाथ 33% है, तो मानवीय पूजी का 50%। स्पष्ट है कि सामान्य विकास में मानव-साधन का योगदान अधिक होता है। फिर भारत-जैसे देशो की निर्धन जनता की उत्पादन वृद्धि सम्भावनाए वृहत हैं, क्योकि न्यून 'पड़तों' (इनपुट्स) के उपभोग से भी उनमे उत्पादन वृद्धि नियम तेज रफ्तार से काम करेगा, और न्यून व्यय पर विकास दर तेज होगी।

श्रीमती गाधी की यह विकास विधि आज की परिस्थिति मे 33-34 करोड निर्धनो को क्षमता प्रदान करने पर, और उन्हे आधुनिक बाजार मे प्रविष्ट कराकर उनकी उत्पादन क्षमताओ को क्रियात्मक रूप देने के लिए कटिबद्ध है। स्वाभाविक ही जब इतनी बडी जमात विकास स्रोत मे भागीदार होगी तो उत्पादन प्रसार होगा, बाजार विस्तार होगा, प्रच्छन्न बचतो का निखार होगा, विनियोग अवसरो का विस्तार होगा।

राष्ट्रीय प्रगति का मार्ग प्रशस्त होगा। स्वर्गीय प० नेहरू के पूर्वोद्धृत स्वप्न के अनुसार देश में उस वातावरण का सृजन होगा जिसमें 'लघु व्यक्ति' स्वयं अपनी प्रगति करेगा, और इस क्रम में राष्ट्रीय विकास प्रक्रिया में निरन्तर योगदान करता रहेगा। इसी अर्थ में प्रधान मंत्री ने बच्चों के समक्ष अपने 21 जनवरी के भाषण में कहा कि 'निर्धनों और कमजोरों की देखभाल राष्ट्र के विकास की अनिवार्य आवश्यकता है।'

अध्याय 2

बिहार : विकास के पथ पर

जब कभी देश की क्षेत्रगत आर्थिक उपलब्धियों की बात उठती है, मानो अपने-आप बिहार की तसवीर सामने आ जाती है—अपनी दर्दनाक गरीबी की कहानी लिये, पिछड़ेपन की परेशानी लिये। और यह तसवीर और भी कष्टदायक हो उठती है, जब लोगों की दृष्टि राज्य के उन प्रकृति-प्रदत्त भूमिगत, जलीय, खनिज तथा अन्य संसाधनों की ओर जाती है, जिनके उपयोग से यह राज्य एक अत्यन्त सन्तुलित कृषि-सह-औद्योगिक सह-वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था का स्वरूप धारण कर सकता है। पर पिछड़ेपन की यह तसवीर एक भ्रम भी पैदा कर देती है कि इस राज्य ने प्रगति ही नहीं की है, जो सर्वथा निर्मूल है।

विकास के सूचक

जबसे देश में आयोजित विकास का श्रीगणेश हुआ है, इस राज्य ने अपनी विभिन्न विकास-योजनाओं में कुल मिलाकर लगभग 2166 7 करोड़ रुपयों का उद्व्यय किया है, और निश्चित ही यह आगे बढ़ा है। समग्र रूप से विकास के सूचक अक्सर सकल राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की वृद्धि के रूप में देखे जाते हैं, जो बिहार के सन्दर्भ में निम्नलिखित तालिका में दिग्दर्शित है —

बिहार में सकल राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की वृद्धि

वर्ष	कुल राष्ट्रीय आय	प्रतिव्यक्ति आय
1950 51	*745 15 करोड़ रु०*	*187 रु०*
1975 76	*1476 70 ,, ,,*	*240 रु०*

1960-61 के मूल्य-स्तरों पर व्यक्त इन आंकड़ों से यह स्पष्ट है कि आयोजित विकास के प्रथम *25-26* वर्षों के भीतर बिहार की सकल राष्ट्रीय आय में लगभग 100% और प्रति व्यक्ति आय में करीब 28% की वृद्धि हुई। फलस्वरूप राज्य की सकल राष्ट्रीय आय में चक्रवृद्धि-दर से प्रति वर्ष 2 6% और प्रति व्यक्ति आय लगभग 1 1% प्रति-वर्ष की औसत वृद्धि हुई। और जब जनता तथा लोकदल की सरकारें आयीं तो समूचे देश की भांति बिहार की भी अर्थ-व्यवस्था मानो मूर्च्छावस्था में पड़ गयी, शिथिलता एवं अनिश्चितता का शिकार हो गयी, विकास-दर अत्यन्त धीमी—एकाध

वर्ष तो शून्यात्मक ही नहीं, बल्कि ऋणात्मक हो गयी। किन्तु, जब प्रधान मंत्री श्रीमती गांधी ने देश का पुनः राजनीतिक एवं आर्थिक नेतृत्व अपने हाथ में लिया, और अपवाद-स्वरूप एक-दो को छोड़कर विभिन्न राज्यों में उनके सफल नेतृत्व में हमने सरकारें बनायीं तो 1980-81 से ही अर्थ-व्यवस्था का पुनर्स्थापन आरम्भ हुआ, विकास के कदम तेज होने लगे। 1980-82 के दो वित्तीय वर्षों के भीतर देश की विकास-दर लगभग 7% प्रति वर्ष हो गयी, जो आज के विकसित देशों की विगत तुलनात्मक अवधि की विकास-दर से लगभग डेढ़-गुनी तो है ही, साथ-साथ आज के विकासमान देशों की तुलना में किसी से अच्छी है।

बिहार राज्य भी इस पुनर्स्थापनात्मक और विकासात्मक लहर से अछूता न रहा। बिहार की प्रथम से पंचम पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान प्रत्येक वर्ष का योजनागत व्यय औसतन लगभग 87 करोड़ रुपया रहा। पर वर्तमान छठी योजना के प्रथम दो वर्षों के अन्दर हमारा योजनागत व्यय औसतन लगभग 512 करोड़ रुपया रहा है। फलस्वरूप राज्य की विकास-दर जो अब तक 2.7% प्रति वर्ष रही, वह छठी योजना के प्रथम दो वर्षों के दौरान लगभग 3% प्रति वर्ष पर पहुंच गयी। हमारा खाद्यान्न उत्पादन जो 1950-51 में करीब 42 लाख टन, और 1979-80 में 71 लाख टन था, वह 1980-81 में करीब 106 लाख टन पर पहुंच गया। 1979 80 की तुलना में राज्य की रासायनिक खाद खपत में 11%, चीनी उत्पादन में 18%, बिजली उत्पादन में 13%, सिंचाई क्षमता में 7 5% राज्य की सकल घरेलू आय में 15%, तथा प्रति व्यक्ति आय में 1 5% की वृद्धि हुई।

निस्सन्देह बिहार ने आयोजन के फलस्वरूप यथास्थिति की बेड़ियां तोड़ी हैं, अपने विकासात्मक दर में गति लायी है, और विकास के पथ पर अग्रसर है। किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से यह प्रगति न्यून दीखती है—समूचे देश और कुछ अन्य राज्यों के सन्दर्भ में। अगले आंकड़ों के दर्पण में यह सापेक्ष न्यूनता साफ झलकती है।

1950-51—1975-76 की अवधि में बिहार की तुलनात्मक प्रगति

मदें	भारत	बिहार
वार्षिक सकल राष्ट्रीय वृद्धि दर	36%	26%
वार्षिक प्रति व्यक्ति आय वृद्धि दर	25%	11%

इस तरह जहां समूचे देश की विकास दर औसतन 3 6% प्रति वर्ष रही, वहां बिहार की इससे लगभग 2.8% कम। समूचे देश की कुल राष्ट्रीय आय में बिहार का योगदान आयोजन के आरम्भिक वर्ष में 8 21% था, 1975-76 में यह घटकर 67% पर आ गया। समूचे देश की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय के अनुपात के रूप में बिहार की प्रति व्यक्ति आय लगातार घटती गयी, यह अनुपात 1950-51 में 74% था, 1980-81 में गिरकर 63% पर आ गया।

आखिर ऐसा क्यों ? क्यों बिहार विकास की दौड़ में पीछे पड़ गया । जिज्ञासा स्वाभाविक तो है ही, बड़ी महत्त्वपूर्ण भी है । कुछ लोग आसान रास्ता पकड़ते हैं, और दोष मढ़ते हैं राज्य की जनता पर, सामान्य नागरिक पर, कि उनमें परिश्रम, जोखिम मोल लेने, उत्साह दिखाने और नयी तकनीकों से लाभ उठाने की अपर्याप्तता है । किन्तु जिस राज्य की जनता अतीत और निकट भूत से लेकर आज तक देश को अनेक योग्य नेता, कर्मठ प्रशासक, सफल समाज-सुधारक, मनीषी, और विद्वान् की शृंखला देती आयी है, उसे दोषी ठहराना तर्कसंगत नहीं । मैं कभी नहीं स्वीकार करता इस विचारधारा को । बिहार का औसत नागरिक उतना ही परिश्रमी, उत्साही और कर्मठ है, जितना देश का सामान्य नागरिक । इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं । क्यों बिहार के विकास-कदम उतने तेज नहीं हो सके, उसका मुख्य कारण स्वयं बिहार के नागरिक की अपनी निहित कमजोरी नहीं, बल्कि कुछ वे परिस्थितियां रही हैं, जिनका उपयोग कर हर नागरिक आगे बढ़ता है ।

इनमें प्रमुख स्थान है आयोजन के आरम्भ से आधारभूत सरचना-शिराओं, प्रति व्यक्ति विकास-व्यय, तथा केन्द्रीय एवं संस्थागत वित्तीय सहायताओं की सापेक्ष अपर्याप्तता । आधारित सरचना-शिराओं में सिंचाई, बिजली, ईंधन, शिक्षा, यातायात तथा सामाजिक उपभोग जैसी भौतिक सुविधाएं शामिल हैं, जो विकास को स्फुरण और गति देती हैं, उसे बलवती बनाती हैं, तथा विकास प्रवृत्ति को टिकाऊ करती हैं । जब योजनागत विकास का आरम्भ हुआ, तो देश के औसत के मुकाबिले में बिहार में इन सुविधाओं की बहुत कमी थी । उदाहरणतः योजनारंभ-वर्ष में कुल कृषि भूमि में सिंचित भूमि का अनुपात पंजाब, उत्तर प्रदेश, मद्रास, राजस्थान, पश्चिमी बंगाल, और समूचे देश में क्रमशः 36%, 21%, 19%, 20%, 15% और 18% था, किन्तु बिहार में केवल 14% । आबादी के प्रति 1000 व्यक्तियों पर बिजली-उत्पादन क्षमता बिहार में (आसाम और उड़ीसा को छोड़कर) सभी मुख्य राज्यों से कम यानी केवल 1 18 किलोवाट थी । प्रति व्यक्ति ईंधन-उपलब्धता जहां समूचे देश में लगभग 36 पौंड थी, वहां बिहार में यह इसका लगभग छठांश यानी 6 4 पौंड थी । 6-11 वर्ष के स्कूली बच्चों का प्रतिशत जहां समूचे देश में 43% था वहां बिहार में केवल 28% था । और आंकड़े पेश किये जा सकते हैं, इस तथ्य की सम्पुष्टि में कि बिहार नागरिक को भौतिक विकास शिराओं की भयानक अपर्याप्तता के साथ आयोजित विकास का यज्ञ आरम्भ करना पड़ा था ।

आरम्भिक अपर्याप्तताएं तो हमारे साथ थी ही, योजना-काल में भी व्यय और सहायता की दृष्टि से बिहार पिछड़ता रहा, जो इस तालिका से स्पष्ट होगा ।

बिहार और सभी राज्यों में प्रति व्यक्ति योजना-व्यय

योजनावधि	सभी राज्य	बिहार	अन्तर
प्रथम योजना	39 रु०	19 रु०	20 रु०
द्वितीय योजना	51 „	42 „	09 „
तृतीय योजना	97 „	71 „	26 „
चतुर्थ योजना	128 „	97 „	31 „
पंचम योजना	337 „	230 „	107 „
छठी योजना	886 „	576 „	310 „
औसत	256 3 रु०	172 5 रु०	84 रु०

प्रथम योजना से लेकर छठी योजना तक प्रत्येक योजना में बिहार का प्रति व्यक्ति योजनागत उद्-व्यय सभी राज्यो की अपेक्षा कम तो रही ही, प्रत्येक योजना मे यह कमी लगातार बढती गयी। जहा सभी राज्यों के प्रति व्यक्ति योजना व्यय की अपेक्षा बिहार का यह व्यय प्रथम योजना मे केवल 20 रु० कम था, वहा छठी योजना के दौरान 310 रुपये हो गया है। सभी योजनाओ को मिलाकर जहा राज्यो का औसत प्रति व्यक्ति व्यय 256 3 रु० पडता है, वहाँ बिहार मे यह इससे 30% कम यानी 172 5 रु० पडता है, और बिहार के विपक्ष मे यह व्यय औसतन 84 रु० कम पडता है। केन्द्रीय सहायता की भी यही कहानी है। 1957-77 की अवधि मे जहा सभी राज्यो को औसतन प्रतिव्यक्ति पर मिलनेवाली केन्द्रीय सहायता लगभग 10 रु० प्रति वर्ष थी, वहा बिहार मे यह इससे लगभग 40% कम यानी केवल 6 रु० पडी थी।

यह सत्य है कि केन्द्रीय सरकार ने अपने उपक्रम-निवेश कार्यक्रम मे बिहार के प्रति काफी उदारता दिखायी है। अगले आकडे इसके पोषक हैं :

भारत और बिहार मे केन्द्रीय उपक्रमों में लगी पूंजी (करोड रुपये)

वर्ष	भारत	बिहार	बिहार का प्रतिशत
1970-71	4317 5	928 8	21 5%
1979-80	18161 1	3151 7	17 4%

केन्द्रीय उपक्रमों में लगी पूजी की दृष्टि से बिहार का स्थान आयोजन काल मे सदैव प्रथम रहा है, आज भी है। परन्तु इस राज्य मे लगी ऐसी पूजी का प्रतिशत समय के साथ घटता गया है। 1970-71 मे यह 21 5% था जो 1979-80 मे घटकर 17 4% पर आ गया। साथ ही इन उपक्रमों का विशेष फायदा यहा के निवासियो को न हो सका। यह ध्यान देने की बात है कि ये उपक्रम आरम्भ मे मुख्यतया देहाती क्षेत्रों विशेषकर छोटानागपुर के पिछडे इलाको मे खुले। फिर भी राज्य की कुल निर्धन आबादी मे ग्रामीण गरीबो का अनुपात बढता गया। यह प्रतिशत 1960-61 मे 49 9%

था, जो 1973-74 मे बढकर 85 4% हो गया। समूचे देश मे इन दोनो वर्षों के सम्बन्धित प्रतिशत क्रमश 42 3% और 47 6% थे।

दीर्घलक्ष्यी योजना : छठी योजना

योजनारम्भ काल की सापेक्ष कमजोरियो, योजनाकाल की सापेक्ष न्यूनताओं तथा वर्तमान की गरीबी, बेरोजगारी तथा पिछड़ेपन को दूर करने, भारत के आर्थिक मानचित्र मे अन्य विकसित राज्यो के समकक्ष होने, तथा राज्य की विकास प्रक्रिया को आत्म-सचालित बनाने के लिए हमने 15 वर्षों (1980-85) की एक दीर्घलक्ष्यी योजना बनायी। इसका कुल अनुमानित व्यय 1979 80 के मूल्य तल पर 67 80 करोड रुपये आंका गया। और इसके अनुकूल राज्य की छठी योजना का आकार 5488 करोड रुपये होता, परन्तु परिस्थितिवश हमने इसके विनियोग प्रस्ताव को 4022 करोड रुपयो के बराबर रखा। किन्तु अन्य राज्यों की आवश्यकताओ तथा केन्द्रीय स्तर पर साधनो की सीमितताओं के कारण राज्य की छठी योजना का आकार 3225 करोड रुपयो पर ही निश्चित हुआ।

इस योजना की वार्षिक विकास-दर 2 7% अनुमानित है, यानी 5 2% की राष्ट्रीय विकास दर की लगभग आधी। आशका है कि अपनी विकास दर का लक्ष्य पूरा करने पर भी योजना के अन्त तक बिहार स्वय अपने तई विकास करने के बावजूद देश और अन्य राज्यो की तुलना मे और पीछे पड जायेगा। 1950-51 मे बिहार की प्रति व्यक्ति समूचे देश की औसत इस आय का 74% थी, और 1980-81 म यह घटकर 63% पर आ गयी। डर है कि 1984-85 मे यह घटकर 55-56% पर न आ जाये। हमारे गरीबी-उन्मूलन के उद्देश्य मे भी ऐसी ही आशका है। देश मे गरीबी रेखा से नीचे रहने वालो का प्रतिशत 49% है, जो छठी योजना के अन्त तक 30% पर आने का अनुमान है। बिहार का यह वर्तमान प्रतिशत 58% है। हमारे एक अध्ययन के अनुसार राज्य मे करीब कुल 63 लाख परिवार गरीबी रेखा से नीचे रहते हैं। इन सबको इस रेखा से ऊपर लाने के लिए कुल 6300 करोड रुपयो की आवश्यकता है। परन्तु योजनाकाल (1980-85) मे इसके लिए उपलब्ध वित्तीय साधनो की मात्रा मात्र 1500 करोड रुपये आकी गयी है, जिससे गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले 25% परिवारो को इस रेखा से ऊपर लाया जा सकेगा। यानी छठी योजना के अन्त पर भी बिहार मे गरीबी रेखा से नीचे रहने वालो का अनुपात 33% रहेगा, जबकि समस्त देश मे 30% रहेगा। 1972-73 मे बेकारी की वार्षिक सख्या 20 54 लाख थी, जो 1977-78 मे बढकर 22 10 लाख हो गयी। अर्थात् पाच वर्षों मे 1 06 लाख व्यक्ति राज्य के बेकारी बाजार मे आये। बेकारी समस्या के हल सम्बन्धी साधन के लिए भी छठी योजना होगी। एन० एस० एस० के बत्तीसवें पर्यवेक्षण के अनुसार समूचे देश की श्रम-शक्ति का लगभग 10% बिहार मे है, बेकारी का लगभग 9% बिहार मे 8 01% है। किन्तु यह डर है

कि छठी योजना के अन्त तक स्थिति खराब हो जाय। काफी हद तक रोजगार वृद्धि उत्पादन वृद्धि से सम्बन्धित है। बेरोजगारी पर प्रभावक नियत्रण लाने के लिए हमने दीर्घलक्ष्यी योजना मे 4% की वार्षिक विकास दर का आयोजन रखा था। किन्तु छठी योजना की अनुमानित दर केवल 2 7% ही है।

हमारे विशेष कार्यक्रम

इन आशकाओ को हमने चुनौती के रूप मे स्वीकार किया है, और सीमित साधनों के भरपूर उपयोग के लिए नयी प्रभावक नीतियो के सफल सम्पादन पर विशेष जोर दिया है। इसमे प्रमुख हैं--

1 कृषि विकास के लिए किसानो को विशेष सुविधाए और सिंचाई विस्तार पर विशेष जोर, जिससे उत्पादकता तो बढे ही रोजगार-साधन भी विस्तृत हो।

2 नयी उद्योगनीति जो हम नवम्बर 1980 से अनुपालन कर रहे हैं, और जिसमे उद्योगों के विस्तार, उनकी क्षमता-उपयोग म प्रसार, नये उद्योगो के निर्माण, तथा रोजगार-वर्द्धक इकाइयो के सगठन और विस्तार पर विशेष जोर है।

3 विशिष्ट योजनाए—निर्धनो को राहत देने, बेरोजगारो की सुविधाए बढाने, तथा समाज के अपाहिजो और अनाथो को उबारने के लिए राज्य सरकार ने 1981-82 और 1982-83 के वित्तीय वर्षो मे विशेष परियोजनाओं का प्रावधान किया है। इनमे से प्रथम वर्ष मे 66 करोड रुपयों के व्यय पर 36 नयी परियोजनाओ का कार्य आरम्भ हुआ—जिनमे से कुछ मुख्य हैं 2 लाख बेकार शिक्षित युवको को 50 रु० प्रतिमाह की उत्पादक सहायता, 3000 तकनीकी व्यक्तियो को स्वनियोजन कार्य में लगाने के लिए नगण्य सूद-दर पर सरकारी ऋण का प्रबन्ध, ग्रामीण बेरोजगारो को 4 करोड मानव दिवसों की प्राप्ति नियोजन गारटी योजना, सामूहिक बीमा, कृषक दुर्घटना सहाय्य योजना, अवकाश-प्राप्त निस्सहायो, पगुओ, विधवाओ वगैरह के लिए पेन्शन योजना आदि। वर्तमान वित्तीय वर्ष मे सरकार ने 25 नयी परियोजनाओं पर कार्य करने का सकल्प लिया है। इनमे प्रमुख हैं योजना-प्रणाली का विकेन्द्रीकरण, विशेष जिला ग्रामीण विजलीकरण, ग्रामीण विकास मे औद्योगिक सस्थानो का योगदान, अनुसूचित जातियों के सुविधावर्द्धन, तथा परिवार कल्याण के लिए वन्ध्याकरण की दवा देने के लिए पचायतों मे प्रतियोगी पुरस्कार का प्रावधान वगैरह।

इन समस्त विशिष्ट योजनाओ की रूपरेखा और कार्य सम्पादन मे इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि प्राप्तकर्त्ताओ की सुविधाए तो बढें ही, साथ-साथ उनकी उत्पादन क्षमता बढे, जिससे राज्य मे विकास-गति की तीव्रता के साथ सामाजिक न्याय की प्राप्ति हो। इसी आदर्श को ध्यान मे रखकर 1980-81 के बजट से ही सामाजिक सुरक्षा की परियोजनाओ पर बल दे रहे हैं। इसी सुरक्षा की दिशा मे हमने 1980-81 के बजट मे ठोस कदम उठाया, और वर्तमान वर्ष म हमने पिछली परियोजनाओं का विस्तृत कार्यसम्पादन करने के साथ और नयी परियोजनाए जोड़ी हैं। इन तीन वर्षों मे

सामाजिक सुरक्षा के कार्यों पर कुल 184 करोड़ रुपयों के व्यय का अनुमान है। अशिक्षा, गरीबी, बीमारी, गन्दगी, तथा बेकारी नामक समाज के पांचों खतरों पर अपने सीमित साधनों की परिधि के अन्दर जितना बड़ा प्रहार बिहार ने किया है, उसकी मिसाल अन्य किसी राज्य में नहीं मिलती।

नवीन बीस-सूत्री कार्यक्रम की प्रगति

यदि बीस-सूत्री कार्यक्रम ने 1980-82 की अवधि में राज्य की आर्थिक नीति का निर्धारण किया और हमारी सम्पादन-प्रक्रिया को समीचीन मार्गदर्शन दिया, तो नये बीस-सूत्री कार्यक्रम ने हमारी आर्थिक नीतियों तथा विकास प्रक्रियाओं को अधिक ठोस रूप और त्वरिता दी है। यह सर्वविदित है कि यह कार्यक्रम आज समस्त भारत में आयोजित विकास के लिए उचित विकास विधि (डेवलपमेंट स्ट्रेटेजी) के रूप में अपनाया गया है। क्योंकि इसमें सामाजिक न्याय की विस्तृत प्राप्ति के साथ विकास दर को अल्पकाल में भी तीव्रतर करने की क्षमता है। इसीलिए हमने अपने राज्य में इस कार्यक्रम (या विकास विधि) के व्यापक सम्पादन के लिए एक ठोस संगठनात्मक संरचना, उदार वित्त प्रावधान तथा मानीटरिंग का प्रबन्ध किया है।

राज्य स्तरीय शीर्षस्थ बीस सूत्री कार्यक्रम समायोजन-समिति, तथा बीस-सूत्री कार्यक्रम के लिए विशिष्ट आयुक्त से लेकर प्रखण्ड स्तर तक जैसे व्यापक और सघन संगठनात्मक शृंखला का आयोजन बिहार राज्य में है वैसा सम्भवतः कम ही राज्यों में है। इस कार्यक्रम के सम्पादन के लिए हम पर्याप्त वित्त का उदार प्रबन्ध कर रहे हैं। 1982-83 के वर्तमान वर्ष का 670 करोड़ रुपयों की वार्षिक योजना का लगभग 90% यानी 567 करोड़ रुपया नवीन बीस-सूत्री कार्यक्रम के अन्दर व्यय होगा। प्रगति भी इस क्षेत्र में हमारी सराहनीय रही है, जो कुछ तो मुख्य उदाहरणों से स्पष्ट होगी। बीस-सूत्री कार्यक्रम में सिंचाई क्षमता (वृहत्, मध्यम एवं लघु सभी साधनों से) 1979-80 में कुल 47 02 लाख हेक्टर थी। छठी योजना में इसके विस्तार के लिए हमने 850 करोड़ रुपयों का प्रावधान रखा है, जिसके फलस्वरूप सभी प्रकार की इन सिंचाई-क्षमताओं में लगभग 18 155 लाख हेक्टर यानी 39% की अतिरिक्त वृद्धि अर्थात् 1984-85 में हमारी कुल वास्तविक सिंचाई क्षमता बढ़कर 65 17 लाख हेक्टर हो जायेगी, जो राज्य की कुल सम्भावित सिंचाई क्षमता यानी 151 3 लाख हेक्टर का 44% होगी। बिहार में सूखी खेती यानी एक-फसली कृषि का क्षेत्रफल 56 85 लाख हेक्टर है, और हमारा लक्ष्य है कि इस समूचे क्षेत्र को दो-फसली बना दें। सूखे विस्तार की हमने एक विशिष्ट परियोजना बनायी है, जिसके तहत 1982-83 वर्ष में 16 45 लाख हेक्टर को दो फसली बना सकेंगे। दलहन एवं तेलहन की उत्पादन वृद्धि पर हम विशेष जोर दे रहे हैं। 1982-83 में हमारे खरीफ दलहनों का क्षेत्रफल 3 5 लाख हेक्टर से बढ़कर 5 5 लाख टन होगा। अधिकतम जोत सीमा की अतिरिक्त भूमि के

ग्रहण और वितरण को इतना महत्त्व दिया गया है कि वर्तमान वर्ष 1982-83 को हमने सम्बन्धित भूमि-सुधार वर्ष की संज्ञा दी है। मार्च 1982 तक वितरण योग्य प्राप्त अतिरिक्त भूमि का क्षेत्रफल 217004 एकड था, जिसका लगभग 68% यानी 14062 एकड वितरित हो चुका था। हमें विश्वास है वित्तीय वर्ष 1982-83 के समाप्त होने के साथ हम यह काम पूरी तरह सम्पन्न कर सकेंगे। जैसा कि योजना आयोग का निर्देश है। विहार में बधुआ मजदूरों की अपनी संख्या अब तक कुल 7034 पर आकी गयी है, इसमे 4503 मुक्त हो चुके हैं, और उनके पुनर्स्थापन का काम पूरा हो रहा है। प्रत्येक मुक्त बधुआ मजदूर का पुनर्स्थापन व्यय 4000 रु० रखा गया है। राष्ट्रीय ग्रामीण नियोजन कार्यक्रम के अन्तर्गत 1981-82 में 22 2 करोड रुपयो का वितरण हुआ।

चालू वर्ष मे इसके लिए 53 81 करोड रुपयो के वितरण का प्रावधान है। इसी प्रकार समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के तहत 1981-82 मे 31 33 करोड रुपयो का वितरण हुआ जिससे 2 26 लाख व्यक्ति लाभान्वित हुए। चालू वर्ष मे इस मद पर 46 96 करोड रुपयो के व्यय का प्रावधान है। विहार मे समस्याग्रस्त गावो की संख्या 39741 पर आकी गयी है जिनके 75% गावों की समस्या का निदान हो चुका है, जल आपूर्ति की दृष्टि से और हमने लक्ष्य बनाया है कि छठी योजना के अन्त तक बाकी समस्याग्रस्त गावों का इस दृष्टि से उद्धार हो चुका होगा।

ये कुछ उदाहरण हैं जो इस बात के प्रत्यक्ष एव प्रभावक सूचक हैं कि विहार ने नवीन बीस-सूत्री कार्यक्रम को अपनी अर्थनीति और विकास की मुख्य विधि के रूप मे अपनायी है, और इस दिशा मे व्यापक सफलता हासिल की है। जिन भी विशिष्ट आर्थिक-सामाजिक योजनाओं की हमने चर्चा की है, और जिन्हें सम्पादित कर रहे हैं, उन सबका मौलिक स्रोत एव प्राण श्रीमती गाधी का बीस-सूत्री कार्यक्रम ही है। हमे आशा ही नही, पूर्ण विश्वास है कि इनके सम्पादन से राज्य के उपेक्षित, असहायों एव प्रवासियों को सान्त्वना मिलेगी और विकास कार्यो मे उनकी भागीदारी बढ़ेगी। साथ ही, शीघ्र विकास की जिन परियोजनाओ का इस कार्यक्रम मे स्थान है, और जिनका सम्पादन हम कर रहे हैं, उनसे राज्य की विकास प्रगति को यथेष्ट बल मिलेगा। और, तब हम राज्य मे उस परिवेश का सृजन कर सकेंगे जिसमे लघु व्यक्ति को विकास के लाभ मिलते रहेंगे, उनकी कार्य-क्षमता मे वृद्धि होगी, प्रगति के कदम तेज होंगे, और अन्तत देश के साथ हमारे राज्य म उस प्रक्रिया का उत्तरोत्तर अभिवर्द्धन होता रहेगा जो हमारी अद्वितीय राजनेता श्रीमती इन्दिरा गाधी का पुण्य सकल्प है।

अध्याय 3

विकास को अवरुद्ध किए बिना मुद्रास्फीति का नियंत्रण

अर्द्ध शताब्दी पूर्व विश्व-अर्थव्यवस्था भयानक मंदी से आक्रान्त थी। बेरोजगारी में वृद्धि हो रही थी। उद्योगों में व्यापक सुस्ती व्याप्त थी। नये विनियोग नहीं हो पा रहे थे।

लॉर्ड केन्स ने इस स्थिति से निपटने का मार्ग दर्शाया। उनके द्वारा अनुशंसित नीतियों को आधार मानकर औद्योगिक देशों ने पूर्ण रोजगार की प्राप्ति हेतु पूर्ण विश्वास के साथ द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अपनी प्रतिबद्धता प्रदर्शित की और विकास की उच्चतर दर की प्राप्ति के लिए उनमें प्रतिस्पर्द्धा होने लगी।

किन्तु एक दशाब्दी पूर्व विकसित देशों में व्याप्त विचार में तीव्र परिवर्तन हुए। विस्फीति के बजाय असमान्य मुद्रास्फीति गहन चिंता का कारण बन गई। मुद्रास्फीति के नियंत्रण के निमित्त अनेक प्रयास के बाद लगभग यह विचार आम होने लगा कि मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने के लिए आवश्यक होगा कि विकास की दर को कम रखा जाय एवं बेरोजगारी के स्तर को बढ़ने दिया जाय। ऐसा होने पर मजदूरी-स्तर को कम रखा जा सकेगा, लागत नियंत्रित रह सकेगी एवं कीमतों में स्थायित्व बना रहेगा। आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन (Organisation for Economic Cooperation and Development), जिसके साथ अधिकांश विकसित देश संबद्ध हैं, ने उपलब्ध साक्ष्यों के विश्लेषण के बाद हाल के अपने एक प्रकाशन में स्पष्ट व्यक्त किया है कि—". a rise in unemployment does, in fact, tend to be followed by a fall in inflation'

आज विश्व के सभी देश मुद्रास्फीति की अपेक्षा बेरोजगारी को कम बुरी वस्तु के रूप में मानने को तैयार नहीं हैं। जो नीतियां कार्यान्वित की जा रही हैं वे इस बात पर निर्भर करती हैं कि संबद्ध देश में कैसी परिस्थितियां विद्यमान हैं तथा सत्ताधारी राजनैतिक दल की प्रवृत्ति कैसी है।

ब्रिटेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका में मुद्रा-संकुचन से संबंधित नीतियों के कारण बेरोजगारी में अत्यधिक वृद्धि हो रही है, किन्तु कीमतों में स्थायित्व प्राप्ति की दृढ़ धारणा के कारण वहां की सरकारें रोजगार चाहने वालों के विरोध से भी सहम नहीं रही हैं। जर्मनी एवं स्वीट्जरलैंड में, जहां श्रम शक्ति में विदेशियों की संख्या पर्याप्त है और जिन्हें सेवा-मुक्त कर स्वदेश लौटाया जा सकता है, सरकार सहर्ष मूल्य-स्थिरता

हेतु रोजगार के स्तर में ह्रास ला रही है। जापान एवं ब्राजील इन देशों के उदाहरण हैं जहां विकास-दर को धीमी करने के बजाय मुद्रास्फीति की अनिवार्यता को स्वीकार कर लिया गया है।

भारत के संदर्भ में, यदि इन दोनों के मध्य चुनाव का प्रश्न हो तो मैं स्पष्टतः विकास की उच्च-दर एवं उच्च रोजगार-स्तर को पसन्द करूंगा चाहे इसका अर्थ कीमतों में और अधिक वृद्धि से ही क्यों न हो। जहां मुद्रास्फीति के नियंत्रण से आय-भोगी वर्ग की क्रय-शक्ति संरक्षित रहती है वहीं नए रोजगार से आय विहीन लोगों को भी आय प्राप्त होने लगती है। मैं अनुभव करता हूं कि न्याय का तकाजा यह है कि हमें सम्पन्न-वर्ग की अपेक्षा विपन्न-वर्ग के प्रति अधिक चिंता होनी चाहिए, यद्यपि हम जानते हैं कि सम्पन्न-वर्ग अधिक संगठित रूप में आज प्रेस एवं संसद के माध्यम से तथा श्रम-संगठनों और विरोध-प्रदर्शनों के द्वारा अपनी शिकायतों को आवाज दे सकते हैं।

इसमें भी अधिक विचारणीय अन्य बातें हैं। विकसित देश बिना विकास एवं बढ़ती बेरोजगारी की स्थिति में भी रह सकते हैं, क्योंकि विकास की यथावत् स्थिति रहने पर भी उनकी आय बहुत अधिक होती है और बेरोजगारों की देखभाल सामाजिक कल्याण के प्रयासों के अन्तर्गत होती है। भारत में विकास की अनुपस्थिति में ही मुद्रास्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जा सकती है। यदि हम कम-से-कम जनसंख्या-वृद्धि के अनुपात में ही अपनी विकास-दर को बनाये न रखें तो मांग पूर्ति से ज्यादा हो जायगी और कीमतों में वृद्धि स्वाभाविक रूप से होगी। कीमतों में स्थायित्व के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम उत्पादन के स्तर में वृद्धि करें और विकास की एक अच्छी दर प्राप्त करें।

लेकिन एक सावधानी बरतने की आवश्यकता है। जहां विकास के कारण वस्तुओं और सेवाओं की आपूर्ति में वृद्धि होने से एक ओर मुद्रास्फीति-विरोधी प्रभाव का जन्म होता है, वहीं विकास की गति को तीव्र करने हेतु आवश्यक विनियोग के कारण मांग में भी वृद्धि होती है जो कीमतों में वृद्धि लाती है। विनियोग एवं उत्पादन के बीच समय के अन्तराल के कारण मुद्रास्फीति का जन्म होता है।

यदि विनियोग-मांग में वृद्धि की स्थिति में उपभोग-मांग में कमी की स्थिति लायी जा सके अथवा दूसरे शब्दों में, समाज में बढ़ते विनियोग की गति से सामंजस्य लाने हेतु बचत की मात्रा भी बढ़ाई जा सके, तो हम विकास के साथ मूल्य-स्थायित्व की स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं। यह कोई महत्त्व नहीं रखता कि अधिक बचत करने लिए के प्रेरित होकर ऐच्छिक रूप से लोगों ने अपने उपभोग में कटौती की है या यह कटौती उन्हें अधिक कर भुगतान की अनिवार्यता के कारण करनी पड़ी है। महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि हम बिना अधिक बचत किए अधिक विनियोग नहीं कर सकते। यदि बचत में अपेक्षित वृद्धि किए बिना ही विनियोग में तीव्रता लायी जाय, तो मूल्यों में वृद्धि होगी जिसके फलस्वरूप लोगों को उपभोग में उसी प्रकार कटौती करनी होगी जिस प्रकार कर-रोपण के कारण उपभोग-व्यय में कटौती करने के लिए वे बाध्य हो जाते हैं। केवल अन्तर यह होता है कि जहां कर-भार को यथासंभव न्यायसंगत रूप से सम्पूर्ण समाज में प्रसारित

किया जा सकता है वहां मुद्रास्फीति में सन्निहित त्याग (या भार) बिना किसी भेद-भाव के अन्यायपूर्ण ढंग से हर वर्ग के लोगों को सहन करना होता है। निश्चित आय-वर्ग के लोग सबसे बुरी तरह प्रभावित होते हैं।

किन्तु, हम ऐसा नहीं मान लें कि विनियोग-स्तर को बहुत ऊंचा रखना ही मुद्रास्फीति का एकमात्र कारण है। स्फीतिजन्य दवाव कुछ ऐसे कारणों से भी उत्पन्न हो सकते हैं जिनका विकास में कोई संबंध नहीं होता। सरकार द्वारा सम्पादित कुछ गैर-विकास कार्यों— यथा प्रतिरक्षा, विधि-व्यवस्था, कल्याणकारी कार्य आदि पर हो रहे व्ययों में वृद्धि के कारण भी मूल्यों में वृद्धि होती है। इसी प्रकार बैंकों से उधार लेकर या अपनी बचत-राशि में कमी लाकर जब लोग अपने निजी उपभोग में वृद्धि करते हैं तो इसका प्रभाव भी मूल्यों को बढाने में होता है।

इसी प्रकार कुछ अमौद्रिक तथ्य भी मूल्यों में वृद्धि के लिए जिम्मेदार हो सकते हैं। आधार भूत आगतों (inputs) की लागत में वृद्धि का प्रभाव भी मूल्यों में वृद्धि के रूप में प्रकट होता है। तेल मूल्य में वृद्धि के कारण तेल-आयात करने वाले देशों में ईंधन एवं यातायात अधिक खर्चीले साबित हुए है। यदि मजदूरी में वृद्धि के साथ-साथ उत्पादकता में वृद्धि नहीं हो तो भी स्फीतिजनक प्रभाव उत्पन्न होते हैं।

जब एक बार मूल्यों में वृद्धि की स्थिति कायम हो जाती है तो मनोवैज्ञानिक तथ्य काम करने लगते है एवं इस प्रवृत्ति में तीव्रता आ जाती है। कीमतों में वृद्धि की प्रत्याशा में उत्पादक एवं व्यापारी वस्तुओं की आपूर्ति को रोक लेते है। वे स्टॉक या भंडार का निर्माण करने हेतु बैंकों से ऋण लेने लगते हैं। कीमतों में और अधिक वृद्धि की आशंका से उपभोक्ता भी वस्तुओं को संग्रहित करने के उद्देश्य से अधिक खरीददारी करने लगते हैं।

इस चक्र को तोडने के लिए विकसित देशों में राजस्व एवं मौद्रिक नीतियों में सख्ती बरती जाती है चाहे इसके फलस्वरूप विकास की गति में मंदी व्याप्त हो जाय, बेरोज-गारी में वृद्धि हो जाय एवं सुस्ती की प्रवृत्ति ही क्यों न कायम हो जाय। उनकी यह मान्यता होती है कि *जैसे ही मुद्रा की पूर्ति में ह्रास होगा, माग में कमी आयेगी एवं बेरोजगारी के भय से श्रमिक भी अधिक मजदूरी के लिए हडताल पर नहीं जाना चाहेंगे तथा जैसे ही लोग मुद्रास्फीति की कम चर्चा कर सुस्ती की अधिक चर्चा करेंगे उनकी मानसिकता में परिवर्तन होने लगेगा।*

मैं अनुभव करता हू कि भारत में हम ऐसा दृष्टिकोण अपनाने की स्थिति में नहीं हैं। यहा हमें ऐसा मार्ग ढूढना होगा जिसके द्वारा मुद्रास्फीति नियन्त्रित हो जाय और विकास भी अवरुद्ध न हो। ऐसा करने के लिए हम उस अवरोध से मुक्ति का लाभ अवश्य उठाए जो अधिकांश पश्चिमी देश अपने आप पर थोप लेते हैं। उनमें अधिकांश अर्थव्यवस्था में बाजार की स्वतन्त्र-सचालनता शक्ति में हस्तक्षेप नहीं करना पसंद करते जिससे कि उनके कार्य पर कोई प्रभाव डाला जा सके। वे बस इतना ही कर सकते हैं कि या तो वे इसे अत्यधिक तीव्र बना देंगे या उसे ठप ही कर देंगे। वे स्वाभाविक

कार्यात्मकता में कोई छेड़छाड़ नहीं करेंगे। लेकिन, हम यदि बुद्धिमता से काम लें तो प्राथमिकता-विषयक एक निर्णय लेकर हम इस प्रकार की दुविधा से मुक्त हो सकते हैं।

यदि घाटे की वित्त-व्यवस्था के कारण मुद्रास्फीति व्याप्त हो तो हमें इसकी मात्रा ही नहीं, वरन् इसकी गुणात्मकता के तत्वों को भी देखना होगा। जहां तक सम्भव हो इसकी मात्रा में कमी लाने हेतु हम अनुत्पादक व्ययों में कटौती करें न कि विनियोग की मात्रा में। यदि विनियोग में कटौती करना अनिवार्य ही हो तो हम सावधानीपूर्वक देखें कि किन क्षेत्रों में व्ययों को घटाया जाना चाहिए एवं कहां बढ़ाये जाने में हित है।

चूंकि विनियोग एवं उत्पादन के बीच समय-अन्तराल विनियोग को स्फीतिजनक बना देने का एक मुख्य कारण है अतः हम उन योजनाओं में ढील दे सकते हैं जिनकी पक्वनावधि (gestation period) लम्बी है। इनके विपरीत द्रुतगति में फलाफल देने वाली योजनाओं में गति लाई जा सकती है। सबसे घातक बात यह है कि सभी योजनाओं को हम चलाते रहें तथा घाटे की वित्त-व्यवस्था की मात्रा को कम करने के उद्देश्य से प्रत्येक योजना की प्रगति को धीमी कर दी जाय।

विनियोग में चयनात्मक कटौती के लिए दूसरी घातक बात यह है कि हम ऐसे विनियोग-मद में कोई छेड़छाड़ नहीं करें जो ऐसी महत्त्वपूर्ण वस्तुओं की पूर्ति को बढ़ाती हो जिनके अभाव में मुद्रास्फीति पैदा होती है। यदि जीवन की मौलिक अनिवार्य वस्तुओं—जिन पर मजदूर एवं निम्न-आय वर्ग के लोग अपनी आय को खर्च करते हैं—की पूर्ति में कोई कमी आ जाय तो मजदूरी/वस्तुओं की कीमतें बढ़ेंगी। महगाई भत्ते देने होंगे जिससे बजट में और अधिक घाटे होंगे। ऊंची मौद्रिक मजदूरी से लागतों एवं सर्वत्र मूल्यों में वृद्धि होती है। जैसा कि मैंने बार-बार अपना विचार व्यक्त किया है, मजदूरी-योग्य वस्तुओं का अतिरिक्त या बचत मुद्रास्फीति के विरुद्ध कार्य करने वाली शक्ति में से एक प्रधान शक्ति है।

आधारिक सरचना (infrastructure) का भी समान महत्त्व है। शक्ति एवं यातायात की अपर्याप्तता या कमी के कारण उद्योग एवं कृषि दोनों के उत्पादन में ह्रास होता है जिससे कीमतों में वृद्धि होती है। मुद्रास्फीति पर नियन्त्रण लाने के प्रयास में इन क्षेत्रों में विनियोग की कटौती से अधिक उत्पादन-अवरोधी और कोई अन्य बात नहीं हो सकती।

बैंक ऋण के मामले में भी हमें कुछ इसी प्रकार की प्राथमिकता बरतनी होगी। सौभाग्यवश, भारत में यद्यपि बैंक ऋण की सुविधा में काफी विस्तार आया है किन्तु सामान्यतः बैंक उपभोग के लिए नहीं विनियोग के लिए वित्त प्रदान करते हैं। इनका प्रमुख कार्य उद्योगों को कार्यशील-पूंजी प्रदान करना है। कार्यशील पूंजी में विनियोग-उत्पादन का समय-अन्तराल सबसे अल्प रहता है। इसमें किसी भी प्रकार की वास्तविक कमी से उत्पादन बाधित हो जा सकता है जिससे कीमतों में वृद्धि आ सकती है। उद्योगों की चालू या कार्यशील पूंजी की मांग की पूर्णतः पूर्ति होनी चाहिए। यदि कटौती करना अनिवार्य ही हो जाय तो प्राथमिकता वाले क्षेत्रों, जिन्हें मैंने स्पष्ट किया है, पर इसका

प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।

बैंक-ऋण की कटौती की वास्तविक सार्थकता तो इस बात में है कि मूल्य-वृद्धि की प्रत्याशा को ध्यान में रखकर जो भंडार इकट्ठे किए जाते हैं उनकी रोक-थाम हो। साख-नीति ऐसी होनी चाहिए जो जमाखोरी को, चाहे वह उत्पादक द्वारा हो या व्यापारी द्वारा, हतोत्साहित करे। किन्तु बड़े भंडार-निर्माण के लिए अतिरिक्त साख की मांग एवं सामान्य भंडार बनाये रखने के क्रम में मूल्यों में वृद्धि के कारण अतिरिक्त साख की मांग के बीच हमें सावधानीपूर्वक विभेद करना चाहिए।

मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने के ये राजस्व एवं मौद्रिक उपाय हैं। किन्तु भारत में बहुधा गैर-मौद्रिक तत्त्व ही स्फीतिजनक चक्रों की शुरुआत में बड़ी भूमिका निभाती है। बहुत सी स्फीतिजन्य समस्याएं यहां मानसून की असफलताओं के कारण पैदा होती हैं। खाद्यान्नों की कमी से उनकी कीमतों में वृद्धि होती है। कीमतों में वृद्धि के फलस्वरूप महंगाई-भत्ते में वृद्धि की मांग को रोका नहीं जा सकता। महंगाई-भत्ते में वृद्धि से लागतों में चतुर्दिक वृद्धि हो जाती है। फलस्वरूप बजट में घाटे की वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों में राहत-कार्यों पर किए गए व्ययों के लिए भी बजट में प्रावधान नहीं होते। जब वित्तीय-वर्ष की समाप्ति होने लगती है, बजट के घाटे की राशि में एक प्रकार की अप्रत्याशित वृद्धि हो जाती है। यही कारण है कि मौद्रिक-विचारक मूल्य-वृद्धि के लिए घाटे की वित्त-व्यवस्था को जिम्मेवार ठहराने लगते हैं जबकि सत्य यह है कि मूल्य-वृद्धि ही घाटे की वित्त-व्यवस्था में वृद्धि के लिए जिम्मेवार होती है।

अभाव के कारण हुई मूल्य-वृद्धि को नियंत्रित करने हेतु मौद्रिक उपायों पर अवलम्बित होना गलत प्रयासों का द्योतक है। महत्त्वपूर्ण वस्तुओं यथा खाद्यान्न या वनस्पति तेल या चीनी आदि की कमी को पूरा करने के लिए आयातों का सहारा लेना होगा। विकसित देश, जहां इस प्रकार की आकस्मिकताओं के ऊपर वहां के आर्थिक-सहायता में विशेष ध्यान नहीं दिया गया है, इस स्थिति में होते हैं कि वे अपने यहां ऐसे अभावों की पूर्ति बृहत् आयातों से कर लें। लेकिन हमारे लिए बृहत आयात के मार्ग में विदेशी-मुद्रा की कमी बाधक सिद्ध होती है। ऐसी स्थिति में यह देखकर आश्चर्यित होना पड़ता है कि खाद्यान्नों या चीनी जैसी वस्तुओं के आयात के विरुद्ध आवाजें उठाई जाती हैं जैसे कि ऐसा करना कोई पाप हो। इस प्रकार के वातावरण का निर्माण हो जाता है जिसमें आयात आदेश विलंबित हो जाते हैं और पुन: जो मूल्य हम उनके लिए चुकाते हैं वे पहले से बहुत ज्यादा होते हैं।

यदि किसी कारणवश निम्न आय-वर्ग के लोगों के लिए महत्त्वपूर्ण वस्तुओं की कमी को पूरा करने के लिए आयात संभव न हो तो देश में 'रैशनिंग' की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि नियंत्रित मूल्य पर लोगों को सीमित मात्रा में वैसी वस्तु प्राप्त हो सके। अतिरिक्त मात्रा को स्वतंत्र-विक्रय के लिए बाजार में मुक्त कर देनी चाहिए। ऊंची कीमतों से अतिरिक्त विनियोग के लिए लोग आकर्षित होंगे जिससे अभाव की स्थिति से मुक्ति

मिलेगी। यदि अत्यधिक लाभ प्राप्त होंगे तो सरकार ऊंचे उत्पाद-कर के रूप में उसका एक अंश संग्रहित कर लेगी। बिना प्रभावशाली वितरण-व्यवस्था के मूल्य नियंत्रण की नीति लादना अभाव की स्थिति में अत्यन्त बुरी बात होगी। क्योंकि ये प्रयास न केवल प्रभावहीन हो जाते हैं बल्कि ये कालेधन का सृजन करते हैं जिससे मूल्यों में और वृद्धि होती है।

अंत में हमें इस वास्तविकता को मानकर चलना है कि मूल्यों में पूर्ण स्थायित्व असंभव है। महत्त्वपूर्ण आयात-वस्तुओं यथा तेल या मशीन की ऊंची कीमतें आन्तरिक मूल्यों को बहुत अधिक प्रभावित करती हैं। इसी प्रकार यदि हम सामाजिक न्याय की दृष्टि से मजदूरी में वृद्धि को स्वीकार कर लें तो भी कीमतों में वृद्धि होगी। कुल मिलाकर, यदि कीमतों में अचानक अत्यधिक वृद्धि न हो तो हम स्थिति का सामना कर सकते हैं। किन्तु यदि आकस्मिक लहर में मूल्यों में वृद्धि हो तो हम इससे बुरी तरह प्रभावित लोगों की सहायता करनी होगी। इस आधार पर इन्हें छोड़ देना कि ऐसी राहतों से मुद्रा की आपूर्ति में वृद्धि हो जायेगी, मुद्रास्फीति से त्रस्त लोगों पर इसके नियंत्रण के क्रम में उठाये गए प्रयासों के दबाव से भी संबन्ध करना होगा।

निष्कर्षत, मैंने विकास को अवरुद्ध किए बगैर मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने की विभिन्न संभावनाओं का विवेचन किया है। किन्तु इन्हें औषधियों की कोई पिटारी नहीं मानी जा सकती जिसमें बीमारी के रूप के आधार पर कोई नुसखा लेकर उसे ठीक-ठाक कर लिया जा सके। मेरी आधारभूत धारणा यह है कि एक सुव्यवस्थित कीमतों की तर्कसम्मत स्थिरता के साथ विकास की एक अच्छी दर बनाये रखने में समर्थ है। सुप्रबंध मुद्रास्फीति की समस्या के प्रति किसी सैद्धान्तिक दृष्टिकोण पर नहीं बल्कि प्रत्येक उभरती चुनौती के समुचित प्रत्युत्तर पर निर्भर करता है। मुद्रास्फीति केवल एक लक्षण है। रोग के उचित उपचार के लिए आवश्यक है कि इसके वास्तविक लक्षणों की पहचान करें।

अध्याय 4

नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था : एक समीक्षा

आज अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था मे व्यापक परिवर्तनो की आवश्यकता का अनुभव सभी राष्ट्र कर रहे है, चाहे वे विकसित हो, समाजवादी हो या विकासशील हो। विकसित राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली के पतन, ऊर्जा सकट आदि के चलते परिवर्तन चाहते हैं, समाजवादी देश अपने पार्थक्य को दूर करने के लिए नयी व्यवस्था स्थापित करने पर जोर देते हैं, विकासशील राष्ट्र इन परिवर्तनो की माग इसलिए करते हैं कि विद्यमान व्यवस्था उनकी आवश्यकताओ एव आकाक्षाओ को पूरा करने मे विफल रही है। फलत नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की माग विगत वर्षों मे आयोजित सभी अन्तर्राष्ट्रीय मचो का बहुचर्चित एव सर्वाधिक विवाद का विषय रहा है।

नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की माग युद्धोत्तर काल के अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक, व्यापार एव सस्थागत ढाचे मे परिवर्तन की माग है, जिसका निर्माण विकसित राष्ट्रो, विशेषत सयुक्त राज्य अमेरिका, के प्राबल्य मे हुआ और इसमे विकासशील राष्ट्रो का हाथ नही रहा। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, प्रशुल्क एव व्यापार सम्बन्धी सामान्य समझौता (जी० ए० टी० टी०) सभी देशो को बराबरी का दर्जा प्रदान नही करते। नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का उद्देश्य वर्तमान आय और सम्पत्ति का समान वितरण नही, बल्कि अवसरो की समानता अर्थात् राष्ट्रो के बीच सामाजिक न्याय की प्राप्ति है। वस्तुत विश्व शान्ति तभी रह सकती है जबकि यह 'सामाजिक न्याय' पर आधारित हो। नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता न केवल निर्धन राष्ट्रो के लिए है, बल्कि धनी राष्ट्रो के लिए भी है।

विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था वर्तमान शताब्दी की तीसादि एव चालीसादि दशक के प्रारम्भिक वर्षों मे व्याप्त परिस्थितियो की उत्पत्ति है। तीसादि के प्रारम्भिक वर्षों मे ही स्वर्ण-मान का परित्याग कर दिया गया और इसके साथ ही इस पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की समाप्ति हो गयी। विश्व अर्थव्यवस्था डेढ दशक तक विश्वव्यापी मदी और द्वितीय विश्व युद्ध के कारण अस्तव्यस्त रही। तत्कालीन महत्त्वपूर्ण शक्तियो (सयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व मे विकसित पूजीवादी राष्ट्रो) ने व्यापार एव भुगतान की उदार अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली पर आधारित एव समन्वयित विश्व अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण का प्रयास किया। इन शक्तियो का इरादा एक ऐसी विश्व मौद्रिक एव व्यापार प्रणाली को स्थापित करना था जो वस्तुओ एव निजी पूजी के अपेक्षाकृत अधिक मुक्त प्रवाह मे सहायक हो। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक

सारणी 4 1 जनसख्या, कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति एव प्रति-व्यक्ति राष्ट्रीय उत्पत्ति हिस्सा सम्बन्ध और विकास—1955 80

राष्ट्र-समूह	विश्व जनसख्या मे हिस्सा (प्रतिशत)		विश्व जी० एन० पी० मे हिस्सा (प्रतिशत)		सयुक्त राज्य जी० एन० पी० के प्रतिशत [redacted] मे प्रचलित मूल्यो पर प्रति व्यक्ति जी० एन० पी०		1980 के स्थायी डालरो मे प्रति-व्यक्ति जी० एन० पी०	
	1955	1980	1955	1980	1955	1980	1955	1980
निम्न आय राष्ट्र	44 7	47 1	8 1	4 8	2 7	2 2	160	260
मध्य आय राष्ट्र	23 4	26 5	12 6	16 7	8 1	13 7	700	1580
सभी विकासशील राष्ट्र	68 1	73 6	20 7	21 5	4 5	6 4	340	730
सभी विकसित राष्ट्र	31 9	26 4	79 3	78 5	65 1	92 8	4640	10720
कुल (विश्व)	100 0	100 0	100 0	100 0	14 9	21 7	1320	2510

स्रोत—वर्ल्ड डवलपमेंट रिपोर्ट 1982 विश्व बैंक, पृ० [redacted]

सारणी 4.2. जनसंख्या एवं कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति का वितरण : 1950-1985

राष्ट्र-समूह	जन-संख्या का प्रतिशत	कुल जी० एन० पी० (बिलियन डॉलर)			वृद्धिमान आय का हिस्सा (प्रतिशत)		प्रति-व्यक्ति आय (डॉलर)			प्रति-व्यक्ति आय की औसत वार्षिक वृद्धि	
	1975	1950	1975	1985	1950-75	1976-85	1950	1975	1985	1950 75	1976-85
निम्न आय राष्ट्र	43	69	175	286	3	4	104	150	195	2	5
मध्यम आय राष्ट्र	33	208	873	1543	21	25	454	957	1327	20	37
सभी विकासशील राष्ट्र	76	277	1048	1829	24	29		अप्राप्य			
सभी विकसित राष्ट्र	24	1341	3841	5795	76	71	2614	5883	8316	131	243
कुल (विश्व)	100	1618	4889	7624	100	100					

स्रोत—विश्व बैंक के तत्कालीन अध्यक्ष रॉबर्ट एस० मैकनमारा का बोर्ड ऑफ् गवर्नर्स के समक्ष वार्षिक अभिभाषण, 1978

सारणी 4 3 सापेक्षित आय अन्तर विकसित राष्ट्रों की आय के प्रतिशत के रूप में विकासशील राष्ट्रों की प्रति व्यक्ति आय

राष्ट्र समूह	1950	1960	1975
विकासशील राष्ट्र			
सबसे गरीब राष्ट्र	6 1	4 0	2 6
मध्य आय राष्ट्र	20 8	18 3	17 0
तेल निर्यातक राष्ट्र	अप्राप्य	16 1	22 6
सभी विकासशील राष्ट्र	11 9	9 7	9 2

स्रोत —विश्व बैंक 1977

सारणी 4 4 निरपेक्ष निर्धनता के अनुमानित स्तर 1975 2000 ई०

राष्ट्र समूह	संख्या (मिलियन में)			कुल जनसंख्या का प्रतिशत		
	1975	1985	2000	1975	1985	2000
निम्न आय राष्ट्र	630	575	540	52	39	27
मध्य आय राष्ट्र	140	140	60	16	12	4
सभी विकासशील राष्ट्र	770	715	600	37	27	17

स्रोत—विश्व बैंक 1978

तो इसकी आवाज 1964 म आयोजित व्यापार एव विकास सम्बन्धी सयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (यू० एन० सी० टी० ए० डी०) (अकटाड) के प्रथम अधिवेशन के बाद से ही विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मचो पर विकासशील राष्ट्रो के प्रतिनिधियो के स्वर मे मुखरित होती रही है। मई 1976 मे आयोजित अकटाड के चौथे सम्मेलन ने नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के उद्देश्यो की प्राप्ति हेतु निम्नांकित साधनो को अपनाने पर और अधिक जोर दिया था

1 अल्प विकसित राष्ट्रो के विनिर्माण-सम्बन्धी निर्यात को औद्योगिक राष्ट्रो के बाजार मे पहुचने के लिए वरीयता देना,
2 प्राथमिक वस्तुओ के मूल्य-नियत्रण एव विपणन ढाचे मे परिवर्तन,
3 अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था का सशोधन एव सुधार
4 विकसित राष्ट्रो की तकनीक एव पूजी बाजार मे विकासशील राष्ट्रो की पहुच
5 अल्प विकसित देशो के लिए विदेशी सहायता या साधन स्थानान्तरण के अन्य रूपो म वृद्धि, तथा
6 बहु राष्ट्रीय निगमो की क्रियाशीलता पर नियत्रण।

नवीन अतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना सम्बन्धी घोषणा और इसके लक्ष्यो की प्राप्ति के इन साधनो के साथ यह उम्मीद की गयी थी कि परिवर्तित परिस्थितियो

मे विकसित राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, मुद्रा और पूजी-प्रवाह के नियमन-सम्बन्धी अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली एव औचित्यपूर्ण व्यवस्था लाने मे विकासशील राष्ट्रो के साथ सहयोग प्रदान करने की दिशा मे अधिक जागरूक होंगे। किन्तु दुर्भाग्यवश ये आशाए पूरी नही हो पायी हैं।

नवीन अतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की माग मूलत विश्व अर्थव्यवस्था मे अन्तनिर्भरता के अधिक सक्षम एव औचित्यपूर्ण प्रबधन की माग है। नवीन व्यवस्था के समर्थक, अन्तर्निर्भरता की आवश्यकता एव अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं। इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए अन्तराष्ट्रीय व्यापार एव साख प्रणाली की कार्य-पद्धति मे आमूल सरचनात्मक परिवर्तन लाना आवश्यक है ताकि इस व्यवस्था से विकसित और विकासशील देशो को प्राप्त होन वाले लाभो मे सतुलन तथा समानता लायी जा सके। इस प्रकार नयी व्यवस्था के नियम इस तरह बनाय जाए ताकि विश्व के उत्पादक साधनो को विकासशील देशो के तीव्रतर विकास के हित मे आवटित करना आसान हो सके। यद्यपि नयी व्यवस्था के हिमायती तीसरी दुनिया के देशो के त्वरित विकास पर मुख्यत जोर देते हैं, तथापि नवीन व्यवस्था के प्रस्तावो के पीछे अन्तर्निहित मान्यता यह है कि इससे दीर्घकाल मे विकसित एव विकासशील दोनो प्रकार के राष्ट्र समान रूप से लाभान्वित होंगे।

नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की एक बुनियादी मान्यता यह है कि जी० ए० टी० टी० (यकटाड) के नियमो का पालन करके विकासशील देशो की व्यापार आवश्यकताओ को पूरा नही किया जा सकता। यहा पर जोर इस बात पर दिया जाता है कि विकासशील देशो के हित मे विभेदात्मक तथा अनुकूल व्यवहार के सिद्धान्त को अपनाया जाय, ताकि विकसित राष्ट्रो के बाजारो तक उनकी पहुच बढायी जा सके और फलत विश्व व्यापार मे उनका हिस्सा अधिक हो सके। इसके लिए जहा एक तरफ विद्यमान व्यापार अवरोधो को दूर करना आवश्यक है, वहा दूसरी तरफ अल्प विकसित राष्ट्रो की निर्यात आय बढाने के लिए सकारात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कार्रवाई अपेक्षित है। ऐसे सकारात्मक कार्यक्रम के रूप मे नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के प्रस्ताव वस्तु बाजारो मे सक्रिय हस्तक्षेप की अपेक्षा रखते हैं, अर्थात् विकासशील राष्ट्रो द्वारा निर्यात किए गए प्राथमिक उत्पादनो की स्थायी, न्यायोचित और लाभप्रद कीमतो को प्राप्त करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु-समझौते करना। अधिक विवेकपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन को प्रोत्साहित करने के लिए विकसित राष्ट्रो से यह अपेक्षित है कि वे तटकर एव गैर-तटकर रुकावटो को दूर करेंगे, जो अल्प विकसित राष्ट्रो के निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं।

नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक-व्यवस्था सम्बन्धी प्रस्ताव इस बात पर भी जोर देते हैं कि विकासशील राष्ट्रो की ओर अन्तर्राष्ट्रीय पूजी के प्रवाह सम्बन्धी-व्यवस्था मे बुनियादी सुधार अपेक्षित है। इस सन्दर्भ म जहा एक तरफ उद्देश्य ऐसे प्रवाहो मे वृद्धि करना है, वहा दूसरी तरफ विकास के स्वायत्त मार्गो के अनुसरण करने को अल्प-विकसित राष्ट्रो

की क्षमता को मजबूत करना भी है। विकसित राष्ट्रों से विकासशील राष्ट्रों की ओर पूजी के स्थानातरण हेतु विद्यमान व्यवस्था राजनीतिक नियत्रण की परिवर्तनीय मात्रा पर निर्भर है, जो सही विकास के सयत्र के रूप मे उनकी प्रभावकारिता को कम कर देता है। द्विपक्षीय सरकारी सहायता प्रवाह अधिकाशत राजनीतिक तत्वों से प्रभावित है। बहुराष्ट्रीय निगमो की क्रियाशीलता मे ऐसे तथ्यो की पूर्णत उपेक्षा नही की जा सकती, जिसमे भारतीय मतदान-प्रथा, विकसित राष्ट्रो को निर्णय लेने की प्रक्रिया मे बहुत अधिक प्रभाव प्रदान करती है। निजी प्रत्यक्ष विनियोग के सबध मे ऐसा सकेत मिलता है कि बहुराष्ट्रीय निगमो के विनियोग निर्णय राजनीतिक अवधारणाओ से प्रभावित हो सकते हैं। विगत वर्षों मे 'यूरो करेंसी" ने बाजार की तीव्र प्रगति और उधार देने के लिए अतर्राष्ट्रीय बैंको मे तीव्र प्रतियोगिता, नि सदेह मध्य आय वाले विकासशील राष्ट्रो की कपटशीलता को बढा दिया है, जिनकी पहुच इन बाजारो तक है। फिर भी अनेक विकासशील राष्ट्रो की अन्तर्राष्ट्रीय बैंको के प्रति ऋण-ग्रस्तता मे तीव्र वृद्धि के फलस्वरूप इन बैंको को अपने ऋणियो की साख भुगतान क्षमता के बारे मे बेचैनी बढती ही गई है। ये सारे तत्त्व इस बात को निर्देशित करते हैं कि राजनीतिक अवधारणा, अन्तर्राष्ट्रीय पूजी-प्रवाह को प्रभावित करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। जब तक ऐसी अवधारणाए व्याप्त है, तब तक विकास के स्वायत्त मार्ग प्रोत्साहित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पूजी स्थानान्तरण सयत्रो पर भरोसा नही किया जा सकता। नवीन व्यवस्था सबधी प्रस्ताव अन्तर्राष्ट्रीय पूजी स्थानान्तरण मे बाह्य राजनीतिक अवधारणाओं की भूमिका को कम करने तथा अधिक अनुकूल शर्तों और दशाओं पर अधिकाधिक प्रवाहो को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय पूजी प्रवाह सयत्र को राजनीति चगुल से विमुक्त करने के उद्देश्य की प्राप्ति हेतु ये प्रस्ताव विकासशील देशो मे बहुराष्ट्रीय निगमो के सचालन हेतु अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर समझौता की गयी आचार-सहिता को अपनाने पर जोर देते हैं। बहुपक्षीय सहायता प्रवाह मे राजनीतिक प्रभुत्व को न्यूनतम करने के खयाल से इस बात पर जोर दिया जा रहा है कि बहुपक्षीय सस्थाओ की निर्णय-प्रक्रिया मे विकासशील देशो को ज्यादा से ज्यादा हिस्सा प्रदान किया जाये। इसके साथ ही साथ नवीन व्यवस्था सबधी प्रस्ताव विकसित राष्ट्रो द्वारा विकासशील राष्ट्रो को दी जाने वाली रियायती सहायता के प्रवाह में अधिक वृद्धि पर भी जोर देते हैं।

नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था सबधी प्रस्ताव अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली के ढाचे मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने पर भी जोर देते हैं। यह अनुभव करते हुए कि सिर्फ व्यापार प्रबधन ही एक सहनीय सीमा तक बाह्य भुगतानो की अनिश्चितता को कम नही कर सकते, वे मुद्राकोष द्वारा विकासशील देशो को उपलब्ध भुगतान सतुलन की मात्रा, दशा एव शर्तों से सबधित प्रोत्साहनो मे भी महत्त्वपूर्ण सुधार लाने की बात करते हैं। इनमें अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के सृजन हेतु औचित्यपूर्ण एव एकरूप सयत्र अपनाने की बात भी सन्निहित है, क्योंकि भुगतान असतुलनो का समायोजन और अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रबध

आर्थिक विकास में काफी सहायक है। विशेष आहरण अधिकार (एस० डी० आर०) को मौद्रिक प्रणाली केन्द्रीय आरक्षित सम्पत्ति के रूप में स्वीकार करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय तरलता और विकास सहायता के बीच संबंध स्थापित करने के प्रस्ताव नवीन व्यवस्था संबंधी क्रियात्मक कार्यक्रम के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। मुद्राकोष से प्राप्त होने वाली सहायता की प्रक्रिया को राजनीतिक चंगुल से दूर हटाने के लिए कोष की निर्णय प्रक्रिया में विकासशील राष्ट्रों की अधिकाधिक भूमिका की मांग की जा रही है।

नवीन व्यवस्था का क्रियात्मक कार्यक्रम तकनीक के स्थानान्तरण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में सुधार लाने पर काफी जोर देता है, ताकि विकासशील देशों को अपनी विकास प्रक्रिया में यह महत्त्वपूर्ण अदा (इनपुट) कम लागत पर उपलब्ध हो सके। इस सन्दर्भ में बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रतिबन्धात्मक व्यापार आचरणों का प्रभावपूर्ण ढंग से नियन्त्रित करने पर विशेष जोर दिया जाता है तथा विकासशील देशों की तकनीकी क्षमताओं में वृद्धि लाने की अनिवार्यता पर भी जोर दिया जाता है। विशेष ध्यान ऐसे प्रस्तावों पर दिया जाता है जिनका संबंध अदृश्य लेने-देने के क्षेत्र में विश्व साधनों के पुनराबंटन से है, जैसे जहाजरानी और यातायात सुविधाएं, बीमा सुविधाएं ताकि अदृश्य विनियोगों के कारण विकासशील देशों में विदेशी विनिमय का शुद्ध बहिर्गमन न्यूनतम हो सके।

जैसा कि पूर्व उल्लिखित है, नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का क्रियात्मक कार्यक्रम विकसित और विकासशील राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता की अनिवार्यता और आवश्यकता को स्वीकार करता है। नवीन व्यवस्था संबंधी दृष्टिकोण का सामान्य समर्थन विकासशील राष्ट्रों की अधिकांश सरकारों ने किया है, किन्तु वामपंथी विचारधारा का एक सशक्त स्केल है, जो संतुलित विकास को प्रोत्साहित करने के लिए बढ़ी हुई मात्रा में परस्पर निर्भरता के बजाय संबंध-विच्छेदन (डिलिंकिंग) पर जोर देता है। इस विचारधारा का नेतृत्व प्रोफेसर समीर अमीन करते हैं।[3] समाजवादी चिन्तक ऐसी किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं, जिसमें विश्व बाजार की केन्द्रीय भूमिका हो। उनका यह विश्वास है कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय अव्यवस्था विश्व पूंजीवाद के पतन का लक्षण मात्र है। वामपंथी विचारधारा वाले इन चिन्तकों को इस बात का भय है कि विकसित पूंजीवादी राष्ट्रों के साथ बढ़ी हुई मात्रा में सम्पर्क विकासशील देशों में प्रतिक्रियावादी वर्गों के प्रभुत्व को मजबूत करेगा और इससे उत्पादन और उपभोग के उस ढांचे की निरन्तरता में सहायता पहुंचेगी जो न्यायोचित विकास के संगत नहीं है। इस प्रकार क्रांतिकारी आन्तरिक परिवर्तनों पर ही जोर दिया जाता है जो राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता एवं विकासशील देशों के बीच सामूहिक आत्म-निर्भरता की आत्मा को मजबूत करेगा।

निःसन्देह यह सत्य है कि नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था स्थापित करने हेतु क्रियात्मक

[3]समीर, समीर 'एकुमुलेशन ऑन ए वर्ल्ड स्केल—ए क्रिटिक ऑव् द थियोरी ऑव् अन्डर डेवलपमेन्ट' मन्थली रिव्यू प्रेस, न्यूयार्क, 1974, पृ० 31

कार्यक्रम का कार्यान्वयन पक्ष बड़ा ही दुर्बल और निराशापूर्ण रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रणाली हो या मुद्रा और साख का प्रबन्ध, सीमित महत्त्व के महज इने गिने कदम इस दिशा मे उठाए गए हैं। व्यापार के क्षेत्र मे नवीन व्यवस्था सम्बन्धी प्रस्तावो के अनुकूल वस्तु व्यापार प्रबन्ध के पुनर्गठन की दिशा मे कोई प्रगति नही हुई है। 'अकटाड' द्वारा विकसित वस्तुओ के समन्वित कार्यक्रम का कार्यान्वयन बहुत धीमी गति से हुआ है। इस कार्यक्रम का एक प्रमुख तत्त्व सामान्य कोष की स्थापना है, जिससे बफर-स्टॉक और अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु प्रबन्ध के लिए वित्त की व्यवस्था की जा सके, और फलत बुद्धिमान प्रवृत्ति के साथ निर्यात आयो को स्थिर रखा जा सके। इन समझौतो के अनेक वर्षो के बाद जून 1980 म ही 750 मिलियन डॉलर साधन के साथ सामान्य कोष स्थापित करने का एक समझौता हुआ। लेकिन यह कहना बहुत अधिक अनिश्चित है कि कहा तक ऐसा कोष नये समझौतो को अपनाने मे उत्प्रेरक भूमिका निभा सकता है, अथवा यह कहना भी बहुत अधिक अनिश्चित है कि सबल अल्पाधिकारी क्रेताओ के बाहुल्य वाले बाजारो मे पर्याप्त मूल्य समर्थन कर पायेगा। जहा तक अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु समझौता का सवाल है उनकी भूमिका के विस्तार मे सबल सकारात्मक कारवाई का कोई प्रमाण उपलब्ध नही है। विकसित राष्ट्रो के तटकर का ढाचा एक भयानक अवरोधक के रूप मे बरकरार है। इसके अलावा विकासशील देशो की प्राथमिक उत्पत्तियो पर बहुराष्ट्रीय निगमो के समझौतो के अन्तर्गत तटकर की कटौतिया 33 से 41 प्रतिशत की औसत कटौती से बहुत अधिक निम्न थी। अनेक ट्रॉपिकल-प्रोडक्ट्स जिनमे विकासशील देशो के निर्यातो को विकसित राष्ट्रो के निर्यातो के साथ प्रतियोगिता करनी पडती है तटकर कटौतियो मे शामिल नही हैं। वस्तु बाजारो की एकमात्र सकारात्मक विशेषता मुद्राकोष के द्वारा 1975 और पुन अगस्त 1979 मे अपने क्षति-पूरक वित्त सुविधा को उदार बनाना ही है।

विकासशील देशो के विनिर्माण निर्यातो मे विगत दो दशाब्दियो के अन्तर्गत बड़ी तीव्रगति से वृद्धि हुई है। फिर भी विश्व-व्यापार मे उनका हिस्सा अब भी कम है। यद्यपि 'जी० ए० टी० टी०' के द्वारा विभेदात्मक एव अनुकूल व्यवहार-सबधी विकासशील देशो की माग स्वीकार कर ली गई है, फिर भी व्यवहार म यह रियायत बहुराष्ट्रीय निगमो के समझौतो के अन्तर्गत बहुत अधिक सीमित महत्त्व की है। प्रतिबधात्मक-व्यापार के क्षेत्र मे अप्रैल 1980 मे सयुक्त-राष्ट्र सम्मेलन द्वारा अपनाये गये बहुपक्षीय समझौता वाले औचित्यपूर्ण सिद्धान्त और परिनियम ही हैं। एम० एन० एफ०' दरो मे कमी के चलते 'जी० एम० पी०' के वास्तविक मूल्य मे कटौती हुई है।

जहा तक ऊर्जा के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र का सवाल है, खनिज तेल की न्यायोचित आपूर्ति और कीमत निर्धारण के लिए उचित प्रबध की दिशा मे कोई प्रगति नही हुई है। विश्व तेल बाजारो मे भारी अनिश्चितता बनी हुई है। इन प्रवृत्तियो से तेल आयातक विकासशील देशो के बाह्य आर्थिक पर्यावरण मे और अधिक गिरावट आयी है। ऐसी

व्यवस्था का अभाव है कि विकासशील देश तेल मूल्यों की वृद्धि के फलस्वरूप बढ़ते हुए भुगतान सन्तुलन के घाटे का सामना कर सकें तथा अपने विकास-कार्यक्रमों को सुरक्षित रख सकें। विश्व-बैंक ने विकासशील देशों की ऊर्जा के विकास को वित्त प्रदान करने के लिए अपनी भूमिका का विस्तार किया है, फिर भी उपलब्ध साधन आवश्यक विनियोग से बहुत कम है।

मुद्रा और वित्त के क्षेत्र में भी कोई महत्वपूर्ण संरचनात्मक परिवर्तन नहीं हुआ है। सरकारी विकास सहायता के प्रवाह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत लक्ष्य (कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति का 0.70 प्रतिशत) का लगभग आधा रहा है। विगत प्रवृत्तियां से यह जाहिर होता है कि निकट भविष्य में इस अनुपात में कोई महत्वपूर्ण सुधार नहीं होने जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली के क्षेत्र में भी ब्रेटन वुड्स (Bretton Woods) प्रणाली के पतन के बाद नयी प्रणाली के ढांचे सम्बन्धी समझौते बहुत अधिक कठिन साबित हुए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मात्रा और विभिन्न राष्ट्रों के बीच इसका वितरण किसी औचित्य एवं विवेकपूर्ण शर्त पर आधारित नहीं है। 1979-81 के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने 12 बिलियन डॉलर के मूल्य के बराबर 'एस० डी० आर०' का आवंटन किया जो विश्व तरलता के 27 प्रतिशत से भी कम है। स्वर्ण के मूल्य में तीव्र वृद्धि हुई और इसके फलस्वरूप अधिकांश उन विकसित राष्ट्रों की तरलता में वृद्धि हुई है, जिनके पास अपने आरक्षित कोषों का अधिकांश भाग स्वर्ण में ही है। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की गतिविधि निजी पूंजी बाजारों, विशेषतः यूरो करेंसी मार्केट की क्रियाशीलता के द्वारा बहुत अधिक प्रभावित होती है। विगत वर्षों में संरचनात्मक असन्तुलनों को दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के द्वारा उदार सुविधाओं की व्यवस्था कोष की नीतियों में परिवर्तन के शुभ लक्षण को इंगित करती है। फिर भी कुल मिलाकर आज भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली की व्यवस्था अधिकांशतः तदर्थ विचारों द्वारा प्रभावित है न कि सही माने में एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रबंध-पद्धति के दीर्घ-कालीन ढांचे के द्वारा।

इस प्रकार यह विवेचन नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की दिशा में धीमी प्रगति प्रदर्शित करता है। लेकिन, इसका मतलब यह नहीं कि स्थिति पूर्णतः निराशा-जनक है और नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के लिए संघर्ष व्यर्थ है। उल्लेखनीय *विशेषता विश्व अर्थव्यवस्था में सोवियत रूस, अन्य पूर्वी यूरोपीय राष्ट्रों और चीन का* वृद्धिमान भावी समन्वय है। चीन, हंगरी और रोमानिया ब्रेटन वुड्स संस्थाओं के अब सदस्य हो चुके हैं और वे उत्तर-दक्षिण वार्तालाप में भाग ले रहे हैं। लेकिन, अभी भी उत्तर (धनी राष्ट्रों) का दृष्टिकोण काफी महत्त्व रखता है और उनके लिए यह बुद्धिमत्तापूर्ण बात नहीं होगी कि वे तीसरी दुनिया की वास्तविकता को अस्वीकार करें। नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था हेतु दोनों का सहयोग अपेक्षित है।

अध्याय 5

आधुनिक कृषि एव ग्रामीण विकास

आयोजित विकास के आरम्भ काल से ही ग्रामीण विकास भारतीय योजनाओ का प्रमुख लक्ष्य रहा है। यो तो इस विकास-कार्यक्रम का श्रीगणेश प्रथम योजना (1951-56) से हुआ, किन्तु वास्तविक व्यावहारिक अर्थ मे योजनाबद्ध विकास का क्रम दूसरी पचवर्षीय योजना (1956 61) के साथ हुआ। प्रथम पचवर्षीय योजना द्वितीय युद्धोत्तरकालीन पुनस्संस्थापन-परियोजनाओ की एक समूह-मात्र थी। आयोजित विकास की कोई सुनिश्चित विधि का निर्धारण तब तक नही हो पाया था। इस विधि का प्रादुर्भाव द्वितीय योजना से हुआ, जिसके मूल मे स्वर्गीय प० जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रतिपादित देश मे 'समाजवादी समाज' या 'सोशलिस्टिक पैटर्न आफ सोसाइटी' की रचना का आदर्श रखा गया। अप्रैल 1954 मे उद्घोषित इस आदर्श मे सामान्य नागरिक विशेषकर लघु व्यक्ति के उत्थान को प्राथमिकता दी गयी, और ऐसे समाज की रचना का सकल्प लिया गया जिसमे 'लघु व्यक्ति' के आर्थिक एव सामाजिक विकास[1] के लिए अवसरो की निरंतर वृद्धि होती रहे।

भारत का अधिकाश लघु व्यक्ति गाव मे रहता है। नीचे की तालिका से यह स्पष्ट होता है कि आयोजित काल मे देश के ग्रामीणीकरण मे अवश्य गिरावट आयी है

जनगणना वर्ष	ग्रामीण आबादी	औसत वार्षिक गिरावट
1921	88 8%	0 203%
1951	82 7%	
1981	76 3%	0 213%

आयोजन के पूर्वकालीन 30 वर्षों के दौरान ग्रामीण आबादी मे प्रतिवर्ष 0 203% की गिरावट आयी और योजनाकरण के 30 वर्षों मे यह गिरावट 0 213% प्रतिवर्ष रही। किन्तु यह फर्क मात्र सांख्यिकीय है।[2] व्यावहारिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि आयोजित विकास के वावजूद देश के ग्रामीण स्वभाव मे कोई खास अन्तर नही आया है। आज भी भारत उतना ही ग्रामीण है, जितना पहले था। और इस ग्रामीण आबादी

[1]सेकेण्ड फाइव इयर प्लान

[2]इण्डिया 1980 पृ० 111 तथा प्राविजनल सेन्सस फिगर्स पार 1981

मे निर्धनो और बेरोजगार व्यक्तियो का बाहुल्य है। हमारी ग्रामीण आबादी के 77 मीलियन परिवारो मे लगभग एक-तिहाई ऐसे हैं जिनकी परिसम्पत्ति 2500 रु० से कम या इसके बराबर है। वर्तमान तस्वीर और भी भयानक है। हमारे किसानों के लगभग 25 प्रतिशत, गैर-किसानो के 65 प्रतिशत, दस्तकारों के 70 प्रतिशत तथा खेतिहर मजदूरो के लगभग 90 प्रतिशत परिवार निर्धनतम या लघुतम व्यक्ति की श्रेणी में आते हैं।[3] यदि निर्धन या लघु व्यक्ति की दृष्टि से देखा जाय, तो हमारी ग्रामीण जनता का लगभग 80 प्रतिशत भाग इस श्रेणी मे आयेगा।

इसीलिए 1955 मे ही ग्रामीण विकास के व्यापक प्रयास प्रारम्भ हुए, जब देश में सामुदायिक विकास योजनाओं का कार्य आरम्भ किया गया। किन्तु यह अनुभव हुआ कि इस कार्यक्रम का लाभ निर्धनो को न प्राप्त होकर साधन-सम्पन्नों को मिल रहा है। अस्तु, चौथी योजना से श्रीमती गाधी ने 'गरीबी हटाओ' आन्दोलन का सूत्रपात किया, निश्चित लक्ष्य वर्गों (जैसे भूमिहीन कृषि-मजदूरों, सीमान्त किसानों आदि) के लाभ की विशेष योजनाए चलीं, तथा 1975 से 20-सूत्री कार्यक्रम के तहत ग्रामीण गरीबी के उत्थान पर विशेष बल दिया जाने लगा।

इसी पृष्ठभूमि मे हम 1977-78 से कार्यशील 'समन्वित ग्रामीण विकास' का महत्व समझ सकते हैं। और आज ग्रामीण विकास का सबसे व्यापक और प्रभावक स्वरूप इसी समेकित ग्रामीण विकास को माना जाता है। समेकित ग्रामीण विकास की विभिन्न परियोजनाओ का ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होगा कि इनका मुख्य ध्येय है—निर्धनता निवारण तथा रोजगार-विस्तार। इसमें हम निर्धन तथा बेरोजगार व्यक्तियों के पास उत्पादक परिसम्पत्ति का सृजन करते हैं ताकि ये व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा हो सकें, उत्पादक हो सकें, और अन्तत: देश के विकास-स्रोत में सतत भागीदार बनकर रहें।

किन्तु इस ग्रामीण विकास-पद्धति के कुछ अनुभवों पर अब गौर करने की आवश्यकता महसूस हो रही है। प्रथमत: यह कि साधनों की सीमितता तथा प्रशासकीय अनुपयुक्तता के कारण इनसे लाभान्वित व्यक्तियों की संख्या अपेक्षाकृत न्यून पायी जा रही है, साथ-साथ कुछ अशो में इस कार्यक्रम का लाभ अवाछनीय तत्व भी उठा रहे हैं। दूसरे, देहातों म यह भावना परिलक्षित हो रही है कि लोग इसे सरकारी सहायता योजना समझकर स्वय अपने प्रयत्नों में विश्वास खो रहे हैं। आत्मनिर्भरता की भावना का यह ह्रास स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। अस्तु हमें दो बातो पर विशेष ध्यान देना होगा

1 लक्ष्य-वर्गाधारित समेकित ग्रामीण विकास की योजना को एक पूरक रूप में चलाना है, क्योंकि समान विकास योजना के कार्यान्वयन के दौरान ये लघुतम व्यक्ति

[3] एसेट्स आफ रूरल हाउसहोल्ड्स ऐज ऑन जून 10, 1971', रिजर्व बैंक आफ इण्डिया रिपोर्ट, 1976

लाभों से वंचित रह जाते हैं।

2 ऐसी परियोजनाओं का कार्यान्वयन करना होगा, या ऐसे अचलों का विशेष विकास करना होगा, जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग एवं स्वनिर्भर विकास परिपाटी प्रस्फुटित तथा पल्लवित हो, और ग्रामीण रोजगार के अवसरों की निरन्तर वृद्धि होती रहे तथा निर्धनता का निवारण होता रहे। अगर मौलिक रूप से देखा जाय तो यह स्पष्ट होगा कि निर्धनता स्वयं बेरोजगारी का प्रतिफल है। अस्तु, हमारी प्राथमिकता देहातों में रोजगार-वृद्धि पर होनी चाहिये।

इस दृष्टि से हमारा ध्यान अपने आप कृषि की सम्बन्धित सम्भावनाओं पर जाता है। देश के भीतर और बाहर ऐसे विकास-अर्थशास्त्री हैं, जो अपने विश्लेषणात्मक चिन्तन, कुछ पूर्वविकसित देशों के ऐतिहासिक अनुभव के अध्ययन तथा वर्तमान में इजिप्ट तथा जापान आदि देशों की तत्कालीन प्राप्तियों के मनन के आधार पर यह स्पष्ट कहते हैं कि भारतीय ग्रामों की निर्धनता, बेकारी तथा विषमता की समस्याओं का हल ग्रामीण ससाधनों— विशेषकर कृषि के विकास—द्वारा ही सम्भव हैं।[4] अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन की राय में तो "ग्रामीण विकास की कोई भी योजना कृषि-विकास के बिना सफल हो ही नहीं सकती।"[5] किन्तु अर्थशास्त्रियों का एक वर्ग ऐसा भी है जो यह कहता है कि स्वयं कृषि-विकास के लिये यह आवश्यक है कि इस पर से श्रम के भार को हटाया जाय, क्योंकि कृषि पर श्रम का अत्यधिक दबाव के कारण इसकी सीमान्त उत्पादकता शून्य है। फलत कृषि की उत्पादकता बढ़ाने के लिये यह इसके श्रम को अन्य क्षेत्रों में हस्तान्तरित करना होगा। श्री लुई एच० बीन का तो यहा तक कहना है कि कृषि पर से अत्यधिक श्रम के 15% के हस्तान्तरण से किसानों की उत्पादकता और आमदनी में 100% की वृद्धि होगी, तथा अगले 10% के हस्तान्तरण से इस उत्पादकता और आमदनी में 200% की वृद्धि होगी।[6]

अतिरिक्त श्रम के हस्तान्तरण से उत्पादकता-वृद्धि होगी, यदि तत्काल में इसे मान भी लिया जाय, तो प्रश्न यह उठता है कि इस श्रम को हटाकर कहा रोजगार दिया जाय। क्या उद्योगों में इन्हें आत्मसात करने की क्षमता है? या अन्य गैर-कृषि क्षेत्रों में यह क्षमता है?

शून्य सीमान्त उत्पादकता वाले कृषिपरक अत्यधिक श्रम-दबाव की चर्चा सर्वप्रथम श्री आर० नर्क्स ने की। तब से इस अत्यधिक श्रम-दबाव के कुछ अन्दाज लगाये गये हैं। कौल तथा हूवर नामक अर्थशास्त्री इसे 25 से 30% तक रखते हैं।[7] हमारा योजना-

[4]स्टेट्समैन, सितम्बर 1975

[5]आई० एल० ओ० रिपोर्ट ऑन रूरल इम्प्लाइमेंट प्रमोशन बाई इंटीग्रेटेड रूरल डवलपमेंट, जेनेवा, सितम्बर 1973

[6]डो० एन० गागुली, रीक-स्ट्रक्शन ऑफ इन्डियाज फारेन ट्रेड, नयी दिल्ली, 1946 पृष्ठ 115 पर उद्धृत

[7]कोल एण्ड हुवर, 'पापुलेशन ग्रोथ एण्ड इकानामिक डवलपमेंट इन लो इनकम कन्ट्रीज', दिल्ली, 1959, पृष्ठ 11

आयोग इससे सहमत है।[8] डा० वी दत्त[9] इसे 35 से 40% के बीच रखते हैं। अन्तु यह सीमा न्यूनतम 25% और अधिकतम 40% पर रखी जा रही है। हम न्यूनतम को ही लें यानी 25% को। अविभाजित भारत के अन्तर्युद्धीय काल से फैक्ट्री-रोजगार औसतन 1.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ा, दूसरे युद्ध-काल में यह 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष था, प्रथम योजना-काल (1950-1955) में यह गिरकर 1.25% प्रतिवर्ष पर आ गया। द्वितीय योजना से लेकर अब तक हमारे बड़े उद्योगों की विकास-दर 5% प्रतिवर्ष के आसपास रही है, जिसका अर्थ है कि इस दौरान फैक्ट्री-रोजगार में वार्षिक औसतन 2.5% की वृद्धि हुई है। यह वृद्धि हमारी कुल श्रम शक्ति (1982 के आंकड़ों के अनुसार 225 मीलियन) का केवल 8% है। इसका अर्थ यह हुआ कि सगठित उद्योग-क्षेत्र 5% की वार्षिक उद्योग-विकास की दर पर हमारी कुल श्रम शक्ति के मात्र 0.2% को ही आत्मसात कर रहा है।

हम सोच रहे हैं कि सप्तम पचवर्षीय एव अगली योजनाओं में हम उद्योग विकास की दर 8% प्रतिवर्ष पर रखें। यदि यह व्यवहार में सही उतरा, तो इससे सगठित उद्योग-क्षेत्र की रोजगार-वृद्धि-दर लगभग 4% प्रतिवर्ष के आसपास होगी। इसके फलस्वरूप उद्योग-क्षेत्र हमारी कुल शक्ति के मात्र 0.4% को ही आत्मसात कर सकेगा। भारत की श्रम शक्ति का इस समय (1982 के आकड़ों के अनुसार) कुल 225 मिलियन है, और यह प्रतिवर्ष लगभग 2% की दर पर बढ़ती है। वर्तमान में लगभग 50 मिलियन व्यक्ति पहले से ही बेकार हैं। अन्दाज है कि 2000 ए० डी० तक कुल श्रम-शक्ति 400 मिलियन पर पहुच जायेगी, जिसमे पहले के बेकार तथा नये सिरे के श्रमिक शामिल होंगे। इन सबको काम देने के लिये उत्पादक रोजगार साधनों में प्रतिवर्ष लगभग 3% की वृद्धि न्यूनतम आवश्यकता है। किन्तु (जैसा अभी स्पष्ट किया गया है) अपनी 8% वार्षिक विकास-दर पर सगठित उद्योग-क्षेत्र मात्र 0.4% की ही रोजगार-वृद्धि-दर दे सकेगा। दूसरे शब्दों म यह क्षेत्र अपनी अधिकतम विकास-दर पर भी केवल 25 मिलियन व्यक्तियों को ही रोजगार दे सकेगा। शेष 375 मिलियन व्यक्ति बेकार रह जायेंगे। और इसमें लगभग 80% यानी 300 मिलियन देहातों में होंगे।

कोई आश्चर्य नहीं कि हमारे योजना आयोग की पूर्वकल्पनाएं इस दिशा में सही नहीं उतरीं। आयोग ने यह अनुमान लगाया था कि औद्योगीकरण की प्रगति के फलस्वरूप भारतीय श्रम शक्ति की भूमि निर्भरता जो 1951 में 70% थी घटकर 1976 में 60% पर आ जायेगी, अर्थात यह निर्भरता 25 वर्षों में 10% घटेगी।[10] दूसरे शब्दों में सगठित उद्योगों के विकास फलस्वरूप वृद्धि-परक अत्यधिक श्रम का 0.4% प्रतिवर्ष की दर से हस्तान्तरण होगा। हम दिखा चुके हैं कि 0.4% प्रतिवर्ष का हस्तान्तरण

[8]सेवन्थ फाइव इयर प्लान, पृष्ठ 315
[9]डी० दत्त, 'इकनामिक्स आफ इण्डस्ट्रियलाइजेशन', कलकत्ता, 1960 पृष्ठ 112
[10]फर्स्ट फाइव इयर प्लान, पृष्ठ 20

उद्योग-विकास की अधिकतम दर यानी 8% प्रतिवर्ष पर आधारित है। यही कारण है कि हमारी आबादी का व्यावसायिक ढांचा जैसा का तैसा रहा, तथा सामान्य बेरोजगारी एवं कृषि पर निर्भर अत्यधिक श्रम के स्तर सुधरने के बजाय बदतर होते गये। स्पष्ट है कि बड़े उद्योगों के विकास के जरिये हम इतने रोजगार-साधन नहीं जुटा सकते, जिससे हमारी ग्रामीण बेरोजगारी तथा गरीबी के हल निकल सकें।

औद्योगीकरण के द्वारा कृषि-निर्भर अत्यधिक श्रम-शक्ति के हस्तान्तरण, और तब कृषि विकास की बात पूर्वविकसित देशों की अवस्थाओं पर आधारित हैं, जो अवस्थाएं भारत या दूसरे विकासशील देशों में सर्वथा भिन्न हैं। भारत जैसे नये विकासमान देशों के सम्बन्ध में व्यावहारिक तथ्य यह है कि कुल श्रम शक्ति के एक अत्यन्त अल्पांश की ही खपत संगठित बड़े उद्योगों में हो सकती है।[11] कृषिगत उत्पादन, रोजगार, तथा विपणनीय अतिरेक के अभाव में औद्योगिक रोजगार प्रसार अन्तत सफल हो ही नहीं सकता।[12]

द्रुत औद्योगीकरण तथा द्रुत सामान्य विकास के द्वारा ग्रामीण गरीबी के निवारण तथा रोजगार प्रसार के सपने अनेक विकासशील देशों में टूट चुके हैं। आज करीब 120 देश आयोजित ढंग से सामान्य और औद्योगिक प्रगति पर जोर देने आ रहे हैं। किन्तु उनके लगभग तीन दशकों के अनुभव उतने ही कटु हैं। भारत में तो सामान्य विकास दर मात्र 3.5% प्रतिवर्ष के आसपास रही है। लैटिन अमेरिका में कितने ही देशों की यह विकास दर 6 से 8% प्रतिवर्ष रही। किन्तु वहां भी ग्रामीण गरीबी, बेरोजगारी तथा विषमता की महामारियां निरन्तर बढ़ती गयी हैं। यह तथ्य सर्वप्रथम इस शताब्दी की पिछली साठवियों के मध्य सामने आया, जिसका विवरण श्री गुन्नर मीरडाल ने अपनी पुस्तक 'एशियन ड्रामा' में बड़े मार्मिक शब्दों में की है।

इसीलिये सभी विकासमान देशों में रोजगार-प्रसार तथा निर्धनता-निवारण की विशिष्ट परियोजनाओं के साथ-साथ कृषि के आधुनिकीकरण पर जोर दिया जा रहा है। भारत ने अवश्य इस दिशा में नेतृत्व का काम किया है। सौभाग्यवश भारतीय कृषि ऐसी है जहां उत्पादन वृद्धि के साथ रोजगार प्रसार की पर्याप्त सम्भावनाएं हैं। हमारे भूमि साधन सीमित हैं, जिससे कृषि क्षेत्र की विस्तार-सम्भावनाएं भी सीमित हैं। किन्तु गहन-कृषि की उत्पादकता तथा रोजगार सम्भावनाएं बहुत हैं। कृषि सघनता की वृद्धि से हम इन दोनों दिशाओं में पर्याप्त प्रगति कर सकते हैं। बावजूद हरित क्रान्ति के हमारे देश में कृषि सघनता अन्य देशों की तुलना में बहुत ही कम है। 1970 के आंकड़ों के अनुसार जहां प्रति 100 हेक्टर पर कोरिया में 261 श्रमिक, वियतनाम में 242 श्रमिक, नेपाल में 229 श्रमिक, इन्डोनेशिया में 224 श्रमिक, जापान में 192 श्रमिक, लेओस में 153 श्रमिक तथा थाइलैंड में 119 श्रमिक कार्यरत थे, वहां भारत में मात्र

[11] ए० मार्टिन, 'इकोनामिक्स एण्ड एग्रीकल्चर', लन्दन, 1958, पृ० 90

[12] एम० बॉब 'एन एस्से ऑन इकानामिक ग्रोथ एण्ड प्लानिंग', लन्दन, 1960, पृ० 29-30

92 श्रमिक कार्यरत थे। एक अनुमान है कि यदि भारत A. D 2000 तक यानी शताब्दी के अन्त तक अपनी कृषि-सघनता इस कदर बढ़ाये कि वह शताब्दी के अन्त तक प्रति 100 हेक्टयर पर (वर्तमान 92 की जगह) 122 श्रमिकों को कार्यरत कर सके, तो सिर्फ कृषि में ही 214 मिलियन श्रमिकों को प्रत्यक्ष रोजगार मिल जाय।

और यह सम्भव है। नीचे की तालिका पर ध्यान दें

भारतीय कृषि में कार्यरत श्रमिक[13]

वर्ष	कृषि के प्रति 100 हेक्टेयर में कार्यरत श्रमिक संख्या
1961	84
1970	92
197>	95

अर्थात 1961-1975 की 14 वर्षीय अवधि में प्रति हेक्टयर में कार्यरत श्रमिकों की संख्या में 11 की वृद्धि हुई, अर्थात मोटे रूप में श्रमिकों की संख्या में प्रति वर्ष औसतन 0 8 की वृद्धि हुई। 1961-1970 की 9 वर्षीय अवधि में ऐसे श्रमिकों की संख्या में 8 की वृद्धि हुई। यहाँ दो बातें स्मरण रखनी हैं। हरित क्रान्ति की उद्दामता 1968 69 में एक शिखर पर पहुंच कर अधोगामिनी हो गयी, और इस अवधि (1961-75) में कृषि-सघनता को अधिकतम प्रश्रय देने वाली सिंचाई व्यवस्था (विशेषकर लघु सिंचाई व्यवस्था) पर उतना जोर नहीं था। अस्तु हम यह आसानी से मान सकते हैं कि यदि सिंचाई क्षमता का हम भरपूर और गहन उपयोग करें, तो हम कृषि सघनता को आसानी से बढ़ाकर प्रति 100 हेक्टयर पर प्रति वर्ष एक श्रमिक को नये सिरे से कार्यरत कर सकते हैं। यानी A D 2000 तक हम प्रति 100 हेक्टेयर पर 122 श्रमिकों को कार्यरत करके केवल कृषि में हम 214 मीलियन व्यक्तियों को प्रत्यक्ष रोजगार दे सकते हैं।

1975 में हमारी सिंचाई क्षमता में प्रतिवर्ष 2 6 मीलियन हेक्टेयर की वृद्धि हो रही है। किन्तु इसका भरपूर उपयोग नहीं हो रहा है। हमारी सिंचाई क्षमता का 33 से लेकर 50% तक अप्रयुक्त जा रहा है। यदि हम इसका विशेषकर लघु सिंचाई क्षमता का गहन उपयोग करें तो कृषि में रोजगार की पर्याप्त सम्भावनाओं का फायदा मिल सकता है। अनुसंधान यह बताते हैं कि भारत में सिंचाई सुविधा के फलस्वरूप प्रति हेक्टेयर पर 40 मानव दिवसों के बराबर रोजगार अवसर बढ़ते हैं। पंजाब विश्वविद्यालय की खोजों से यह निष्कर्ष निकला है कि कृषित भूमि के प्रति हेक्टेयर लघु सिंचाई-व्यवस्था करने के लिये 360 मानव-दिवसों की आवश्यकता होती है।[14] अस्तु कृषि में रोजगार

[13] टेंडानलीज़ि इन पाब्लिकिटीज़ आफ इंडियन एग्रीकल्चर', नई दिल्ली, 1944
[14] सम्पादकीय, स्टेट्समैन, मार्च 24 1979

बढ़ाने के लिये सिंचाई-व्यवस्था का विस्तार और सघन प्रयोग अत्यावश्यक है।

सिंचाई-विस्तार और इसका भरपूर उपयोग कृषिगत रोजगार-विस्तार के मौलिक साधन हैं। साथ ही कृषि की प्रति एकड़ उत्पादकता-वृद्धि का सबसे बड़ा साधन भी सिंचाई ही है। भारतीय कृषि की प्रति एकड़-उत्पादकता-वृद्धि की सम्भावनाएं लगभग अपार हैं। श्री बर्न्स[15] के अनुसार यह उत्पादकता 100% बढ़ सकती है, जिसमें सिर्फ सिंचाई का योगदान 60% के बराबर है। डा० स्वामीनाथन[16] के अनुसार यह उत्पादकता दोगुनी से पांच गुनी बढ़ सकती है बशर्ते कि वर्णसंकर बीज, खाद एवं बीमारी-नियंत्रण के साथ सिंचाई की यथेष्ठ सुविधाएं हों। रनैन एवं स्टुअर्ट[17] के अनुसार हमारी प्रति-एकड़ उत्पादकता में 6 गुनी वृद्धि हो सकती है, यदि इन सब भौतिक पदों (इनपुट्स) के साथ वित्त, विपणन एवं कृषि-विस्तार (एक्सटेन्शन) की सुविधाएं बढ़ें। और मेरा खयाल है कि यदि डा० बेनर के टी० एवं वी० (ट्रेनिंग एवं विजिट) का प्रचार देश-व्यापी हो जाय तो हमारी प्रति एकड़ उत्पादकता 8 से 10 गुनी बढ़ायी जा सकती है।

ये सभी तत्व भारतीय कृषि के आधुनिकीकरण की दिशाओं की ओर इशारा करते हैं, जिनसे इसकी अपार उत्पादकता वृद्धि तथा रोजगार विस्तार की सम्भावनाओं का दोहन किया जा सकता है।

किन्तु आधुनिकीकरण के ये मात्र पदन सम्बन्धी (इनपुट सम्बन्धी) तत्व हैं, जिसे वैज्ञानिक कृषि की संज्ञा दी जा सकती है। यहां वैज्ञानिक कृषि और यंत्रीकृत कृषि में अन्तर समझना होगा। बहुत से लोग अन्धाधुन्ध यंत्रीकरण के हिमायती हैं, जो भारतीय परिस्थिति में प्रतिकूल है। यंत्रीकरण अमेरिका, इंग्लैंड आदि देशों के लिये उपयुक्त है, जहां मानव श्रम की सीमितता, परन्तु भूमि साधन की अधिकता है। भारत जैसे श्रम बहुल किन्तु भूमि-सीमित देश के लिए व्यापक यंत्रीकरण घातक होगा। सीमित यंत्रीकरण के पक्षपाती[18] कहते हैं कि इससे आरंभिक अवधि में तो श्रम-बेकारी बढ़ेगी, किन्तु दीर्घकालीन अवधि में श्रम की मांग पर्याप्त बढ़ेगी। किन्तु भारत में जहां अभी लगभग 40 मीलियन व्यक्ति गांवों में बेकार हैं, और जहां लगभग 5-6 मीलियन व्यक्ति प्रति-वर्ष, रोजगार बाजार में प्रवेश करते हैं, वहां हम 'कीन्स' के शब्दों में यही कह सकते हैं कि 'अल्पकाल में ही हम मरणशील हैं।'

पंजाब में कृषि यंत्रीकरण हुआ है। इसका अध्ययन करते हुए एक अर्थशास्त्री अपनी खोज के निष्कर्ष को निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं

"अनियंत्रित कृषि-यंत्रीकरण आर्थिक और सामाजिक दोनों दृष्टियों से घातक

15 'टैक्नालाजिकल पासिबिलिटीज ऑफ इण्डियन एग्रीकल्चर' नई दिल्ली 1944

16 योजना, 15 अगस्त, 1977

17 'रिपोर्ट ऑन रिसर्च, टीचिंग, एण्ड पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑन इकानामिक्स फार इण्डिया', भारत सरकार, 1954 पृष्ठ 121

18 'टैक्नालाजिकल चेन्जेज इन एग्रीकल्चर', दुर्बोदुन, पृ० 20

उत्पादन की वृद्धि होगी। और इससे लोगो के उपभोग और माग मे वृद्धि होने से स्थानीय उपभोक्ता तथा सेवा-उद्योगो मे विस्तार होगा। ग्रामीण विकास की प्रमुख समस्याओ (नामत बेकारी, गरीबी तथा विषमता) का सफल, व्यापक, एव टिकाऊ हल मिलेगा। कृषि का आधुनिकीकरण ग्रामीण विकास की स्वचालित प्रक्रिया को प्रस्फुटित, पल्लवित एव पोषित करता जायेगा।

अध्याय 6

राज्यों के योजनागत विकास के लिए वित्तीय प्रवन्धन

किसी भी मौद्रिक अर्थव्यवस्था म किसी भी काम को करने के लिए वित्तीय प्रवन्धन आवश्यक होता है क्योंकि इस प्रकार की व्यवस्था म वास्तविक प्रसाधनों (वस्तुओं एव सेवाओं) को प्राप्त करने के लिए मुद्रा की आवश्यकता होती है। आर्थिक विकास के लिए वास्तविक प्रसाधनो को उपयोग की ओर से खीच कर पूजी निर्माण के कामों मे या मानवीय विकास की ओर ले जाने की आवश्यकता होती है। साम्यवादी देशो मे यह काम आसान होता है। सरकार की शक्ति ऐसे देशो म सर्वोपरि होती है। समाज के सारे वस्तु एव सेवाओं के उत्पादन पर उसका अधिकार होना है। यह बात सरकार की इच्छा पर निर्भर करती है कि सम्पूर्ण उत्पादन का कौन-सा भाग किन किन रूपो मे उपभोग के कामों मे लगना चाहिए और साम्यवादी देशो मे उत्पादन और प्रयोग मे इतना सरल एव सीधा सम्बन्ध नही होता। इन देशो मे यही काम मुद्रा के प्रवाह को नियन्त्रित करके पूरा करने का प्रबन्ध किया जाता है। किसी अवधि मे अर्थव्यवस्था के अन्दर मुद्रा की एक निश्चित मात्रा होती है। हम लोग मुद्रा को आय रूप मे उपलब्ध करते हैं। और इस मौद्रिक आय से उत्पादन एव आयात के माध्यमो से समाज मे उपलब्ध वस्तुओ एव सेवाओ का क्रय करते हैं और अपने उपभोग म ले आते हैं। इनकी आय का कुछ अश बचत के रूप मे रहता है। इसी प्रकार कुछ बचत सरकार भी करती है। व्यापारियो एव उत्पादकों की भी अपनी बचतें होती हैं जो अपने नफे (लाभ) मे से कर और लाभाश, लाभाश बाटने के पश्चात् वे रख पाते हैं। इन सारी मौद्रिक बचतो के माध्यम से इन तमाम वस्तुओं को प्राप्त किया जा सकता है एव विकास के कामों मे लगाया जा सकता है जिनका उत्पादन इस अवधि विशेष मे तो हुआ परन्तु उनका क्रय उपभोग के कामो के लिए समाज ने नहीं किया।[1] मौद्रिक बचत तो वित्तीय साधन के रूप मे जाने जाते हैं। वस्तुओं के रूप मे जो बचत होती है वह वास्तविक पूजी निर्माण या निवेश का रूप धारण करती है जिन पर आर्थिक विकास की नीवें पड़ती हैं। जिनके हाथों में यह मौद्रिक बचत जाता है वे ही विकास अथवा पूजी निर्माण की शक्ति प्राप्त

[1]यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि सभी सेवाओं का उत्पादन एव उपभोग साथ-साथ हो जाता है। केवल वस्तुओं मे से ही कुछ का क्रय उपभोग के लिए नहीं होता।

दूसरी बात ध्यान देने की यह भी है कि अर्थव्यवस्था ऐसी अनेक टिकाऊ वस्तुओ का उत्पादन (जैसे रेल, सड़कें, मकान, मशीनें, जहाज) स्वय करती है जो उपभोग के लिए खरीदी नहीं जाती।

करते हैं।

जब हम वित्तीय प्रबन्धन की बात आर्थिक विकास के सम्बन्ध में करते हैं तो हमारा आशय समाज के मौद्रिक बचत को प्राप्त करने से होता है जिनको निवेश के कामों में, मानवीय विकास के कामों में, हम एक योजना के अन्तर्गत पूरा करना चाहते हैं।

एक अर्द्ध-विकसित, अविकसित या विकासशील देशों में विकास के कार्यों के लिए प्रबन्धन कैसे किया जा सकता है अथवा इसके लिए क्या क्या किया जा सकता है इसके ऊपर पिछले तीन-चार दशकों में बहुत कुछ लिखा-पढ़ा गया है। देशी एवं विदेशी अर्थशास्त्रियों ने इस पर भरपूर विवेचन प्रस्तुत किया है और इनसे आर्थिक-क्षेत्र के नीति-निर्धारकों को बहुत मदद मिली है। परन्तु जिस समस्या के बारे में हम यहां सोचने बैठे हैं इसका प्रकार थोड़ा भिन्न है।

हमारा देश एक गणराज्य है इसमें कुछ केन्द्र शासित क्षेत्रों के अतिरिक्त 22 राज्य हैं। इन राज्यों के विकास-स्तर भिन्न-भिन्न हैं। केन्द्र का दायित्व देश के समुचित विकास के प्रति सम्पूर्ण रूप से नहीं है और सामान्य परिस्थितियों में इस संदर्भ में इसके अधिकार भी अधूरे हैं। समाजवादी अथवा साम्यवादी देशों में केन्द्र के अधिकार इस सम्बन्ध में लगभग असीम हैं। प्रजातन्त्र में और विशेषतः गणराज्य वाले प्रजातन्त्र में केन्द्र के दायित्व विकास के सम्बन्ध में प्रायः उन्हीं विषयों तक सीमित हैं जिनका सम्बन्ध सभी राज्यों से है, जैसे राष्ट्रीय सड़कें, मुद्रा, रेल, डाक, संचार, वायु-सेवा, राष्ट्रीय सुरक्षा, विदेशों से सम्बन्ध, इस्पात तथा अन्य मूलभूत वस्तुओं का उत्पादन आदि। और विषयों (जैसे कृषि, उद्योग, शिक्षा, स्वास्थ्य, अन्य यातायात, आवास, समाज कल्याण ग्राम विकास, नगर विकास तथा अन्य) के विकास का दायित्व प्रमुखतः प्रत्येक राज्य का अपना दायित्व है। केन्द्र उनके लिए सहायक बन सकता है—आवश्यक सुविधायें जुटा सकता है। निष्कर्ष यह है कि ऐसी आधार-भूत सुविधाओं को जुटाने के दायित्व को छोड़कर, जिनका लाभ सभी राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों को मिल सकता है, अन्य सभी प्रकार के सामाजिक एवं आर्थिक विकास का वास्तविक दायित्व तो राज्यों का ही हो जाता है और इसलिए केन्द्र सरकार के अतिरिक्त प्रत्येक राज्य के सम्मुख आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए वित्तीय प्रबन्धन की समस्या भी उपस्थित हो जाती है। जैसा ऊपर बताया गया है भारत जैसे प्रजातन्त्रीय देश में वित्तीय प्रबन्धन ही वह मूलभूत उपाय है जिसके द्वारा विकास के स्वप्न को पूरा किया जा सकता है।[1]

इस समय जब हम एक राज्य के लिए, विकास कार्यों के लिए अर्थ-प्रबन्धन की बात सोच रहे हैं तो हमारा तात्पर्य राज्य-सरकार द्वारा किए जाने वाले अर्थ-प्रबन्धन से है।

[1]वित्तीय प्रबन्धन के अतिरिक्त परोक्ष रूप से भी कोई सरकार सीधी कार्यवाही द्वारा वस्तुओं एवं सेवाओं को अपने अधिकार में राष्ट्रीयकरण के माध्यम से कर सकती है। परन्तु एक प्रजातन्त्र में मूलभूत रूप से वित्त या मुद्रा के माध्यम से ही प्रायः वास्तविक साधनों को विकास के कार्यों की ओर प्रेरित किया जाता है।

पचवर्षीय योजनाओ मे विकास-कार्य के प्रस्ताव निजी एव सरकारी दोनो क्षेत्रों के लिए निर्धारित होते हैं। निजी क्षेत्र का विकास-कार्य मूलभूत रूप मे निजी-क्षेत्र मे होने वाले पूजी निर्माण कार्य से सम्बद्ध होता है जो निजी-क्षेत्र अपनी बचत के आधार पर करेगा ऐसी आशा योजनाकार करते हैं। निजी-क्षेत्र को बचत के प्रादुर्भाव की दृष्टि से दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है (क) गैर सरकारी निगमित क्षेत्र, (ख) निजी गैर सगठित या पारिवारिक क्षेत्र। राष्ट्र की बचत का लगभग 70 प्रतिशत बचत पारिवारिक या निजी-गैर सगठित क्षेत्र मे ही उत्पन्न होता है। गैर सरकारी निगमित क्षेत्र बचत की दृष्टि से सदैव अल्पतमद रहता है। उसको पूजी निर्माण की जरूरत इसकी बचत की अपेक्षा सदैव अधिक होती है। यदि इसकी बचत 3 से 5 प्रतिशत होती है तो पूजी निर्माण 8 से 10 प्रतिशत होता है। इस प्रकार गैर सरकारी नियमित क्षेत्र अपने पूजी निर्माण के लिए या तो सरकारी क्षेत्र पर निर्भर करता है अथवा पारिवारिक क्षेत्र पर। इसी प्रकार सरकारी क्षेत्र की बचत यदि लगभग 20 प्रतिशत है तो इसका योजना-व्यय पूजी निर्माण एव मानवीय विकास पर व्यय लगभग 50 से 55 प्रतिशत है। इस प्रकार सरकारी क्षेत्र अपने योजना-व्यय का लगभग पर्याप्त भाग पारिवारिक क्षेत्र मे उत्पन्न बचत से प्राप्त करता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अर्थ प्रबन्धन की दृष्टि से सम्पूर्ण देश के सरकार क्षेत्र (केन्द्र एव राज्यो का सम्मिलित क्षेत्र) को आन्तरिक या घरेलू साधनो की दृष्टि से मुख्यत दो बातो पर निर्भर करना पड़ता है (1) सरकारी क्षेत्र की अपनी बचत क्या है, (2) पारिवारिक क्षेत्र की कितनी बचत सरकार अपनी ओर खीच पाती है। इसके अतिरिक्त परिस्थितियो के अनुसार सरकारी क्षेत्र को विदेशी बचत के आयात पर निर्भर करना पड़ता है। सरकारी क्षेत्र की अपनी बचत तीन बातो पर निर्भर करती है (अ) करो से तथा करों के अतिरिक्त अन्य उपायों से सरकार की कितनी आय है, (ब) सरकारी व्यय योजना के मदो को छोडकर अन्य मदो पर कितना है, तथा (स) सरकारी क्षेत्र के उद्यमो की बचत क्या है? ये सारी बातें केन्द्रीय सरकार के लिए उतनी ही लागू होती है जितनी राज्य सरकारो के लिए। अन्तर केवल इतना ही है कि सम्पूर्ण देश की दृष्टि से केन्द्रीय सरकार को विदेशी बचत के आयात पर भी निर्भर करना पड़ता है, और राज्य सरकार को अपने साधनों के अतिरिक्त केन्द्रीय वित्तीय सहायता पर। परन्तु केन्द्रीय सरकार एव राज्य सरकारो के साधनो के उपरोक्त स्रोतों की व्यावहारिक रूपों मे काफी अन्तर है। इन दोनो प्रकार के सरकारों की समस्यायें भले ही एक जैसी लगती हैं परन्तु उनके वित्तीय समाधान के लिए किये जाने वाले उपायो मे पर्याप्त अन्तर है। यही नहीं इस गणराज्य मे प्रत्येक राज्य की समस्या अपनी समस्या है। प्रत्येक राष्ट्र भले ही केन्द्रीय एव अन्य पड़ोसी एव दूसरे राज्यों से अनेक मामलों मे जुड़ा हुआ होता है। परन्तु भौगोलिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियो की विभिन्नताओ के कारण उनकी वित्तीय प्रबन्धन की समस्याओ एव उनके निदान के तरीको मे काफी अन्तर हो जाता है। आइए हम थोड़े से विवेचन मे इस पर कुछ विचार

करें।

करो के मामलों मे केन्द्र के अधिकार बहुत अधिक है। सभी प्रमुख प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष करो को लागू करने, करो की दरों को बढाने-घटाने का अधिकार केन्द्रीय सरकार के पास है। सम्पत्ति कर आय कर, निगम कर, उत्पादन एव आयात निर्यात कर, ये सभी कर देशों मे सरकारी आय के प्रमुख साधन हैं। सम्पूर्ण देश मे ये समान रूप से लागू किए जाए इसके लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि इन करो को केन्द्रीय सरकार लागू करे। इनके माध्यम से देश की आय एम उत्पादन को नियमित करने का दायित्व भी केन्द्रीय सरकार के ऊपर हो जाता है। राज्य की सरकारो को कर के मामलो मे इतना वृहत अधिकार नही है। विक्रय कर को छोडकर अन्य करों से आय का स्रोत अपेक्षाकृत बहुत कम होता है। परन्तु यहा यह बात याद रखने की है कि आय नही मानी जाती। प्रति पाचवे वर्ष वित्त आयोग का गठन किया जाता है। केन्द्रीय एव राज्य सरकारो के आयो एव दायित्वो को ध्यान मे रखते हुए वित्त-आयोग इस बात का निर्धारण और इसकी सिफारिश करता है कि विभिन्न केन्द्रीय करों का कितना अश राज्य सरकारो को जाना चाहिए और किन-किन अनुपातो मे उनका वितरण विभिन्न राज्यो मे होना चाहिए। इस प्रकार नियमत कुछ केन्द्रीय करो का (जैसे आय कर, केन्द्रीय उत्पादन कर, अतिरिक्त उत्पादन कर, रेल के किराया पर लगे कर के बदले मे दी जाने वाली वित्तीय मदद, कृषि सबधी एव अन्य अचल सम्पत्तियो पर लगने वाला कर) एक विशिष्ट भाग राज्य सरकारो के पास प्रति वर्ष चला जाता है और उनकी प्रति वर्ष आय का एक अग बन जाता है जिससे प्रमुख करो से उन्हे विरक्त करने की कमी को पूरा कर दिया जाता है।

केन्द्रीय करो को लागू करने मे सम्पूर्ण देश की अर्थव्यवस्था, विदेशी अर्थव्यवस्था, केन्द्रीय योजना के प्रमुख लक्ष्यो तथा अन्य सर्वांगीण विकास के मदो को ध्यान मे रखा जाता है। राज्य सरकारो को केन्द्रीय-कर ढाचे की चौखट के भीतर बाध कर अपनी कर व्यवस्था को निर्धारित करना पडता है। साथ ही-साथ कोई भी राज्य अपनी कर-व्यवस्था एव अपने कर के ढाचे को अगल-बगल के राज्यो की कर-व्यवस्था से बहुत कुछ भिन्न नही रख सकता। यदि किसी राज्य के कर दर अन्य राज्यो के कर-दरो से अपेक्षाकृत अधिक ऊचे हुए तो राज्यो के बीच के आर्थिक क्रियाओ का सतुलन विकृत हो सकता है और इसका प्रभाव राज्य की अर्थव्यवस्था पर बुरा पड सकता है। किसी भी अर्थव्यवस्था की (चाहे वे देश की हो या उसके एक खण्ड राज्य की) सवेदनाए बडी सूक्ष्म होती हैं और कोई भी राज्य नीति इनसे अपने को तटस्थ नही रख सकती।

केन्द्रीय सरकार के पास वित्तीय प्रबन्धन की कठिन परिस्थितियो व तथा जरूरत के अनुसार उपयोग मे लाने के लिए एक और हथियार है जिससे राज्य सरकारें वचित होती हैं। घाटे के समय (अर्थात् जब सरकार का वित्तीय साधन जरूरत से कम पडता हो) केन्द्रीय सरकार दीर्घ एव अल्पकालीन प्रतिभूतिया नई मुद्रा के निर्माण के विशिष्ट उद्देश्य से जारी कर सकती है और इन्हे रिजर्व बैंक के हवाले कर ऐसी मुद्रा प्राप्त कर सकती

है। राज्य सरकारें रिजर्व बैंक से अल्पकालीन सहायता ऐसी कठिन परिस्थितियों में ओवर ड्राफ्ट के रूप में प्राप्त कर लेती है परन्तु इस सबंध में उनके ऊपर कई प्रकार के अकुंश होते हैं।

इन सीमाओं के कारण तथा देश की कर-व्यवस्था के प्रारम्भ के कारण प्राय यह पाया गया है कि राज्यों की आय इतनी नहीं होती कि वे अपनी तमाम जरूरी गैर-योजना सबंधी खर्चों को पूरा करने के बाद इतना वित्तीय साधन जुटा सकें। केन्द्र सरकार एक सीमा तक योजना सबंधी खर्चों को पूरा करने में उनकी सहायता करने को तैयार रहती है। अपनी योजना से एवं गैर-योजना सबंधी खर्चों को निकाल कर जो पैसा केन्द्रीय सरकार बचा पाती है उससे वह राज्यों एवं केन्द्र प्रशासित देशों की मदद इन योजनाओं को पूरा करने के निमित्त करती है। परन्तु यह भूलना नहीं चाहिए कि केन्द्रीय सरकार की क्षमता इस सबंध में अपरिमित नहीं होती। केन्द्रीय सरकार की स्वयं की आय करों के माध्यम से या अन्य उपायों से (अनेक उद्यमों के लाभ के रूप में या अन्य छोटे-छोटे माध्यमों से जैसे शुल्क, किराया इत्यादि) असीम नहीं होती। घाटे की नयी मुद्रा के प्रसारण की सीमाएं होती हैं। अधिक मुद्रा प्रसारण से मुद्रास्फीति जोर पकड सकती है। केन्द्रीय सरकार को योजना एवं गैर-योजना सबंधी दायित्वों का भार कम नहीं होता। वित्त आयोग के माध्यम से उसकी आय का एक अच्छा अंश पहले से ही राज्य सरकारों के पास जा चुका रहता है। इसलिए राज्यों की सहायता सीमित मात्रा में ही केन्द्र कर सकता है। जो राज्य तेजी से आगे बढ़ना चाहते हैं उनके लिए अनिवार्य हो जाता है कि वे अपने ऊपर निर्भर करने की क्षमता को बढ़ाएं।

केन्द्रीय सरकार के समक्ष समस्या यही नहीं होती कि राज्यों की सहायता उसे करनी होती है। उसकी सहायता के बिना राज्यों को अपने विकास कार्य में काफी आर्थिक अड़चनें उत्पन्न होंगी। सबसे कठिन समस्या यह है कि केन्द्र किस राज्य की कब कितनी सहायता करे। सभी राज्यों के आर्थिक विकास के स्तर एक से नहीं हैं। भारत एक विकासशील देश स्वयं है। इसमें भी कुछ राज्य आर्थिक विकास की दृष्टि से बहुत ही गिरे हुए हैं, कुछ अपेक्षाकृत बहुत आगे हैं। प्रत्येक राज्य की प्रति व्यक्ति वास्तविक आय दूसरे से भिन्न है। केन्द्र की सहायता राज्यों को इस प्रकार मिलनी चाहिए कि कुछ वर्षों में यथा-सम्भव इनमें आर्थिक विकास का स्तर समान बनता जाय तभी देश का समुचित समन्वयकारी, सर्वांगीण विकास माना जायेगा। हम सब जानना चाहेंगे कि केन्द्रीय सरकार राज्यों के प्रति इस दायित्व का निर्वाह किस प्रकार करती है।

इस दृष्टि से राज्यों को दो भागों में विभक्त किया गया है —(1) विशिष्ट वर्ग के राज्य, (2) अविशिष्ट वर्ग के राज्य। विशिष्ट वर्ग के राज्यों में हम उन राज्यों को सम्मिलित करते हैं जिनमें वित्तीय प्रबंधन की अपनी क्षमता यदि शून्य नहीं तो नगण्य अवश्य है। इसमें से कुछ राज्य तो ऐसे हैं जिनकी अपनी आय अपनी गैर-योजना सबंधी खर्चों के लिए भी पर्याप्त नहीं है। योजना के कार्यक्रमों के लिए वे कभी भी कुछ जुटा नहीं सकते। ऐसे राज्यों के प्रति केन्द्र को विशेष उत्तरदायित्व निभाना पड़ता है। उनकी

योजनाओं को इनके दीर्घकालीन विकास का ध्यान रखते हुए बनाना और इनके लिए वित्तीय प्रावधान का लगभग सम्पूर्ण दायित्व केन्द्रीय सरकार के लिए निभाना आवश्यक हो जाता है। ये राज्य है—असम, मनीपुर, मेघालय, नागालैंड, त्रिपुरा, जम्मू एव कश्मीर, सिक्किम और हिमाचल प्रदेश। इन आठ राज्यों के अतिरिक्त अन्य 14 राज्य रह जाते है। इनके नाम हैं—आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उडीसा, बिहार, कर्नाटक, केरल, गुजरात, तमिलनाडु, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, पजाब, पश्चिमी बगाल, राजस्थान एव हरियाणा।

राष्ट्रीय विकास परिषद् ने छठी पचवर्षीय योजना के सदर्भ मे अविशिष्ट राज्यो की वित्तीय सहायता के लिए पुराने फारमूले (गाडगिल फारमूला) मे कुछ ऐसा परिवर्तन किया है कि जिससे इन 14 राज्यो मे से उन राज्यो को जो अपेक्षाकृत अधिक अविकसित हैं अधिक केन्द्रीय सहायता मिल सके। केन्द्र के पास राज्यो मे सहायता के लिए वितरण का जो धन बचा होता है इसका 60 प्रतिशत वितरण जनसख्या के आधार पर किया जाता है, 10 प्रतिशत कर-सबधी राज्यो के प्रयत्न की माप के अनुसार, 20 प्रतिशत केवल उन राज्यो को जिनकी प्रति-व्यक्ति घरेलू आय औसन प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय के मुकाबले मे कम है। इनके सापेक्ष आर्थिक पिछड़ेपन के अनुसार एव 10 प्रतिशत राज्यो की विशिष्ट समस्याओ के लिए। इसके पूर्व आर्थिक पिछडेपन के आधार पर केवल 10 प्रतिशत ही बाटा जाता था। बाकी 10 प्रतिशत राज्यो को सिचाई सबधी इनके प्रयत्नो को ध्यान मे रखकर सिचाई को बढा देने की दृष्टि से दिया जाता था। केन्द्रीय सहायता का एक रूप बाजार-ऋण (Market Borrwing) मे राज्यो को हिस्सा देने का भी है। प्रति वर्ष जितना भी द्रव्य बाजार-ऋण के रूप से जनता के पारिवारिक बचत से प्राप्त किया जा सकता है इसका एक भाग राज्य सरकारों मे ऋण के रूप मे वितरित किया जाता है। प्रत्येक राज्य के हिस्से मे 10 प्रतिशत वृद्धि प्रतिवर्ष की जाती है। परन्तु छठी पचवर्षीय योजना के सदर्भ मे लगभग 1000 करोड की अतिरिक्त रकम केवल उन राज्यो मे वितरित करने की योजना है जिनकी प्रति व्यक्ति घरेलू आय राष्ट्रीय औसत से कम है। 10 प्रतिशत विशिष्ट प्रयोजनो के लिए बाटी जाने वाली रकम भी प्राय आर्थिक रूप से पिछडे राज्यो को जाती है।

इस प्रकार राज्यो के आर्थिक विकास सबधी वित्तीय प्रबधन मे केन्द्रीय सरकार का सहयोग जितना मिल पाता है वह अविशिष्ट राज्यो को एक फारमूलाबद्ध तरीके से मिलता है जिसकी स्वीकृति राष्ट्रीय-विकास-परिषद् से मिलती है, जिसके सदस्य सभी राज्य सरकारो के मुख्यमत्री, प्रधान मत्री, वित्त मत्री आदि होते हैं। यह स्वीकृति राष्ट्रीय स्वीकृति है। इसमे परिवर्तन की गुजाइश नही रह जाती। इसके पश्चात् विकास को गति देने के लिए अविशिष्ट राज्यो को अपनी कर-क्षमता तथा आय प्राप्त करने की अपनी अन्य पद्धतियो पर निर्भर करना अनिवार्य हो जाता है। इस दौड मे वे ही राज्य आगे निकल गए हैं जिन्होंने अपनी सभी वित्त प्रबन्धन की पद्धतियो का भरपूर उपयोग किया है। इसके लिए अपेक्षाकृत अधिक अविकसित राज्यो के लिए अत्यन्त

आवश्यक है कि विद्युत, परिवहन एवं सिंचाई सम्बन्धी राज्य-उद्यमों में हो रहे भारी घाटों को यथाशीघ्र रोकें और इन्हें वित्तीय संगठन की दृष्टि से मजबूत बनाएं जिससे राज्य की आय इन घाटों को पूरा करने के स्थान पर विकास सम्बन्धी अन्य कार्यों को पूरा करने में लगे। राज्य-करों का ढांचा इस प्रकार बनाया जाय कि राज्य में निवास करने वाले लोगों का वह वर्ग जिसने विकास कार्यों के माध्यम से पर्याप्त धन इकट्ठा किया है या करता है उसका एक अच्छा-खासा भाग राज्य सरकार के पास स्वतः चलता जाय। इन करों में बिक्री कर, मोटर-गाड़ियों पर लगने वाले कर, मनोरंजन कर, मद्य-पदार्थों पर लगने वाले कर प्रमुख हैं। भूमि-करों की दरें बहुत पुरानी हैं। इस बीच जबकि कृषि विकास पर केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों ने बहुत ही धन लगाया है इससे उत्पन्न लाभ का एक अंश राज्य-सरकार के पास आना चाहिए ताकि वे पुनः विकास-कार्यों में लग सकें। जब तक कृषि-आय पर कर लगाने की नीति का कोई उपयुक्त निर्णय नहीं हो जाता, यह आवश्यक है कि भूमि-कर को प्रगतिशील बनाया जाय और अच्छी तथा अधिक भूमि के स्वामियों के लिए अपनी कृषि-सम्बन्धी आय का एक उचित भाग राज्य सरकार के पास जमा करना आवश्यक बनाया जाय। राज्य की वन-सम्पदा का बढ़ाया जाना आवश्यक है तथा साथ में इसे राजकीय आय का अच्छा साधन बनाया जा सकता है।

राज्य में उद्योग-धन्धे जब बढ़ते हैं, लोगों की आमदनी बढ़ती है तो राज्य करों के पूर्व निर्धारित दरों पर भी राज्य-आय में वृद्धि होने लगती है। अतः रोजगार के साधनों के विकास पर पूरा जोर देना आवश्यक है। ग्रामीण रोजगार में वृद्धि यथासम्भव शीघ्र की जानी चाहिए। स्थानीय सरकारों (पंचायतों से लेकर नगर-निगमों तक) को स्थानीय विकास के लिए प्रयत्न करने में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक होना चाहिए कि जहां तक हो सके विकास क्रम से अधिक धन अर्जित करने वाले स्थानीय लोग अधिक से अधिक धन करों के रूप में, चुंगी के रूप में या अन्य रूपों में स्थानीय सरकारों को देने को बाध्य हों।

इससे स्थानीय विकास की गति तो तीव्र होगी ही साथ-ही-साथ स्थानीय लोगों को आभास होगा कि उनकी बचत उनके ही विकास में लग रही है। साथ में राज्य-सरकार को भी स्थानीय-सरकारों को निरन्तर सहायता देते रहने के बोझ से राहत मिलेगी और वे उचित ढंग से विकास के अन्य मदों पर ध्यान दे पायेंगे। ये कुछ प्रमुख बातें ध्यान देने की हैं।

परन्तु उचित वित्तीय प्रबन्धन की सबसे प्रमुख बात है वित्तीय दुरुपयोग से राज्य की रक्षा करना। प्रशासन को सख्त से सख्त बनाना आवश्यक होगा कि जिससे सरकारी कर्मचारी, व्यापारी, उद्योगपति, आय-व्यवसायी अनुचित ढंगों से (घूसखोरी-बेइमानी) पैसा अर्जित करके रातों-रात धनी होने के प्रलोभन से दूर होते जाएं और कठिन श्रम एवं लगन पर लोगों की आस्थायें पुनः स्थापित हों और मजबूत होती जाएं। किसी भी समाज का स्थाई विकास नैतिक बल, श्रम एवं दृढ़ निश्चय पर आधारित होता है। इनकी पुनर्स्थापना की ओर पूरा ध्यान देना होगा। वित्तीय-प्रबन्धन नैतिक-प्रबन्धन का केवल एक अंग है, इसे हमें नहीं भूलना चाहिए।

85594

अध्याय 7

ऊर्जा संकट—समस्या एवं समाधान

दस अगस्त से नैरोबी में प्रारम्भ हो रहे अपने किस्म के प्रथम संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन का महत्व भारत के लिए अनेक कारणों से बढ़ जाता है। भारत सरीखे अनेक विकासशील देशों के लिए विश्व के तेल भंडार में कमी से अधिक भयावह संभावित स्थिति है, गैर-व्यापारिक ऊर्जा अर्थात् घरेलू ईंधन की कमी। एक ओर आयातित तेल महंगा होने के कारण पांच हजार करोड रुपए से अधिक का भुगतान-भार और दूसरी ओर देश के अन्दर के ऊर्जा स्रोतों को समाप्त होने का भय, भारत के लिए चुनौती भी है और अवसर भी। चुनौती विशेषकर इसलिए कि ऊर्जा के विकास में विभिन्न तत्वों के योगदान और सात प्रतिशत विकास के संदर्भ में भारत की वर्तमान कोयला-भंडार आगामी 100 वर्ष में समाप्त हो जायेंगे। एक अन्य अनुमान के आधार पर यदि तेल के स्थान पर आधा उपयोग कोयले का होने लगे तो कोयला 40-50 वर्षों में ही समाप्त हो जाएगा। परमाणु ऊर्जा तो सन् 1985 तक हमारी ऊर्जा आवश्यकता का पांच प्रतिशत ही पूरा कर सकेगी। भारतीय समुद्र तट पर मिलने वाला तेल भी 13 करोड टन से अधिक नहीं आंका गया है। प्राकृतिक गैस 660 करोड क्यूबिक मीटर संभावित है और जल विद्युत भी 60 प्रतिशत भारत क्षमता के आधार पर 4 करोड किलोवाट होगी।

ऊर्जा के नये विकल्पों की खोज की समस्या और गम्भीर हो जाती है जब हम पाते हैं कि भारत में व्यापारिक ऊर्जा के सभी स्रोतों से लगभग 55 प्रतिशत ही ऊर्जा मिलती है और शेष अन्य स्रोतों से, जिनमें जलाऊ लकड़ी प्रमुख है। प्रतिवर्ष 17 करोड टन जलाऊ लकड़ी का इस्तेमाल तो होता ही है, साथ ही साथ 10 करोड टन कृषिगत-शेष भी जलाऊ उपयोग में आता है। यद्यपि अधिकृत रूप से यही कहा जाता है कि भारत में 23 प्रतिशत भू क्षेत्र पर वन है, पर सच तो यह है कि इसमें से लगभग आधे अर्थात् 4 2 करोड हेक्टर क्षेत्रफल पर कोई वन नहीं है। जिस गति से जंगलों की कटाई हुई, उसी का परिणाम है कि दिनों-दिन बाढ़ का प्रकोप बढ़ रहा है। सन् 1951 में बाढ़ से होने वाला नुकसान 21 करोड रुपए था जो 1977 में बढ़कर 1130 करोड रुपये हो गया। इससे अधिक चिंतनीय स्थिति और क्या होगी कि हमें मालूम होते हुए भी भू-भाग का 1 प्रतिशत भाग प्रतिवर्ष वनविहीन कर दिया जाता है और हम इस समस्या को गम्भीरता से नहीं लेते हैं। खाद्य और कृषि संगठन के एक अनुमान के अनुसार भारत समेत अन्य विकासशील राष्ट्रों में ग्रामीण क्षेत्रों के लगभग 83 करोड और शहरी क्षेत्रों के 16 करोड लोग घरेलू ईंधन की जरूरत जंगल काटकर पूरी करते हैं।

भारत मे तो, जहा 80 प्रतिशत लोग गावों में रहते हैं, जगल ही घरेलू ईंधन प्रदान करता है और यदि वन विनाश की यही गति जारी रही तो सन् 2000 तक जलाऊ लकड़ी का महत्व सीमान्त ही रह जाएगा, क्योंकि दूसरे शब्दों में उस समय तक आखिरी जगल का आखरी पेड़ कट चुका होगा और तब ग्रामीण ईंधन कहा से आएगी। आज भी शहरों और कस्बों में ईंधन के अकाल की छाया पड़नी शुरू हो गई है।

देश के कृषि, औद्योगिक यातायात इत्यादि के विकास के लिए निकट भविष्य में ही आज की ऊर्जा-पूर्ति की तुलना में चार गुना अधिक आवश्यकता होगी। यह आवश्यकता सरकार ही पूरा करे, यह सभव नहीं। विकेन्द्रीकरण के आधार पर उपभोक्ता स्वय भी सौर-ऊर्जा या गोबर-गैस का उत्पादन कर सकते हैं। अब समय आ गया है, जबकि देश को ऊर्जा-अकाल से बचाने के लिए सभावित विकल्पों की खोज करनी होगी। विकल्प सुझाते समय ग्रामीण विद्युत-करण का अनुभव सामने रखना होगा। ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकाश गरीब जलाऊ लकड़ी को प्राकृतिक सपदा की भेंट मानते हुए मूल्य नहीं चुकाते। "मुफ्त ईंधन" से पले ग्रामीण क्षेत्रों में घरेलू ईंधन का विकल्प सस्ता ही करना होगा, अन्यथा वन-विनाश लीला जारी रहेगी।

प्रकृति ने भारत को कभी निराश नहीं किया। हमारे यहा सौर-ऊर्जा की असीमित सभावनाए हैं। विज्ञान और तकनीकी विभाग के वरिष्ठ सलाहकार महेश्वर दयाल के अनुसार सन् 2000 तक कम और मध्यम ताप की आवश्यकता के लिए सौर-ऊर्जा के उपयोग से एक चौथाई तेल ईंधन और 40 प्रतिशत कोयले की बचत हो सकेगी। अर्थात् 5 से 6 करोड़ टन कोयला बचेगा। पर दुख की बात है कि सौर-ऊर्जा का विपन और व्यवहार, कुछ प्रदर्शनीय प्रतिष्ठित स्थानों (जैसे पाच सितारों वाले बुलद होटल या भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स) को छोड़कर, प्रयोगशालाओं में ही उलझा हुआ है। इजराइल, आस्ट्रेलिया और अमेरिका ने इस ओर काफी प्रगति कर ली है। अभी हम पानी गर्म करने या सब्द अनाज सुखाने के लिए 90-120 डिग्री सेन्टीग्रेड तापमान की सौर-ऊर्जा का उपयोग कर रहे हैं। जबकि इजराइल सौर-ऊर्जा को एकत्रित कर उन्नत तकनीक के माध्यम से 1000 डिग्री सेन्टीग्रेड तापमान का उपयोग कर रहा है। मेलबोर्न विश्व-विद्यालय ने सूर्य के उत्तर-दक्षिण मार्ग-परिवर्तन की समस्या को स्थायी "रिफ्लेक्टर" तकनीक से हल करके सौर-ऊर्जा की लागत 80 प्रतिशत कम कर दी है। भारत के लिए जहा अभी 40 से 50 किलोवाट के 'सैल्स' बनाने का कार्यक्रम हाथ में है, सूर्य के उत्तरायन और दक्षिणायन की समस्या का हल ढूटने के लिए मेलबोर्न का अनुभव काम आ सकता है।

ऊर्जा का दूसरा विकल्प है गोबर-गैस, जिसमें भारत ने प्रगति तो की है, पर पूर्ण सभावना का केवल 15 से 20 प्रतिशत ही उपयोग किया है। हमारे देशवासी प्रतिवर्ष 100 करोड़ टन से अधिक गोबर को ईंधन के रूप में उपयोग में लाते हैं। वर्तमान में देश में केवल 75,000 गोबर-गैस सयत्र हैं जबकि योजना आयोग के भूतपूर्व सचिव श्री शकर के अनुसार देश के गोबर से 1 करोड़ 80 लाख परिवार आकार के और 5

सारणी 7.1. विकासशील देशों का मूल-व्यापारिक ऊर्जा-असंतुलन
तेल समकक्ष प्रतिदिन लाख बैरल में

ऊर्जा-स्रोत	1980		1990	
	उत्पादन	उपभोग	उत्पादन	उपभोग
तेल	2.0	6.5	3.6	11.4
गैस	1.5	1.4	2.6	2.6
कोयला	2.4	2.5	3.3	3.4
जल शक्ति	1.5	1.5	3.2	3.2
अणु	0.1	0.1	1.0	1.0
अन्य	0.3	0.4	1.5	1.2
	7.8	12.4	15.2	22.8

लाख 60 हजार सामुदायिक आकार के गोबर-गैस संयत्र चलाए जा सकते हैं। गोबर-गैस संयत्र भारतीय ग्रामीण क्षेत्रों के लिए व्यावहारिक तो हैं ही, सस्ते भी हैं। गोबर-गैस ऊर्जा का उपयोग केवल खाना बनाने के लिए ही नहीं, बल्कि बिजली-उत्पादन और सिंचाई के कृषि संयत्र चलाने में भी हो सकता है।

ऊर्जा का तीसरा विकल्प है पशु शक्ति। देश में लगभग 8 करोड़ कार्यरत पशु हैं जिसमें सात करोड़ बैल, अस्सी लाख भैंस, दस लाख घोड़े व दस लाख ऊंट हैं। एक पशु में आधी हार्स पावर शक्ति के आधार पर हमारे देश में सन्निहित पशु शक्ति चार करोड़ हार्स पावर है जो 30,000 मेगावाट विद्युत शक्ति के बराबर होती है। यह क्षमता तो वर्तमान में स्थापित 29,000 मेगावाट विद्युत क्षमता से भी अधिक है। भारत में जहां 60 प्रतिशत जोत एक हेक्टर से कम के हैं, दो तिहाई शक्ति तो सेन के पशुओं से मिलती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि वर्तमान में देश की विद्युत व्यवस्था में लगभग 30,000 करोड़ रुपये का विनियोग हो रहा है, जबकि आठ करोड़ पशु शक्ति के रख-रखाव, पालन-पोषण इत्यादि की स्थायी व्यवस्था पर केवल 10,000 करोड़ रुपये चाहिए। अर्थात् एक-तिहाई धनराशि के विनियोग से अतिरिक्त 30,000 मेगावाट बिजली के बराबर शक्ति मिल सकती है। दूसरे बिजली की लाइनें बिछाने और तापघरों के रख-रखाव पर होने वाले खर्च से बचा जा सकेगा। सीमित कोयला-भंडार पर केंद्रित ताप घरों के विकल्प के रूप में लेना में चलते फिरते विकेन्द्रित ताप घरों की सन्निहित क्षमता का पूरा उपयोग होना चाहिए।

पशु शक्ति के प्रति हम बेपरवाह ही नहीं, क्रूर भी हैं। आठ करोड़ पशुओं से पर्याप्त पशु शक्ति प्राप्त करना तो दूर, उन्हें दिन में 500 करोड़ बार मार पड़ती है। हम यह क्यों भूल जाते हैं कि तेल और डीजल के अभाव में ग्रामीण-यातायात—विशेषकर उपज को बाजार तक लाने के लिए बैलगाड़ी—का महत्व और बढ़ेगा। देश में लगभग

डेढ़ करोड़ बैलगाड़ियों को शक्ति तो पशु ही प्रदान करते हैं। सड़कों के अभाव में दूर-दराज गांवों तक मोटर, ट्रक या हल्के मालवाहक नहीं पहुंच पाते। अतः महंगे तेल और डीजल के अभाव और सड़कों की अपर्याप्तता के संदर्भ में उपयोगी यही होगा कि रबड़ के टायर, हल्के बियरिंग, संतुलन-वृद्धि इत्यादि तरीकों से बैलगाड़ी के ढांचे में सुधार किया जाए, ताकि पशु शक्ति का अपव्यय भी न हो और उस पर अनावश्यक भार भी न पड़े। बंगलौर के भारतीय प्रबन्ध संस्थान में बैलगाड़ी में रबड़ टायर और दो जुए कर आदर्श माडल बनाने का प्रयास जारी है। संस्थान के प्रबन्धक डॉ० एन० एस० रामास्वामी के अनुसार इन सुधारों से बैलगाड़ियों की मालवाहन क्षमता में चौगुनी वृद्धि होगी। कितना डीजल व कितना तेल बचेगा।'

ऊर्जा के नए और नवीनतम स्रोतों की खोज में गन्ना, शीरा, अनाज इत्यादि कृषिगत उपज या उन पर आधारित पदार्थ से मद्यसारिक (एल्कोहलिक) जैविक द्रव्य ऊर्जा भी अनेक संभावनाओं से भरी है। बायोमास (जैविक द्रव्य) आधारित एथनोल पेट्रोलियम पदार्थों के स्थान पर गैसोलिन डीजल इत्यादि का प्रतिस्थापन स्रोत तो है ही, साथ ही साथ बाइलर ईंधन के रूप में तेल ईंधन का भी काम कर सकता है। एथनोल तीन प्रकार के जैविक द्रव्यों से बनता है (1) शक्कर प्रधान पदार्थ, जैसे गन्ना व शीरा, (2) माड प्रधान (स्टार्च) पदार्थ जैसे अनाज, खजूर, आलू इत्यादि व (3) सेलूलोज प्रधान जैसे लकड़ी, छाल और कृषिगत पदार्थ शेष। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट के अनुसार ऐसे मैथनोल उत्पादन की लागत प्रति टन 520 से 960 डॉलर तक होगी जो कि निकट भविष्य में गैसोलिन का प्रतिद्वन्द्वी होगा। आयरलैण्ड, न्यूजीलैंड, अमेरिका, डेनमार्क, कनाडा इत्यादि उन्नत देशों में तो पर्याप्त जैविक द्रव्य है व उस पर आधारित मैथनोल प्राप्त किया जा सकता है पर भारत में इस ओर विशेष प्रयास नहीं हुआ। भू-भाग के 23 प्रतिशत वन-संपदा वाले कृषि प्रधान देश में इस साधन के जैविक-द्रव्यों से ऊर्जा-स्रोत प्राप्त करने की संभावनाओं का पता लगाया जाना चाहिए।

ऊर्जा प्राप्ति के अन्य स्रोतों से जहां पवन ऊर्जा की संभावनाएं सीमित हैं वहीं दूसरी ओर हिमाचल प्रदेश और कश्मीर में भू-स्थित ताप स्रोतों से और मद्रास तट पर व कच्छ की खाड़ी में समुद्र ज्वार या लहर स्रोतों से ऊर्जा पाने के प्रयास किये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त मिनी पनबिजली केन्द्र के बारे में भी अनेक बार विचार किया गया है। अभी भी अनेक छोटी नदियां हैं जिनसे एक किलोवाट बिजली पैदा की जा सकती है, पर इन पर विचार अधिक हुआ, व्यवहार कम।

ऊर्जा प्राप्ति के नए व नवीनीकरण योग्य स्रोतों की तलाश के साथ-साथ यह भी जरूरी है कि राष्ट्रीय व राज्यकीय स्तरों पर ऊर्जा के प्रचलित वर्तमान उपभोग का सूक्ष्म परीक्षण भी हो तथा ऊर्जा उपभोग की प्राथमिकताएं पुनः निश्चित की जाएं। एक ओर नये स्रोत ढूंढने और दूसरी ओर महंगे तेल और डीजल का उपयोग जारी रखने की दोहरी ऊर्जा व्यवस्था से कोई लाभ नहीं होगा। नए स्रोत ढूंढना तो महत्त्वपूर्ण है ही, अधिक महत्त्वपूर्ण है ऊर्जा का अपव्यय और दुरुपयोग रोकना। ऊर्जा के विभिन्न उप-

भोक्ताओं के बीच प्राथमिकता जैसे औद्योगिक बनाम व्यावहारिक या घरेलू, सार्वजनिक परिवहन या निजी वाहन, ऊर्जा प्रधान बनाम गैर-ऊर्जा प्रधान इत्यादि निर्धारित करना आवश्यक हो गया है। यदि देश को समाविष्ट ऊर्जा, अभाव और ईंधन-अकाल के खतरे से बचना है तो 'ऊर्जा दक्षता' को योजना का महत्वपूर्ण भाग माना जाना चाहिये और ऊर्जा के मांग प्रबन्ध की व्यवस्था आर्थिक प्रबंध के समक्ष ही की जानी चाहिए। अन्यथा इस शताब्दी के अन्त तक हम ऊर्जा संकट के दुष्चक्र में पुनः धकेल दिए जाएंगे। आवश्यकता इस बात की है कि समाप्त होने वाले ऊर्जा स्रोतों को ध्यान में रखते हुए हम पुराने स्रोतों को बचाएं व सावधानी से उपभोग करें और गोबर-गैस, पशु-शक्ति, सौर-ऊर्जा (जैविक द्रव्य) बायो-मास इत्यादि स्रोतों का विकास तीव्र गति से करें। यदि वैकल्पिक स्रोतों का विकास नहीं किया गया तो हमारा आर्थिक विकास तो रुकेगा ही, साथ ही साथ जो प्रगति कर ली है, उसको कायम रखना भी मुश्किल हो जाएगा। समय रहते सावधानी नहीं बरती गई तो ऐसी स्थिति भी आ सकती है कि ऊर्जा के अभाव में उत्पादन न हो और ईंधन के अभाव में चूल्हे ही न जले।

अध्याय 8

बीस-सूत्री कार्यक्रम का आर्थिक दर्शन

आज से करीब पचहत्तर मास पूर्व, एक जुलाई 1975 को बीस-सूत्री कार्यक्रम की घोषणा हुई थी, जिसे 'नवीन आर्थिक कार्यक्रम' की सज्ञा दी गयी थी। किन्तु वक्त की रफ्तार के साथ यह सज्ञा अपने-आप मे सिमटती गयी। इसके कार्य-सम्पादन की धूम मे यह यदि लुप्त नही तो धूमिल अवश्य पड गयी। देश का बुद्धिजीवी आर्थिक चिन्तन भी पीछे पड गया, क्योकि इसने इसकी आत्मा मे निहित आर्थिक दर्शन का मन्थन नही किया। ऊपर से देखने पर बीस-सूत्री कार्यक्रम का कलेवर कुछ आर्थिक बिन्दुओं या सूत्रो का समूह जान पडता है, इन सूत्रो को समीप से टटोलने पर यह हमारे विकास-कार्यक्रमो मे नयेपन का मोड प्रदान करता है, किन्तु इससे भी बढकर इसके सभी सूत्रों को जीवन्त करने वाली आत्मा को हृदयगम करने पर यह कार्यक्रम उस नितान्त नयी विकास-स्ट्रैटेजी का सृजन करता है जो भारत-जैसे विकासी देशो की द्रुत एव स्थायी प्रगति के लिए सर्वथा उपयुक्त और व्यावहारिक है। इस स्ट्रैटेजी की रूप-रेखा को निखार देने से पूर्व दो बातो पर गौर करना होगा—प्रथमत यह कि बीस-सूत्री कार्यक्रम की सामान्य *विशेषताए क्या हैं, और दूसरे यह कि इसके प्रणेता यानी श्रीमती गाधी के आर्थिक* विचार क्या है।

कार्यक्रम की सामान्य विशेषताए

1. मूलत एक आर्थिक कार्यक्रम—*बीस-सूत्री कार्यक्रम मूलत एक आर्थिक कार्यक्रम* है, यह हस्तामलकवत् है, स्वय सिद्ध है। इसके लिये तर्क देना समय और शब्दो की बरबादी होगी। वस्तुत इसका नाम ही बीस-सूत्री आर्थिक कार्यक्रम है।

2 निर्धन एव कमजोर वर्गों को तरजीह—*कार्यक्रम के* विभिन्न सूत्रो पर एक गहरी-पैनी नजर डालने से यह स्पष्ट होगा कि ये सभी-के-सभी सूत्र अप्रत्यक्ष रूप से गरीब और कमजोर वर्गों के लिये विशेष लाभदायक हैं। 12 सूत्र तो ऐसे है जो प्रत्यक्ष ढग से इन उपेक्षित तबको की सुविधा-वृद्धि या असुविधा-निराकरण से सम्बन्धित हैं। शेष सूत्र मोटे रूप से तीन भागो मे बटते हैं। प्रथम भाग के सूत्रो का सम्बन्ध है मुद्रास्फीति नियत्रण से। यह सर्वविदित है कि ऊचे मूल्य-तल नीची आमदनी के लोगो और गरीबो पर कठोरतम प्रहार करते हैं। देश के लगभग 50 प्रतिशत लोग निर्धनता-रेखा से नीचे रहते हैं, और इनसे ऊपर करीब 35 प्रतिशत मे निचले मध्यवर्गीय व्यक्ति (विशेषकर नपी-तुली वेतन-भोगी) आते हैं, जिनके सामने ऊची कीमतो के कारण आमद-खर्च के

मुंहमिलान की समस्या सदैव मुंह-बाये खड़ी रहती है। नेशनल सैम्पुल सर्वे के निष्कर्ष, 1971 की योजना-आयोग-समिति की रिपोर्ट तथा रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की खोजें—सभी इस बात की पुष्टि करते हैं कि देहातों में भी लगभग 98 5 प्रतिशत व्यक्ति खाद्यान्न खरीद कर या उधार लेकर खाते हैं, नगर-निवासी तो अपनी तमाम जरूरियात बाजार से खरीदते ही हैं। अस्तु कार्यक्रम के मूल्य-तल नियन्त्रण-सम्बन्धी सूत्रों का मन्तव्य विशेष रूप से कमजोर वर्गों को राहत देना है। दूसरे भाग में वे सूत्र आते हैं जो आय-वितरण की विषमता के नियमन को अपना लक्ष्य मानते हैं। गरीबी स्वयं अपने में तो अभिशाप है, पर मनोवैज्ञानिक स्तर पर इसके कष्टकारक कांटे और ज्यादा नुकीले हो जाते है जब आंखों के सामने अमीरी अपनी दौलत और दिखाऊ उपभोग का नंगा नाच रचाती है। इस दृष्टि से विषमता-नियमन-संबंधी सूत्र विपन्नता के मानसिक अहसास के शमन की कामना से प्रेरित हैं। ये सूत्र विशेष रूप से देहातों की असमानता से संबंध रखते हैं, जहां देश के गरीबों की सबसे बड़ी जमात बसती है। तीसरे भाग में दो ही बच रहे है सिंचाई का विस्तार, और बिजली का प्रसार। विभिन्न फॉर्म-मैनेजमेंट-स्टडीज और कुछ विश्वविद्यालयों (विशेषकर पंजाब-कृषि-विश्वविद्यालय) के अनुसंधान ये बताते हैं कि सिंचाई-सुविधा-वृद्धि (विशेषकर भूमिगत जल साधनों के उपयोग से, जिस पर कार्यक्रम का विशेष जोर है) और विद्युत-प्रसार (खासकर ग्रामीण विद्युतीकरण) से ऐसे रोजगार-अवसरों का सृजन होता है, जिनका अधिकतम लाभ समाज के निम्नवर्गीय व्यक्तियों को होता है।[1]

संदर्भ की सीमाओं के भीतर कार्यक्रम का इतना ही सूक्ष्म विश्लेषण सम्भव है। पर अधिक गहन और विस्तृत विश्लेषण भी यही निष्कर्ष देगा कि बीस-सूत्री कार्यक्रम समाज के उपेक्षितों, निर्धनों तथा साधनहीनों के हित-साधन से ही प्रेरणा लेता है और यह हमारे योजनाबद्ध विकास के मूल-लक्ष्य के अनुकूल है। देश में आयोजित विकास का सोपान प्रथम नहीं, बल्कि द्वितीय योजना से आरम्भ हुआ। प्रथम योजना मुख्यतः पुनर्स्थापनात्मक थी, जिसमें द्वितीय युद्धोत्तरकालीन पुनर्निर्माण-परियोजनाओं के कार्यान्वयन पर जोर था। विकास की सुनिश्चित स्ट्रैटेजी का सूत्रपात हुआ द्वितीय योजना से, जब हमने महालानोबिस मॉडल अपनाया, और विकास का मौलिक लक्ष्य निश्चित हुआ 1954 में जब स्व० प० नेहरू ने सोशलिस्टिक पैटर्न ऑफ सोसायटी की व्याख्या के क्रम में आयोजित विकास का लक्ष्य ऐसे समाज का सृजन निर्धारित किया जिसमें निर्धन एवं साधनहीन 'लघु व्यक्ति' (स्माल मैन)[2] के उत्थान के अवसर प्राप्त हो प्रशस्त हो तथा गुणित होते जाएं। बीस-सूत्री कार्यक्रम की दृष्टि इसी 'लघु व्यक्ति' पर केन्द्रित है।

3. कमजोर एवं गरीबों की पहचान—जबसे हमने आयोजित विकास का संकल्प लिया, तभी से सर्वोपरि आदर्श के रूप में 'लघु व्यक्ति' हमारे सामने रहा है। किन्तु है

[1]इकॉनॉमिक टाइम्स, 24 मार्च 1979
[2]योजना-आयोग, द्वितीय पंचवर्षीय योजना, 1956, पृ० 22

कौन यह लघु व्यक्ति ? 'एशियन ड्रामा' यानी 'देशो मे गरीबी के कारणो की खोज' के रचेना श्री मीरडाल के अनुसार हमारे करीब 85 प्रतिशत[3] व्यक्ति 'लघु व्यक्ति' की श्रेणी मे आते हैं। मगर इनमे भी कुछ ऐसे हैं जो 'लघुतम व्यक्ति' हैं, जिन्हे हमारे अर्थशास्त्रियो ने समाज के 'चीखते नासूर' (आटम बूण्डस) की सज्ञा दी है। आर्थिक तथा प्रशासनिक *साधनो की सीमितता की दृष्टि मे बीस-सूत्री कार्यक्रम ने इन्ही चीखते नासूरो को अपने* दामन मे लिया है जैसे, बधुआ मजदूर, गिरिजन, हरिजन, आदिवासी, अनुसूचित एव जन-जातिया, भूमिहीन कृषि-मजदूर, करघा-कारीगर, एव सीमात तथा लघु किसान। साधनहीन वर्ग के अस्पष्ट परिधि एव परिभाषा को बीस-सूत्री कार्यक्रम ने स्पष्ट किया है।

4 कमजोरों को प्रत्यक्ष सहायता—साधनो की सीमित उपलब्धि तथा चरमवादी प्रक्रिया की ऐतिहासिक सीखें—ये दोनो विवश कर देती हैं हमे द्रुत और वृहत डगें भरने मे। इसलिए कार्यक्रम इन लघुतम वर्गो को उन न्यूनतम सुविधाओ की प्राप्ति का आयोजन करता है, जिनसे इन्हें नकारात्मक बधनो से छुटकारा मिलने के साथ-साथ राष्ट्र की विकास-प्रक्रिया मे योगदान का कुछ अवसर मिल सके। छुटकारा, न्यूनतम कृषि-मजदूरी-निर्धारण, अतिरिक्त भूमिहीन ग्रामीण-मजदूरो के बीच वितरण, गृह विहीनों को आवास-व्यवस्था, उद्योगो मे मजदूरो की सागीदारी और न्यूनतम बोनस का प्रावधान, जुलाहो की सहायता-परियोजनाए, अप्रेण्टिस-प्रशिक्षण मे कमजोर वर्गो को अधिमान, विद्यार्थियो को निश्चित कम मूल्यो पर स्टेशनरी की उपलब्धि, जनता कपडो का अधिक उत्पादन वितरण, तथा आवश्यक उपभोग वस्तुओ की प्राप्ति वगैरह इसके उदाहरण हैं।

प्रणेता के आर्थिक विचार

बीस-सूत्री कार्यक्रम की प्रणेता श्रीमती गाधी कोई पेशेवर अर्थशास्त्री नहीं, जो उद्धरणों की भरमार, आकडो के अम्बार, तथा मॉडल-बिल्डिंग के चमत्कार के साथ किसी सुनियोजित पुस्तिका मे अपने आर्थिक विचार रखती। वह एक उदीयमान पिछडे राष्ट्र की राजनेता हैं। स्वाभाविक है कि उनके आर्थिक विचार यत्र-तत्र बिखरे पडे हैं, उनकी सामयिक टिप्पणियो मे, लेखों मे, प्रशासकीय मत्रणाओं मे, विभिन्न उद्घाटन-भाषणो मे, तथा समय-समय पर दिये गये जनता के नाम सदेशों मे। इनमे कुछ मील-स्तम्भ की भाति हैं जिनमे पड़ी कडियां को जोडने से उनके आर्थिक विचारो की शृखला सम्यक् रूप मे निखरती है।

श्रीमती गाधी के आर्थिक विचारो की पहली झलक मिलती है उन टिप्पणियो मे, जो उन्होंने ऑल इण्डिया काग्रेस कमेटी के अध्यक्ष की हैसियत से 1959 मे दी थी, और जिसमें उन्होंने पश्चिमी मॉडेल पर आधारित विकास स्ट्रैटेजी के प्रति शका व्यक्त की थी। इन विचारो की रूपरेखा निखरती है 1975 मे हुए इण्डियन साइस-काग्रेस के उद्घाटन भाषण मे, जिसमे प्रधान मत्री ने भारत के लिये मौलिक जरूरतो पर आधारित

[3]गुन्नार मीरडाल, 'एशियन ड्रामा', एलेनलेन, लन्दन, 1968, पृ० 189

अर्थशास्त्र (नीड-बेस्ड) की उपयुक्तता की चर्चा की,[4] बरखिलाफ 'आवश्यकता आधारित' (वान्टबेस्ड) अर्थशास्त्र के, जो पश्चिमी देशों के लिये उपयुक्त है। एक साधारण मैट्रिकुलेट भी जानता है कि 'जरूरतें' तभी 'आवश्यकता' बन पाती हैं, जब उनके पीछे मुद्रा का, क्रयशक्ति का बल होता है। *'क्रयशक्ति-सम्पन्न आवश्यकता→बाजार प्रवेश→आर्थिक प्रयत्न→अधिक आमद→बचत→पूंजी निर्माण→अधिक उत्पादन।*

यही विकास-विधि का पश्चिमी अर्थशास्त्र का सीधा-सादा सिलसिला है। किन्तु भारत-जैसे देश में जहां घनेरों के पास मात्र 'जरूरत' है क्रयशक्ति के अभाव में यह 'आवश्यकता' नहीं बन पाती, वहां देश की बहुत बड़ी जमात विकास प्रयत्नों में भागीदार नहीं बन पाती। इसलिये पश्चिमी अर्थशास्त्र वर्तमान परिस्थितियों में हमारे हित-साधन के लिये अनुपयुक्त है। यह विचार अधिक स्पष्ट होता है यूनिडो-तृतीय (1980) के उद्घाटन-भाषण में[5] और 30 अगस्त 1980 के मुख्यमंत्री-सम्मेलन के भाषण में, जहां उन्होंने जोर दिया कि, भारत का आर्थिक विकास किसी,[6] भी (अब तक) ज्ञात मॉडेल के सहारे नहीं हो सकता।

राज-प्रशासक सिद्धान्त-प्रतिपादन के निर्णयन की प्रतीक्षा नहीं करता। वह सही जमीन पर कार्य-सम्पादन के लिये अधीर रहता है। शायद इसीलिये प्रधानमंत्री ने अपने विचारों को प्रथम बार व्यावहारिक जामा पहनाया जब अपने सामान्य निर्देशन में प्रतिपादित चौथी योजना का सर्वोपरि लक्ष्य 'गरीबी-उन्मूलन' रखा। चौथी योजना के प्रस्तुत होने से पूर्व योजना-आयोग ने निर्धनता-सम्बन्धी तथ्यों का बड़ा गहन और विस्तृत अध्ययन किया, और देश की परिप्रेक्ष्य-योजना के लक्ष्य इसी गरीबी-उन्मूलन की व्याख्या में व्यक्त होना आरम्भ हुआ। इसने देश के आर्थिक चिन्तन को एक नयी दिशा दी, और फलस्वरूप सम्बन्धित गरीबी में कई महत्वपूर्ण अध्ययन प्रकाश में आये। इन सरकारी अभ्यासों, स्वतंत्र अध्ययनों, तथा व्यावहारिक क्षेत्र में विकास-प्रतिफल की अवांछनीय दिशाओं ने मिलकर एक नितान्त नयी विकास-स्ट्रैटेजी की आवश्यकता का आयोजन किया, जो अन्ततः श्रीमती गांधी द्वारा प्रतिपादित बीस-सूत्री कार्यक्रम में प्रकट हुई। चौथी, पांचवीं और छठी पंचवर्षीय योजनाओं में इसी स्ट्रैटेजी पर अमल हो रहा है। और सत्य तो यह है कि बीस-सूत्री कार्यक्रम में निहित[7] स्ट्रैटेजी ही अब हमारे योजनाबद्ध विकास की आधार बन गयी है।

[4]प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी, 'उद्घाटन भाषण', इंडियन साइंस कांग्रेस, भुवनेश्वर, 1976
[5]प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी, 'भाषण', यूनिडो-तृतीय नई दिल्ली, 22 जनवरी 1980
[6]प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी, 'भाषण', मुख्य-मंत्री सम्मेलन नयी दिल्ली 30 अगस्त 1980
[7]प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी, प्रेस कान्फ्रेंस, भुवनेश्वर, 4 सितम्बर 1981

कार्यक्रम की विकास-स्ट्रैटेजी

पश्चिमी विकास-स्ट्रैटेजी के दोष

किसी भी विकास-स्ट्रैटजी का मूल ध्येय है 'विकास-क्षमता-सृजन'। जैसा कि स्व० पं० नेहरू ने निर्धारित किया था, और जैसी की राष्ट्र की अडिग आस्था है उसमें, हमारे योजना-बद्ध विकास का मौलिक उद्देश्य है 'लघु व्यक्ति' का क्षमता-सृजन एवं उसका निरन्तर अभिवर्द्धन। जिस विदेशी स्ट्रैटजी को हमने अपनाया उसने देश बहुत आगे बढ़ा पृथ्वी के धरातल पर हरित क्रांति लाकर, उद्योग-क्षमता में विश्व का दसवां स्थान पाकर, विज्ञान एवं तकनीकी प्रगति में दुनिया का तीसरा राष्ट्र बनकर। किन्तु 'लघु व्यक्ति' यदि इसमें और नहीं सिमटा, तो इतना निश्चित है कि वह विकास-प्रक्रिया के स्रोत का भागीदार नहीं बन सका। आखिर क्यों? यह इसलिए कि हमने देश में पश्चिमी अर्थशास्त्र की परिपाटी को प्रश्रय दिया, जिसमें विकास का उद्गम 'जरूरत' नहीं, बल्कि 'आवश्यकता' अर्थात् 'जीवन-यापन 'जरूरत' है। जब देश के लाखों-लाख नागरिकों के पास मात्र 'जरूरत' है, उसे पूरा करने के साधन नहीं, तो स्वाभाविक ही ये लघु व्यक्ति बाजार में न प्रवेश पा सके (स्मरण रहे कि पश्चिमी अर्थशास्त्री उन गरीबों को अपने अध्ययन-क्षेत्र से बाहर समझता है, जिनकी 'जरूरतों' के पीछे क्रय-शक्ति का सम्बल नहीं)।

और जब बाजार-अर्थव्यवस्था (मार्केट-इकॉनॉमी) से वे बाहर रह गये, तो विकास-स्रोत में अवगाहन कैसे कर पाते, जिस विकास-स्रोत की समस्त प्रक्रिया मुद्रा के माध्यम से निर्देशित होती है? विकास-स्रोत के भागीदार होने के लिये बचत और पूंजी की एक न्यूनतम आरम्भिक मात्रा होनी अनिवार्य है—जैसा पश्चिमी स्ट्रैटजी की पूर्व मान्यता है। ये सभी विकास-परिकल्पनाएं (थ्योरी-मॉडल) या तो व्यापक विश्वमन्दी के दौरान बनें, या निकट द्वितीय विश्व-युद्धोत्तर-काल में बन, जबकि पश्चिमी देशों में पूंजी-अभाव का वृहत संकट था, पूंजी निर्माण और इसकी उत्पादकता और पूर्ति-पक्ष में 'गुणक' (मल्टिप्लायर) की क्रियाशीलता भूत की भांति उनके मस्तिष्क में छायी थी। जब 'लघु व्यक्ति' के पास 'जरूरत' पूरी करने के साधन नहीं, बचत की गुंजाइश नहीं, और इसलिए पूंजी-निर्माण की ताकत नहीं, तो भला कैसे वह पश्चिमी विधि पर चलायमान विकास प्रक्रिया का लाभ उठाता? मात्र कुछ मुट्ठी भर अल्प लोग जिनके पास पैतृक सम्पत्ति थी, या कानून को अपना बना लेने की शक्ति थी, वे ही हमारे विकास प्रतिफल का समृद्धी लाभ उठाते रहे। लघु-व्यक्ति की भारी जमात विकास-स्रोत का मात्र दर्शक रही—कोसों दूर इससे, साधनहीन, निष्क्रिय, मौन, मजबूर!

निकट भूत के आंकड़ों के आईने में कुछ झलक आती है इन साधन-हीनों की तस्वीरें बावजूद हरित क्रान्ति और उद्योगीकरण की गहन, विस्तृत और द्रुत प्रगति के, देश की लगभग 80 प्रतिशत जनता को कोई फायदा न हुआ।[6] 1951 तथा 1974 के

[6]प्रधानमंत्री का भाषण, कन्वेन्शन आफ प्राडक्टिविटी काउन्सिल, नई दिल्ली, 11 नवम्बर 1975

जिस मध्यकाल में देश ने करीब 20 हजार करोड़ रुपयों की पूंजी लगाकर लगभग 200 प्रतिशत से अधिक के आसपास अतिरिक्त औद्योगिक उत्पादन किया, उसमें लाभान्वित हुए हमारी 62 करोड़ आबादी के केवल 6 करोड़ व्यक्ति। निर्धनता-रेखा के नीचे का गर्त निरन्तर गहरा और विस्तृत होता गया, बेकारी-बाजार में बाढ़ आती गयी।

अन्य विकासमान देशों के अनुभव

तरक्की के लिये आतुर लगभग 120 पिछड़े देशों ने भी यही पश्चिमी-विधि अपनायी है, और सबके दामन में लगभग वैसे ही कांटे, वैसे ही फूल गिरे हैं बेरोजगारी की बाढ़ के, गरीबी की वृद्धि के, वितरण-विषमता के विष, बावजूद इसके कि इन सभी देशों की विकास-दर न्यूनतम उतनी जरूर रही है, जितनी आज के विकसित पश्चिमी देशों के तुलनात्मक आरम्भिक विकास-काल में थी—लगभग 3 से 4 प्रतिशत के बीच। डाग हैमरर्जोल्ड[9] का कथन है कि पिछड़े देशों में जीवनयापन-सुधार के लिये 6 से 7 प्रतिशत प्रतिवर्ष की विकास-दर आवश्यक है। पर कितने ही ऐसे पिछड़े देश हैं—विशेषकर लैटिन-अमेरिकी देश[10]—जहां यह विकास-दर औसतन 5 से 8 प्रतिशत प्रतिवर्ष है। फिर भी यहां की गरीबी, बेकारी और धन वितरण-विषमताएं घटने की बजाय बढ़ती गयी हैं। सत्य तो यह है कि इन आर्थिक महामारियों की भीषणता इन अधिक विकास-दर वाले पिछड़े देशों में ही अधिक है।

सामान्य विकास दर अकेली अपर्याप्त

भारत-सहित सभी विकासमान देशों का एक ही अनुभव है कि चाहे राष्ट्रीय उत्पादन की दर कुछ कम हो,[11] या काफी हो, लघु व्यक्ति की दशा सुधार पर इनका कोई प्रभावक असर नहीं पड़ा है इन देशों में। ऊंची विकास-दर वाञ्छनीय है, किन्तु स्वयं अकेली अपर्याप्त है। समूची राष्ट्रीय इकाई के रूप में ये देश आगे बढ़े हैं, परन्तु साथ-साथ सामान्य जनता की निर्धनता भी बढ़ती गयी है। इस विरोधाभासी स्थिति की दर्दनाक तसवीर सर्वप्रथम श्री मीरडाल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एशियन ड्रामा' में सन् 1968 में दी। पिछड़े देशों में पश्चिमी विकास स्ट्रैटेजी की करतूत पर यह पुस्तक कठोर प्रहार थी, जिसने पिछड़े देशों के पुनरुद्धार से विशेष सम्बन्धित संस्था विश्व-बैंक की आंखें खोलीं। फलस्वरूप बैंक के 'विचार-गृह' में श्री महबूबुलहक और पॉल स्ट्रीटन जैसे आर्थिक सलाहकारों ने कुछ नवीन विकास-पद्धति की खोज आरम्भ की।[12] किन्तु इसमें अगले

[9]वित्तमंत्री श्री सी॰ सुब्रह्मण्यम का भाषण, कन्वेंशन ऑफ प्रोडक्टिविटी काउंसिल, पूर्वोद्धृत

[10]ह्यूमन इंस्टीट्यूट प्रतिवेदन 1974 तथा रजनी कोठारी फुटस्टेप इंटू द फ्यूचर डायनामिक्स ऑफ प्रेजेन्ट वर्ल्ड मोगम्स बम्बई 1975 पृ॰ 111

[11]एशिया में ही दक्षिणी कोरिया, मलेशिया तथा इण्डोनेशिया की विकास दरें औसतन 3 से 10 प्रतिवर्ष रहती आयी हैं

[12]इकानॉमिक टाइम्स, पूर्वोद्धृत

लगभग 5-6 वर्ष (1968-74) लग गये।

भारत का आर्थिक नेतृत्व

पश्चिमी विकास-स्ट्रैटजी की यथेष्टता की चर्चा विश्व स्तर पर सर्वप्रथम श्री गुन्नार मीरडाल (एशियन ड्रामा म) न 1968 में की जिससे प्रभावित होकर विश्व-बैंक ने श्री राबर्ट मैकनमारा की अध्यक्षता म 'न्यूनतम आवश्यकता' को परिभाषित करना आरम्भ किया, और इसके लिये अपनी ऋण एव विकास नीतिया म उन परियोजनाओं पर अधिक बल देना आरम्भ किया जो पिछडे देशा मे सामान्य विकास के दौरान कृषि एव कृषि-आधारित उद्योगो के विस्तार को ज्यादा आश्वासन दें, ताकि विकास-प्रतिफल अधिक अश म निर्धनो का मिल सकें, जो अधिकाशत देहातों म रहत हैं।

ठीक इसी समय यानी 1968-69 म भारत में भी जब चौथी पचवर्षीय योजना का स्वरूप निखर रहा था, तो गरीबों की आर्थिक स्थिति म सुधार लाने के लिये योजना-आयोग ने मौलिक आवश्यकताओ का गहन और विस्तृत अध्ययन आरभ किया। इस तरह चिन्तन की दृष्टि म तो नयी विकास-स्ट्रैटजी के अभ्युदय के आभास विश्व-बैंक तथा भारत दोनो जगह साथ-साथ मिलत हैं। परन्तु ठोस, प्रभावक सम्पादन की दृष्टि से भारत ने इस दिशा मे अग्रणी का काम किया, जब श्रीमती गाधी के निर्देशन म प्रस्तुत चौथी योजना का परम उद्देश्य 'निर्धनता-उन्मूलन' रखा गया, और 'राष्ट्रीय न्यूनतम आवश्यकता-कार्यक्रम' अपनाया गया। और इस योजना के अन्तिम तीन वर्षों मे ग्रामीण रोजगार वर्द्धन तथा सीमान्त किसानो को सहायता-वृद्धि की विशिष्ट परियोजनाओ पर कार्य-सम्पादन आरम्भ हुआ। स्पष्ट है कि जिस समय विश्व-बैंक अपनी विचारधाराओं और विकासात्मक ऋण-नीतियों मे ग्रामीण विकास की ओर झुकाव दिखा रहा था, उस समय भारत इस क्षेत्रीय झुकाव के साथ ही साधनहीनों की दशासुधार की विशिष्ट योजनाए सम्पादित कर रहा था। सामान्य विकास मे (पिछडे) क्षेत्रीय विकास को अधिमान और इस अधिमान मे (गरीबी के लिये) विशिष्ट परियोजनाओं का प्रावधान ···· यह भारत की देन है, जो श्रीमती गाधी के निर्देशन में चौथी योजना से आरम्भ हुआ।

स्वार्थनिष्ठों की विघ्नवादिता

कार्यक्रम की विशिष्ट परियोजनाओं मे आगे चलकर समाज के कमजोर वर्गों को लाने के उपक्रम होने लग, जैसे भूमिहीन खेतिहर मजदूर, लघु किसान तथा सूखाग्रस्त क्षेत्रो के निवासी। किन्तु इनक कार्य-सम्पादन के दौरान यह अनुभव हुआ कि पिछले क्षेत्रो के कमजोर वर्गो को इन परियाजनाओ का कोई विशेष लाभ नही हो रहा है विशेषकर 'स्वार्थनिष्ठ' व्यक्तियो के कारण, जो अपने साधनो के उपयोग से इन परियोजनाओं के लाभ को कमजोरो के पास नहीं पहुचने देते। प्रधान मत्री श्रीमती गाधी को प्रेषित अपने एक नोट मे श्री वसन्त साठे ने ऐसे 'स्वार्थनिष्ठो' की सख्या पूरी देश की आबादी का मात्र 2 5 प्रतिशत बताया, जिनकी वार्षिक आमदनी 24000 रुपये या इससे अधिक है,

और जो सारी अर्थव्यवस्था का इस प्रकार नियन्त्रण करते हैं कि सामान्य विकास का प्रतिफल साधारण जनसमुदाय तक न पहुंचकर अधिकतम उन्हीं (स्वार्थनिष्ठों) तक सीमित रह जाता है। रीजर्व बैंक की रिपोर्ट (ऐसेट्स ऑफ रूरल हाउसहोल्ड्स ऐज ऑन जून 30, 1971) के अनुसार ऐसे स्वार्थनिष्ठों की संख्या देहातों में पूरी ग्रामीण आबादी का केवल 22 प्रतिशत है,[13] जिनके पास कुल जोत-भूमि के 78 प्रतिशत का स्वामीत्व है, और जो अपने साधन और प्रमुत्व के प्रभाव से विशिष्ट परियोजनाओं के प्रतिफल को भी कमजोरों के पास नहीं पहुंचने देते। स्वार्थनिष्ठों की विघ्नवादिता के सम्बन्धित सूचक चौथी योजना के अन्तिम वर्ष (1973-74) और पांचवीं योजना के प्रथम वर्ष (1974-75) में पूरी तरह सामने आये। वामपंथियों का रुझान था कि वृहत संस्थात्मक परिवर्तन लाकर इन स्वार्थनिष्ठों पर प्रबल प्रहार किया जाए, ताकि विशिष्ट परियोजनाओं का लाभ कमजोर वर्गों तक पहुंचने के रोड़े समाप्त हो जाए।

किन्तु वृहत् एवं तीव्र संस्थात्मक परिवर्तनों के परिणाम भयकर देखे गये हैं—भयानक आर्थिक-सह सामाजिक कष्टों, उत्पादन की संरचना एवं शिराओं की अस्त-व्यस्तता, तथा दीर्घकालीन सामाजिक वैमनस्य के रूप में। और यह विकासात्मक समाज, रचना नामक भारतीय आदर्श के प्रतिकूल है। फिर भारत उस समय तक अपनी संरचना, विज्ञान-प्रगति तथा उद्योगीकरण की इस अवस्था में था कि सामान्य विकास प्रगति के साथ ऐसी पद्धति अपनाये जो कमजोर वर्गों का भी विकास-पथ प्रशस्त करे। यही पद्धति निखरी बीस-सूत्री कार्यक्रम में।

कार्यक्रम की विकास स्ट्रेटेजी

हमारे आयोजित विकास का मौलिक उद्देश्य है 'लघु व्यक्ति' का विकास। सामान्य से 'लघु व्यक्ति' अछूता रहा, क्योंकि बाजार-प्रवेश के फलस्वरूप विकास-प्रवाह-प्रवेश के लिये उसके पास साधन नहीं। लघु व्यक्ति' को आश्रय और निवास प्रदान करने वाले कृषि एवं ग्रामीण अंचलों के अधिमानी क्षेत्रीय आयोजन से वह अधिक लाभान्वित इसलिये नहीं हुआ कि इसका प्रतिफल देहात के साधन-सम्पन्नों ने अपना लिया। पूरक विशिष्ट परियोजनाएं 'लघु व्यक्ति' को वांछित फल न दे सकीं, क्योंकि 'स्वार्थनिष्ठों' की विघ्नवादिता के कारण से उन तक पूरी तरह पहुंच न पायीं। इसी कमी को दूर करने के लिये बीस-सूत्री कार्यक्रम के विकास-स्ट्रेटेजी के निम्नलिखित पहलू विशेष महत्त्व रखते हैं —

1 लघुतम व्यक्ति का निश्चयीकरण—यों तो चन्द साधन-सम्पन्नों को छोड़कर पूरा भारत ही लघु व्यक्ति का देश है। परन्तु इनकी सर्वाधिक संख्या देहातों में बसती है। और देहातों में किसानों का लगभग 20 प्रतिशत कृषि-मजदूरों का 60 प्रतिशत, दस्तकारों का लगभग 70 प्रतिशत तथा, अन्य गैर किसानों का लगभग 95 प्रतिशत

[13] रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया रिपोर्ट ऐसेट्स ऑफ रूरल हाउसहोल्ड्स ऐज ऑन जून 30, 1971, बम्बई, 1975

लघु व्यक्ति की श्रेणी में आता है।[14] बहुत बड़ी जमात है। वस्तु साधना की सीमितता और प्रशासन की व्यावहारिकता को ध्यान में रखकर कार्यक्रम की स्ट्रैटेजी 'लघुतम व्यक्ति' की पहचान (निश्चयीकरण) के द्वारा इन्हीं पर अधिकतम ध्यानाकृष्ट है। ये निर्धनतम व्यक्ति हैं—बंधुआ मजदूर, भूमिहीन कृषि-मजदूर, जुलाहे और सीमान्त किसान वगैरह।

2 **प्रत्यक्ष सहायता का प्रावधान**—सामान्य तथा अभिमानी अवनीय विकास-योजनाओं के लघु-व्यक्ति तक न पहुंच पाने के कारण अलग हैं, और विशिष्ट परियोजनाओं का इनके द्वारा फायदा न उठा सकने के कारण अलग। दूसरी श्रेणी का कारण यह है कि स्वार्थनिष्ठ वर्ग विशिष्ट परियोजना के लाभ स्वयं आत्मसात कर लेता है। इसलिये बीस-सूत्री कार्यक्रम की स्ट्रैटेजी में सहायता इस तरह निश्चित की गयी है, जो प्रत्यक्ष-रूप से लघु-व्यक्ति के ही लिये है, ताकि स्वार्थनिष्ठ वर्ग प्रयत्न करने पर भी उसका अधिकारी न हो सके जैसे बंधुआ मजदूर की मुक्ति, जुलाहे की मुक्ति की उपलब्धि, भूमिहीन कृषि-मजदूर के अतिरिक्त भूमि की प्राप्ति, कृषि-मजदूर को न्यूनतम मजदूरी, बेघरों को आवास, बेकार ग्रामीणों को भोजनगत रोजगार वगैरह।

3 **मानवीय साधन-पोषण**—बीस-सूत्री कार्यक्रम में विशेष सहायता प्रदान का आयोजन लघु-व्यक्ति के उत्थान और पोषण से है, यानी मानवीय-साधन के विकास में। इस दृष्टि से यह स्ट्रैटेजी पश्चिमी स्ट्रैटेजी का उस परिकल्पना पर वांछित परिमार्जन है, जिसमें भौतिक पूंजी को विकास का प्रमुख चालक (प्राइममूवर) माना गया है। निकट-भूत के अनुसंधान यह तो सिद्ध करते ही हैं कि विकास में आर्थिक तत्त्वों की अपेक्षा गैर-आर्थिक तत्त्वों का हाथ अधिक है, साथ ही यह भी सिद्ध करते हैं कि आर्थिक तत्त्वों में भी भौतिक पूंजी का योगदान अपेक्षाकृत बहुत कम होता है मानवीय श्रम के योगदान से। इस क्षेत्र में सबसे अधिक ठोस अनुसंधान किये गये हैं नार्वेजियन अर्थव्यवस्था के बारे में डॉ० आकरूट द्वारा और संयुक्त राष्ट्र अमेरिकी अर्थव्यवस्था के बारे में प्रोफेसर सोलो द्वारा, जिनके निष्कर्ष संक्षिप्त में नीचे हैं :—

(i) मानवीय श्रम-सहित अन्य साधनों को पूर्ववत् रखने पर, यदि भौतिक पूंजी की एक इकाई बढ़ती है तो राष्ट्रीय उत्पादन 0.2 प्रतिशत बढ़ता है,

(ii) भौतिक पूंजी-सहित अन्य साधनों के पूर्ववत् रहने पर, यदि मानवीय श्रम की एक इकाई बढ़ती है, तो राष्ट्रीय उत्पादन 0.75 प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ता है, तथा

(iii) मानवीय श्रम और भौतिक पूंजी के साथ-साथ अन्य साधनों को पूर्ववत् रखने पर, यदि अदृश्य साधनों (जैसे—कौशल-निर्माण, शिक्षा, तथा संगठन) की एक इकाई बढ़ती है, तो राष्ट्रीय उत्पादन 1.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ता है।

सामान्य निष्कर्ष है कि अदृश्य साधन उभयनिष्ठ हैं। किन्तु यह निर्विवाद है कि राष्ट्रीय

[14] रिजर्व बैंक आफ इंडिया रिपोर्ट : एसेट्स ऑफ रूरल हाउसहोल्ड्स एज ऑन जून 30, 1971, बम्बई, 1975

उत्पादन-वृद्धि मे यानी विकास-दर मे भौतिक पूजी की अपेक्षा मानवीय श्रम का योगदान कही अधिक (अमेरिका और नार्वे के विकास मे) लगभग 4 गुणा रहा है। अर्थात् यदि पूर्वस्थित पूजी के साथ अधिक मानवीय श्रम का उपयोग होगा, तो राष्ट्रीय विकास-दर और तीव्र होगी। इसके साथ एक और तर्क जोडा जा सकता है, जो सामान्य अनुभव की देन है। कोई भी साधन जब अधिक उत्कृष्ट (साफिस्टिकेटेड) हो जाता है, तो उसकी अतिरिक्त उत्पादन-वृद्धि-दर घटती है, जैसा कि काफी आगे बढने पर लगातार घटते पूजी-उत्पादन-अनुपात से स्पष्ट होता है। अस्तु यदि हमारा मानवीय श्रम अकुशल है, तो इसमे थोडी कुशलता लाने मे भी उत्पादन-वृद्धि-दर अधिक होगी। बीससूत्री कार्यक्रम इसीलिये लघु व्यक्ति को राष्ट्रीय उत्पादन के प्रवाह मे भागीदार बनाना चाहता है, और उसकी प्रच्छन्न उत्पादन-क्षमता को स्पष्ट कर देश की विकास-दर बढाना चाहता है। इस तथ्य का व्यावहारिक पक्ष बडा स्पष्ट है। जब देश के करोडो-करोड 'लघु व्यक्ति' विकास-स्रोत मे प्रवेश करेंगे, तो उनका थोडा-थोडा योगदान भी सामूहिक रूप से सामूहिक प्रवाह के रूप मे राष्ट्रीय विकास करेगा। साथ ही जब देश के 'लघुतम' व्यक्ति इस स्रोत मे भाग लेने लायक होंगे, तो राष्ट्रीय साधनों के न्यूनतम व्यय पर विकास-दर काफी ऊची होगी, क्योकि उनकी प्रच्छन्न क्षमताए अधिक उत्पादक होगी।

और सबसे बढकर यह होगा कि देश मे उस वातावरण का सृजन होगा जिसमे 'लघु व्यक्ति' स्वय विकास का एक शाश्वत साधन बन जायेगा, स्वय-निर्मित विकास का उसे सम्मानपूर्ण मान होगा, अपने-आप अग्रसर होता जायेगा, और इस क्रम मे राष्ट्र और राष्ट्रीय विकास आगे बढता जायेगा। विकास-प्रक्रिया स्वचालित होगी। यही बीस-सूत्री कार्यक्रम की विकास-स्ट्रैटेजी है।

अन्तर्राष्ट्रीय तुलनाए

कुछ विचारधाराए ऐसी हैं देश मे, जो बी० सू० का० (बीस-सूत्री कार्यक्रम) की तुलना ऐतिहासिक दृष्टि से रूस की न० आ० नी० (नवीन आर्थिक नीति) और अमेरिका के न० का० (नवीन कार्यक्रम या न्यूडील) से करती हैं। तत्कालीन दृष्टिकोण से यह सही है, किन्तु दीर्घकालीन दृष्टिकोण से नही। रूस मे न० आ० नी० अपनायी गयी थी 1921 और 1927 की बीसियो के बीच। इसके पूर्व अपनाये गये युद्ध-साम्यवाद के कुशल स्वरूप रूसी अर्थव्यवस्था काफी नष्ट-भ्रष्ट हो गयी थी। निम्नतम विकास-दर उत्पादन-सकट, बेरोजगारी, मुद्रास्फीति, एव अन्य आर्थिक कठिनाइयो से प्रताडित देशी न० आ० नी० के अपनाने से रूसी अर्थव्यवस्था ने 1913 के पूर्व की उन्नयन-अवस्था (टेकॉफ) पुनर्प्राप्त की और तब (1928) से साम्यवादी योजनाकरण का सिलसिला शुरु हुआ। स्पष्टत. न० आ० नी० एक अल्पकालीन पुनस्संस्थापनात्मक रीति थी, जिसका आगे चलकर परित्याग कर दिया गया। कारण भिन्न थे, किन्तु पिछली तीसियो (1929-33) को विश्वमदी से त्रस्त अमेरिकी अर्थव्यवस्था को भी न्यूडील ने उसी तरह पुनरुद्धरित किया। यह भी एक अल्पकालीन पुनस्संस्थापनात्मक कार्यक्रम था,

3 वित्तीय साधन भी रास्ते में रोड़े डाल रहे हैं। उदाहरणार्थ—वर्तमान योजना[16] में करीब 1 5 करोड परिवारों को निर्धनता-रेखा के ऊपर लाने के लक्ष्य के लिये सिर्फ बैंकों को ही लगभग 3000 करोड रुपयों के ऋण का आयोजन करना है। किन्तु अब तक की खोजों के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों की ऋण-नीति निर्धन व्यक्तियों और क्षेत्रों का यथेष्ठ हित-साधन नहीं कर पा रही है।

4 सम्बन्धित परियोजनाओं के मूल्यांकन एवं मानीटरिंग और फलस्वरूप उनकी प्रगति को उत्प्रेरक व्यवस्था भी व्यापक और प्रभावक नहीं हो पायी है।

किन्तु ये सारी सम्पादन की समस्याएं हैं, स्ट्रैटेजी की उपयुक्तता अपनी जगह पर अक्षुण्ण है।

[16]'योजना आयोग वकिंग ग्रुप रिपोर्ट ऑन ऐन्टी-पॉवर्टी प्रोग्राम्स', स्टेट्समैन, सितम्बर 14, 1981

अध्याय 9

भारत में साख-आयोजन

साख और विकास में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। साख की मात्रा एवं उपयोग काफी अंश तक किसी देश के उत्पादन, आय, रोजगार तथा मूल्य-स्तर के स्तर को निर्धारित करते हैं। चूंकि साख एक सीमित साधन है, इसलिये भारत जैसे विकासमान देशों की सर्वांगीण योजनाओं में साख-आयोजन का विशेष महत्व हो जाता है। प्रस्तुत लेख का प्रमुख उद्देश्य है भारत में साख आयोजन की प्रक्रिया सर्वेक्षण, इसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन, और इस आधार पर एक ऐसी योजना का चयन जिसमें देश की सर्वांगीण विकास-योजना के साथ साख-आयोजन का सामंजस्य प्रस्थापित हो सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये प्रस्तुत लेख तीन खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में साख-आयोजन के सामान्य उद्देश्य और विधियों का विवरण है ताकि दूसरे देशों के अनुभवों से समुचित सीख ली जा सके। इस खंड में सोवियत संघ, चेकोस्लोवाकिया तथा फ्रांस के सम्बन्धित व्यावहारिक अनुभवों को समाविष्ट किया गया है। दूसरा खंड मुख्यत एक मूल्यांकन है। बैंकों का सामाजिक नियन्त्रण 1968 में लागू हुआ। तब से देश की अर्थव्यवस्था पर साख-आयोजन के जो प्रभाव पड़े हैं, उनका पुनरीक्षण ही इस दूसरे खंड का ध्येय है। स्वभावत ही तीसरा खंड इस मूल्यांकन से प्राप्त तथ्यों को दृष्टि में रखकर कुछ महत्व-पूर्ण और व्यावहारिक सुझाव देता है, जिनसे देश की सामान्य विकास-प्रक्रिया के साथ साख-आयोजन का समन्वय प्राप्त हो सके।

खंड I

साख-आयोजन के दौरान देश की सामान्य आर्थिक नीति और साख-प्रवाहों के बीच सामंजस्य स्थापित किया जाता है। देश की सामान्य आर्थिक और सामाजिक नीतियों में और प्राथमिकताओं की पृष्ठभूमि में ही बैंक विभिन्न क्षेत्रों के बीच साख का आवंटन करते हैं ताकि देश के सरकारी, संयोजित तथा निजी पारिवारिक क्षेत्रों की प्रतियोगी मांगों के सन्दर्भ में साख का अधिकतम सफल उपयोग हो सके। एकीकृत साख-आयोजन के अन्दर समष्टिगत एवं व्यक्तिगत दोनों स्तरों पर ससाधनों का अनुमान और साख का समुचित आवंटन होता है। ये ही साख आयोजन के समष्टिगत और व्यक्तिगत पक्ष हैं। समष्टिगत पक्ष में देश की आवश्यकताओं की दृष्टि में एक मुद्रात्मक बजट की रूपरेखा बनती है, जिसके अन्दर एक निश्चित समयावधि के लिये वास्तविक उत्पादन वृद्धि की सम्भावित मात्रा के अनुसार मुद्रा-मात्रा की वृद्धि-दर का अनुमान होता है।

इसी मुद्रात्मक बजट को दृष्टि में रखकर प्रत्येक बैंक अपनी साख-बजट बनाता है, जिसके निर्देशक तत्व होते हैं उस बैंक का कार्य स्वभाव व विस्तार, उसका भौगोलिक क्षेत्र, तथा उसके संगठनात्मक स्वभाव वगैरह। बैंक-साख-बजट का निर्माण साख-आयोजन का व्यक्तिगत पक्ष कहलाता है।

साख-आयोजन का महत्व बहुमुखी है। इसकी प्रक्रिया में निम्नलिखित तीन बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है

(क) समाधन—सचयन,

(ख) ससाधन—उपयोग तथा

(ग) देश की सामाजिक —सह-आर्थिक उद्देश्य।

वित्तीय साधनों के विभिन्न स्रोतों में साख एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। चाहे व्याणिज्यिक बैंक हो, सहकारी बैंक हो, विकास बैंक हो या विनियोग-संस्थानों जैसे दूसरे वित्तीय मध्यवर्ती संस्थाएं हों, साख-आयोजन में सबका योगदान होता है, और इस योगदान की सफलता इन संस्थाओं में जमा-सचयन शक्ति पर निर्भर करती है। अस्तु, जमा-सचयन शक्ति का बहुत बड़ा महत्व है साख-आयोजन में। देश में समग्र मुद्रा-साधनों में बैंकिंग क्षेत्र की जमाराशि का स्थान काफी बड़ा होता है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप बैंक शाखाओं की वृद्धि एवं जनता में बैंकिंग आदतों के प्रसार के कारण मुद्रा-साधनों में बैंक-जमा राशि का हिस्सा लगातार बढ़ता गया है। प्रतिशत के रूप में यह हिस्सा 1960-61 में 48 3% था जो बढ़कर 1974-75 में 65 7% पर पहुंच गया।

भारतीय अर्थव्यवस्था का मुद्रात्मक अचल हाल के वर्षों में काफी विस्तृत हुआ है। आज देश का 80% भाग मुद्रात्मक है। अर्थव्यवस्था का मौद्रीकरण मुद्रा-विस्तार की आवश्यकता पर जोर देता है। सुझाव है कि मुद्रा-विस्तार की वृद्धि-दर वास्तविक आय की आयोजित वृद्धि-दर से 2-3% अधिक होनी चाहिये। मुद्रा-बजट मुद्रा-गुणक के एक पूर्वकल्पित मूल्य के आधार पर तैयार की जा सकती है। मुद्रा गुणक की औसत जो 1960-61 में 1 232 थी, बढ़कर 1965-66 में 1 392 पर आ गयी, और पुन बढ़कर 1973-74 में 1 484 पर पहुंच गयी। भारत में मुद्रा गुणक का मूल्य नीचा है, क्योंकि आरक्षित मुद्रा में यहां नोटों और सिक्कों का अंश अधिक है। मुद्रा प्रसार एवं राष्ट्रीय आय के सम्भावित वृद्धियों के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, और सम्बन्धित राशियों को जाना जा सकता है। इसके आधार पर मुद्रा-बजट तैयार हो सकता है, तथा राष्ट्रीय आय तथा मुद्रा प्रसार की वृद्धियां के पूर्वकालीन सम्बन्ध के आधार पर आयोजन-काल के लिये वांछित मुद्रा-प्रसार की मात्रा व दर का अनुमान लगाया जा सकता है। यदि राष्ट्रीय और मौद्रिक साधनों की सापेक्ष वृद्धि-दरों के अनुमानों में व्यापक असन्तुलन होगा, तो देश में मुद्रास्फीति एवं मूल्य-तल-संकट की समस्याएं उठ खड़ी होंगी।

मुद्रा-पूर्ति को निम्नलिखित तीन महत्वपूर्ण तत्व प्रभावित करते हैं :

(क) सरकार को प्राप्त बैंकों की शुद्ध साख,
(ख) वाणिज्यिक क्षेत्र को बैंक साख तथा
(ग) बैंकिंग क्षेत्र के शुद्ध विदेशी विनिमय-साधन।

इनमें प्रथम तत्व निर्भर करता है बजट-घाटे पर, दूसरा निर्भर करता है देश के केन्द्रीय बैंक की साख-नीति पर और तीसरा निर्भर करता है विदेशी लेन-देन की प्रवृत्ति पर। अस्तु वांछित मुद्रा-पूर्ति के लिये सरकार और केन्द्रीय बैंक की कार्यविधियों और नीतियों में समन्वय आवश्यक हो जाता है। यह साख-आयोजन का प्रथम स्तर है।

साख-आयोजन का दूसरा स्तर है आयोजित विनियोग एवं उत्पादन-निर्धारण की प्राथमिकताओं के अनुसार साख का आवंटन। यहां प्रमुख समस्या होती है साख-आवश्यकता का सही अनुमान, ताकि उत्पादन और वितरण की उचित मांगें पूरी तो हों परन्तु साख के दुरुपयोग के फलस्वरूप जमाखोरी और सट्टेबाजी को प्रोत्साहन न मिले। यहां सभी वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त होने वाली साख की सम्पूर्ण मात्रा का अनुमान आवश्यक है, सिर्फ बैंकिंग क्षेत्र की साख का ही नहीं। बैंक से सम्बन्धित साख आवश्यकता को 'चालू पूंजी-व्यवधान' की संज्ञा दी गयी है। इस व्यवधान को पूरा करने के तीन स्रोत हैं (क) निजी धन, (ख) दीर्घकालीन पूंजी, तथा (ग) बैंक-साख।

तब देश के विभिन्न अंचलों के लिये बैंक-साख की मांग-मात्रा का एक सर्वांगीण अनुमान आवश्यक हो जाता है। इसके लिये उत्पादन, विनियोग, तथा मूल्य-व्यवहार एवं अन्य सम्बन्धित परिवर्तनशील तत्वों की प्रवृत्तियों का अनुमान वांछनीय हो जाता है। साख-मांग के अनुमान की यह पूर्वकल्पना है कि बैंक-साख का उपयोग अल्पकालीन आवश्यकताओं के लिये हो, और ये साधन कालबद्ध उधार देने वाली संस्थाएं करें। इसके लिये हर क्षेत्र में साख की उत्पादन-लोच का अनुमान वांछित है, जिसके लिये हर क्षेत्र-विशेष की उत्पादन-प्रवृत्ति और चालू पूंजी की आवश्यकता के बीच सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। स्मरण रहे कि साख-योजना और साख-मांग में अन्तर है। जहां साख-मांग विभिन्न उधार लेने वालों की आवश्यकता का जोड़ है, वहां साख-आयोजन एक निश्चित उत्पादन स्तर के लिये आवश्यक साख-पूर्ति से सम्बन्धित एक नीति-निर्णय है। साख-आयोजन निर्भर करता है विचार विमर्श के बाद स्तरों की पारस्परिक सहमति पर, सम्बन्धित सामूहिक निर्णयों पर, पिछले अनुभवों के अध्ययन पर, तथा वर्तमान अवस्थाओं में वातावरण तथा प्रवृत्तियों के निष्पक्ष विश्लेषण पर समष्टिगत एवं व्यक्तिगत दोनों स्तरों पर।

साख-आयोजन पर सामाजिक सह-आर्थिक उद्देश्य विशेष प्रभाव डालते हैं। स्वभावतः ही ऐसा आयोजन देश के पिछड़े क्षेत्रों एवं उपेक्षित वर्गों की आवश्यकता-पूर्ति का साधन बन जाता है। यह इसका क्षेत्रीय पक्ष है। बैंकिंग सुविधाओं में क्षेत्रीय असन्तुलन कम करने के लिये यह वांछनीय है कि इन क्षेत्रों में प्राप्त साख-जमा-अनुपात में सुधार लाया जाय। यह भी ध्यान देना है कि नये क्षेत्रों में साख-विस्तार के साथ-आयोजन में व्यवधान उतना ही घातक है जितना 'दोहराव'। इसलिये बैंक-स्तर पर समष्टिगत साख-आयोजन

को व्यक्तिगत साख-योजनाओं में बदलना ऐसे आयोजन का सम्पादन-स्तर कहा जाता है। इसके लिये साख-आयोजकों अर्थात् सरकार, केन्द्रीय बैंक तथा वाणिज्यिक बैंकों के बीच निकट सम्बन्ध, पर्याप्त सहमति तथा यथेष्ठ सामजस्य आवश्यक है। निजी स्तर पर अपनी-साख योजनाओं के निर्माण में बैंकों को अधिक जागरुक रहना होगा विशेष कर उधारी साधनों की अपर्याप्ता तथा साख के क्षेत्रीय उपयोग की दृष्टि से मौद्रिक अधिकारियों द्वारा किये गये निर्देशों की पृष्ठभूमि में। इस क्षेत्रीय उपयोग एवं आवटन में निम्नलिखित तत्वों को ध्यान में रखना होगा।

(क) सरकारी बाड्स की खरीद द्वारा पंचवर्षीय योजनाओं के लिये साधन प्राप्ति,
(ख) आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण,
(ग) सटोरिया एवं अन्य असामाजिक तत्वों के क्रियाओं का हतोत्साहन,
(घ) उत्पादन एवं निर्यात प्रोत्साहन,
(ङ) कृषि, लघु एवं छोटे उद्योग, तथा अन्य प्राथमिकताओं के क्षेत्रों का भरपूर सम्पोषण।

साख आयोजन का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है मूल्य-तल नियंत्रण। यह पूरा होगा यदि साख उत्पादन वृद्धि की ओर सदैव सतर्क रहे। यदि सामान्य आर्थिक नीति का प्रतिपादन होना है तो साख-आयोजन के लिये निम्नलिखित शर्तों का पूरा होना आवश्यक है.

(क) राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के प्रति पूर्ण आस्था और उनका कार्य सम्पादन,
(ख) राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के ही अनुसार साख-साधनों का आवटन तथा
(ग) उधार लेने वालों की माग का सही अनुमान।

अस्तु, भारत में साख-आयोजन के दो मुख्य उद्देश्य हैं। प्रथमत, हर मौसम में हर वर्ष में साख-विस्तार का नियंत्रण, और दूसरे विभिन्न अंचलों की साख-आवश्यकताओं के अनुसार इसका आवटन। क्षेत्रीय एवं आंचलीय क्षेत्रों के बीच एक वांछित साख-वितरण का क्रम उपस्थित करना भारतीय साख प्रबन्धन की प्रमुख समस्या है। ऐसा प्रबन्ध साथ-साथ नियमनात्मक और सम्पोषक दोनों हैं।

समाजवादी देशों में साख आयोजन

समाजवादी देशों में साख-आयोजन का मुख्य उद्देश्य है राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का आयोजित विकास। सोवियत रूस और चेकोस्लेवाकिया में साख-आयोजन उत्पादन लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रमुख साधन है। इसके अन्दर सोवियत रूस का केन्द्रीय बैंक दो परियोजनाएं बनाता है। एक परियोजना साख के लिये और दूसरी परियोजना नकद के लिये। बैंक-साख केवल चालू पूंजी की जरूरतें पूरी करता है। रूस में बैंक-साख का सटोरी उपयोग लगभग असम्भव है। चेकोस्लेवाकिया की साख-योजना वहां का राजकीय

बैंक बनाता है। देश के वित्त मंत्रालय और योजना आयोग अपना सहयोग देते हैं। राज्य-बैंक ही व्यक्तिगत उपक्रमों तथा चालू विनियोग परियोजनाओं के लिये साख का आवंटन करता है।

फ्रांस के अनुभव

गैर-समाजवादी देशों में फ्रांस का साख-आयोजन आदर्श है। यहां साख-आयोजन सामान्य आयोजन का आवश्यक अंग है। देश के छः सामान्तर आयोग आयोजन के सामान्य पक्षों से सम्बन्धित हैं, जो वित्तीय अनुमान करने समय बैंकिंग प्रणाली की विशेष सहायता लेते हैं। 1945 में स्थापित राष्ट्रीय साख-समिति ही साख-नीति का निर्धारण करती है। परन्तु बैंक ऑफ फ्रांस ही साख-नीति का सम्पादन करता है। वाणिज्यिक बैंकों को बैंक ऑफ फ्रांस से ही अपनी साख-मात्रा के उधार देने की अनुमति लेनी पड़ती है। ये बैंक देश के शीर्ष बैंक को साख-सम्बन्धी सभी जानकारी देते हैं, जिसके आधार पर शीर्षबैंक व्यक्तिगत आवश्यकताओं के प्रति निर्णय लेता है। निर्धारण एवं कार्य-सम्पादन दोनों स्तरों पर साख-आयोजन महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

खंड II

भारत में बैंकों के सामाजिक नियन्त्रण की नीति अपनाये जाने के साथ ही रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया यह प्रयत्न करता रहा है कि सस्थात्मक साख का उपयोग कृषि, लघु एवं कुटीर उद्योग, पिछड़े और कमजोर वर्ग जैसे देश के प्राथमिकता अंचलों के विकास के लिये हो। 1968 में स्थापित राष्ट्रीय साख-समिति इन उपेक्षित एवं पिछड़े क्षेत्रों व वर्गों की विशेष सहायता कर साख-सम्बन्धी परिक्षेत्रीय तथा कार्यगत व्यवधानों को दूर करने में प्रयत्नशील है। जुलाई 1969 में कार्यशील 14 बैंकों के राष्ट्रीयकरण ने वाणिज्यिक बैंकिंग क्षेत्र में क्रान्ति ला दी। तब से वाणिज्यिक बैंकों को 'क्षेत्रीय नीति' ('एरिया-एप्रोच') अपनाने का निर्देश हुआ, ताकि वे उन क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाएं बढ़ायी जाएं जहां या तो ये सुविधाएं नहीं हैं या अतिसीमित हैं, और इस तरह सन्तुलित क्षेत्रीय विकास की प्राप्ति में सहायक हों। तब से विशेष जिलों में 'लीड बैंक' की प्रणाली चली, और जब 1970 में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के अन्दर साख-आयोजन केन्द्र की स्थापना हुई तो समष्टिगत तथा व्यक्तिगत दोनों स्तरों पर देश में प्रभावक साख-आयोजन की शुरुआत हुई।

इन लीड बैंकों ने सम्बन्धित जिले लिये जिसने सर्वेक्षण, विकास केन्द्रों की पहचान, विकास योजनाओं के निर्माण के पश्चात् *'जिला-साख योजना'* बनायी थी, ताकि अन्य वित्तीय संस्थाओं के सहयोग से जिले की साख-आवश्यकताओं को आयोजित ढंग से पूरा किया जाय। जिला-विकास-योजनाओं के साथ काम करती हुई इन जिला-साख-योजनाओं ने काफी प्रगति की है। फलस्वरूप लीड बैंक-स्कीम में पर्याप्त गुणात्मक एवं मात्रात्मक परिवर्तन आये हैं।

समष्टिगत स्तर पर साख-आयोजन की शीर्षस्थ जिम्मेदारी है रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की जो 1970 से ही राष्ट्रीय प्राथमिकताओं, सम्भावित जमा-वृद्धियों, सामान्य आर्थिक अवस्थाओं, तथा अर्थव्यवस्था की अन्य प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर एक सामान्य साख-योजना का सृजन एवं सम्पादन करता है। व्यक्तिगत स्तर पर भारत में साख-आयोजन की प्रक्रिया निम्नलिखित उपशीर्षकों के तहत देखी जा सकती है

1. जिला-साख योजना

लीड बैंक द्वारा प्रस्तुत जिला-साख-योजना का मुख्य ध्येय है जिला का एकीकृत विकास, जिसके अन्दर कृषि, कुटीर एवं लघु उद्योग, कमजोर वर्ग, तथा अन्य बैंकीय सेवाओं का विकास शामिल है। ये प्राथमिकता-अचलों से सम्बन्धित हैं। विकास-परियोजनाओं की बैंकनीयता जिला-साख-योजना का प्राण है। यह दूसरी 'वित्तीय संस्थाओं के लिये भी क्रियात्मक कार्यक्रम होती है। जिला-साख-योजना का प्रमुखतम उद्देश्य है समीचीन स्कीमों के जरिये लघु एवं सीमान्त किसानों, भूमिहीन कृषि-मजदूरों, ग्रामीण कारीगरों, हरिजनों, आदिवासियों तथा अन्य उपेक्षित व कमजोर व्यक्तियों व क्षेत्रों के जीवनयापन में सुधार लाना। जिला-साख-योजना बन जाने के बाद विभिन्न बैंकीय परियोजनाओं के लिये साख का आवंटन होता है, और वाणिज्यिक बैंकों, सहकारी बैंकों, भूमि-विकास-बैंकों, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों राजकीय-वित्तीय निगमों तथा दूसरी सम्पोषक संस्थाओं को एक कालबद्ध कार्यक्रम के अनुसार इसके सम्पादन का कार्य सौंपा जाता है।

1974-75 के आसपास लीड बैंकों ने अपनी जिला-साख-योजनाएं बनायीं। किन्तु उनकी प्रक्रिया, कार्य प्रारम्भ की समयावधि तथा भागीदार संस्थाओं की दृष्टि से कई कमजोरियां और विभिन्नताएं दृष्टिगोचर हुईं। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने अपनी उत्तरकालीन सम्बन्धित रिपोर्ट में इसको दर्शाया, और सुझाव दिया कि साख-योजनाओं का पंचवर्षीय योजनाओं के साथ समन्वय किया जाय तथा भागीदार संस्थाओं के बीच पूर्ण सामंजस्य लाया जाय। तदनुसार जिला, क्षेत्र, राज्य, तथा केन्द्र स्तर पर विभिन्न परामर्शदात् समितियों का गठन हुआ। किन्तु जब केन्द्रीय सरकार ने प्रखंड स्तर आयोजन की नीति अपनायी, तो दिसम्बर 1979 तक की सभी साख-योजनाओं को रद्द करने का आदेश हुआ। और जनवरी 1980 से दिसम्बर 1982 की त्रिवर्षीय आवादी के लिये नयी जिला-साख-योजनाओं के निर्माण का प्रावधान किया गया, ताकि इन साख-योजनाओं का आर्थिक विकास के सामान्य योजनाओं के साथ सामंजस्य हो।

2. साख-बजट

रिजर्व बैंक के तत्वावधान में व्यक्तिगत वाणिज्यिक बैंक अपनी अलग-अलग साख-बजट बनाते हैं—प्रत्येक वर्ष के लिये और वर्ष के प्रत्येक व्यस्त और ढीले मौसम के लिये। इसका मुख्य उद्देश्य है सम्भावित उत्पादन-वृद्धि तथा साख-पूर्ति के बीच उचित

समन्वय स्थापित करना। इस तरह उद्देश्य, क्षेत्र, आर्थिक-सह-सामाजिक दृष्टि से समीचीन अंचलों को ध्यान में रखकर हमारा केन्द्रीय बैंक साख-प्रवाह का नियमन एवं निर्देशन करता है।

3. कार्य-सम्पादन-बजट

साख-आयोजन में कार्यान्वयन-बजट का अत्यधिक महत्त्व है। इसके अन्दर पूर्व निश्चित लक्ष्यों के साथ वास्तविक उपलब्धियों की तुलना होती है, वास्तविक सम्पादन का निरन्तर सर्वेक्षण होता है, और बदलते वातावरण की दृष्टि से आयोजित लक्ष्यों का पुनर्निर्धारण होता है। 1971 में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया और 1972 में अन्य राजकीय बैंकों ने इसे अपनाना शुरू किया है। इसके अन्दर उद्देश्य एवं अंचलों की दृष्टि से साख और जमा दोनों का अनुमान लगाया जाता है। सभी बैंक के कार्यालय, क्षेत्र, तथा शाखा—तीन स्तरों पर कार्य सम्पादन की समीक्षा होती है। इसकी मदद से बैंक मैनेजरों को यह सुविधा मिलती है कि साख-आयोजन की प्रक्रिया को कहां सुधारा जाय और कहां परिवर्तित किया जाय। शाखा से लेकर राष्ट्रीय केन्द्रीय स्तर तक जमा-संचयन तथा साख-आयोजन के क्षेत्र में कार्य-सम्पादन-बजट बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायेगी।

बैंकिंग प्रणाली के आंकड़ा-आधार को विस्तृत एवं उपयोगी बनाने के लिये कई कदम उठाये गये हैं। इनमें मुख्य है रिज़र्व बैंक के बेसिक स्टैटिस्टिकल रीटर्न्स तथा अन्य उपयोगी प्रकाशन, जिनमें उद्देश्य और राज्यों के आधार पर विभिन्न प्रकार के आंकड़े उपलब्ध होते हैं। साख-अधिकरण-परियोजना में भी काफी उपयोगी आंकड़े उपलब्ध हैं, जो परियोजना साख-आयोजन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। पिछले दशक में साख-आयोजन ने काफी प्रगति की है। इसमें क्षेत्रीय असन्तुलन तथा आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण की रोक और साधनों के दुरुपयोग पर विशेष बल रहा है। अब बैंकों ने प्राथमिकता क्षेत्रों में विकास-वर्द्धक का काम आरम्भ कर दिया है। साख-आयोजन के माध्यम से शाखा-विस्तार, प्राथमिकता अंचलों के आधार, जमा-संचयन तथा समाज के उपेक्षित क्षेत्रों और वर्गों के बीच साख प्रवाह की दृष्टि से बैंकिंग अंचल ने काफी प्रगति की है। लघुतम व्यक्ति को साख-प्रदान की दृष्टि से विकासमान देशों में भारत अग्रणी है। उदाहरणतः जहां जून 1969 में देश में 8262 बैंक शाखाएं थीं, वहां जून 1980 में बढ़कर ये 31419 हो गयीं। ग्रामीण क्षेत्रों में ये अधिक बढ़ीं। 1969 जून और 1979 अप्रैल के बीच कुल 21512 शाखाएं खुलीं, जिनमें 52% ग्रामीण क्षेत्रों में थीं। जहां जून 1969 में प्रत्येक बैंक शाखा पर 65000 की औसत आबादी पड़ती थी, वहां जून 1980 में यह घटकर 17000 की औसत पर आ गयी। जहां दिसम्बर 1976 में 700 प्रखण्डों में बैंकिंग की कोई सुविधा नहीं थी, वहां मई 1979 में ऐसे प्रखडों की संख्या मात्र 44 रह गयी।

राजकीय अंचल के बैंकों ने लोगों की बैंकिंग आदत बढ़ाने में विशेष प्रगति की है। इन बैंकों के जमा-खातों की संख्या जो जून 1969 में 162.4 लाख थी, बढ़कर जून

1977 मे 653 11 लाख हो गयी। जून 1969 तथा जून 1979 के बीच नियन्त्रित वाणिज्यिक बैंको की कुल जमा राशि 4646 करोड रुपयो से बढकर 27869 करोड रुपये हो गयी। अब जनता मे चलन मुद्रा की अपेक्षा बैंक मुद्रा की तरफ अधिक रुचि दृष्टिगोचर हो रही है। जहा 1968-69 मे कुल मौद्रिक साधनो मे बैंक जमा राशि का प्रतिशत 56 5 था वहा 1978-79 मे बढकर 74 3% हो गया। बैंक साख मे भी सरचनात्मक परिवर्तन आया है। 1979 मार्च के अन्त मे राजकीय क्षेत्र के बैंको ने प्राथमिकता अचलो मे 4949 करोड रुपया का उधार दिया जो इन बैंको की कुल उधार दी गयी रकम का 33% था। अब लक्ष्य है कि 1985 तक इसे बढाकर 40% कर दिया जाय। जून 1980 के अन्त पर वाणिज्यिक बैंको ने प्राथमिकता-क्षेत्रो को कुल 6729 करोड रुपयो के बराबर उधार दिया। ग्रामीण क्षेत्रो म साख प्रसार के लिये बैंको को सरकार का यह आदेश है कि वे अपनी ग्रामीण तथा अर्द्धग्रामीण शाखाओ का साख-जमा अनुपात बढाकर 70% पर लायें।

निर्धनतम व्यक्तियो के लाभ के लिये जून 1972 मे विभेदी सूद दर-परियोजना चलायी गयी। सारे देश मे लागू इस परियोजना के अन्दर राजकीय बैंक ऐसे लोगो को 4% की रियायती सूद पर उधार देते हैं, और उनको आदेश है कि वे अपनी कुल उधार-राशि का 1% इस मद मे लगायें। हालाकि यह लक्ष्य अभी अपूर्ण है पर प्रगति सराहनीय है। जहा इस रियायती उधार-राशि का प्रतिशत 1977 मे मात्र 0 49 था, वहा सितम्बर 1979 म यह बढकर 0 83% पर आ गया। 1979 सितम्बर मे अनुसूचित जातियो और कबीलो को दिय गय उधार की मात्रा कुल बैंक-उधार का 42 2% थी, जो 40% के निर्धारित लक्ष्य से ऊपर है। ये आकडे 22 राजकीय बैंको से सम्बन्धित है। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक भी इस दिशा मे अग्रसर है। ग्रामीण साख-प्रणाली की कमियो को वे पूरा कर रहे हैं। ये बैंक सभी प्रकार की सहकारी समितियो और किसान-सेवा-समितियो को साख प्रदान करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रो मे अपना उत्तरदायित्व निभाने की दिशा म वाणिज्यिक बैंक ग्राम-अधिकरण-परियोजनाओ की नीति-सम्पादन के द्वारा सराहनीय कार्य कर रहे हैं।

खण्ड III

बावजूद मात्रात्मक प्रगति के भारतीय साख-आयोजन कई कठिनाइयो से ग्रस्त है। आधुनिक आकडो का अभाव बेतरतीब लक्ष्य-निर्धारण, साख के उपयोग निरीक्षण की कमी, सम्भावित साहसिको की खोज के अपर्याप्त प्रयत्न कई अवस्थाओ मे कागजी साख-प्रदान, साख-आत्मसात बढाने वाली परियोजना का अभाव, आर्थिक-सामाजिक सरचनात्मक शिराओ की अपर्याप्तता, उधार साख-प्रदान की उत्तरकालीन निरीक्षण-व्यवस्था की अयथेष्टता, जैसी कठिनाइया स्पष्ट नजर आयी हैं। लीड बैंक भी प्रभावक समोजन नही कर पा रहे हैं। कार्यशील क्षेत्रो के अस्पष्ट सीमा निर्धारण

के कारण दोहरे वित्तीयन के दोष आ जाते हैं। साख-आयोजन में सहकारी वित्त तथा भूमि विकास-बैंकों के कार्यक्रम का सन्तुलित योग नहीं मिल पा रहा है। आवश्यकता है कि एकसमग्री वित्त-योजना पर काम हो, और उसमें बैंकों तथा दूसरी संस्थाओं के अपने-अपने हिस्से हों। सभी वाणिज्यिक बैंकों की कार्यप्रणाली लगभग समान होने के कारण उनके बीच हानिकारक प्रतियोगिता आ गयी है। उदाहरण के लिये वही 6% का नकद-रीजर्व-अनुपात, 34% का वही वैधानिक-नकदता-अनुपात, वही समान अधिकतम एवं न्यूनतम सूद दरें हैं—सभी वाणिज्यिक बैंकों के लिये। अतः कार्यों तथा उचित कौशल-निर्माण में बहुविधता एवं विशिष्टीकरण दोनों आवश्यक हैं।

ग्राम-अधिकरण-परियोजनाओं में सिर्फ कृषि विकास ही नहीं, बल्कि सभी आर्थिक क्रियाओं का स्थान होना चाहिए। साख-आयोजन सर्वांगीण है। इसलिये इसमें कृषि, लघु-कुटीर-उद्योग, सेवाएं, रोजगार, शिक्षा एवं आवास आदि सभी क्रियाओं का सन्तुलित विकास चाहिये। साख-योजना की प्रगति एवं मूल्यांकन का यथेष्ट प्रबन्ध चाहिये। स्कीमों की मानीटरिंग तथा सम्पादन में सुयोजन साख-आयोजन के मुख्य तत्त्व हैं।

जिला-साख-योजना के साख-अनुमानों के आधार पर प्रखंडों, क्षेत्रों, परियोजनाओं और बैंकों की साख-आवश्यकता की प्रधानता होनी चाहिये। साख-नीति एवं प्राथमिकता-उद्योग में समन्वय के लिये टंडन-अध्ययन मंडल के सुझाव कारगर होंगे। प्रशिक्षित कर्मचारियों तथा श्रमशक्ति के आयोजन की कमी को दूर कर संगठनात्मक कमजोरी पर काबू पाना होगा।

साख-आयोजन में मुख्यतया वाणिज्यिक बैंक ही कार्यशील हैं। दूसरी वित्तीय का भी इसमें समावेश आवश्यक है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद वित्तीय संस्थाओं की संख्या काफी बढ़ी है, और इससे हमारा ध्यान चला जाता है गुरले-शाह के विचारों और उनकी सम्भावनाओं की ओर—विशेषकर भारतीय अवस्थाओं में। कालीय उधार देने वाली संस्थाओं की वृद्धि के कारण साख आयोजन में अधिक सुयोजन की आवश्यकता है। व्यक्तिगत साख-साधन-स्रोतों पर अंकुश आवश्यक है। साख-उपभोक्ताओं का सहयोग परमावश्यक है विशेषकर साख अनुमानों के बनाने में। इन अनुमानों में मेतिहर और औद्योगिक उत्पादन, आन्तरिक और बाह्य मार्गों, सरकारी खरीद की स्कीमें, यातायात-व्यवस्था, मूल्य-व्यवहार आदि परिवर्तनीय बातों का ध्यान होना चाहिये। इसके लिये आर्थिक एवं कार्यकारी अनुसन्धान से आधार मिलेगा। साख-बजट, सरकारी बजट, और पंचवर्षीय योजनाओं के बीच बेहतर और निरन्तर सहयोग वांछनीय है।

राष्ट्रीय साख-समिति को भी अपना कार्यक्षेत्र विस्तृत करना होगा। वाणिज्यिक तथा सहकारी बैंकों के साथ-साथ इसे विकास-बैंकों तथा विनियोग-बैंकों की भी समस्याओं से चिन्तित होना चाहिये। राष्ट्रीय साख-समिति निर्देशन दे, और रिजर्व बैंक इसके कार्य सम्पादन का भार सभाले। ग्राम की तरह साख-आयोजन और सामान्य

आर्थिक आयोजन के बीच समन्वय अत्यावश्यक हो जाता है। यह तभी सम्भव है जब एक बैंक व अन्य वित्तीय सस्थाओ, और दूसरी तरफ सरकार के बीच यथेष्ट सहयोग हो।

प्रभावी साख-आयोजन के लिये यह आवश्यक है कि साहसिक अपनी विनियोग-क्रिया मे राष्ट्रीय प्राथमिकताओ का आदर करें। 'ऊपर-से-नीचे की' समस्त आवश्यकताओ तथा 'नीचे-से-ऊपर की' समस्त साख-सम्बन्धी क्रियाओ के बीच एकीकरण वाछनीय है। अब समय आ गया है कि हम साख-सुविधाओ को ग्रामीण-स्तर पर क्रियाशील वित्तीय साधन के रूप मे बदले। तभी वित्तीय मध्यवर्ती सस्थाओ का वह सगठन मिलेगा जिसके माध्यम से प्रगतिशील इकाइयों का धनाधिक्य पिछड़ी इकाइयों को मिलता रहेगा।

अध्याय 10

भारत की आर्थिक प्रगति—विश्व-संदर्भ में

विश्वव्यापी आर्थिक विकास-प्रक्रिया : प्रथम चरण

विश्व-स्तर पर आधुनिक विकास प्रक्रिया का जन्म 1850 ईसवी के आसपास हुआ। भले ही अपनी 1760-1830 की मशहूर औद्योगिक क्रान्ति के द्वारा इंग्लैंड ने विकास की प्रथम मशाल जलायी, किन्तु इसके लगभग दो-तीन दशक बाद ही इसे विश्वव्यापी विकास-प्रक्रिया में परिणत होने का अवसर मिल सका। आरम्भ में ब्रिटिश तकनीक की नकल कर, और बाद में स्वयं अपनी तकनीक का विकास कर एक-एक करके या साथ-साथ कई देशों में—अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस, इटली, रूस तथा जापान में—विकास का कार्यक्रम पर्याप्त व्यापक हुआ। यह क्रम लगभग, द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ तक, या कहिये, 'महान विश्व मन्दी' के अन्त (1937) तक चलता रहा। विश्व-व्यापी आर्थिक विकास-प्रक्रिया का यह प्रथम काल (1850-1937) था, जिसके दौरान दुनिया में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि तो हुई ही, साथ-साथ विश्व के विभिन्न भू-भागों के बीच विकास-प्रतिफल के वितरण में भी महान परिवर्तन उपस्थित हुआ।

यद्यपि तत्कालीन आंकड़े उतने विश्वसनीय नहीं हैं, फिर भी जो भी उपलब्ध हैं, उनसे इस अवधि की विश्व-विकास की रूपरेखा अवश्य निखरती है। ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक विश्व ने जितनी भी आर्थिक प्रगति की थी, उससे कहीं ज्यादा प्रगति अकेली एक शताब्दी, अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी, में हुई, और 1850 तथा 1937 के बीच समग्र विश्व की कुल वास्तविक आय में लगभग 25 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

फलस्वरूप विश्व के विभिन्न भू-भागों के बीच इस आय के वितरण में परिवर्तन हुआ जो सारणी 10.1 से स्पष्ट है।

[1]ई० ए० जी० रॉबिन्सन, 'द चेंजिंग स्ट्रक्चर ऑफ ब्रिटिश इकानॉमी', इकनामिक जनरल, सितम्बर 1954

सारणी 10 । विश्वव्यापी आर्थिक विकास प्रक्रिया के प्रथम काल में विश्व-आय का वितरण

भूभाग	1850	1937	वृद्धि
सुदूर पूर्व	40%	20%	—20%
उत्तर अमेरिका	10%	29%	+19%
केन्द्रीय एवं दक्षिणी अमेरिका,	3%	04%	+01%
पश्चिमी योरप	28%	31%	+03%
पूर्वी योरप	14%	11%	—03%
शेष	05%	05%	00%

स्पष्ट है कि इस अवधि में उत्तर अमेरिका और पश्चिमी योरप के देशों की आनुपातिक उपलब्धियां बढ़ीं, और पूर्वी योरप और सुदूर पूर्व के देशों की उपलब्धियां उतनी ही घटीं—23% के बराबर। सुदूर पूर्व के देशों ने अत्यधिक अर्थात् 20% खोया, और इनमें भी सम्भवतः भारत ने सबसे अधिक, क्योंकि 1850 तक भारत समूचे विश्व का (कार्ल मार्क्स के शब्दों में) 'कारखाना' था, जिसमें (इटालियन इतिहासकार प्लीनी के शब्दों में) समग्र विश्व का स्वर्ण एकत्र होता रहता था। स्पष्टतः इस अवधि में आर्थिक विकास की प्रक्रिया आज के विकसित कहे जाने वाले राष्ट्रों के बीच ही सीमित थी, विश्व के शेष भाग इन राष्ट्रों के उपनिवेश थे, जिनका विकास अवरुद्ध था ही, साथ-साथ उनका अनवरत शोषण होता रहा, विकसित देशों की विकास-प्रक्रिया को बलवती बनाने के लिये।

और इसका प्रमुख कारण था इन देशों का औपनिवेशिक स्वभाव, अर्थात् उनमें अपनी राष्ट्रीय सरकार का अभाव। 1850 से 1914 की अवधि को विश्व में विकास-काल की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि इसी काल में आज के सभी विकसित देशों में (इंग्लैंड को छोड़कर) आधुनिक आर्थिक विकास-प्रक्रिया का प्रथम प्रजनन एवं पोषण हुआ।[2] सुदूर पूर्व, लैटिन अमेरिका, मध्य पूर्व, दक्षिण एशिया तथा अफ्रिका आदि के देश इसी लिए पिछड़ गये कि उनकी राष्ट्रीय सरकारें नहीं थीं। भारत इसका ज्वलन्त उदाहरण है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में भी ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हुईं, जिनका लाभ उठाकर यह देश भी अपने अन्दर आधुनिक विकास की प्रक्रिया का पोषण कर सका होता, बशर्ते इसकी अपनी सरकार होती। यह अवधि (1850-1900) भारत के लिए 'खोये अवसरों की अवधि' थी। सम्भवतः तत्कालीन सभी उपनिवेशों की ऐसी ही स्थिति थी, थोड़े-बहुत अन्तर के साथ। 'खोये अवसरों' की यह कसक उपनिवेशों में बराबर बनी रही। इस समय एक प्रबल बुद्धिजीवी वर्ग का उदय हुआ। भारत में स्वर्गीय श्री दादाभाई नौरोजी, श्री रमेशचन्द्र दत्त, श्री महादेव रानाडे, औद्योगिक

[2] ई० ए० जी० रॉबिंसन, 'द चेंजिंग स्ट्रक्चर आफ ब्रिटिश इकानॉमी', इकानॉमिक जनल सितम्बर 1954

आयोग 1916-18 के प्रतिवेदन, और आगे चलकर डॉ० वी० के० वी० राव के आर्थिक अध्ययन तथा अन्तत सर सुन्दरलाल (भारत मे अग्रेजी राज्य) एव प० जवाहरलाल नेहरू (डिस्कवरी ऑफ इन्डिया) के लेखो और विचारो से प्रेरणा लेकर समस्त देश मे उस विचारधारा का व्यापक प्रसार हुआ जिसमे राष्ट्रीय स्वतत्रता की प्राप्ति पर इसलिए बल दिया जाने लगा कि देश मे विकास-परम्परा का श्रीगणेश और सम्पोषण हो सके। राष्ट्रपिता महात्मा गाधी ने इस विचारधारा को ठोस एव सगठित दिशा दी। सोवियत रूस मे योजनागत विकास की सफलताओ ने इस विचारधारा को प्रबलतर बनाया। सभी उपनिवेशो के साथ भारत भी राष्ट्रीय स्वतत्रता के लिए आकुल हो उठा मुख्यतया इसलिए कि राष्ट्रीय विकास के लिए अपनी सरकार कार्यशील हो।

विश्वव्यापी आर्थिक विकास-प्रक्रिया : द्वितीय चरण

शत प्रतिशत समानता की बात तो अतिशयोक्ति होगी। फिर भी यह कहना सत्य से दूर न होगा कि उन्नीसवी शताब्दी मे आरम्भ प्रथम विश्वव्यापी विकास-प्रक्रिया के जनन मे जो भूमिका फ्रासीसी विचारधारा (फ्रेन्च आइडियाज) ने प्रस्तुत की, वर्तमान शताब्दी मे इस विकास प्रक्रिया के द्वितीय चरण के सूत्रपात मे लगभग वैसी ही भूमिका उपनिवेशो मे व्याप्त राष्ट्रीय स्वतत्रता की प्राप्ति से प्रेरित इस उद्दाम विचारधारा ने निभाई। सुसयोगवश द्वितीय विश्व महायुद्ध ने मानो स्वतत्रता के द्वार खोल दिये। एक के बाद दूसरे उपनिवेश स्वतत्र हुए, सर्वत्र राष्ट्रीय सरकारें बनी, और लगभग सर्वत्र आयोजित विकास की योजनाए उसी तरह कार्यशील हुईं, जैसे नेपोलियन-युद्धों ने पश्चिमी देशो मे प्रथम विश्वव्यापी विकास प्रक्रिया के आगमन के द्वार खोल दिये थे। यह विश्वस्तरीय विकास-प्रक्रिया का द्वितीय चरण है जिसमे विकासशील देशो की प्रगति पर विशेष जोर है। भारत इस चरण का अग्रणी है, विश्व का सबसे अधिक जनसख्या-बहुल राष्ट्र है जिसने विकास की प्रजातन्त्रात्मक पद्धति मे विश्वास रखा है, यह एक अकेला राष्ट्र है जो स्वतत्रता-प्राप्ति से अब तक अनवरत गणतत्र रहा है, तथा जिसके पास प्रशासन एव प्रबन्धन की ठोस परम्परा है। साथ ही यह एक महाद्वीपीय राष्ट्र है, जिसमे सामाजिक रूढियों की इतनी गहनता रही है, तथाकथित धार्मिक अन्धविश्वासो की इतनी बहुलता रही है, तथा अन्तर्क्षेत्रीय सस्कृतियों एव भाषाओ मे इतनी विभिन्नता रही है, जितनी विश्वस्तरीय आर्थिक विकास प्रक्रिया के प्रथम चरण से लाभान्वित होने वाले पश्चिमी राष्ट्रो मे नही थी, और जिनकी विद्यमानता आर्थिक विकास मे बाधक होती है। आयोजित विकास की गणतन्त्रात्मक पद्धति अपनाकर भारत ने राष्ट्र के आधुनिकीकरण का कठिनतम मार्ग अपनाया है।[3] फलत समस्त विश्व की आखें इसके विकास प्रयत्नो पर टिकी हैं। पिछले 30-32 वर्षो की आयोजित अवधि मे कुछ

[3]प्रोफेसर ट्व नवी उद्धृत, 'न्यू इंडिया', न्यूयार्क, 1958 पृष्ठ 164

विकट समस्याएं भी सामने आयी हैं, जो मूलतः हमारे विकास-प्रयत्नों की सफलता के कारण ही धरातल पर विकट दीख पड़ती हैं। फिर भी, देश के भीतर भी कुछ वर्ग-वादी व्यक्ति हमारी योजना-प्रणाली की ओर संदेह की दृष्टि से देखने लगे हैं।[4] अस्तु भारत की आर्थिक प्रगति का निष्पक्ष लेखा-जोखा राष्ट्रीय चिन्तन के स्तर पर एक न्यूनतम आवश्यकता हो गयी है।

भारत की आयोजित आर्थिक प्रगति

देश में आयोजित विकास का श्रीगणेश आज से लगभग बत्तीस वर्ष पूर्व हुआ। अब तक हम पांच पंचवर्षीय योजनाएं पूरी कर चुके हैं और छठी योजना के मध्य से गुजर रहे हैं। हमारे आयोजित विकास का केन्द्रीय उद्देश्य है एक ऐसी विकास-प्रक्रिया का प्रजनन एवं सतत सम्पोषण जिससे नागरिकों के जीवन-यापन-स्तर में निरन्तर वृद्धि होती रहे, तथा उनके सुखी एवं बहुरंगी जीवन के लिए लगातार नये अवसर प्राप्त होते रहें। यद्यपि विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में इस केन्द्रीय उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अपनाये गये व्यावहारिक कदम बदलते रहे हैं, फिर भी उन सबके मूल में प्राणशील उद्देश्य बड़ी आसानी से चार वर्गों में रखे जा सकते हैं, अर्थात् 1 उत्पादन वृद्धि, 2 आधुनिकीकरण, 3 आत्म निर्भरता, तथा 4 सामाजिक न्याय।

1 उत्पादन वृद्धि—*प्रथम योजना के आरम्भ वर्ष 1951-52 से लेकर 1980-81 के बीच प्राप्त विभिन्न अचलों की उत्पादन-वृद्धि का विवरण यों है —*

1951-52 से 1980 81 की अवधि में वार्षिक उत्पादन वृद्धि-दर

मदें	वार्षिक वृद्धि-दर[5]
राष्ट्रीय आय	34%
प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय	12%
कृषि-उत्पादन	26%
औद्योगिक उत्पादन	60%
प्रति व्यक्ति उपभोग	10%

योजनाओं के सम्पादन के फलस्वरूप राष्ट्र ने 'स्थिरावस्था' को पार किया, और विकास के लम्बे डग भरे। *आजादी का पूर्वकालीन आबादी* (1900-194 भारत

[4]पूर्व में श्री मीनू मसानी द्वारा प्रस्तुत 'योजना अवकाश', पिछली जनता-सरकार-द्वारा प्रस्तुत लक्ष्य विहीन 'रोलिंग प्लान' की अवधारणा तथा मार्च 1982 से लेकर जुलाई 1982 तक के 'मेनस्ट्रीम' में प्रकाशित इण्डियन डेवलपमेंट पर वाद प्रतिवाद की शृंखला इस संदेह दृष्टि के कुछ विशद उदाहरण हैं।

[5]आर्थिक सर्वे 1981 [illegible] भारत-सरकार से आकलित।

की राष्ट्रीय आय, कृषि-उत्पादन, एव औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि-दरें क्रमश मात्र 1 2%, 0 3% तथा 2 0% प्रतिवर्ष थी किन्तु योजनाकरण के प्रथम 30 वर्षों के अन्दर ये क्रमश 3 4% 2 6% तथा 6 0% पर पहुच गयी। खाद्यान्न-उत्पादन जो 1950-51 मे करीब 52 मिलियन टन था, 1981-82 मे 132 मिलियन टन पर पहुच गया, लगभग ढाई गुने का विस्तार। इस दौरान औद्योगिक उत्पादन मे पाच गुना विस्तार आया। हमने खाद्यान्न-सकट पर नियत्रण किया, इसके आयात को वैकल्पिक बनाया, और अब एक अच्छी मात्रा मे हम खाद्यान्न-निर्यात की स्थिति मे हैं।

2. आधुनिकीकरण—इस अवधि मे देश की अर्थव्यवस्था और इसके विभिन्न अचलो का पर्याप्त आधुनिकीकरण हुआ। सकल राष्ट्रीय आय के उत्पादन मे कृषि का योगदान जो 1950-51 मे लगभग 59% था, घटकर 1978-79 मे करीब 41 6% पर आ गया। साथ ही द्वितीय उद्योगो (खनन, निर्माण, तथा अन्य उद्योगो) का यह योगदान इस दौरान 18 8% से बढकर लगभग 30% पर आ गया। स्वय औद्योगिक अचल म ढाचात्मक परिवर्तन आया। खाद्यान्न एव कपडा आदि जैसे परम्परागत उद्योगो का योगदान इस अवधि मे घटा, 62 7% से गिरकर 29% पर आ गया, और आधारभूत उद्योगो, केमिकल्स तथा इजिनियरिंग उद्योगो का योगदान काफी बढा, 1956 और 1978 के बीच 21 5% से बढकर लगभग 40% पर पहुच गया।[6] इस बीच कृषि-क्षेत्र मे हरित क्रान्ति आयी, जिसका विशप प्रचार-प्रसार 1964-65 से हुआ। दशको से लगभग स्थिर प्रति एकड उत्पादकता बढने लगी। 1964-65 तथा 1978-79 के बीच अखाद्य और खाद्य के प्रति एकड उत्पादन की दरें क्रमश 1 3% और 2 3% प्रति वर्ष पर पहुची, जब इसके पूर्वकालीन 15 वर्षों के अन्दर मात्र 1 0% तथा 1 4% प्रतिवर्ष थी। आधुनिकीकरण तथा तकनीकी उन्नति का आधार है मानवीय कौशल। इस बीच विज्ञान एव तकनीक के विकास का काफी प्रयत्न हुआ। अमेरिका और रूस को छोडकर भारत मे वैज्ञानिको तथा तकनीकी विशेषज्ञो की जमात विश्व मे सर्वाधिक है। इन तीस वर्षों की अवधि मे देश ने काफी विस्तृत, गहन और व्यापक रूप मे औद्योगिक तकनीकी तथा वैज्ञानिक कौशल का प्रसार किया है, औद्योगीकरण की नीव गहन और बहुरगी हुई है, आधारभूत सरचना काफी ठोस हुई है।

3 आत्मनिर्भरता—आत्मनिर्भरता के प्रमुख स्तम्भ हैं—(i) राष्ट्रीय उत्पादन की यथेष्टता एव बहुविधता, (ii) विदेशी ऋण की कटौती, (iii) महत्वपूर्ण उत्पादो की आयात मे कमी या आयात-सस्थापन, तथा (iv) यथेष्ट निर्यात-अर्जन। देश की कृषि-उद्योग-सरचना, तथा समूची अर्थव्यवस्था मे कितनी यथेष्टता एव बहुविधता आयी है, यह पहले ही दिग्दर्शित किया जा चुका है। योजनाओं के दौरान शुद्ध विदेशी सहायता पर हमारी निर्भरता लगातार घटती गयी है, जहा द्वितीय योजना के कुल व्यय-भार मे शुद्ध विदेशी सहायता का योगदान 28 1% था, वहा पाचवी योजना मे यह घटकर मात्र

[6]छठी पचवर्षीय योजना, 1980-85, तालिकाए 1 5 एव 1 69, पृष्ठ 13

8 9% पर आ गया। उसी प्रकार हमारे आयातों में शुद्ध विदेशी सहायता का योगदान इस दौरान 20 9% से घटकर मात्र 12 8% पर आ गया। साथ ही हमने इस आयोजित काल में अर्थव्यवस्था के उत्पादन और सगठन में इतने महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं कि हमारी आयात निर्भरता निरन्तर घटती गयी है।[7] देश की आयात-सस्थापन की सीमा निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होती है

योजनाकाल की घरेलू आपूर्ति मे विदेशी आयात का स्थान

मदें	1950-51	1977-78
खाद्यान्न	5 9%	0 2%
लोहा इस्पात	[25 2%	1 1%
मशीनरी	68 9%	15 3%
पेट्रोलियम	92 5%	63 1%
नेत्रजन खाद	72 2%	27 5%

जहा हमारी आयात-निर्भरता इस गति से घटी है, वहा हमारे निर्यात-अर्जन की क्षमता बराबर बढी है। भारत की मुद्रा-व्यक्त निर्यात-अर्जन-वृद्धि-दर प्रथम योजना मे केवल 1 8% प्रतिवर्ष थी, किन्तु पाचवी योजना मे यह बढकर 17 3% प्रतिवर्ष आ गयी।[8] स्मरण रहे कि आत्मनिर्भरता की विशेष प्रगति उन सारी विश्वस्तरीय कठिनाइयो के बीच हुई, जिनमे 1973 से निरन्तर बढती पेट्रोल की कीमतें मुख्य हैं। केवल पाचवी योजना (1974-75—1978-79) मे इन कीमतो की ऊचाई के कारण हम 5000 से लेकर 5500 करोड रुपयो का शुद्ध घाटा उठाना पडा, जो हमारी राष्ट्रीय आय का लगभग 1 5% प्रतिवर्ष के आसपास आता है।[9] अपने प्रयत्नो मे राष्ट्र ने लगातार अपने पैरो पर निर्भर रहने की कोशिश की है। समग्र पूजी निर्माण की दर जो 1950-51 मे मात्र 10% थी, बढकर पाचवी योजना मे 23% पर पहुच गयी और ऐसा इसलिये सम्भव हुआ कि घरेलू सकल बचत-दर इस दौरान 10 2% से बढकर 23 9% पर आ गयी।[10] इनमे कोई सन्देह नही कि अपने पिछले करीब 30-32 वर्षों के योजनागत विकास के फलस्वरूप भारत ने उन्नयन-अवस्था (टेक-ऑफ-स्टेज) की प्राप्ति कर ली है।

4 सामाजिक न्याय—राष्ट्र ने इसे प्राप्त कर लिया है और उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ प्राप्त किया है। इस क्षेत्र मे ठोस आकडे देना कठिन है। फिर भी कुछ मोटे आकडे इसे

[7] छठी पचवर्षीय योजना 1980-85, तालिका 1 9, पृ० 15
[8] वही तालिका 1 10 पृ० 15
[9] वही, पृ० 7
[10] वही, पृ 11

विकसित देशों एवं भारत की तुलनात्मक विकास-अवस्थाओं में
राष्ट्रीय आय की वृद्धि-दर[15]

देश	वार्षिक वृद्धि-दर
विकसित देश (1860-1913)	2.2 से 4.3%
भारत (1951-1979)	2.2% से 5.2%

स्पष्ट है कि तुलनात्मक विकासावस्थाओं में भारत की विकास-दर किसी भी अवस्था में कम नहीं। बल्कि भारत की विकास-दरें ऊंची होंगी, यदि हम इन बातों पर ध्यान रखें कि (i) प्रथमतः, *विकसित देशों में विकास के प्रथम चरण के पश्चात् वृद्धि हुई,* किन्तु भारतीय अवस्था में इसके पूर्व ही जनसंख्या-वृद्धि की विस्फोटक प्रवृत्ति आ गयी थी, (ii) दूसरे, उन देशों में सामाजिक न्याय की मांग और सिद्धियां उस विकास अवस्था के पश्चात् आईं, *किन्तु भारत में ये विकास-प्रयत्नों के साथ बनी रहीं,* और (iii) तीसरे, उन देशों के प्रथम विकास-चरण में अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां आर्थिक विकास के अत्यधिक अनुकूल थीं। इन दृष्टियों से भारत की विकास-दर कुछ अधिक ही प्रतीत होती है।

2. विकासमान देशों की तुलना—विश्वव्यापी विकास-प्रक्रिया के द्वितीय चरण (1950 से आगे) भारत और अन्य विकासमान देशों की तुलना समीचीन होगी। 1961-79 की अवधि में अन्य विकासमान देशों की विकास-दरें 4.6% से लेकर 6.1% प्रतिवर्ष के बीच रहीं,[16] जबकि भारत की ये दरें 2.2% से लेकर 5.2% प्रतिवर्ष के बीच रहीं। ये आंकड़े अवश्य बताते हैं कि भारत की प्रगति इन देशों की अपेक्षा काफी कम रही। किन्तु यह कमी मात्र प्रतीयमान या सांख्यिकी है, वास्तविक नहीं, क्योंकि भारत ने इस बीच वह उपलब्ध किया है, जो विकासमान देशों में से किसी ने नहीं किया है। इस दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था ने अपना पर्याप्त आधुनिकीकरण किया है, कृषि, उद्योग एवं आधारभूत संरचना को काफी गहन, व्यापक और प्रभावक किया, वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रगति में विश्व में (अमेरिका तथा रूस को छोड़कर) प्रथम स्थान प्राप्त किया, *अपनी उत्पादन और संगठन-व्यवस्था को इतना बहुरंगी बनाया* कि आयातों तथा विदेशी सहायता को अत्यधिक कम कर आत्म-निर्भरता की ओर व्यापक सिद्धियां उपलब्ध की, और अन्ततः भारत ने 'टेक-ऑफ-अवस्था' की प्राप्ति की। इस दृष्टि से भारत अन्य विकासमान देशों से कोसों आगे है। इसकी भावी विकास-सम्भावना अन्य विकासमान देशों से बहुत व्यापक है। साथ ही भारत ने सामाजिक न्याय की दृष्टि से (विशेषकर जनसंख्या के निम्नतम वर्गों की सहायता तथा उनकी

[15]भाटर एण्ड वाल्टिरन, इकॉनामिक डेवलपमेंट, नयी दिल्ली, पृ० 253
[16]वर्ल्ड बैंक रिपोर्ट 1981, पूर्वोद्धृत।

के बाद की आयोजित अवधि में भारत का आर्थिक कायापलट हो गया।

1950 के पूर्व और पश्चात भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास स्वरूप[20]

विकास मदें	वार्षिक विकास दरें	
	1900-46	1951-79
राष्ट्रीय आय	1.2%	3.4%
कृषि-उत्पादन	0.3%	2.7%
उद्योग उत्पादन	2.0%	6.1%
विकासावस्था	स्थिरावस्था	टेक आफ-प्राप्ति प्रक्रिया

अन्य देशों (विकसित अथवा विकासमान) से तुलना वांछनीय है। किन्तु 1950 की पूर्वकालीन लगभग जड़ अर्थव्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में इसकी आयोजित वर्षों की प्राप्तियाँ परम प्रशंसनीय हैं। स्वयं अपने ही देश के निवासी इन प्राप्तियों को भूल रहे हैं और श्री जे० के० गैलब्रैथ[21] के उस तथ्य की पुष्टि कर रहे हैं जिसमें उन्होंने कहा है कि "भारत और चीन के निवासियों में एक महान् अन्तर यह है कि जहां चीनी अपनी असिद्धियों को छुपाते और सिद्धियों से एक प्रबल प्रदर्शन करते हैं, वहां भारतीय अपनी सिद्धियों को छिपाते और असिद्धियों का प्रचार करते हैं।"

विकासकालीन विपत्तियाँ

भारतीय आयोजित विकास-काल की समस्याएं भी हैं, जिनकी उपेक्षा निष्पक्षता का अनादर होगा। इनमें प्रथम है बेरोजगारी। प्रथम योजना के आरम्भ-वर्ष में लगभग 5.3 मिलियन व्यक्ति बेरोजगारी के शिकार थे, और 1977-78 में ऐसे बेरोजगारों की संख्या 21 मिलियन पर पहुंच गयी। 1961 और 1981 के बीच देश में रोजगार-प्राप्त व्यक्तियों की संख्या राजकीय एवं निजी दोनों क्षेत्रों को मिलाकर 12.1 मिलियन से बढ़कर 229 मिलियन पर पहुंच गयी।[22] अर्थात् इस बीच करीब 10.8 मिलियन व्यक्तियों को नये सिरे से रोजगार मिला। स्पष्ट है कि योजनाकरण के होते हुए भी बेरोजगारी बढ़ रही है। किन्तु यह भी याद रहे कि वृद्धि में सबसे बड़ा हाथ जनसंख्या की वृहत् वृद्धि-दर है, और इस वृद्धि-दर का सबसे बड़ा कारण है हमारा विकास-कार्य, जिसके अन्तर्गत (i) हमने सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा सामाजिक सेवाओं जैसे शिक्षा का इतना विस्तार किया है कि मृत्यु दरें काफी नीचे आकर जनसंख्या-वृद्धि में सहायक हो रही

[20] छठी पंचवर्षीय योजना, पूर्वोद्धृत, पृ० 1, एवं 'मेनस्ट्रीम' 1982 ऐनुअल, पृ० 47

[21] 'इण्डिया टुडे' में प्रकाशित एक अन्तर्वार्ता, 'मेनस्ट्रीम' में उद्धृत

[22] इकानामिक सर्वे 1981 [illegible] पूर्वोद्धृत, पृ० 108-109

की विपत्तिया हैं—ठीक उसी तरह जैसे सुन्दर स्वास्थ्य के लिये व्यायामकर्त्ता जो जितना प्रयत्नशील होता है उसे उतना ही अधिक स्वेद बिन्दुओं का सामना करना पड़ता है। इन कठिनाइयों के प्रति हम काफी जागरूक हैं। उदाहरणतः रोजगारवर्द्धन तथा निर्धनता-निवारण अब हमारे आयोजित विकास के प्रमुख उद्देश्य हो गये हैं। छठी योजना इस पर मुख्य जोर दे रही है। इसमें सामान्य विकास तथा विशिष्ट प्रयोजन की ऐसी परियोजनाएं कार्यशील हैं, जिनकी बदौलत योजना के दौरान रोजगार में 4.1% प्रतिवर्ष की वृद्धि होगी। चूंकि यह वृद्धि-दर देश की सामान्य श्रम शक्ति-वृद्धि दर 2.54% प्रतिवर्ष से अधिक होगी, इसलिये अनुमान है कि योजना के अन्त तक लगभग 34 मिलियन व्यक्तियों को नये सिरे से रोजगार मिलने के फलस्वरूप देश में बेकारी-महामारी पर यथेष्ट नियन्त्रण हो जायगा। इसी भांति निर्धनता-उन्मूलन के लिए भी दो प्रकार की परियोजनाएं हैं—सामान्य विकास-सम्बन्धी तथा विषमता-निवारण-सबंधी। हम आसानी से इनके प्रभावों को विकास-प्रभाव तथा पुनर्वितरण प्रभाव कह सकते हैं।[26] योजनावधि में विकास प्रभाव एवं पुनर्वितरण प्रभावों के कारण निर्धनता-सीमा में क्रमशः 8.51% और 8.93% की कमी आयगी। फलस्वरूप 1984-85 में निर्धनता-रेखा के नीचे रहनेवालों का प्रतिशत घटकर 30% पर आ जायगा। इसी प्रकार मूल्यतल नियन्त्रण की ओर भी हम पर्याप्त प्रयत्नशील हैं। समस्त विश्व इस कष्ट से पीड़ित है और इसके निवारण को प्राथमिकता दे रहा है। विकसित देशों में भी इसके शमन के प्रयत्न हो रहे हैं। मूल्य-तल वृद्धि-दर जो 1980 में 12% थी, 1981 में 10% और 1982 में 8% थी, सम्भावना है कि 1983 में यह घटकर 7% पर आ जाय।[27] भारत के प्रयत्न भी कारगर सिद्ध हो रहे हैं। 1979-80, 1980-81 तथा 1981-82 में ये वृद्धि-दरें क्रमशः 20%, 16.7% तथा 5.4% थी, और 1982-83 में सीमित होकर, अनुमान है 2.7% पर आ जाएगी।[28]

भावी सम्भावनाएं

अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत की विकास सिद्धियां उत्साहवर्धक हैं। इसी से प्रोत्साहित होकर योजना-आयोग ने वर्तमान छठी योजना-सहित 15 वर्षों की दीर्घकालीन योजना बनाई है—1979-80 से 1994-95 तक के लिये। लक्ष्य है कि इस अवधि में राष्ट्रीय आय में कुल 20%, प्रति व्यक्ति आय में 71% की वृद्धि होगी। इस परिप्रेक्ष्य-योजना की विशेषता यह है कि इसमें विकास के साथ उन परियोजनाओं को अधिक लगन से सम्पादित किया जायेगा, ताकि विकास के प्रतिफल अधिक-से-अधिक मात्रा में समाज के निर्धनतम व्यक्तियों को भी प्राप्त हो सकें। विकास के साथ सामाजिक न्याय

[26] एस० बाई० ठाकुर, 'इण्डियन इकानामिक डेवलपमेंट', नई दिल्ली, 1982, पृ० 47
[27] वही, 7 जून, 1982, पृ० 12
[28] इकानामिक सर्वे 1981-82, पृ० 63

की प्राप्ति इनकी विशेषता है। कुछ लोग आशंकित हैं कि वर्तमान योजना में निर्धारित 5 2% तथा अगले दशक के लिये निर्धारित 5 5% प्रतिवर्ष की विकास-दर प्राप्त होगी अथवा नहीं, जबकि अब तक की सिद्धि 3 4% प्रतिवर्ष के आसपास है।

अर्थशास्त्र न तो ज्योतिष है न याजनकरण जादूगरी है और न ही मनुष्य में भविष्य की अनिश्चितताओं को शत-प्रतिशत नियंत्रण में लाने की शक्ति है। फिर भी, हमारी अर्थव्यवस्था ने जो प्राप्त किया है जो क्षमताएं अर्जित की है उनके बल पर हम आशावान है कि हमारे सपने पूरे होंगे। नाना आर्थिक कठिनाइयों, सामाजिक रूढ़ियों, संस्थात्मक कमजोरियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय विभिन्नताओं के रहते हुए भी राष्ट्र ने अपनी पिछली 1 2% प्रतिवर्ष की विकास-दर के मुकाबले में योजनागत तीन दशकों में लगभग इसकी तीन-गुनी 3 4% की विकास-प्राप्त की है, टेक-ऑफ-अवस्था का सफल प्रतिपादन किया है, अपनी आधारभूत कृषि और उद्योगगत संरचना को पर्याप्त विस्तृत, बहुरंगी, और गहन किया है, वैज्ञानिक और तकनीकी कौशल का अर्जन किया है, आयात-स्थापन तथा निर्यात-वृद्धि के द्वारा स्वावलम्बन की लम्बी डगें भरी है, और सबसे बढ़कर राष्ट्र के जन-मानस में विकास के प्रति लगन और उत्साह का सृजन किया है। इन सबके बल पर हमें पूर्ण विश्वास है कि राष्ट्र भावी दिनों में अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल होगा।

अध्याय 11

कृषि की नई चुनौतियां तथा औचित्य-सह-विकास समन्वयन की समस्या । एशिया के संदर्भ में भारत

यह अब सामान्यतः स्वीकार किया जाता है कि विकासशील देशों में दरिद्रता-उन्मूलन और आत्मनिर्भरता के लिए संघर्ष सर्वाधिक कठिन समस्या प्रस्तुत करता है और कृषि के क्षेत्र में सर्वाधिक उत्तेजक चुनौती देता है। मुख्यतः यह दो कारणों से है। प्रथम, कृषि-उत्पादन में निरंतर वृद्धि राष्ट्रीय अस्तित्व एवं आत्म निर्भरता के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कृषि को तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या की खाद्य आवश्यकता, उद्योगीकरण की कच्चे माल और मूल्य-आधिक्य आवश्यकताओं को पूरा करना पड़ता है। द्वितीय, अधिकांश विकासशील देशों में गरीबी से ग्रस्त लाखों लोग ग्रामीण क्षेत्र में केन्द्रित हैं, अतः ग्रामीण जनता के रोजगार की समस्या किसी भी राष्ट्रीय रोजगार नीति का हृदय स्थल है।

यह ध्यातव्य है कि भारत में वर्तमान के आरम्भ से ही कृषि पर निर्भर कार्यरत जनसंख्या का अनुपात लगभग 70 प्रतिशत रहा है। निकट भविष्य में कृषि से गैर-कृषि क्षेत्र की ओर आबादी के महत्त्वपूर्ण स्थानान्तरण की सम्भावना प्रतीत नहीं होती। इस पृष्ठभूमि में संरचनात्मक परिवर्तन तथा जनसंख्या विस्फोट द्वारा संयुक्त रूप से सृजित रोजगार की समस्या का सामना करने के लिए निकट भविष्य में ग्रामीण अर्थव्यवस्था के अंतर्गत विविधीकरण एवं गत्यात्मकता का समावेश ही एक मात्र उपाय दीख पड़ता है। इन वस्तुनिष्ठ बाध्यताओं एवं अवरोधों को ध्यान में रखते हुए रोजगार, गरीबी-उन्मूलन तथा आत्मनिर्भरता की समस्या का एक साथ सामना करने में ग्रामीण क्षेत्र सम्बन्धी नीतियों की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यह कहना अतिशयोक्ति रहित है कि आगामी दशाब्दियों में ग्रामीण क्षेत्र के दरिद्रता उन्मूलन एवं आत्मनिर्भरता संघर्ष में या तो हार हो जायेगी या जीत।

इन चुनौतियों की बाध्यता कुल मिलाकर अधिकांश विकासशील देशों के लिए समान है, भले ही उनकी राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था की प्रकृति कैसी भी क्यों न हो। लेकिन भारत जैसी प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के लिए जनोन्मुखी एवं आत्मनिर्भरता-प्रेरक आर्थिक विकास का दबाव बड़ा सबल है। यहां राजनीतिक प्रक्रियाओं ने आम जनता में विशाल प्रबुद्धता पैदा की है तथा बेहतर जीवन के लिए उनकी आकांक्षाएं जगायी हैं जैसा इसके पूर्व कभी नहीं देखा गया था। विकास के फलों में उनके वैधानिक हिस्से

की विचारधारा ने लोक-जागरूकता मे गहरी जडें पकड ली हैं। औचित्योन्मुखी विकास की धारणा की क्रियात्मकता ने जोर पकड लिया है जिसकी अब उपेक्षा नही की जा सकती।

चुनौती की विकट प्रकृति इस तथ्य मे निहित है कि विकास और विपमता मे कमी एक साथ प्राप्त करनी है। इस सदर्भ मे सन् 1973 मे योजना आयोग द्वारा निर्गत 'द एप्रोच टू द फिफ्थ प्लॉन 1974-79' की निम्नलिखित टिप्पणी बहुत ही प्रासगिक है

'गरीबी के दोहरे कारण अल्प-विकास एव विपमता हैं। जनसख्या के एक बडे अनुपात को दैनिक जीवन की सर्वाधिक अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना रहना पडता है, क्योंकि जनसख्या के वृहत आकार की तुलना मे कुल राष्ट्रीय आय और इस प्रकार कुल उपभोग बहुत ही अल्प है और दूसरा यह कि इस आय एव उपभोग का वितरण बहुत विपम है। निकट भविष्य के अन्दर किसी एक ही दिशा मे प्रयास करके समस्या का समाधान नही किया जा सकता। अगर वर्तमान की तरह घोर विपमता व्याप्त रही, तो विकास की कोई भी दर (जिसकी वास्तविक परिकल्पना की जा सकती है) इस समस्या पर प्रमुख प्रभाव नही डाल सकती और न विकास की त्वरित दर के अभाव मे कोई भी व्यावहारिक समतावादी नीति स्थिति मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ही ला सकती है। व्यापक गरीबी पर सफल आक्रमण हेतु विकास और विपमता मे कमी दोनो अविछिन्न हैं।" (पृष्ठ 4)

फिर भी यह ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है कि जहा आर्थिक विकास के बिना गरीबी कम नही की जा सकती, वहा कभी-कभी यह सम्भव है कि गरीबी कम किये बिना आर्थिक विकास प्राप्त हो सके। इस प्रकार गरीबी की समस्या पर शीघ्र प्रभाव डाले बिना आर्थिक विकास को प्राप्त करने के प्रयास मे अनेक बार आर्थिक सरचना एव विकास के ढाचे मे ऐसी विकृतिया पैदा होती हैं जिनसे बाद मे चलकर गरीबी की समस्या का निदान करने मे बहुत बडी-बडी कठिनाइया पैदा हो सकती हैं। यह एक महज विद्वत् मान्यता नहीं, बल्कि विगत वर्षो मे भारत सहित अनेक एशियाई राष्ट्रो के विकासात्मक अनुभव से प्राप्त सीख है। अनेक अर्थशास्त्रियो एव समाजशास्त्रियो ने, जिनमे गुन्नार मिर्डल, महबूबउल हक, सी० टी० कुरीन, के० एन० राज तथा वी० एम० मिन्हास प्रमुख हैं, विकासशील देशो के विकास अनुभव के बारे मे ऐसा सामान्यीकरण प्रस्तुत किया है। विगत वर्षों में इन पहलुओं पर हक द्वारा की गयी टिप्पणी ने बहुत अधिक अभिरुचि जगायी है। इस सदर्भ मे महबूब-उल हक की 'द पॉवर्टी करटन, च्वायसेज फॉर द थर्ड वर्ल्ड' शीर्पक कृति की निम्नलिखित पक्तिया उद्धृत करना रुचिकर होगा

"यहा हम विकास की दो दशाब्दियो के पश्चात् खडे, टुकडो को उठाने का प्रयास कर रहे हैं और हम नही जानते कि क्या भयानक गरीबी मे सम्बन्धित समस्याए बढी हैं या घटी हैं अथवा कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति मे वृद्धि के फलस्वरूप इन पर क्या वास्तविक प्रभाव पडा है। हम यह जानते हैं कि कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति मे वृद्धि द्वारा मापी गयी विकास दर साठ वाले दशक मे बहुत प्रशसनीय रही, विशेपत ऐतिहासिक मानदण्ड के आधार

पर । हम यह भी जानते हैं कि कुछ विकासशील देशों ने एक निरंतर अवधि के दरम्यान उच्च विकास दर को प्राप्त किया है । परन्तु क्या इसने व्यापक गरीबी की समस्या पर प्रभाव डाला है ? क्या इसके परिणामस्वरूप गरीबी के निकृष्ट रूपों में कमी आयी है ? क्या इसका मतलब अधिक रोजगार और अवसरों की अधिक समानता रही है ? क्या विकास का चरित्र जन-आकांक्षाओं के अनुकूल रहा है ? ये कुछ चुने हुए निर्देशांक मात्र हैं और चिन्ताजनक भी हैं ।

भारत के संदर्भ में किये गये एक सद्य अध्ययन से यह पता चलता है कि कुल आबादी के 40 से 50 प्रतिशत भाग की प्रति-व्यक्ति आय सरकारी तौर पर घोषित गरीबी रेखा के नीचे है, जहां से कुपोषण प्रारम्भ होता है । तथा और अधिक संगत यह है कि जहां औसत प्रति-व्यक्ति आय ऊपर उठी है, वहां इस वर्ग की प्रति-व्यक्ति आय में विगत दो दशाब्दियों के दौरान गिरावट ही आयी है ।

"पाकिस्तान में, जिसने 1960 वाले दशक में एक स्वस्थ विकास दर का अनुभव किया, बेरोजगारी बढ़ी, औद्योगिक क्षेत्र के अन्तर्गत वास्तविक मजदूरी में एक-तिहाई की गिरावट आयी, पूर्वी एवं पश्चिमी पाकिस्तान के बीच प्रति-व्यक्ति आय की विषमता लगभग दुगनी हो गयी और औद्योगिक सम्पत्ति का केन्द्रीकरण एक विस्फोटक आर्थिक एवं राजनीतिक मसला बन गया । जहां 1968 में विश्व विकास के आदर्श के रूप में पाकिस्तान की अभी तक उच्च ध्वनि से वाहवाही हो रही थी, वहां न केवल राजनीतिक कारण से ही बल्कि आर्थिक उपद्रव के कारण व्यवस्था में विस्फोट हो गया ।

'ब्राजिल ने हाल में 7 प्रतिशत की आसपास विकास-दर प्राप्त की है लेकिन आय का निरंतर कुवितरण सामाजिक ढांचे के लिए एक धमकी है । ये उदाहरण गुणित हो सकते हैं । वस्तुतः इस क्षेत्र में और अधिक कार्य की अपेक्षा है । फिर भी आवश्यक तथ्य यह है कि उच्च विकास दर गरीबी की बिगड़ती हुई स्थिति और आर्थिक विस्फोट के खिलाफ कोई गारंटी न रही है और न है ।"

हम इस प्रवृत्ति के कारणों को एक-पक्षीय विकास से तादात्म्य भी स्थापित करते हैं । उन्हीं के शब्दों को उद्धृत करते हुए

"क्या गलती हुई है ? हमें यह विश्वासपूर्वक बतलाया जाता है कि अगर आप अपनी कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति का ख्याल रखते हैं, तो गरीबी अपने आपको ख्याल में रखेगी । हमें प्रायः उच्च कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति में वृद्धि लक्ष्य पर जोर देने के लिए स्मरण दिलाया जाता था, क्योंकि यही बेरोजगारी दूर करने और बाद में राजकोषीय तरीके द्वारा आय के पुनर्वितरण की सर्वोत्तम गारण्टी थी । आखिर वास्तव में क्या हुआ ? क्या विकास-प्रक्रिया पथ-भ्रष्ट हो गयी ?"

'मेरा अनुभव यह है कि कम से कम दो दिशाओं में पथभ्रष्ट हुई । प्रथम, हमने अपने कार्य को गरीबी के निकृष्ट रूपों के उन्मूलन के रूप में नहीं, बल्कि प्रतिव्यक्ति आय के किसी उच्च स्तर की प्राप्ति के रूप में ग्रहण किया । हमने अपने आपको विश्वास दिलाया कि प्रथम के लिए द्वितीय आवश्यक दशा है, परन्तु वास्तव में हमने अन्तर्सम्बन्ध पर

अधिक विचार नहीं किया। हम विकास-अर्थशास्त्रियों ने विकासशील देशों को सनझाया कि जीवन 1000 डालर पर शुरू होता है और ऐसा करके हमने उनकी कोई सेवा नहीं की। उन्होंने दुर्ग्राह्य प्रति-व्यक्ति आय स्तर का पीछा किया, उन्होंने कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति में उच्च वृद्धि-दर पर अपना ध्यान केन्द्रित किया, वे इस बात के लिए निरंतर चिन्तित रहे कि कितना अधिक और कितनी अधिक तेजी से उत्पादन किया जाय, उन्होंने इस बात पर कम ध्यान दिया कि क्या पैदा हुआ और कैसे इसे वितरित किया गया।" (पृष्ठ 32-33)

'अब तक हमारे पास अनेक अध्ययन प्राप्त हो चुके हैं जो प्रदर्शित करते हैं कि यह आशा करना कितना भ्रान्ति-जनक था कि पहले विनियोग एवं उत्पादन के ढांचे को पुनर्गठित किये बिना विकास के फलों का पुनर्वितरण किया जा सकता है।"(पृ०33-34)

यह व्यापक रूप से देखा गया है कि अनेक एशियाई राष्ट्रों में कृषि-विकास की ऐसी कार्यनीति (स्ट्रेटजी) के द्वारा आत्म-निर्भरता के लक्ष्य की दिशा में महत्वपूर्ण प्रगति हुई जिसने क्षेत्रीय एवं वर्ग-विषमता की समस्या को तीव्र बना दिया। यह एक पुरानी कहावत है कि जो लोग भूतकाल का स्मरण नहीं रखते और उससे सबक नहीं लेते, इसकी पुनरावृत्ति कर निन्दा के पात्र बनते हैं। यदि उन मान्यताओं पर पुन: गम्भीरता-पूर्वक विचार किया जाए जिनके फलस्वरूप गरीबी-विरोधी उद्देश्य से आत्म-निर्भरता सम्बन्धी उद्देश्य अलग हो गया, तो विगत ढांचे की पुनरावृत्ति के खतरे से छुटकारा पाया जा सकता है।

यह ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि आत्म-निर्भरता प्राप्ति के उद्देश्य ने नयी कृषि प्रौद्योगिकी को अपनाने के लिए दबाव डाला, जिसने खाद्य उत्पादन के विस्तार के रूप में शीघ्रगामी परिणाम प्रदान करने का आश्वासन दिया। उत्पादन के प्रति इस प्राथमिकता दृष्टिकोण ने भूमि-सुधार की प्राथमिकता को घटा दिया, जो गरीबी कम करने के लिए आवश्यक था। यह विचार करना आवश्यक है कि कैसे गरीबी कम करने के उद्देश्य से आत्म निर्भरता प्राप्ति का उद्देश्य अलग हो गया। ध्यान देने की बात यह है कि "आत्म-निर्भरता एवं दरिद्रता-उन्मूलन सम्बन्धी दोनों उद्देश्य दो विपरीत दिशाओं में आगे बढ़े।" आत्म-निर्भरता के लक्ष्य हेतु अपेक्षित 'उत्पादन की प्राथमिकता' बड़े उत्पादकों की उत्पादन सम्भाव्यता के उपयोग की दिशा में आगे बढ़ी, इसके फलस्वरूप उनकी ओर साख, खाद और प्रोत्साहन का विशाल प्रवाह प्रवाहित हुआ। फिर भी, दरिद्रता-उन्मूलन के लक्ष्य द्वारा अपेक्षित 'आर्थिक न्याय या औचित्य की प्राथमिकता' बड़े भू-धारकों को नियंत्रित करने की विपरीत दिशा में आगे बढ़ी होती। इसमें लघु कृषि क्षेत्र के लिए काश्तकारी सुधारों का प्रभावपूर्ण कार्यान्वयन, जोतों की हदबंदी, खाद, साख तथा प्रेरणा का प्रवाह सन्निहित था। अल्पकाल में, 'आर्थिक न्याय की प्राथमिकता' के ऊपर 'उत्पादन की प्राथमिकता' को सापेक्षिक अग्रता प्राप्त हो गयी। इस प्रकार 'उत्पादन की प्राथमिकता' ने भूमि-सुधार रहित विकास की कार्यनीति को कठोरतापूर्वक वैधता प्रदान की। इस दृष्टिकोण का अनिच्छित परिणाम यह था कि या तो

दरिद्रता-उन्मूलन लक्ष्य की उपेक्षा हुई, जैसा अनेक एशियाई देशों में हुआ, अथवा भारत की तरह कार्यक्रमों के प्रभावोत्पादक कार्यान्वयन के अभाव में इस लक्ष्य की प्राप्ति में क्षति पहुंची। इसी पृष्ठभूमि में कृषि-उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि के साथ साथ विषमता भी तीव्र हो गयी तथा गरीबी रेखा के नीचे के लोगों की संख्या बढ़ गयी।

वस्तुतः द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद ग्रामीण एशिया के बारे में उपलब्ध सूचनाओं के आधार एक विस्तृत सामान्यीकरण निरूपित किया जा सकता है। जिन देशों ने भूमि-सुधार को उच्च प्राथमिकता प्रदान की, वहां पर औपनिवेशिक अवधि से उत्तराधिकार के रूप में ग्रहण की गयी गरीबी के विरुद्ध संघर्ष में उल्लेखनीय सफलता मिली। इस श्रेणी के राष्ट्रों में जापान, चीन, वियतनाम इत्यादि उल्लेखनीय हैं। जिन देशों ने भूमि-सुधार को एकदम महत्त्व नहीं दिया अथवा उनकी प्रशंसा की मगर उन्हें प्रभावकारी ढंग से लागू करने में सक्षम नहीं थे, वहां पर प्रौद्योगिकी परिवर्तन के फल-स्वरूप होने वाले प्रभावशाली आर्थिक विकास से भी या तो ग्रामीण जनता अप्रभावित रही है अथवा उनकी हालत पहले से भी खराब हुई है। इस वृहत श्रेणी में पाकिस्तान, श्रीलंका, मलयेशिया, इण्डोनेशिया, फिलिपाइन्स, भारत के बड़े हिस्से सहित अधिकांश एशियाई राष्ट्र हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि भारत जैसे विशाल देश में केरल जैसे कुछ राज्यों में, जहां भूमि-सुधार के क्षेत्र में अपेक्षाकृत अच्छे परिणाम रहे हैं, ग्रामीण दरिद्रता के विरुद्ध संघर्ष की दिशा में अच्छे रिकार्ड भी प्राप्त हुए हैं, जबकि उन अनेक राज्यों में निरन्तर व्याप्त ग्रामीण गरीबी का अंधकारमय चित्र देखने को मिलता है जिन्होंने भूमि-सुधार का निराशामय चित्र प्रदर्शित किया है। पंजाब जैसे राज्य में भी, जो हरित क्रांति का केन्द्र था, पर्याप्त आहार प्राप्त करने तथा अपने आपको गरीबी से ऊपर उठाने में असमर्थ लोगों के प्रतिशत में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है।[1]

ग्रामीण एशिया के भविष्य में अभिरुचि रखने वाले सभी लोगों के लिए पूर्वोक्त अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के प्रकाशन एवं एशियाई विकास बैंक के 'रूरल एशिया चैलेन्ज एण्ड ओपर्चुनीटी (1977)' शीर्षक सर्वेक्षण द्वारा उद्घाटित 'सामान्य समृद्धि एवं आम जनता की गरीबी के सह-अस्तित्व' सम्बन्धी आश्चर्यजनक विरोधाभास पर चिन्तन करना आवश्यक है।

भारत सहित छह एशियाई राष्ट्रों के अनुभव को सामान्यीकरण करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन प्रतिवेदन (पृष्ठ 19) का अवलोकन है, 'ग्रामीण जनसंख्या की गरीबी में वृद्धि के कारणों के उत्तर का सम्बन्ध विकास दर की अपेक्षा अर्थ-व्यवस्था के ढांचे से अधिक है। अध्ययन किये गये सभी देशों की एक सामान्य संरचनात्मक विशेषता भूमि की विषमता का उच्च स्तर है।

[1] पावर्टी एण्ड लैण्डलेसनेस इन रूरल एशिया' इंदिरा राज रमण अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, जेनेवा, 1977, पृ० 61-69

एशियाई विकास बैंक ने अपने प्रतिवेदन के उपसंहार (पृष्ठ 319) में अनेक एशियाई देशों में हरित क्रान्ति द्वारा सृजित इन विरोधाभासों पर तीखी टीका-टिप्पणी की है। प्रतिवेदन ने एक नयी नीति पैकेज की आवश्यकता बतलायी है जो हरित क्रान्ति द्वारा सृजित विकृतियों को प्रभावपूर्ण ढंग से ठीक कर सकता है। नयी नीति के लक्ष्य संक्षेप में इस प्रकार हैं 'अब सरकारें केवल विशेषाधिकार प्राप्त लोगों की आवश्यकताओं को पूरा कर अपनी आर्थिक प्रणालियों की उत्पादक सम्भाव्यताओं को नियंत्रित नहीं कर सकती हैं। गरीबी को घटाना आवश्यक है और इसके साथ-साथ भूखे लोगों के लिए उत्पादक रोजगार की व्यवस्था करना जरूरी है।" (पृष्ठ 320)।

इस प्रतिवेदन द्वारा सुझाये गये नीति पैकेज में भूमि-सुधार को महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की गयी है और भूमि-सुधार को "लघु कृषकों के बीच बड़ी जोतों के अर्थ-पूर्ण पुनर्वितरण के रूप में" परिभाषित किया गया है। (पृष्ठ 14-15)

भारत के लिए इन दोनों अध्ययनों के निष्कर्ष की सम्पुष्टि के० एन० राज ने अपने नव प्रकाशित शोध पत्र में किया है जिसमें उन्होंने विगत प्रवृत्तियों के आधार पर भविष्य के लिए कुछ निष्कर्ष निकाले हैं। फिर भी श्री राज की दृष्टि में अर्थव्यवस्था की उच्चतर विकास-दर की सम्भावना कितनी भी प्रफुल्लित करने वाली क्यों न हो, यह गरीबों को अधिक प्रफुल्लित कर देने वाली प्रतीत नहीं होती। वे यह प्रदर्शित करते हैं कि किस प्रकार अधिकांश राज्यों में भूमिहीन श्रमिकों की संख्या विगत दशक में बड़ी तेजी से बढ़ी है और पूरे देश में यह 1964-65 में 35 मिलियन से बढ़कर 1974-75 में 54 5 मिलियन से भी अधिक हो गयी है। इस वर्ग पर बढ़कर गरीबी के दबाव का पता इस तथ्य से लगता है कि इसमें पुरुष श्रमिकों की अपेक्षा महिला श्रमिकों का प्रतिशत अधिक है तथा बाल श्रमिकों की संख्या में भी अधिक वृद्धि हुई है। फिर राज का यह अवलोकन है कि "चूंकि इस वर्ग में ही भारत की ग्रामीण गरीबी का केन्द्र-स्थल निहित है और इस क्षेत्र में अधिक कुछ नहीं किया जा सकता, यह सुरक्षित रूप में भविष्यवाणी की जा सकती है कि देश के उभरते हुए विकास-ढांचे के अन्दर, कुछ ऐसे क्षेत्र को छोड़कर जहां गरीबों को उत्पादक रोजगार में लगाने हेतु कृषि-उत्पादन की वृद्धि-दर ऊंची है, निकट भविष्य में गरीबों की दशा सुधरने की आशा नहीं है।"[2]

एशिया के अनेक अधिनायकवादी देशों के विपरीत निस्संदेह प्रजातांत्रिक भारत में लक्ष्य-निर्धारण तथा नियोजन एवं औचित्य दोनों के नारों को प्राप्त करने पर जोर दिया गया। भारत ने भूमि-सुधार कार्यक्रमों के अतिरिक्त लघु एवं सीमान्त कृषक विकास कार्यक्रम, खेतिहर मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी अधिनियम जैसे अनेक अन्य उपायों को ग्रामीण गरीबों को सुविधा देने तथा बढ़ती हुई विषमता की प्रवृत्ति को रोकने के लिए अपनाया। इसके साथ-साथ यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि इन उपायों से गरीबों की दशा में बहुत अधिक सुधार नहीं हुआ है, क्योंकि ये उपाय विकास की प्रमुख

[2] के० एन० राज वर्किंग पेपर संख्या 98 सेन्टर फार स्टडीज, त्रिवेन्द्रम, नवम्बर 1979

कार्यनीति के सहायक थे जिसमें व्यवहार्य जोतों तथा साधन सम्पन्न किसानों पर ज्यादा भरोसा किया गया। यह इन्कार नहीं किया जा सकता कि अगर ये उपाय नहीं किये जाते तो अन्य एशियाई देशों की तरह भारत में गरीबों की दशा और अधिक बिगड़ जाती। फिर भी सम्पूर्ण प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारतीय कृषि का उभरता हुआ दोहरा ढांचा लघु कृषक एवं भूमिहीन श्रमिकों की अपेक्षा वृहत कृषि-क्षेत्र के हितों के प्रति ज्यादा उत्तरदायी है। वस्तुतः वृहत कृषि-क्षेत्र में उत्पत्ति एवं आर्थिक आधिक्य का बढ़ता हुआ केन्द्रीयकरण महात्मा गांधी द्वारा उल्लिखित उस प्रवृत्ति की याद दिलाता है जिसमें वृहत उत्पादकों द्वारा बड़े पैमाने में उत्पादन के बदले आम जनता द्वारा उत्पादन करने की बात की गयी है।[3] गांधी की दृष्टि में बड़े उत्पादकों के आधिपत्य वाली उत्पादन प्रणाली आम जनता की गरीबी का मूल कारण है। इस अन्तर्दृष्टि की सम्पुष्टि हाल के एशियाई अनुभव द्वारा हो जाती है। उदाहरणार्थ, पांचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79) का प्रतिवेदन भारतीय कृषि में व्याप्त विषमता का निम्नांकित चित्र प्रस्तुत करता है

'सत्तर वाले दशक के प्रारम्भ में कुल कृषि क्षेत्र के मात्र 15 प्रतिशत भाग में ही कृषि उत्पत्ति का कुल मूल्य प्रति हेक्टेयर 1500 रुपये वार्षिक था। ग्रामीण अर्थव्यवस्था का यह अपेक्षाकृत अधिक विकसित भाग कुल उत्पत्ति का 27.84 प्रतिशत था तथा उर्वरक और पम्पसेट जैसे प्रमुख अदा का लगभग 40 प्रतिशत था। दूसरी तरफ कुल कृषित क्षेत्र के 60 प्रतिशत भाग में कृषि उत्पत्ति का कुल मूल्य प्रति हेक्टेयर 1000 रुपये वार्षिक था और यह मोटे तौर पर ग्रामीण क्षेत्र में प्रयुक्त कुल अदा का एक-तिहाई था।'' (पृष्ठ 6)

आई० सी० एस० एस० आर० के वर्किंग ग्रुप द्वारा किये गये भारतीय कृषि का सर्वेक्षण (ऑल्टरनेटिव्स इन एग्रिकल्चर, पृष्ठ 14) भी वृहत एवं लघु कृषि क्षेत्र के बीच वृद्धिमान विषमता प्रदर्शित करता है। अब कुछ बुनियादी सवाल यह उठता है कि भारत में कृषि स्थिरता के मूल स्रोत क्या हैं— संस्थागत या प्रौद्योगिकी? कृषि नियोजन में उच्च प्राथमिकता किसे दी जाय—भूमि-सुधार को या प्रौद्योगिक परिवर्तन को?

सिद्धांततः केन्द्र सरकार ने कृषि विकास की कार्यनीति (स्ट्रैटेजी) में भू प्रणाली में परिवर्तनों को केन्द्रीय भूमिका प्रदान की है। प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने 1969 में आयोजित भूमि सुधार के सम्बन्ध में मुख्य मंत्रियों के सम्मेलन में बताया कि 'हमारी व्यवस्था को अस्तित्व में बने रहने के लिए महत्त्वपूर्ण शर्त भूमि सुधार ही है।' लेकिन व्यवहार में ऐसा नहीं हो सका। इसकी आंशिक व्याख्या व्यावहारिक कारणों में की जा सकती है। साठादि दशक के मध्य में अकाल की स्थिति एवं खाद्य संकट की छाया ने कम से कम समय में खाद्यान्न की आत्मनिर्भरता प्राप्ति में समय को अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया।

[3]एम० के० गांधी, इण्डस्ट्रियलाइज्ड एण्ड मैकेनिकल सरवोदय अहमदाबाद 1966 पृ० 52 53

यह उल्लेखनीय है कि कृषि-नीति ने सर्वदा कुछ निहित स्वार्थों के बीच उद्देश्यो के अभिसरण का क्षेत्र प्रदान किया है। सम्यागत परिवर्तन के बिना तकनीकी दृष्टिकोण के द्वारा कृषि-विकास पर जोर देने वाली तथा वृहत कृषक अर्थव्यवस्था को जीवन पद्धति के रूप मे स्वीकार करने वाली शक्तियो की खाई को बहुत अच्छी तरह पाटने का प्रयास किया गया है।[4] इस सामान्य उद्देश्य न स्वार्थपरक वर्गों को भूमि सुधार के बिना विकास दर्शन पर आधारित टक्नोक्रैटिक मुखाभास को प्रात्साहित किया। फिर, एच० वार्ड० वही० प्रौद्योगिकी के साथ प्रौद्योगिक प्रगति का एकात्म्य करके एशियाई राष्ट्रो की साधन उपलब्धता के साथ प्रौद्योगिक परिवर्तन को समायोजित करने का सम्पूर्ण प्रश्न पीछे छूट गया। (मिडल, 1970 385)।

इसी पृष्ठभूमि म हरित क्राति के फलस्वरूप उत्पन्न ग्रामीण गरीबी ने इस क्राति के समर्थको को भी भूमि-सुधार के बिना विकास के टक्नोक्रैटिक दर्शन पर पुन विचार करने के लिए प्रेरित किया। इसी ने वृहत उत्पादका को कृषि परिवर्तन के मुख्य अभिकर्त्ता के रूप मे जोर देने की सम्पूर्ण स्थिति और कृषि प्रौद्योगिकी को वृहत कृषको के हितो से जुडा हुआ मानने की प्रवृत्ति की पुन समीक्षा करने के लिए बाध्य किया।

इसे उपेक्षित नही किया जाना चाहिए कि भूमि-सुधार बनाम आधुनिक प्रौद्योगिकी का यह प्रश्न ग्रामीण भारत के लाखो गरीबी-ग्रस्त लोगो के जीवन का प्रभावित करने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दो मे से एक है। ग्रामीण भारत के लिए समकालीन अवधि के अन्तर्गत इस क्षेत्र मे राजनीतिक निर्णयो का वही महत्त्व है जो उन्नीसवीं शताब्दी मे भूमि एव राजस्व नीतियो के सम्बन्ध मे औपनिवेशिक स्वामियो द्वारा लिये गये निर्णयो का था। इसी परिप्रेक्ष्य मे राजनीतिक नेताओ तथा वैज्ञानिको दोनो के लिये यह आवश्यक है कि वे पश्चिम के भू-आधिक्य एव श्रम-दुर्लभ देशो के विपरीत एशिया के भू-दुर्लभ एव श्रम-आधिक्य देशो के सदर्भ मे सस्थाए, प्रौद्योगिकी एव प्रेरणाओं के बीच पारस्परिक सम्बन्ध पर पुन विचार करें। यह प्रश्न विचारणीय है कि किस हद तक नयी स्ट्रैटजी भू-बाहुल्य एव श्रम-दुर्लभ अर्थ-व्यवस्थाओ के अनुकूल कृषि विकास की स्ट्रैटजी का यथोय परिवर्तन है।

इस कटु सत्य का सामना किया जाना चाहिए कि वृहत जोतो पर जोर देने वाली विकास-स्ट्रैटजी के फलस्वरूप पहले से व्याप्त विषमता और अधिक तीव्र हुई है। इस प्रकार ग्रामीण एशिया के बडे भागो मे विशेषाधिकार प्राप्त भद्रजन एव विशेषाधिकार-रहित कृषक समाज की परम्परागत श्रेणीबद्धता पर अमीर और गरीब का नया ध्रुवीकरण आरोपित हुआ है।[5] 'स्वाभाविक गरीबी' की अपेक्षा 'पद्धति प्रसूत गरीबी' का अधिक तीखा विरोध हुआ है।

अत वृहत कृषक के आधिपत्य वाली उभरती कृषि-प्रणाली का विकल्प अस्सी के दशक

[4]गुन्नार मिडल, द चैलेंज आफ वर्ल्ड पावर्टी, 1970, पृ० 137 142

[5]देखें, डब्लू० एफ० वर्थीम, 'बेटिंग द स्ट्राग' इस्ट-वेस्ट पैरलल्स, 1964, पृ० 259-279.

का एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। यह स्मरणीय है कि जैसा सी० एच० हनुमन्था राव ने उल्लेख किया है, अधिक उपज देने वाले किस्म की प्रौद्योगिकी का विकास एक तरफ सयुक्त राज्य अमेरिका की श्रम-दुर्लभ किन्तु भू-पर्याप्तता वाली अर्थव्यवस्था तथा दूसरी तरफ युद्धोत्तर जापान की भूमि दुर्लभ एव श्रम-दुर्लभ अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओ के प्रत्युत्तर म हुआ है।[6]

फिर भी, भारत और अन्य एशियाई राष्ट्रो की श्रम-आधिक्य ग्रामीण अर्थ-व्यवस्थाओं को प्रौद्योगिकी, सस्था एव उत्प्रेरणा के नये रूपो की अपेक्षा है। सिंचाई एव जलप्रबधन का विकास लघु-कृषक उन्मुखी भूमि-सुधार निर्देशक उत्प्रेरणा के रूप म सामुदायिक कल्याण सीमाओ के अन्दर व्यक्तिगत लाभो का अनुपालन—ये भारत सहित श्रम-आधिक्य एशियाई देशो मे गतिशील कृषि की अविच्छिन्न आवश्यकताए हैं। ये यूरोप की अत्यधिक पूजीप्रधान व्यक्तिवादी कृषि से एशियाई किस्म की श्रम एव भूमिप्रधान समुदाय-उन्मुखी कृषि की ओर झुकाव को इगित करते हैं। ऐसा झुकाव प्रौद्योगिक परिवर्तन के महत्त्व को घटाता नही, बल्कि यह वैसे प्रौद्योगिक अनुसधानो की आवश्कता को बढाता है जो भूमि को बढाने वाले, पूजी-बचत और श्रम की खपत करने वाले है। विकास प्रयत्नो के केन्द्र मे मध्यम एव लघु कृषको को रखने का मतलब यह नही है कि वृहत् उत्पादको को पूर्णत विकास प्रयत्नो से अलग कर दिया गया है। भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था में किसी भी महत्त्वपूर्ण वर्ग को विकासात्मक योजना की परिधि के बाहर नही रखा जा सकता है और न ऐसा किया ही जाना चाहिए। आज आवश्यकता एक ऐसी कृषि-प्रणाली के सृजन की है जिसमे लाभदायकता और सामूहिक कल्याण कार्य दोनो कृषि प्रगति के लिए अनुपूरक प्रेरणा शक्तियो के रूप मे रहे हैं।[7]

यह उल्लेखनीय है कि अब तक मुख्यत गेहू प्रक्षेत्र ने ही नई प्रौद्योगिकी का नाटकीय असर और विकास जनित विषमता का तनाव अनुभव किया है। लेकिन जब हम वृहत् उत्पादक आधिपत्य वाले गेहू प्रक्षेत्र से भारत सहित एशिया के अधिक विस्तृत धान और बाजरा उपजाने वाले क्षेत्रो की ओर बढते हैं तो विकास एव औचित्य वृहत् एव लघु कृषक के बीच का विभाजन अपने सम्पूर्ण अर्थ को खो देता हुआ प्रतीत होता है।[8] इन क्षेत्रो में, जिनकी विशेषता एक तरफ प्रौद्योगिक पिछडापन और दूसरी तरफ लघु कृषको की प्रमुखता है, विकास को बढाने के लिए किए गए उपाय बेकारी दूर करने म शीघ्र एव प्रत्यक्ष योगदान करते है। इसके अतिरिक्त इन क्षेत्रो म जहा जमीदारी और जागीरदारी प्रथाओ ने एक ऐसी सामाजिक एव राजनैतिक व्यवस्था बनाए रखा जो गरीबो के

[6]सी० एच० हनुमन्था राव, 'रिफ्लेक्शन्स आन इकनामिक डवलपमट एण्ड सोशल चेन्ज' 1979, पृ० 212 214

[7]गिल्बेर्ट इशिकावा 'एग्रीकल्चरल डेवलपमेन्ट स्ट्रेटेजीज इन साउथ एशिया ए० डी० बी०, 1970 पृ० 116

[8]सी० एच० हनुमन्था राव पावर्टी एव डेवलपमेंट कैरेक्टरिस्टिक्स आफ लेस डवलप्ड रीजन्स इन इण्डिया, इकानामिक एण्ड पालिटिकल वीकली, अगस्त 1979

हितों के उतनी अधिक प्रतिकूल थी जितना आर्थिक विकास के, वहां राजनैतिक एवं प्रशासनिक नवीकरण एवं आविष्कार विकास तथा औचित्य को शीघ्र योगदान देते हैं।

इन क्षेत्रों में विकास एवं औचित्य की समस्या को एकबद्ध करने में आगामी वर्षों में विकास का कार्य चुनौतीपूर्ण एवं पुरस्कार-पूर्ण दोनों ही हो जाता है। कृषि प्रौद्योगिकी की महती सम्भावनाओं के इस युग में आगामी वर्षों में औचित्य-सह-विकास के अवरोधों को अब तकनीकी आर्थिक क्षेत्र में नहीं, बल्कि संस्थागत या राजनैतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में एकात्म्य करना चाहिए। कार्यरत किसान-उन्मुखी भूसम्बन्धों तथा सत्ता के ढांचों के साथ भू-वृद्धि एवं श्रम खपत वाली प्रौद्योगिकी औचित्य पर आधारित कृषि-विकास की नई सम्भावनाओं की कुंजी है।

अध्याय 12

उत्पादन प्रणाली, क्षेत्रीय अंतरक्रियाशीलता एव ग्राम-विकास कार्यक्रम

उत्पादन के सगठनात्मक पहलुओ एव जनसख्या के भौगोलिक वितरण, व्यवस्था-मूलक तौर-तरीके, आर्थिक कार्यकलाप तथा आय-उत्पादन एव उसके वितरण के बीच आधारभूत सम्बन्ध है। आर्थिक क्रिया-कलाप की प्रत्येक प्रणाली या सगठन रोजगार-प्रभाव आय-उत्पादन एव पुनर्उत्पादन को एक खास दिशा की ओर अग्रसारित करती है। एक ऐसे कल्पित समाज म, जहा प्रत्येक पारिवारिक-इकाई भोजन, वस्त्र एव आवास सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति स्व-श्रम से कर लेने म समर्थ है (परिवार के विभिन्न सदस्यो के बीच एक प्रकार के श्रम-विभाजन या विशिष्टीकरण के कारण), वहा आर्थिक क्षेत्र म पारस्परिक क्रियात्मकता का अस्तित्व नहीं हो सकता। ऐसी व्यवस्था मे, जीवन-निर्वाह स्तर पर सतुलन की प्राप्ति सभव है। किन्तु, उत्पादन-अतिरेक एव समाज के आर्थिक उन्नयन की प्राय कोई सभावना नही रह जाती है।

औद्योगिक क्राति की पृष्ठभूमि मे विनिमय एव परिमाणजन्य उत्पादन-सगठन के साथ विशिष्टीकरण का उद्भव महत्त्वपूर्ण कारको मे से एक था। एडम स्मिथ (1976) ने *उत्पादन के क्षेत्र मे विशिष्टीकरण के अर्थशास्त्र का विश्लेषण किया जो उत्पादकता* की वृद्धि मे योगदान देता है। किन्तु, विशिष्टीकरण के विस्तार की सीमा बाजार के विस्तार की सीमा से आबद्ध हो जाती है। ऐसे विशिष्टीकरण के द्वारा ही वस्तुओ एव सेवाओ के विनिमय के रूप मे पारस्परिक क्रियात्मकता की वृद्धि परिलक्षित होती है जिसका विस्तार एक स्वावलम्बी पारिवारिक-इकाई से काफी दूर तक हो जाता है। यही विस्तृत पारस्परिक क्रियाशीलता समाज मे मनुष्य के व्यवस्थामूलक ढाचे आर्थिक कार्य-कलाप गतिशीलता, आय-उत्पादन एव उसके वितरण को किसी क्षेत्र मे अभिप्रेरित करती गई है। इसी बढ़ती हुई पारस्परिक क्रियात्मकता के साथ आर्थिक कार्य-कारको के समक्ष समय एव लागत मूलक बाधाए उत्पन्न होती रही हैं जिसका आशिक रूप मे समाधान करने हेतु क्षेत्र-विशेष मे आर्थिक क्रिया कलापो का केन्द्रीकरण होता गया है और फलस्वरूप क्षेत्रीय स्तर पर विभिन्नताओ का उदय हुआ है। परिणामस्वरूप यातायात एव सवादवाहनो का विकास हुआ है जो विशिष्टीकरण के लिए रामबाण *प्रमाणित हुआ है। इसके कारण उत्पादन-सगठन एव उसकी क्षेत्रीय पारस्परिक* क्रियात्मकता एव विभिन्नताओ म और भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा है।

उन्नतशील औद्योगिक देश मे उत्पादन-ढाचे, जिनके सगठन आज प्राय राष्ट्रीय

सीमाओं के आर-पार तक विस्तृत हैं बहुत हद तक लागत एवं उत्पादन की पारस्परिक क्रियात्मकता के बहाव एवं उनके क्षेत्रीय प्रभावों की मात्रा को निर्धारित करते हैं। प्रावैधिक परिवर्तन एवं संगठन के संस्थागत पहलू अनवरत आज अन्तरक्रियात्मकता के क्षेत्र के आकार एवं दिशा को प्रभावित करते हुए क्षेत्रीय अर्थव्यवस्थाओं को एक दूसरे से जोड़ते हैं। निर्णय-कार्य पर नियंत्रण एवं शक्ति-संबंधों के आयाम क्रियात्मक रूप में परस्पर-संबंधित उत्पादन-प्रणाली के घटकों का आलोडित करते हुए उत्पादन की प्रत्येक इकाई का निर्णयात्मक रूप से प्रभावित कर सकने में सक्षम बना देते हैं। इस प्रकार G E Tornqvist के शब्दों में, " establishments are interdependent and are linked together by the transport of goods, persons and information The links can be identified as purely physical flows, but in many cases also as flows of payments in various directions The production system is also comprised of links in the form of ownership and power relations"

क्षेत्र-विशेष में संसाधनों के शोषण की दिशा में किए जा रहे अनवरत प्रयास के कारण भी क्षेत्रीय विभिन्नताएं पैदा होती हैं। ये विभिन्नताएं भौतिक साधनों या बाजारों के रूप में प्रतिमूर्त होती हैं। क्षेत्रीय विभिन्नताओं की परिधि में एक नये आयाम की अभिवृद्धि स्वरूप संबंधी मार्शलीय सम्यागत ढांचे के विखंडन के साथ होती गई है। मार्शलोत्तर लघु प्रमाप फर्मों की प्रावैधिकी एवं उनकी संगठनात्मक कार्यशीलता ने प्रत्यक्ष वातावरण के सान्निध्य प्रभावों को जन्म दिया तथा फर्मों की कार्यात्मकता के साथ वातावरण-विशेष में उपलब्ध संसाधनों एवं जनशक्ति के कार्य-कलापों के बीच उच्चतर समन्वय स्थापित करने में सहयोग दिया। किन्तु, मार्शल की धारणा की उन स्वतंत्र और स्वावलम्बी लघु-प्रमाप इकाइयों का स्थान अब ऐसी वृहत् प्रमाण इकाइयों ने ले लिया है जो भौगोलिक दृष्टि से काफी विस्तृत किन्तु सम्यागत दृष्टि से परस्पर-निर्भर निजी एवं सार्वजनिक संगठनों के रूप में कार्यरत हैं। ये वृहत्-काय संगठन अपने-आप में विभिन्न प्रकार के उत्पादन-व्यवहार दर्शाते हैं। साथ ही, स्थान-विशेष पर स्थापित रहने के बावजूद इनके संबंध सैकड़ों-हजारों मील दूर के क्षेत्रों में होते हैं। यही तथ्य सामाजिक एवं आर्थिक जगत में नई धरातलों को आकार देता है जिसका वास्तविक चरित्र बड़े संगठनों के पारस्परिक संबंधों या विभिन्न स्थानों पर उनके मातहत सम्बद्ध इकाइयों या स्वतंत्र इकाइयों के साथ उनके संबंधों के द्वारा निर्धारित होता है।

भारत जैसे विकासशील देश में क्षेत्रीय अर्थव्यवस्थाएं विरोधाभासों एवं विभिन्नताओं से परिपूर्ण हैं जो परस्पर लेन-देन करने वाली विभिन्न इकाइयों के बीच वस्तुओं एवं सेवाओं के विनिमयजन्य सम्बन्धों के प्रतीक रूप में उभर कर समक्ष आती हैं। इस प्रकार के विरोधाभास न केवल ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में ही परिलक्षित होते हैं बल्कि एक क्षेत्र विशेष के अन्तर्गत भी उपस्थित हैं। M I Logan के शब्दों में : "The development impact of a physical structure results primarily

from the way in which it is used, that is, capital and innovations propelled along the spatial structure by the Organisational System of which it is only part" अत यह आवश्यक है कि हम ग्रामीण विकास कार्यक्रमो के क्षेत्रीय अन्तर कार्यात्मकता के अर्थ को ग्रहण करें एव उद्देश्यो की प्राप्ति में उनकी प्रभावशीलता की समीक्षा करें। सभी प्रकार के ग्राम्य विकास कार्यक्रमो से उनके उद्देश्यो की प्राप्ति की अपेक्षा नही की जा सकती जिनके लिए वे निर्मित एव कार्यान्वित होते है। उनम से कुछ ऐसे भी हैं जिनके कार्यान्वयन से, किसी दूसरे ही क्षेत्र के लोग लाभान्वित हो जाए और स्थान विशेष के लोगो के साथ क्षीण सम्पर्क के कारण वहा के लिए लाभप्रद न हो जहा ये कार्यान्वित हो रहे हो।

ग्राम्य विकास की कार्य-नीति

ग्राम-विकास का सर्वाधिक प्रधान उद्देश्य देश की 70 से 80 प्रतिशत जनसख्या के बीच व्याप्त भीषण गरीबी को कम करना है। जनसख्या का यह भाग मुख्यत ग्रामीण वातावरण मे अवस्थित है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि एव कृषि-जन्य कार्य-कलापो से सम्बद्ध है। जनसख्या के इस बडे भाग का 80 प्रतिशत भाग निरपेक्षत 'निर्धन' माना जा सकता है। राष्ट्रीय आय के विकास मे जनसख्या के इतने बडे भाग का योगदान तो नगण्य है ही, राष्ट्रीय आय की वृद्धि मे इस बडे भाग की साझेदारी भी बहुत अल्प है। इस प्रकार ग्रामीण विकास के प्रारम्भिक प्रधान उद्देश्य हैं उत्पादन मे वृद्धि, उत्पादकता म अभिवृद्धि एव राष्ट्रीय आय की वृद्धि मे ग्राम्य-क्षेत्रो के इन गरीबो के हिस्से मे सुधार। अत ग्रामीण विकास का महत्वपूर्ण उद्देश्य उत्पादन एव उत्पादकता की वृद्धि के द्वारा गाव के निर्धन-परिवारो की निर्धनता को समाप्त करना है।

ग्राम-विकास की धारणा मे लक्ष्य-वर्गों के निर्धारण एव कार्यक्रमो की विशिष्टता को लक्ष्य-वर्गों की आय एव जीवन-स्तर मे सुधार हेतु उनके उत्पादन एव उत्पादकता मे वृद्धि लाने के सामान्य विकास की कार्य-नीति के एव भाग के रूप मे स्वीकार किये जाने की आवश्यकता है। इस प्रकार लक्ष्य-वर्गों का निर्धारण या उनकी पहचान ग्रामीण विकास के मूल मे अवस्थित है। इन कार्यक्रमो की सफलता का मूल्याकन इस आधार पर किया जाता है कि इनके द्वारा इन वर्गों के उत्पादन एव उत्पादकता मे कितनी वृद्धि हुई तथा शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक एव आर्थिक सुरक्षा की दृष्टि से उनके कल्याणार्थ उनकी क्षमता मे क्या सुधार दृष्टिगोचर हुए? ग्राम विकास की कार्यात्मक नीति केवल ग्राम्य-अर्थव्यवस्था के किसी क्षेत्र विशेष तक सीमित न होकर इसके सम्पूर्ण आर्थिक क्रिया-कलापो को सम्बद्ध करती है। इसकी पारस्परिक क्रियात्मकता के कारण ग्रामीण क्षेत्र की समस्त जनसख्या इसके विकासमूलक प्रभाव म आ जाती है। ग्रामीण विकास कार्यक्रमो में विविध कार्य-कलाप सम्मिलित हैं, यथा—कृषि एव कृषिजन्य कार्य,

सवादवाहन, यातायात, विपणन, साख, स्वास्थ्य एव शिक्षा आदि जो किसी-न किसी रूप मे लक्ष्य वर्गो की आय एव जीवन-स्तर मे सुधार के निमित्त उनकी तकनीकी क्षमता मे अभिवृद्धि करते हुए उत्पादन तथा उत्पादकता की वृद्धि मे अपना योगदान देते है। यद्यपि राष्ट्रीय विकास की सामान्य कार्य-नीति के एक विशिष्ट भाग के रूप मे ग्रामीण विकास की धारणा की व्याख्या की जाती है, इसकी प्रक्रियाए किसी भी प्रकार अलग एव एकाकी तथ्य के रूप मे नही उभर सकती। यह हमारे विकास की राष्ट्रीय नीति के समेकित भाग के रूप म कुछ स्पष्ट विशिष्ट कार्यक्रमो के साथ योजनाकरण की क्षेत्रीय परिधि सीमा स आवद्धित होनी चाहिए।

ग्रामीण निर्धनो की प्रकृति एव लक्ष्य-वर्गो का निर्धारण

निर्धनता की ग्राम-जन्यता की अत्यधिक चर्चा करते हुए अक्सर हम उनकी कार्यात्मक सरचना को स्पष्टत उजागर नही कर पाते। वस्तुत वे कार्यात्मक दृष्टि से शहरो मे अमीर-गरीब के बीच सबधो के काफी सन्निकट हैं। भारतीय सदर्भ मे, शहरो मे निवास कर रहे निर्धन वस्तुत ग्रामीण क्षेत्रो की समस्या के ही विस्तार माने जा सकते हैं। ग्रामीण क्षेत्र मे अवस्थित निर्धनो की विशिष्टता यह है कि प्राकृतिक साधनो, तकनीक, सेवाए एव सस्थाए जो उच्चतर उत्पादनता के लिए आवश्यक हैं उन तक उनकी पहुच नगण्य है। उत्पादन के भौतिक ससाधनो एव तकनीक तक इस 'पहुच' के अभाव के कारण ही वे इन साधनो के नियत्रको की तुलना मे निम्न जीवन स्तर जीने के लिए बाध्य हैं। उत्पादन के साधनो से च्युत रहन के कारण वे आर्थिक कार्य-कलापो के निम्न-स्तर मे आवद्ध रहन के लिए मजबूर होते हैं। फलत उत्पादन-प्रणाली म साधनहीन रहने के कारण ये निर्धन की निरन्तरता के शिकजे मे फसे रह जाते है। ये लोग अतर्निहित सीमाओ या स्थायी एव असाध्य बाधाओ के ऐसे जजाल मे नही बधे है जो उत्पादन और उत्पादकता बढाने तथा राष्ट्रीय आय की वृद्धि मे योगदान देने म बाधक हैं। वस्तुत इन बाधाओ को तोडा जा सकता है।

ग्रामीण निर्धनो के हितो की रक्षा के लिए विशेष रूप से निर्मित विकास-कार्यक्रम एव उनके सगठन पर ऐसे लोगो का आधिपत्य एव दबदबा होता है जो निर्धनो को साधनो एव सुविधाओं से विलग रखत आए हैं तथा जो अपने हित की रक्षा को सर्वोपरि मानते रहे हैं। समेकित क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम (I A D P), अधिक उत्पादन विविध कार्यक्रम (H Y V P) लघु कृषक विकास एजेन्सी (S F D A), न्यूनतम आवश्यकता, वयस्क शिक्षा कार्यक्रम आदि बहुत से ग्रामीण-विकास के कार्यक्रम अपने निर्धारित उद्देश्यो की प्राप्ति मे असफल रहे हैं। इन कार्यक्रमो के कार्यान्वयन के दोषो से गाव के अमीर, बिचौलीए एव अन्य को भारी लाभ पहुचे हैं। गाव के निर्धनो को साधनो, सुविधाओ एव सगठन से वचित रखा जा रहा है जिनसे उनकी उत्पादकता मे वृद्धि होती। ग्रामीण क्षेत्रो में कार्यरत सामाजिक एव आर्थिक प्रणाली बहुधा इन गरीबो के हितो के प्रति

सजग न होकर अवरोधक-शक्ति के रूप में कार्य करती है एवं ग्रामीण विकास के कार्य-क्रम विफल हो जाते हैं। कभी-कभार इन क्षेत्रों में कार्यरत उत्पादन-संगठन ही ऐसे होते हैं जिनका रोजगार, तकनीक, संसाधन एवं उत्पादन की दृष्टि से किसी दूसरे क्षेत्र से ऐसा गठजोड़ होता है कि कार्य-क्षेत्र के हितों की स्वभाविक उपेक्षा हो जाती है। अतः ऐसी प्रणाली के संबंध में हमारी स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए जो [ग्रामीण क्षेत्र में निर्धनता की स्थिति को निरन्तरता प्रदान करती है।

ग्रामीण-निर्धन वर्ग में लघु कृषक, बटाईदार, काश्तकार, भूमिहीन मजदूर, लघुकारीगर एवं शिल्पी तथा वे सभी वासगीत-स्वामित्वहीन लोग आते हैं जो कृषि या कृषिजन्य व्यवसायों में अशकारिक रूप से कार्यरत होते हैं। इन लोगों की संख्या बहुत ही अधिक है और ये ग्राम्य जनसंख्या के 80 प्रतिशत भाग हैं। राष्ट्रीय आय में इनका योगदान अत्यन्त नगण्य है तथा जीवन-निर्वाह के सामान्य-स्तर से भी या निम्नस्तर पर जीवन बसर करते हैं। उनकी मुख्य अवरोध-समस्या यह है कि उच्चतर स्तर की उत्पादकता के लिए आवश्यक साधन एवं सुविधाओं तक उनकी पहुंच नहीं है। वे नीतियां, कार्यक्रम एवं संस्थाएं जिनकी स्थापना इनके लिए की गई है व वस्तुतः इनके आर्थिक अस्तित्व एवं समस्याओं के मामले में या तो संदर्भहीन हैं या कार्यात्मक दृष्टि से इनके हितों के विरुद्ध हैं।

प्रतिबद्धता

सरकार के स्तर पर भी कभी-कभी ग्रामीण विकास के प्रति प्रतिबद्धता की कमी परिलक्षित होती है भले ही सार्वजनिक रूप से उसके जो भी रूप दर्शाए जाते हों। यह अवसर शक्ति-समीकरण के रूप पर निर्भर है जिसके अन्तर्गत सरकार कार्य करती है। एक सबल प्रतिबद्धता के लिए आवश्यक है कि नीति, संस्था, कार्य-विधि, कार्य चयन, तकनीक आदि के मामले में किस प्रकार सरकार ने कार्य किया है तथा ये बातें इस पर अधिक निर्भर है कि सरकार के समक्ष एक 'राजनैतिक-इच्छा' हो तथा उस 'इच्छा' को अंजाम देने हेतु उसके पास ठोस संगठनात्मक आधार हो।

मूल्य-नीति

कार्यान्वित मूल्य-नीति बहुधा ग्रामीण-विकास की आवश्यकता से विमुख होती है। कृषि क्षेत्र में उत्पादन-साधनों एवं कृषि-उत्पादन के मूल्य तथा कृषि-उत्पादन एवं कृषि के अतिरिक्त अर्थव्यवस्था के दूसरे क्षेत्रों की वस्तुओं के विनिमय की दरें एवं शर्तें ऐसी होनी चाहिए जो ग्रामीण विकास के लिए उत्प्रेरक हों। अवसर मूल्य नीति एक दोषपूर्ण अवधारणा पर आधारित होती है। कृषि-आगमों के मूल्य कृषि-उत्पादन के मूल्यों से या तो अधिक रखे जाते हैं या उद्योग-उत्पादन के मूल्यों की तुलना में कृषि-उत्पादन के मूल्यों को कम रखे जाते हैं ताकि जीवन-निर्वाह लागत को कम रखा जा सके एवं उद्योगों के द्रुत विकास हेतु कृषि-उद्योग विनिमय-मूल्यों को उद्योगों के पक्ष में निर्धारित किया

जा सके। किन्तु, एक पिछड़ी अर्थव्यवस्था में मजदूरी-वस्तुओं की कमी आर्थिक विकास के मार्ग में बाधक सिद्ध होती है। कभी-कभी आगमों एवं साख पर कृषकों को 'सबसिडी' या मौद्रिक सहायता देकर उनकी क्षति-पूर्ति की जाती है। ऐसी 'मौद्रिक सहायता' से ससाधनों के वितरण में विद्रूप उत्पन्न होता है जो ग्रामीण-निर्धनों के, जिनकी आगम एवं सस्थागत साख में बहुत थोड़ी पहुच होती है, विरुद्ध जाता है। यह एक ओर बड़े कृषकों के बीच लागतों की विभिन्नता की निरन्तरता के लिए जिम्मेवार होता है तो दूसरी ओर छोटे किसानों एवं काश्तकारों के बीच की लागत-जन्य विभिन्नता के लिए, जो उनकी पूजी एवं साधनों के स्वामित्व एवं आगमों और साख पर आर्थिक सहायता देने वाली सस्थाओं में पहुच के कारण पैदा होती है। आगमों पर आर्थिक या मौद्रिक सहायता की अपेक्षा न्यूनतम परिश्रमिक जन्य-मूल्यों की गारंटी देकर प्रोत्साहित करना अधिक लाभप्रद एवं कम खर्चीला साबित हो सकता है। ब्याज-दरों पर सामान्य आर्थिक सहायता की अपेक्षा विशिष्ट तकनीक के स्थानान्तरण को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से कुछ विशेष उत्पादन-आगमों पर आर्थिक सहायता देना श्रेयस्कर हो सकता है। आर्थिक सहायता के लिए विशिष्ट आगमों का चयन इनकी उपादेयता एवं निर्धनों की इन तक पहुच पर निर्भर करेगा। अन्यथा, यह ग्राम्य क्षेत्र में असमानता उत्पन्न करने में एक और अतिरिक्त स्रोत के रूप में कार्यशील हो जायेगा।

भू-नीति

ग्रामीण क्षेत्र में भूमि एकमात्र महत्त्वपूर्ण पूजी होती है। ऐसी भूमि का असमान वितरण एवं कृषि-कार्य तथा भू-स्वामित्व के मध्य विलगाव ग्राम्य-निर्धनता को दूर करने में बाधक प्रमाणित होते हैं। इस प्रकार का भू-वितरण कृषि-उत्पादकता की वृद्धि में सहायक आगमों की आपूर्ति उत्पादित वस्तुओं की विपणन-व्यवस्था एवं अन्य सस्थाओं पर सीमित भू-स्वामित्व की स्थिति को निरन्तरता प्रदान करता है। यदि 'हरित क्रान्ति' ने देश के कुछ भागों में दूरभाष, शीत-ताप नियन्त्रक एवं मोटरकार रखने वाले किसानों को जन्म दिया है तो इसका मुख्य कारण यह रहा है कि गाव के निर्धनों की पहुच उत्पादन-साधनों एवं आगमों तक नहीं रही है और वे लागत एवं उत्पादकता के अन्तर एवं बड़े तथा छोटे कृषकों के अनुचित प्रतिस्पर्द्धा को झेलने में असमर्थ होकर भूमि से हीन एवं अलग-अलग हो गये हैं। अत भू-नीति के अन्तर्गत न केवल भूमि-सुधार कार्यक्रमों को वल्कि आगमों की आपूर्ति, कृषि-तकनीक, मूल्य-सरक्षण तथा निर्णय लेने के अवसर में समान पहुच की नीति भी सम्मिलित किए जाने चाहिए जो कृषि-विकास के कारण तत्त्वों को प्रभावित करते हों। अक्सर ऐसा देखा जाता है कि आगमों की आपूर्ति एवं उत्पादित वस्तुओं के विपणन पर नियत्रण रखने वाली सस्थाओं तथा अन्य सम्बद्ध क्रिया-कलापों में स्थानीय हितों का सम्बन्ध अल्प होता है। उनके कार्य-कलाप सुदूर शक्तियों से नियत्रित होते हैं तथा स्थानीय स्तर पर उनकी अन्तक्रियात्मकता बहुत ही क्षीण या सीमित होती है।

टेक्नोलाजी (प्राविधिकी या तकनीक)

ग्रामीण विकास कार्यक्रम की सफलता के लिए टेक्नोलाजी या तकनीक का चुनाव, खासकर गरीबी-उन्मूलन हेतु एक अस्त्र के रूप में, बहुत ही महत्वपूर्ण तत्व है। टेक्नोलाजी की परख इस आधार पर होनी चाहिए कि वह कहां तक निरक्षर एवं कठिन परिस्थितियों में कार्यरत गांव के निर्धन-वर्ग की उत्पादकता को बढ़ाने में सक्षम होती है। एक प्रयोगशाला की नियंत्रित परिस्थितियों में कोई टेक्नोलाजी अत्यधिक उत्पादनशील एवं आधुनिक प्रमाणित होकर सक्षमता के आधार पर प्रशंसित हो सकती है किन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में इसकी उपादेयता संदिग्ध हो सकती है। अक्सर, प्राविधिक अन्तराल के कारण एक ओर उत्पादन-वृद्धि एवं दूसरी ओर निर्धनों की उत्पादकता में वृद्धि तथा रोजगार-अवसरों की तलाश की उनकी क्षमता के बीच विलगाव पैदा होता है। चाहे कृषि हो या कृषि-जन्य क्षेत्र, यहां दूसरी शर्त ही टेक्नोलाजी के चुनाव को निर्धारित करती है। कृषि-प्रक्षेत्रों में प्रयुक्त एवं परखे प्राविधिक-ज्ञान, जो बहुधा किसी क्षेत्र-विशेष एवं कार्य के संदर्भ में विशिष्ट होते हैं, उपयोग के लिए चुने जाने चाहिए। प्राविधिक खोज एवं ज्ञान का चुनाव इस दृष्टि से होना चाहिए कि वे वैविध्यपूर्ण ग्राम्यपरिस्थितियों में प्रयुक्त हो सकते हों तथा जिनमें रोजगार-सुविधाओं के और अधिक उत्पादन की क्षमता हो ताकि गांव के निर्धन रोजगार प्राप्त कर सकें एवं अपनी उत्पादकता को बढ़ा सकें। अनुपयुक्त शोध-कार्यक्रम एवं विभिन्न स्थानीय परिस्थितियों में प्रयोग की अपर्याप्तता विकास के लाभ को निर्धनों की ओर उन्मुक्त करने के मार्ग में बड़ी बाधा के रूप में प्रकट होती हैं। स्थानीय स्तर पर उपलब्ध साधनों के उपयोग के द्वारा उत्पादकता-वृद्धि हेतु कृषि-जन्य प्राविधिकी का विकास किया जाना चाहिए ताकि कार्य-कलापों के क्षेत्र में विस्तार हो सके। अक्सर बाजार की सीमित संभावनाएं कृषि-जन्य कार्यक्रमों को विस्तृत करने में वहां बाधक होती हैं जहां ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकांश लोग कृषि-उन्मुख होते हैं। फिर भी, कृषि एवं कृषि-जन्य गतिविधियों तथा कार्यक्रमों को एक दूसरे के पूरक के रूप में देखा जाना चाहिए। इस प्रकार के पूरक कार्यक्रमों एवं क्रिया-कलापों की पारस्परिक कार्यात्मकता से अधिक रोजगार, उत्पादकता एवं आय-उत्पादन संभव होता है। यदि टेक्नोलाजी का चयन एवं कार्य-क्षेत्र में उसका प्रयोग ग्रामीण वातावरण के समीचीन नहीं है, समाधनता एवं लोगों की उत्पादन-क्षमता भले ही अधिक हो, इससे ग्रामीण निर्धनों की इनमें साझेदारी की कमी हो जायेगी। इन कार्यक्रमों को ग्रामीण क्षेत्रों में केन्द्रित करने या इन पर सार्वजनिक-व्यय करने मात्र से ग्रामीण विकास के हेतु पर्याप्त अवसर पैदा नहीं हो जायें। इन कार्यक्रमों के लाभ ग्रामीण क्षेत्रों में उपलब्ध न होकर इनके कार्यान्वयन-स्थान से हजारों मील दूर खिसक जा सकते हैं जिससे क्षेत्रीय द्वैधात्मकता में वृद्धि ही होगी।

कार्यक्रमों की विशिष्टता

ग्रामीण विकास कार्यक्रम में विविध प्रकार की योजनाएं, परियोजनाएं एवं प्रयास सम्मिलित हैं—यथा संरचनात्मक विकास की योजनाएं (सड़क, सिंचाई, शक्ति आदि), क्षेत्रीय विकास की परियोजनाएं, न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम जिनसे वर्ग-विशेष को लाभ-विशेष की प्राप्ति हो सके। ये सभी ग्रामीण विकास में योगदान देते हैं। फिर भी इनकी सक्षमता विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न हो सकती है। अक्सर ग्रामीण सार्वजनिक कार्यक्रम बहुत ही ध्यानाकर्षित करते हैं और इन्हें राजनीतिक समर्थन भी प्राप्त होते हैं। ऐसे कार्यक्रमों की विशेषता यह होती है कि इनमें प्रत्यक्ष रोजगार एवं रोजगार-प्राप्त लोगों को आय की प्राप्ति होती है और साथ ही ये निम्न सामाजिक, अवसर लागत पर उत्पादन संरचनाओं का निर्माण भी करते हैं। किन्तु, इन संरचनाओं की पूर्ण क्षमता शायद ही प्राप्त की जाती है क्योंकि लाभान्वित लोगों के विभिन्न वर्गों में पूर्ण लाभ ले सकने की क्षमता अपर्याप्त होती है। अधिकांश सार्वजनिक कार्यक्रमों में, जो संरचनात्मक विकास के लिए इन दिनों कार्यान्वित की जा रही हैं, निम्नांकित त्रुटियां परिलक्षित होती हैं :

1 पूंजी प्रधान यंत्रों के प्रयोग के कारण इन कार्यक्रमों के तहत अप्रशिक्षित श्रमिकों को जो मजदूरी दी जाती है वह इन पर हुए कुल व्यय का बहुत ही छोटा अंग होती है।

2 जिन योजनाओं का चयन होता है उन्हें इस प्रकार बनाई जाती है कि इनमें ग्रामीण श्रम शक्ति को समादृत करने की क्षमता कम होती है तथा पूंजीगत-व्यय को देखते हुए इनमें पूरक-आय-उत्पादन की क्षमता भी अपर्याप्त होती है।

3 जहां इन कार्यक्रमों में निःशुल्क योगदान देने की भी बात होती है, वहां निर्धनों को अपेक्षाकृत कम मजदूरी का भुगतान होता है।

4 काम के लिए भोजन कार्यक्रम श्रमिकों के लिए वहीं लाभप्रद है जहां व्यापक पैमाने पर बेरोजगारी एवं दुष्कर स्थिति व्याप्त है। अनाज के रूप में भुगतान की व्यवस्था कठिन है। साथ ही अन्न के रूप में किए गए मजदूरी-भुगतान का एक भाग काफी कम मूल्य पर दुःस्थिति में बाजारों तक पहुंच जाते हैं।

5 कभी-कभी चयनित योजनाएं ग्रामीण विकास के लिए अच्छी-भली तरह विचार कर नहीं दी जातीं। फलतः वे अधिकांशतः सड़क प्रकृति के तथा उनकी सांस्थानिक उपयोगिता एवं उनके गौण प्रभाव उत्पादन की दृष्टि से काफी नगण्य होती है। इन कार्यों को राहत या सहाय्य-कार्य के रूप में अधिक प्रचारित करके इनकी विकास-सम्भावनाओं को गौण कर दिया जाता है।

पूर्णतः सोच-समझकर प्रारम्भ किए गए सार्वजनिक कार्यक्रमों में भी जो मजदूरी अप्रशिक्षित मजदूरों को दी जाती है, वह कुल व्यय के 50% से अधिक नहीं होती। ऐसे मामलों में उनके गौण आय-उत्पादन प्रभाव असमानुपातिक रूप में गांव के अमीरों के हित में हो सकते हैं जिनकी पूंजी-उपलब्धता अच्छी होती है तथा आगतों एवं सेवाओं तक

पहुंच होती है। जहां गांव के निर्धन वर्ग को कुछ लाभ प्राप्त हो सकता है, वहां निर्मित संरचनाओं में उन्हें अधिक लाभ होता है जिनके पास बड़ी पूंजी होती है। ऐसे कार्यक्रमों को गांव के अमीरों से राजनीतिक समर्थन प्राप्त होने का एक कारण यह भी होता है। यदि गांव में पूंजी-वितरण अत्यधिक असमान हो तो संरचनाओं के विकसित होने से उत्पादित गौण आय का वितरण और भी अधिक असमान हो जाता है जिससे प्रभावशीलता लक्षित वर्गों के उत्पादन एवं उत्पादकता-वृद्धि में क्षीण हो जाती है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संरचनाओं के विकास हेतु समर्पित ऐसे सार्वजनिक कार्यक्रमों को राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय विकास की नीति के एक अंग के रूप में लागू किया जाना चाहिए तथा ग्रामीण विकास के और अधिक विशिष्ट कार्यक्रमों एवं नीतियों के साथ इनका समन्वय होना चाहिए ताकि लक्षित वर्ग के प्रावैधिक उन्नयन एवं उत्पादन में उनकी साझेदारी प्रभावपूर्ण रूप में आश्वासित हो। संरचनात्मक विकास के कार्यक्रमों में और अधिक स्थानीय लोगों एवं साधनों को संगठन एवं तकनीक की दृष्टि से लगाए जाने की गुंजाइश है ताकि इनको पारस्परिक कार्यात्मकता से अन्य विशिष्ट कार्यक्रमों को प्रभावी ढंग से गतिशील किया जा सके।

लक्षित-वर्गों तक लाभ को पहुंचाने के उद्देश्य से ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में 'विशिष्टता' का तथ्य सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इस प्रकार विशिष्ट कार्यक्रमों के क्षेत्र सहायक सड़कें, जलापूर्ति, ग्राम्य विद्युतीकरण ग्रामीण उद्योगों का विकास, ग्रामीण निर्धनों की प्रावैधिक कुशलता में वृद्धि हेतु कार्य-सह-प्रशिक्षण कार्यक्रम आदि सम्मिलित हैं। किन्तु ऐसे कार्यक्रमों को भी यदि क्षेत्रीय आधार पर लागू नहीं कर उन्हें स्वतन्त्र रूप से कार्यान्वित किए जायें तो इनके प्रभाव दुर्बल हो जायेंगे। ऐसे कार्यक्रमों को—विभिन्न वर्ग के लोगों की उत्पादक साझेदारी, खासकर लक्षित वर्ग की साझेदारी की याजना को—एक उद्देश्य के रूप में स्वीकार करते हुए उन्हें समेकित आधार पर क्षेत्रीय योजना की परीधी के एक भाग के रूप में लागू किया जाना चाहिए।

इस संदर्भ में कृषि विकास कार्यक्रमों के पूरक के रूप में ग्रामीण उद्योगों की चर्चा अपेक्षित है। वर्तमान ग्राम्य शिल्प-कला मरणासन्न स्थिति में है। तकनीकी दृष्टि से एवं नयी आर्थिक विवशताओं के अन्तर्गत इनके प्रति लोगों की अभिरुचि एवं मांग में परिवर्तन हो जाने के कारण इनका पतन हुआ है। कृषि उत्पादकता एवं उत्पादन में वृद्धि से उपभोक्ता वस्तुओं एवं अन्य सहायक सेवाओं के लिए नई मांग का सृजन होता है। यदि हम ऐसे क्षेत्र को समुचित रूप से निर्धारित कर सकें तथा इनमें स्थानीय साधनों एवं योग्यता का सहायक सार्वजनिक नीति के माध्यम से उपयोग कर सकें तथा स्थानीय एवं क्षेत्रीय स्तर पर उपयुक्त योजना के अन्तर्गत उन्हें संस्थागत सहयोग (यथा साख आगम एवं सेवाओं के रूप में) दे सकें तो ये न केवल उत्तरोत्तर बढ़ती स्थानीय मांगों की पूर्ति कर पायेंगे वल्कि उच्च क्षेत्रीय स्तर पर बढ़े एवं आधुनिक उद्योगों के साथ आर्थिक एवं प्रावैधिक तादात्म स्थापित करने की सम्भाव्यताओं को भी जन्म दे सकेंगे। कृषि एवं शहरी उद्योग क्षेत्रों के बीच तादात्म्य विकसित करने की इन ग्रामीण उद्योगों में अपार

संभावनाएं हैं। स्थानीय क्षमता एवं साधनों के पूर्ण उपयोग करने की जो इन ग्राम-उद्योगों की शक्ति है उसे गौण नहीं किया जा सकता। ग्रामीण क्षेत्रों के आधुनिकीकरण-कार्यक्रम में, इन उद्योगों की प्रभावपूर्ण भूमिका है जिसकी अपेक्षा वृहत पैमाने के औद्योगीकरण से हम नहीं कर सकते जिनका तादात्म्य गांव के निर्धनों से नहीं हो पाता है। किन्तु, ग्रामीण उद्योगों के चयन एवं उनके संगठन हेतु योजना बनाने में हम स्थानीय स्तर पर उनकी उत्पादन-कार्यात्मकता के क्षेत्र को बहुत अधिक ध्यान में रखना चाहिए क्योंकि यह वही तथ्य है जो ग्रामीणों के आर्थिक धरातल में सुधार ला सकता है तथा उच्च स्तर पर व्याप्त आर्थिक द्वैधवाद की स्थिति से मुक्ति दिला सकता है।

ग्रामीण उद्योगों का संबंध न केवल कृषि से है बल्कि उनकी साम दूसरे क्षेत्रों तक भी है। ग्राम विद्युतीकरण कार्यक्रम, ग्रामीण क्षेत्रों में यातायात एवं संवादवाहन के विकास आदि से न केवल ग्रामीण उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन मिलता है बल्कि उनका समेकित प्रभाव उस क्षेत्र में और भी अधिक होता है। लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि संस्थाओं, संगठनात्मक ढांचे, सार्वजनिक नीति एवं क्षेत्रीय स्थानीय स्तर पर योजना की कार्यान्वयन-नीति में परिवर्तन हो।

यह स्पष्ट दर्शाता है कि कार्यक्रमों या सार्वजनिक नीतियों का कोई एक समेकित रूप चाहे वह कितना ही क्रांतिकारी क्यों न प्रतीत हो, ग्रामीण विकास के लिए पर्याप्त नहीं माना जा सकता। इसके लिए आवश्यक है कि मिश्रित कार्यक्रम तैयार किये जाएं जिनकी प्रावैधिक सदर्भता हो तथा जिनमें व्यापक पैमाने पर ग्रामीणों की भागेदारी हो ताकि वे भी उत्पादन एवं उत्पादकता की वृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान दे सकें। इसके लिए ऐसी उत्पादन-प्रणाली आवश्यक है जिसकी अन्तर-कार्यात्मकता के क्षेत्र स्थानीय प्रभाव से युक्त हों। इसके लिए ग्रामीणों के हितों की रक्षा के निमित्त एक उपयुक्त सार्वजनिक नीति एवं मूल्यामूलक परिवर्तनों की आवश्यकता भी है जो इस आश्वासन में पूर्ण हो कि निर्णय लेने एवं कार्यक्रम को कार्यान्वित करने में इन लोगों का सक्रिय सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

अध्याय 13

भारत में क्षेत्रीय आर्थिक विषमता के कुछ पहलुओं का अध्ययन

भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख समस्याओं में क्षेत्रीय विषमता की समस्या मुख्य है। योजनात्मक विकास नीति का एक प्रमुख उद्देश्य क्षेत्रीय असन्तुलन की खाई को पाटना है। योजना के प्रारम्भ के पूर्व भारत का औद्योगिक मानचित्र पिछड़ापन के समुद्र में कुछ बिखरे हुए विकास के टापुओं के समान था। देश के अधिकांश उद्योग महानगरों के आस-पास केन्द्रित थे। योजनात्मक विकास के तीन दशकों में इस चित्र में निरंतर सुधार होता रहा है। देश के औद्योगिक मानचित्र पर नये-नये विकास बिन्दु उभरते रहे हैं। इस लेख का उद्देश्य देश के क्षेत्रीय विषमता के कुछ पहलुओं का अध्ययन करना है जिससे उभरते हुए प्रवृत्तियों की पहचान और निदान किया जा सके।

लेख के विषय सामग्री को तीन भागों में बांटा गया है

(1) क्षेत्रीय आर्थिक विषमता का तथ्यात्मक विश्लेषण, (2) आर्थिक विषमता के आधारभूत कारण तथा (3) नीति की दिशा में परिवर्तन के सुझाव।

1. क्षेत्रीय आर्थिक विषमता का तथ्यात्मक विश्लेषण

क्षेत्रीय आर्थिक असन्तुलन के तुलनात्मक अध्ययन के लिये कई एक मापदण्डों का प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में विभिन्न काल के लिये तुलनात्मक आंकड़ों का अभाव है। तालिका में विभिन्न राज्यों के अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में कई तथ्यों को संकलित किया गया है। तालिका में राज्य घरेलू उत्पाद, प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय आय में राज्यों का अंशदान, विकास दर तथा गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाली जनसंख्या के अनुपात को दिखलाया गया है।

तालिका के आंकड़ों से स्पष्ट है कि क्षेत्रीय असन्तुलन की समस्या तीस वर्षों के योजनात्मक विकास के बाद भी एक जीवन्त समस्या बनी हुई है। क्षेत्रीय विषमता की खाई अभी तक चौड़ी है।

तालिका 13.1 क्षेत्रीय विषमता

राज्य/केन्द्र प्र० क्षे०	राज्य घरेलू उ० (रु० करोड़) 1978-79	प्रति व्यक्ति आय 1978-79	राष्ट्रीय आय में %	औसत विकास दर ** 1977-78	गरीबी की रेखा के नीचे जनसंख्या ग्रामीण %
1. आन्ध्र प्रदेश	5049	1002	6.7	3.1	45.63
2 असम	1651	961	2 2	4.3	33.95
3. बिहार	4692*	735	6.4	2.9	64 78
4. गुजरात	4473*	1452	5 9	3 7	44 21
5 हरियाणा	1708	1472	2 4	4 8	29 43
6 हिमाचल प्रदेश	512	1267	0 6	3 3	34 00
7 जम्मू कश्मीर	641	1145	0 7	5 5	34 00
8 कर्नाटक	3910	1146	5 0	3 2	48 85
9 केरल	2406	987	3 3	2.0	61 82
10 मध्य प्रदेश	4306	854	5 7	3 0	56 99
11 महाराष्ट्र	9909	1694	12 4	5 3	46 67
12. मणिपुर	109	795	0 1	6 9	34 00
13. उड़ीसा	2140	825	2 0	3 0	69 18
14 पंजाब	3295	2101	3 9	4 6	17.47
15 राजस्थान	2824*	925	3 9	1 1	41 04
16 तमिलनाडु	5281	1351	6 1	3 0	61 32
17 त्रिपुरा	167	861	0 2	2 6	70 82
18 उत्तर प्रदेश	9420	930	1 6	2.4	40 92
19 प० बंगाल	6657	1279	8 7	4 4	70 82
20 दिल्ली	6264*	2364	1 7	5 1	—
21 गोवा-दमन-दीयू	1951*	2000	0 3	7 4	—

* 1977 78 के आंकड़े

** स्थिर मूल्य के आधार पर

स्रोत—भारतीय रिजर्व बैंक बुलेटिन, सितम्बर 1981 तथा सातवां वित्त आयोग की रिपोर्ट से सकलित। (कुछ राज्यों के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं)।

क्षेत्रीय असन्तुलन के सम्बन्ध म निम्न प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जा सकता है

1 घरेलू उत्पादन, प्रति व्यक्ति आय या विकास दरों की विभिन्नताओं को देखते हुए क्षेत्रीय विषमता की खाई का अनुमान होता है। 1978-79 में देश का औसत प्रति व्यक्ति आय 1250 रु० था। इस मापदण्ड के आधार पर 10 राज्यों के प्रति व्यक्ति आय का स्तर राष्ट्रीय औसत से कम है। अधिकतम और न्यूनतम पंजाब तथा बिहार में 1360 रु० का अन्तर है।

2 उत्तर प्रदेश का घरेलू उत्पाद (9420 करोड़) सभी राज्यो के अधिक है। यह कुल राष्ट्रीय उत्पाद का 11 6% है परन्तु देश में कुल जनसख्या का 17% उत्तर प्रदेश है। आधे म अधिक राज्यो का राष्ट्रीय आय में अशदान उनके जनसख्या के अनुपात में कम है।

3 1978-79 म देश का विकास दर (चालू मूल्य) 6 7% था। 1970 71 के मूल्या के आधार पर विकास दर 5 1 था। यदि इन्ही मापदण्डो का प्रयोग किया जाय तो 16 राज्या का विकास दर राष्ट्रीय औसत से कम है। परन्तु विभिन्न राज्या के मूल्य स्तरों मे विभिन्नता होने के कारण स्थिर और चालू मूल्यो के विकास दरो मे काफी अन्तर है। स्थिर मूल्य पर उत्तर प्रदेश का वार्षिक विकास दर 2 4% है जबकि चालू मूल्य पर 11 7%। इसी प्रकार बिहार में भी क्रमश 2 9 तथा 11 4 का अन्तर है। राष्ट्रीय औसत की तुलना में राज्या के आकडो म उतार-चढाव अधिक है।

4 प्रति व्यक्ति आय के वार्षिक वृद्धि दर का अवलोकन करने से यह प्रकट होता है कि निम्न राज्यो मे 1971-74 में ह्रास हुआ था परन्तु 1975-78 मे पर्याप्त सुधार हुआ है

(1) उत्तर प्रदेश	(—3 2% से 3 7% की वृद्धि
(2) प० बगाल	(—0 9% से 2 3% „ „
(3) बिहार	(—1 7% से 3 0% „ „
(4) गुजरात	(—0 3% से 9.4% „ „
(5) राजस्थान	(—4 2% से 4 2% „ „
(6) हरियाणा	(—1 2% से 6 5% „ „

आध्र प्रदेश और केरल को छोडकर सभी राज्यो के प्रति व्यक्ति आय के वार्षिक दर मे पाचवी योजना काल मे वृद्धि हुई है।

5 1969 मे योजनात्मक विकास की दिशा गरीबी उन्मूलन की ओर प्रेरित की गई है। तालिका मे विभिन्न राज्यो मे गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाली जनसख्या का निर्धारण किया गया है। छठी योजना के अनुसार गावो मे गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले लोगो का अनुपात 51 5% है। राज्यो मे विषमता को स्थिर मानते हुए यदि तुलना कि जाय तो बिहार, केरल, मध्य प्रदेश, उडीसा तमिलनाडु, त्रिपुरा, तथा प० बगाल (9 राज्य) राज्यो मे अधिक से अधिक जनसख्या गरीबो की रेखा के नीचे रहती है।

आर्थिक विषमता के आधारभूत कारण

आर्थिक विषमता के कारणो की पहचान करना सरल नही है। विषमताए कोई आकस्मिक उपज नही हैं। इनके पीछे ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक शक्तियो का मिला-जुला हाथ है। आर्थिक दृष्टिकोण पिछडापन के लिये मुख्यत इन्फ्रास्ट्रक्चर का अभाव होता है। वास्तविक और वित्तीय साधनो के अभाव तथा उपलब्ध साधनो के समुचित प्रबन्ध के अभाव मे पिछडापन की खाई बढती गयी है। जो

क्षेत्र पहले से आगे हैं यदि वे अपने विकास का क्रम बनाये रखते हैं तो पिछड़े राज्यों को उन्हें पकड़ पाना कठिन हो जाता है। तालिका 13.2 में आर्थिक विकास के उन तथ्यों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है जो क्षेत्रीय विषमता के कारणों की झलक प्रस्तुत करते हैं।

तालिका 13.2 साधनों की विषमता

राज्य	प्रति व्यक्ति योजनात्मक व्यय		बैंकों का साख जमा अनुपात	प्रति व्यक्ति कर
	1 ली योजना	5 वीं योजना	1979*.	सातवां वि० आ०
1. आंध्र प्रदेश	रु० 33	रु० 307	72.2	74.0
2. असम	29	324	41 7	35.81
3. बिहार	25	230	41 3	30.76
4 गुजरात	58	43	54.6	28.62
5. हरियाणा	—	5	68.7	112.23
6. हिमाचल प्रदेश	21	691	28.0	44 43
7. जम्मू कश्मीर	39	785	67.0	50.65
8. कर्नाटक	46	341	77.2	81.00
9. केरल	31	267	63.8	70.99
10. मध्य प्रदेश	34	331	52.0	53.84
11. महाराष्ट्र	37	455	76.8	125.86
12. मणिपुर	37	865	39.5	—
13. मेघालय	—	385	14.9	20.86
14. नागालैण्ड	—	1621	25.0	—
15. उड़ीसा	56	267	56.1	29.22
16. पंजाब	175	743	42 3	129 23
17. राजस्थान	39	275	68 0	48.83
18. सिक्किम	—	1906	—	—
19. तामिलनाडु	28	272	84.9	79.70
20. त्रिपुरा	21	448	55 6	—
21 उत्तर प्रदेश	25	277	44.8	44.27
22. प० बंगाल	54	281	62.4	61.58

स्रोत—1. छठी योजना के मार्ग दर्शन, लोकसभा, 1977 दि०

2. सातवां वित्त आयोग

3. रिजर्व बैंक के प्रकाशन

तालिका 13.2 में वित्तीय साधनों के वितरण या उपलब्ध स्तर पर प्रकाश डाला गया है। अपने देश में सभी मौलिक साधन और कार्यक्रमों को वित्तीय साधनों के माध्यम से पूरा किया जाता है। इस सम्बन्ध में निम्न प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जा सकता है।

1 विभिन्न राज्यो मे विकासात्मक प्रयासो मे एकरूपता का अभाव है। पाचवी योजना मे प्रतिव्यक्ति व्यय का 'अन्तर तालिका' से स्पष्ट है। सिक्किम, नागालैण्ड मे व्यय की राशि 1000 रु० से अधिक है। न्यूनतम स्तर हरियाणा का है। पहली योजना की तुलना मे वृद्धि होते हुए भी प्रति व्यक्ति विकास का स्तर, विशेषकर पिछडे राज्यो मे, अपेक्षाकृत कम है।

2 1969 म बैंको के राष्ट्रीयकरण के बाद से बैंको को सन्तुलित क्षेत्रीय विकास मे मुख्य भूमिका सौंपी गई है। परन्तु बैंको के साख नीति म विकसित (अपेक्षाकृत) राज्यो की ओर ही अधिक झुकाव है। 14 राज्यों मे साख जमा अनुपात राष्ट्रीय औसत से कम है। असम, बिहार, हिमाचल प्रदेश, मणीपुर, मेघालय, पजाब तथा उत्तर प्रदेश मे बैंको के द्वारा जमा के रुप मे जो साधन एकत्र किया जाता है उसका आधा भी उन राज्यो मे विनियोग नही किया जाता है। इन राज्यो के साधनो को विकसित राज्यो के विकास पर ही व्यय किया जाता है। अत राष्ट्रीयकृत बैंक देश मे क्षेत्रीय असन्तुलन का पोषण कर रहे हैं।

3 प्रति व्यक्ति करो की रकम से कमी या अन्तर होना स्वाभाविक है। करारोपण राज्यो के लोगो की करदान क्षमता से सम्बन्धित हैं। जिन राज्यो मे गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाली जनसख्या का अनुपात अधिक है, उनके लिये करारोपण के भार को एक निश्चित बिन्दु से बढाना सभव नही है। परन्तु प्रति व्यक्ति कर प्रयास को देखते हुए करप्रणाली के विवेकीकरण की आवश्यकता स्पष्ट झलकती है।

साधनो के अभाव मे विभिन्न राज्यो मे विकास के लिये समुचित इन्फ्रास्ट्रक्चर का विकास नही हो पाया है। ऊर्जा उत्पादन और क्षमता, सडको के विस्तार, गावो का बिजलीकरण, परिवहन की व्यवस्थायें या अन्य आवश्यक सुविधाओ के निर्माण मे पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। उपलब्ध साधनो के प्रयोग या प्रबन्ध की कार्य कुशलता ने भी इन्फ्रास्ट्रक्चर के विकास को प्रभावित किया है।

नीति की दिशा मे परिवर्तन के सुझाव

देश मे क्षेत्रीय असन्तुलन की समस्या को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य मे देखा जा सकता है। भारत एक बडा देश है जिसे भौगोलिक या मानवीय ससाधनो के आधार पर कई खण्डो मे बाटा जाता है। कुछ असन्तुलन स्वाभाविक या प्राकृतिक देन है। विकास ध्रुव या बिन्दुओं के आसपास औद्योगिक विकास का स्थापित होना स्वाभाविक है। परन्तु विकास बिन्दुओं के निर्माण मे मानवीय साधनो द्वारा निर्मित एग्लोमरेसन के तत्वो का विशेष हाथ होता है। इस सम्बन्ध मे पजाब का उदाहरण दिया जा सकता है। जहा किसी भी बडे उद्योग या खनिज सम्पदाओ के नही होते हुए भी उसे देश का सबसे विकसित औद्योगिक राज्य होने का गौरव प्राप्त है।

सन्तुलित क्षेत्रीय विकास के लिये निम्न नीति परिवर्तन या दिशात्मक प्रेरणा देने के सुझाव पर विचार किया जा सकता है

अध्याय 14

राज्य स्तरीय योजना—क्यों और कैसे ?

1 योजना सम्बन्धित कुछ प्रश्न

नियोजित विकास विषयक विचार विमर्श स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ-साथ चलता रहता था, परन्तु इस दिशा में सक्रिय प्रयास स्वतन्त्रता के पश्चात् ही किया जा सका। पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में योजना आयोग का गठन हुआ और प्रथम पचवर्षीय योजना का श्रीगणेश 1951 आते-आते हो गया। तब से लेकर आज तक हम छठी पचवर्षीय योजना तक पहुच चुके है और ऐसा माना जाता है कि केन-केन-प्रकारेण नियोजित विकास के पथ से हम भविष्य मे भी नही हटेंगे। साथ-ही-साथ ऐसी शिकायतें भी सुनी जाती है कि सामान्य जन अब भी इस आशा मे टकटकी लगाए बैठा है कि कभी न कभी तो इन योजना वृक्षो के फल उसके आगन मे भी टपकेंगे। इस बात को लोग निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं कि पिछले तीस वर्षों मे विकास हुआ है पर यह प्रश्न अभी सुलझ नही पाया है कि इस विकास मे योजना प्रेरक कितना अश है और योजना के अभाव मे कितना कम या अधिक विकास हुआ होता। यदि हम नियोजित विकास को निश्चित रूप से लाभकारी मानकर चलें तो भी पिछले तीस वर्षों म जिस प्रकार योजनाए बनी हैं और चलाई गई है उनको देखते हुए अनेकानेक अन्य प्रश्न उठ खडे होते है। इसके पूर्व कि हम इन प्रश्नो का उल्लेख करें और समाधान ढूढें, इस बात को समझ लेना आवश्यक है कि योजना सम्बन्धित व्यय का वास्तविक स्वामी कौन है और स्वामी के धन को व्यय करने के निर्णय लेने वाले स्वामी के प्रति अपना उत्तरदायित्व कहा तक निभा पाते हैं ?

वस्तुत देश की समस्त सम्पत्ति का स्वामित्व जनता मे निहित है। जनता के ही कुछ लोग उत्पादन के काम मे लग जाते है, कुछ वितरण का काम करते हैं और कुछ लोग राजनीतिक दलों का गठन कर सरकार चलाने का काम करते हैं। सरकार के समस्त आय का स्वामित्व जनता मे ही निहित रहता है। सरकार का समस्त व्यय जनता के हित के लिए ही किया जाना चाहिए। इस व्यय से वास्तविक हानि-लाभ कितना हुआ है इसका आकलन करके सरकार को अपने स्वामी जनता के समक्ष प्रस्तुत करते रहना चाहिए। वैसे सविधान के अनुसार महालेखाकार का कार्यालय समस्त राजकीय व्यय का लेखा-जोखा रखते हैं और इस सम्बन्ध मे जाच भी करते रहते हैं परन्तु ऐसे अनेको उदाहरण हैं और सोचे जा सकते हैं जहा लेखा-जोखा ठीक होने के बावजूद व्यय निर्दिष्ट मदो पर नही होता। यदि हम मान भी लें कि व्यय जैसा कागजो

में दिखाया गया है, वैसा ही हुआ है, परन्तु इस बात का क्या प्रमाण महालेखाकार महोदय या सरकार के पास है कि व्यय से जनता को वास्तविकता लाभ ही हुआ है? यह स्पष्ट है कि सरकार को उसी व्यय को करने का अधिकार होना चाहिए जिससे जनता का लाभ हो और इस हेतु व्यय हो चुकने के पश्चात् वस्तुतः लाभ हुआ है इसका आकलन करके सरकार को जनता के समक्ष पेश करना ही चाहिए क्योंकि और किसी दूसरे भाग के बजाने से सरकार जनता के प्रति अपना उत्तरदायित्व (accountability) दर्शा ही नहीं सकती।

सरकार योजना व्यय या अन्य व्यय के लिए जिस प्रकार से धन इकट्ठा करती है उसका प्रभाव जनता के प्रत्येक सदस्य पर सीधे या टेढ़े पड़ता ही है। उदाहरण के लिए इन सभी प्रयत्नों से जिससे सरकार धन इकट्ठा करते हुए महंगाई को बढ़ाती है, जनता का प्रत्येक सदस्य जो उपभोक्ता है उसके जेब से उस अनुपात से धन निकल जाता है जिस अनुपात से रुपये की कीमत गिरती है। इस प्रकार सीधी सादी अनपढ़ जनता जो उद्योग व्यापार में नहीं है उस पर सरकारी व्यय का हानिकारक प्रभाव लगातार पड़ता रहता है। इस हानिकारक प्रभाव को रोकने के लिए भी सरकार का यह दायित्व हो जाता है कि सरकारी व्यय का लाभकारी प्रभाव पड़े और यह प्रभाव जनता के सभी वर्गों तक पहुँचे।

योजनागत विकास के गत तीस वर्षों के अनुभवों पर गौर किया जाय तो पता चलेगा कि लक्ष्य (target) और लक्ष्य पूर्ति (achievement) में कोई सम्बन्ध नहीं दिखता। इस अन्तर के कई कारण सरकार की ओर से पेश किये जाते हैं। परन्तु कारण बताने से न तो जनता का पेट भरता है और न ही सरकार की जनता के प्रति दायित्व का ही पालन होता है। ईमानदारी से सोचा जाय तो यदि ये लक्ष्य आर्थिक सम्भवता और उपयुक्तता के आधार पर बनाए गए होते और सरकार ने ठीक तरह से इन्हें लागू करने का प्रयत्न किया होता तो लक्ष्यों और लक्ष्य पूर्ति के आंकड़ों में निकटता होती। इस सम्बन्ध में विचार करने की आवश्यकता है। साधारणतया लक्ष्य प्रस्तावित व्यय के रूप में स्थिर किये जाते हैं और योजना बनाते हुए ये पांच वर्ष के लिए निश्चित किए जाते हैं। साथ-साथ उत्पादन, रोजगार आदि सम्बन्धी लक्ष्य भी निश्चित कर लिये जाते हैं। योजना बन जाने के पश्चात् राजकीय व्यय के अनुमान प्रति वर्ष बनाये जाते हैं। इन अनुमानित व्ययों और वर्ष-दर-वर्ष उत्पादन, रोजगार आदि लक्ष्यों में कोई तालमेल नहीं बैठाया जाता है। अधिक-से-अधिक इस बात का ध्यान रखा जाता है कि पांच वर्षों का कुल व्यय योजनागत व्यय से सम्मत हो। इस प्रणाली में किसी मद में व्यय अधिक हो सकता है परन्तु धन का प्रावधान नहीं रहता और किसी दूसरे मद में धन का प्रावधान इतना रहता है कि वर्ष के अन्त में व्यय ही नहीं हो पाता। दोनों तरीकों से विकास की गति रुक जाती है और यह प्रश्न उठता है कि यदि व्यय के अनुमान (Budget) ठीक तरह से बनाये जाते ताकि अनुमानित व्यय और वास्तविक व्यय में नैकट्य होता तो विकास का स्तर कितना ऊपर गया होता? इसे हम सामाजिक अवसर

दुरुपयोग जन्य हानि (Social opportunity loss) की संज्ञा दे सकते हैं इस बात की खोज करने की आवश्यकता है कि गत तीस वर्षों मे कुछ राज्य आगे निकल गए और कुछ पीछे रह गए इस घटना मे उपरोक्त सामाजिक अवसर दुरुपयोग जन्य हानि का कितना योगदान है ?

अब हम योजना और आयोजना सम्बन्धित उन प्रश्नो की ओर आते हैं जिन्हें जानकर लोग समय-समय पर उछाला करते हैं परन्तु सरकार या सरकार का योजना आयोग उनका सन्तोषजनक उत्तर नही दे पाता । वस्तुत उत्तर खोजने के लिए पूरी-की-पूरी योजना पद्धति मे परिवर्तन करना पड़ेगा ।

प्रश्न 1 इस बात का क्या प्रमाण है कि योजना कार्यान्वयन म जिन उद्देश्यो की पूर्ति होती है वे वही हैं जो योजना बनाते समय निश्चित किए गए थे ?

प्रश्न 2 क्या योजना पद्धति देश मे व्याप्त समस्याओ से सम्मत है और इसके पालन से इन समस्याओ के समाधान की सम्भावना है ।

प्रश्न 3 क्या अखिल भारतीय स्तर पर योजना लक्ष्य बनाने से कार्यान्वयन का कार्य स्वयमेव कठिन नही हो जाता ? क्या लक्ष्यांको के वितरण का कोई समुचित आधार सरकार या किसी के पास है ?

प्रश्न 4 क्या वार्षिक व्यय पिछले तीस वर्षों मे योजना सम्मत रहे हैं किए जा सकते हैं या करने का कोई प्रयास हो रहा है ?

प्रश्न 5 सरकार के पास इस बात का क्या प्रमाण है कि योजनागत व्ययों से जनता को कम से कम उतना लाभ हुआ है जितना यदि जनता अपना धन स्वय व्यय करती तो प्राप्त कर सकती थी ।

प्रश्न 6 वे कौन लोग हैं जिनको योजना व्ययों से लाभ होता रहा है और यह लाभ कितना है ? वे कौन लोग हैं जिन्होंने योजना व्यय मे अपना योगदान तो दिया परन्तु उन्हे कोई लाभ नही हुआ ? इन लोगो का सरकारी व्यय प्रेरित शोषण की मात्रा कितनी है ?

प्रश्न 7 योजना पद्धति योजना लक्ष्य, योजना कार्यान्वयन, योजना फल और पुनर्योजना मे अन्तर्निहित सम्बन्धो का ध्यान विगत योजनाओं मे कितना और कहां तक रखा गया और इस हेतु सगठनात्मक प्रमाण क्या है ?

प्रश्न 8 योजना प्रणाली मे निहित आंशिक प्रयास म दीर्घकालीन व लघुकालीन हानि-लाभ का क्या आकलन हुआ और इस पद्धति म निहित हानि से देश को बचाने के लिए क्या किया गया या किया जाने वाला है ?

प्रश्न 9 योजना निर्माण व कार्यान्वयन हेतु वांछित सगठन, वांछित प्रशिक्षण श्रम शक्ति, वांछित सगठनात्मक सस्कृति आदि प्रश्नो के सम्बन्ध म राज्य ने क्या उपयुक्त प्रयास किया और क्या करने की सोच रहा है ?

इन प्रश्नों पर हम इस लेख मे केवल तात्त्विक दृष्टि से ही विचार करेंगे । उपलब्ध आंकड़ो के आधार पर भी कुछ प्रश्नो का विश्लेषण किया जा सकता है और किया जाना

चाहिए परन्तु इसके लिए प्रत्येक प्रश्न का पृथक् रूप से अनुशीलन करना पड़ेगा और इस लेख में इसका समावेश न हो सकेगा। इन प्रश्नों में अधिकांश का समाधान हमें समष्टि योजना (Macro Planning) के गुण दोषों पर संक्षेप में विचार करने से ही मिल जायगा।

2 समष्टि योजना के गुण-दोष

वस्तुतः समष्टि योजना का विचार सापेक्ष है। आर्थिक आयोजन के संदर्भ में समष्टि शब्द का अर्थ स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम गेहूं के उत्पादन का उदाहरण ले सकते हैं। यदि हम गेहूं का वार्षिक उत्पादन को एक चल (Variable) मान कर चलें तो पायेंगे कि इस सम्बन्ध में प्रारम्भिक इकाई किसान को माना जा सकता है। आयोजन हेतु सारे भारत में गेहूं के उत्पादन को चल माना जा सकता है या किसी एक राज्य में गेहूं के उत्पादन को चल माना जा सकता है। इसी प्रकार राज्य से छोटी प्रशासनिक इकाइयों जैसे जनपद, खण्ड या गांव का विचार किया जा सकता है। अब इस बात पर विचार करें कि गेहूं के उत्पादन नामक चल तो वही है परन्तु इसकी परिभाषा अलग-अलग स्तरों पर की जा सकती है। गांव स्तर की यह परिभाषा किसान स्तर की परिभाषा की अपेक्षा समष्टिपरक परिभाषा है। इसी प्रकार खण्ड स्तर की परिभाषा गांव स्तर की परिभाषा की अपेक्षा समष्टिपरक परिभाषा है। इस प्रकार हम पाते हैं कि भारतीय स्तर की परिभाषा उपरोक्त समस्त स्तरों की परिभाषा की अपेक्षा सर्वाधिक समष्टि-परक है।

अब यदि भारतीय स्तर की परिभाषा के आधार पर किसी चुने हुए आर्थिक प्रारूप (Economic Model) का उपयोग में लाकर भारतीय स्तर पर गेहूं के उत्पादन का लक्ष्यांक (Target) निर्धारित किया जाय तो इस लक्ष्यांक की प्राप्ति करने के लिए इसका बटवारा करना पड़ेगा। एक तरीका जो इस कार्य हेतु प्रायः अपनाया जाता है वह यह है कि योजना आयोग इस लक्ष्यांक का बटवारा राज्यों में करे, राज्य जनपदों में, जनपद खण्डों में, खण्ड गांवों में और गांव किसानों में। इस वितरण प्रणाली में भारतीय स्तर पर आयोजन के वांछित मूलाधार नष्ट हो जाते हैं। एक ही तरीके से पुनः हाना बताया जा सकता है। वह है किसान स्तर से आयोजन प्रारम्भ किया जाय और भारतीय स्तर तक के लक्ष्यांक निकाले जाएं। परन्तु इस परिपाटी के अपनाने से भारतीय स्तर के आयोजन की कोई उपादेयता नहीं रह जाती। जैसा कि अभी हो रहा है यदि हम भारतीय स्तर से आयोजन प्रारम्भ करके लक्ष्यांकों का बटवारा करें तो राज्य, जनपद, खण्ड और किसान प्रत्येक स्तर पर लक्ष्यांक आदर्श लक्ष्यांक से या तो कम होंगे या अधिक। दोनों ही परिस्थिति में यह पद्धति अनेकों कठिनाइयों को जन्म देती है। सबसे बड़ी कठिनाई यह आती है कि उत्पादन से आवश्यक माल सामान (Input demand) का सही आकलन नहीं हो पाता और उत्पादकों को ये सामान प्रायः मिलते ही नहीं और यदि मिलते भी हैं तो घटिया किस्म के और काला बाजार के भाव पर।

जो बातें गेहूं के उत्पादन नामक चल के लिए ऊपर कही गई हैं वही बातें अन्य सभी आर्थिक या सामाजिक चलों के लिए भी सत्य हैं। समष्टीकरण भौगोलिक इकाइयों, आदर्शक निर्णायक इकाइयों (Economic decision making units) और औद्योगिक इकाइयों (Firms) आदि किसी भी आधार पर, हो सकता है किया जाता हैं और सभी स्थितियों में उपरोक्त बातें लागू होती हैं। समष्टि चलों (Aggregate variable) के आधार पर समष्टि लक्ष्यों (aggregate-target) में एक प्रकार समष्टि दोष (aggregation bias) आ जाता है जिसका निराकरण करना लगभग असम्भव है। इस समष्टि दोष की मात्रा कुछ भी हो सकती है और इस प्रकार बनाये गए लक्ष्यांक आदर्श लक्ष्यांक (ideal target) से कम या अधिक दोनों हो सकते हैं।

हमारे देश में जितनी योजनाएं आज तक बनी, उनके बनाने में किसी न किसी प्रकार के आर्थिक प्रारूप (Economic model) का उपयोग किया गया। इन आर्थिक प्रारूपों की दो विशेषताओं का गुण-गान आयोजकगण बारम्बार करते आ रहे हैं। एक गुण आन्तरिक समन्वयता (internal consistency) का है और दूसरा गुण परिस्थिति श्रेष्ठता (optimality on the best solution to satisfy any given objective under a given set of constraints) का है। ये दोनों गुण भारतीय स्तर पर भारतीय स्तर के चलों का उपयोग करते हुए आर्थिक प्रारूपों में प्राप्त लक्ष्यांकों में उपस्थित हो सकते हैं परन्तु ये दोनों गुण कार्यान्वयन हेतु लक्ष्यांकों के बटवारा करने में नष्ट हो जाते हैं। इसके विपरीत यदि लक्ष्यांकों का निर्धारण गांव, खण्ड, जनपद और राज्य स्तरों पर नीचे से ऊपर की ओर जाते हुए किया जाय तो ये गुण सभी स्तरों पर उपस्थित रहेंगे और लक्ष्यांकों के कार्यान्वयन की क्षमता भी बढ़ जायगी। स्पष्ट है कि इस प्रकार विकास की गति में महत्तम वृद्धि हो सकेगी।

आर्थिक आयोजन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंश लक्ष्यांकों का धन के रूप में होना है। पंचवर्षीय योजनाओं में देश के किस मद में कितना व्यय करेगा और इस व्यय का बटवारा केन्द्र, राज्य, जनता प्रभाग (Public Sector) वैयक्तिक प्रभाग (Private Sector), कृषि, व्यवसाय, यातायात, शिक्षा, प्रशासन, आदि व्यय-वर्गों में पांच वर्ष के लिए कर दिया जाता है। इसके पश्चात् केन्द्रीय सरकार के विभिन्न मंत्रालय, राज्य सरकारें, उनके मंत्रालय और अनेकों अन्य योजनाभिमिश्रित संगठन प्रति वर्ष प्रारम्भ में पूरे वर्ष के अनुमानित व्यय का लेखा (Budget) तैयार कर लोक सभा या विधान सभा से स्वीकृत कराकर धन व्यय करने का अधिकार प्राप्त करते हैं और निर्धारित मदों पर धन व्यय करते हैं। इस प्रकार निर्धारित धन व्यय करना ही योजना का लक्ष्य बन जाता है और इसी आधार पर कर्मचारियों की कुशलता का मूल्यांकन किया जाता है। इस व्यय से प्रति वर्ष उत्पादन, रोजगार, निर्माण आदि लक्ष्यांकों में कितना योगदान होता है इसका कभी ध्यान नहीं रखा जाता है और यह कैसे किया जाय इस बात की जानकारी ही अभी तक पर्याप्त रुचि से संशोधित नहीं हो पायी है। फलतः निर्धारित धन तो कम या अधिक पांच वर्ष में व्यय किये जा सकते हैं, परन्तु इस व्यय से जनता को ठोस रूप से क्या और कितना मिला इस पहलू को नजरअन्दाज कर दिया जाता है।

नौकरशाही और नेताशाही दोनों के लिए यह तरीका कई कारणों से श्रेयस्कर लग सकता है परन्तु जनता, जिसका धन वे व्यय करती है, पिस कर रह जाती है और प्राय यह जान ही नहीं पाती कि कौन और कैसे उसका शोषण कर रहा है।

आकडीय शोध प्रयासो ने ऐसा देखने मे आता है कि सरकारी व्यय का अधिकाश भाग उद्योग और व्यापार के क्षेत्रो को प्राप्त होता है। ऐसा भी प्राय कहा जाता है और व्यक्तिगत रूप म राजनीतिज्ञ स्वीकार भी करत पाये गये हैं कि राजनीतिक दलों द्वारा चुनावो मे किया गया व्यय अधिकाशत औद्योगिक और व्यापारिक वर्गों से ही आता है। परन्तु इस बात को आगे न बढाकर हम पहली बात के प्रभाव की ओर चलते हैं। योजना आयोग द्वारा लक्ष्यांको का निर्धारण होते ही अनेकानेक औद्योगिक सगठन अपने-अपने उद्योगों का भारतीय स्तर का लक्ष्याक, योजना आयोग के लक्ष्याक, के आधार पर बनाना प्रारम्भ कर देत हैं। इस प्रकार निजी क्षेत्र का उत्पादन लक्ष्य भी योजना आयोग द्वारा निर्धारित लक्ष्य से निहित दोषो का शिकार स्वत आप बन जाता है। यदि किसी कारण-वश कोई उद्योग जनता की माग का स्वतन्त्र आकलन कर उत्पादन लक्ष्य बनाता है और यह लक्ष्य योजना आयोग के लक्ष्य से अधिक पाया गया तो सरकार की लाइसेंसिंग (licensing) इकाई योजना आयोग के लक्ष्याक का विश्वास करके रोक लगाने को तत्पर हो जाती है। फलत वर्तमान आयोजन का कुल प्रभाव यह होता है कि उत्पादन निश्चित रूप से माग से कम ही रहता है और भाव बढने में स्वत सहायक बन जाता है। सरकारी व्यय मे मासिक अन्तर इतने पाये जाते हैं कि इस कारण उत्पादकों को वर्ष भर माल पैदा करके फरवरी व मार्च मे बेचने के लिए रखना पडता है और इस आवश्यक भण्डारण का खर्च माल के भाव मे जोडना पडता है। फरवरी और मार्च मे अधिक विक्रय का कारण यह है कि सरकारें इसी समय के दौरान अधिकाश व्यय करती हैं। पता लगाने पर सरकारी कार्यालय इसका एक कारण यह बताते हैं कि प्राय धन को खर्च करने के अधिकार पत्र और धन उपलब्ध होने मे समयान्तर रहता है और दीपावली के बाद ही अधिकाश धन खर्च के लिए उपलब्ध हो पाते हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि हमारी वर्तमान आयोजन पद्धति और मासिक व्यय पद्धति दोनों मिलकर महगाई बढाने में सीधा योगदान करते हैं।

योजना आयोग और वर्तमान योजना पद्धति का एक सबल राजनीतिक लाभ केन्द्रीय सरकार के मत्रिमडल को मिलता है जो प्राय राजनीतिक गुत्थियो को सुलझाने मे सहायक होता है। हमारे सविधान म करो द्वारा राजकीय आय का अधिकाश भाग केन्द्रीय सरकार के अधिकार मे दे रखा है। फलत कुल आयोजन व्यय मे केन्द्र के आय का भाग एव महत्वपूर्ण अश होता है और इसका विभिन्न राज्यो में बटवारा करते समय राजनीतिक पहलू भी जनतत्र मे आते रहते हैं। इस अवसर पर योजना आयोग का आकलन आयोजित व्यय के बटवारा का आर्थिक आधार प्रस्तुत करते हैं। चूकि आर्थिक गणना का स्तर योजना आयोग में अभी तक वैज्ञानिकता की अपेक्षित ऊचाई तक नहीं पहुच सका है इसलिए आकडो और गणना विधियों का इस प्रकार भी उपयोग किया

जाना सम्भव है कि उपरोक्त आर्थिक आधार राजनीतिक आवश्यकता के अनुरूप हों। विभिन्न राज्य अपनी-अपनी मांगों का औचित्य सिद्ध करने के लिए अपने-अपने राज्यों की आवश्यकता का आकलन करते हैं। कभी-कभी इस आकलन के अभाव में मुख्य मंत्री और प्रधान मंत्री के पारस्परिक संबंध भी राज्य के लिए धन प्राप्ति में प्रयोग किए जाते हैं। परन्तु उचित और विस्तृत राज्य स्तरीय योजना व्यय आकलन का कोई अच्छा विकल्प नहीं है। राज्य स्तरीय आकलन उपलब्ध रहने पर धन प्राप्ति के अनेकों और स्रोतों का उपयोग किया जा सकता है। गुजरात और महाराष्ट्र ने इन अन्य स्रोतों का किस प्रकार उपयोग किया है इस बात का अध्ययन अन्य राज्यों को करना चाहिए।

उपरोक्त चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वर्तमान भारतीय स्तर के आर्थिक आयोजन पद्धति में जो हानियां सम्भव हैं उनमें से कुछ महत्वपूर्ण हानियां इस प्रकार हैं —

हानि 1. जनता के कुछ वर्ग का शोषण हो रहा है और कुछ अन्य वर्गों को ही लाभ मिल रहा है। संक्षेप में योजना लाभ का वितरण सम नहीं है।

हानि 2. लक्ष्यांक और लक्ष्य पूर्तियों में कोई तैतरूप नहीं है। इससे जनता को लक्ष्यांक से विश्वास हटता जा रहा है और नौकरशाही पर लक्ष्यपूर्ति सम्बन्धी अनुचित दबाव पड़ सकता है।

हानि 3 विकास की गति जितनी होनी चाहिए थी और जितनी है उसमें बहुत बड़ा अन्तर सम्भव है और इसका दीर्घकालीन प्रभाव बहुत दुखदायी हो सकता है।

हानि 4. किसी भी आर्थिक सिद्धान्त सामाजिक उद्देश्य अथवा वरीयता की योजना द्वारा पालन सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में किए गए दावों में कोई तथ्य नहीं है।

हानि 5. लक्ष्यांक का कार्यान्वयन पूर्णरूपेण सम्भव नहीं है, चाहे जितनी कुशल नौकरशाही क्यों न हो ?

हानि 6. *लक्ष्यांकों की पूर्ति और वाषिक व्यय में कोई ताल-मेल नहीं है और न बैठाना सम्भव है।*

हानि 7 आयोजन का कुल प्रभाव उत्पादन पर रोकथाम के रूप में पड़ता प्रायः देखा जाता है और महंगाई इस कारण भी बढ़ती रहती है।

हानि 8 योजना आकलनों का राजनीतिक उपयोग सम्भव हो जाता है।

हानि 9 योजना प्रसून उत्तरोत्तर आर्थिक संचयन, प्रसार, शिक्षण और मूल्य-वृद्धि से जनता, नौकरशाही और नेताशाही वंचित रह जाती है और स्वतन्त्रता के बाद नारों से प्रारम्भ करके आज तक नारों का ही सहारा लेते रहने की मजबूरी का मार्ग प्रशस्त रहता है।

3 राज्य स्तरीय आयोजन प्रणाली

सैद्धान्तिक रूप से यदि राज्य-स्तर पर आयोजन किया जाय तो उपरोक्त हानियों

इन स्तरो पर भी तैयार किये जा सकते हैं। आयोजन की तैयारी के लिए आकडो की तैयारी तो करना ही पडेगा। वाछित आकडो के विषय म विचार स्थिर करने के लिए आयोजन विधि की उपयुक्तता के विषय मे निर्णय पहले लेना पडता है। परन्तु आकडो की अनुपलब्धता की शिकायत मे कोई दम नही है क्योकि यदि इस विधि का चुनाव वास्तविक कठिनाइयो और अवरोधो को दूर करने के लिए किया जाता है तो अब तक किये गए शोध प्रयास यह साबित करते हैं कि आवश्यक आकडे राज्य के किसी-न-किसी कार्यालय से खोज कर बाहर निकाल जा सकते हैं। किन आकडो की आवश्यकता क्यो है इसका अन्दाज नियोजको को कार्य आरम्भ करने के पूर्व ही कर लेना पडेगा ताकि इस हेतु उपयुक्त आकडीय प्रबन्ध (Information Management) का प्रारूप निश्चित किया जा सके। अनुभव के आधार पर इतना निश्चित है, इसमे किसी भी दोष या अभाव का निराकरण कार्यारम्भ के बाद शीघ्र ही किया जा सकता है।

विश्वसनीय आकडा का एक अथाह भण्डार राज्यो म सभी स्तरो पर पहले से ही उपलब्ध है जिसका उचित उपयोग नही हो पा रहा है। उदाहरण के लिए व्यय के अनुमानित और वास्तविक आकडो को ही लें। ये आकडे सभी स्तरो पर वार्षिक रूप मे और कभी-कभी मासिक तौर पर भी विभिन्न मदो के सम्बन्ध म उपलब्ध है। वास्तविक व्यय के आकडो का सत्यापन महालेखाकार का कार्यालय प्रति वर्ष करता रहता है। इनका आर्थिक और व्यावहारिक उपयोग के लिए भी औचित्य सन्देह रहित है क्योकि व्यय के लिए बाजार मे माल का उपलब्ध करना भी आवश्यक है। इस प्रकार उत्पादन पूर्ति, माग और व्यय मे पारस्परिक आर्थिक सम्बन्ध की आकडीय वास्तविकता इन वास्तविक व्यय के आकडो म सन्निहित माना जा सकता है। वास्तविक व्यय के आकडा के उपयोग का अपरोक्ष लाभ यह है कि भूतकाल मे जैसा व्यय सम्भव हो सका उसमे समस्त भविष्य के लक्ष्याको की प्राप्ति में निहित आर्थिक ढाचे का लाभ मिल सकेगा। राज्य की आर्थिक स्थिति और सरचना के अनुरूप व्यय के लक्ष्याक पूरे किये जा सकते हैं। ऐसे लक्ष्याक जो आर्थिक ढाचे से सम्मत न हो उनके कार्यान्वयन म अनजाने और अनचाहे अवरोध खडे हो जाते हैं और आयोजन की आधारशिला ही डगमगा देते हैं। इन अवरोधो की उपस्थिति हमारे आयोजन पद्धति म निहित दोष का द्योतक है परन्तु इनका उपयोग प्राय योजना की असफलता के विषय मे स्पष्टीकरण देने मे अब तक किया जाता रहा है।

किसी भी राजकीय व्यय का प्रभाव तीन प्रकार का माना जा सकता है

(अ) तात्कालिक—लगभग एक वर्ष की अवधि मे।

(ब) लघुकालिक—दो से पाच वर्ष की अवधि मे।

(स) दीर्घकालिक—पाच वर्ष से ऊपर की अवधि मे।

इन प्रभावो के वर्गीकरण मे समय की गणना व्यावहारिक आधार पर हो है। इसका कोई वैज्ञानिक आधार नही है परन्तु परिभाषा करके समय अवधि को कम या अधिक आवश्यकता के अनुसार किया जा सकता है। ये प्रभाव हानिकर और लाभकर दोनो

प्रकार के हो सकते हैं। हानिकर और लाभकर सीधे तौर पर आकलित किए जा सकते हैं और अन्ततोगत्वा गणना के आधार पर भी आकलित किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए हम शिक्षा के व्यय पर विचार करें। शिक्षा पर किए गए व्यय का तात्कालिक प्रभाव शिक्षकों की मांग और पुस्तकों की मांग पर पड़ेगा। लघुकालिक प्रभाव के रूप में हम सोच सकते हैं कि पुस्तकों की मांग बढ़ जाने से कागज मिलों की उत्पादन क्षमता बढ़ानी पड़ेगी और शिक्षकों की मांग बढ़ जाने से उच्च शिक्षा में और व्यय करना पड़ेगा। दीर्घकालिक प्रभाव के रूप में बहुत सी बातें सोची जा सकती हैं। जैसे कागज की मांग बढ़ जाने से मिलों को कच्चा माल मिल सके इस प्रकार का वृक्षारोपण करना पड़ेगा। शिक्षा से उत्पन्न कार्य कुशलता का प्रभाव उत्पादन, उद्योग, राजनीतिक जागृति, सामाजिक चेतना, रहन-सहन के ढंग तथा जन्म-दर व मृत्यु-दर पर पड़ेगा। इन प्रभावों का व्यय की दृष्टि से हानिकर और लाभकर दोनों पहलू हो सकता है और किसी भी स्थिति में इसका ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सकता है। प्राय सभी तात्कालिक प्रभावों की गणना सीधे तौर पर की जा सकती है और लघुकालिक व दीर्घकालिक प्रभावों की गणना अन्ततोगत्वा सिद्धान्त पर किया जा सकता है। तात्कालिक लाभ-हानि का अन्तर कुछ हो सकता है और लघुकालिक व दीर्घकालिक लाभ-हानि का अन्तर कुछ और ही हो सकता है। अतएव किसी भी राजकीय व्यय का निर्णायक तात्कालिक कुल लाभ के आधार पर ही नहीं किया जा सकता क्योंकि दीर्घकालीन और लघुकालीन प्रभावों को गणना में लाने पर कुछ लाभ की मात्रा परिवर्तित हो सकती है।

विभागीय आधार पर किये गए आयोजन में लघुकालीन और दीर्घकालीन प्रभावों की गणना प्राय की ही नहीं जाती। उदाहरणार्थ हम 1960 के आसपास के गेहूं और धान के उत्पादन के प्रयासों को ले सकते हैं। हम सब जानते हैं कि गेहूं और धान की कई उन्नत बीजों का वितरण हुआ और अधिक-से-अधिक क्षेत्र में इन फसलों का उत्पादन होने लगा। साथ ही साथ दाल और तिलहन पर बहुत दिनों तक पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा सका। फलस्वरूप अनाज का उत्पादन बढ़ा परन्तु पौष्टिक आहार की उपलब्धि में उत्तरोत्तर ह्रास होता गया। यही बात हाल के बिजली, सीमेन्ट और स्टील आदि की कमी के विषय में भी कही जा सकती है। ये सभी ऐसे उदाहरण हैं जहां विभागीय या आंशिक आयोजन के कारण कुछ ही दिनों में अर्जित क्षमता स्वतः भंग हो जाती है और विकास की गति मन्द या अवरुद्ध होने लगती है।

इन सभी प्रश्नों का निराकरण हम एक ऐसे प्रारूप (Complete system model) का उपयोग करके कर सकते हैं जिसमें उसी प्रकार के कार्यकारण सम्बन्ध का पारस्परिक सकलन वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए किया जा सके। इस प्रकार के प्रारूप के कुछ रूपान्तरों को प्रारम्भिक तौर पर सम्भावित मानकर उपलब्ध आंकड़ों के आधार पर आकलित कर सकते हैं। इन रूपान्तरों में से एक ऐसा रूपान्तर चुना जा सकता है जिसका उपलब्ध आंकड़ों से समरसता सर्वाधिक हो और जिसके माध्यम से कुछ चुने हुए चरों का भविष्य-स्तर ठीक-ठीक चिन्हित किया जा सके। ऐसे रूपान्तर को

अधिक विश्वसनीय माना जा सकता है और राज्य के आर्थिक ढांचे (Economis strutcture) की तरह इसका उपयोग नीति नियमन, लक्ष्यांक निर्धारण, भविष्याकलन, आदि कार्यों में किया जा सकता है।

कोई भी भविष्यपरक व्यय योजना उपरोक्त आर्थिक ढाचे से सम्मत होना ही चाहिए। इस कारण इस आकलित आर्थिक ढांचे को भविष्य मवधित नीति नियमन के लिए एक प्रतिबन्धात्मक पहलू मानना पड़ेगा। किसी भी आर्थिक ढांचे को ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि कुछ चल ऐसे हैं जिनको लक्ष्य चल (Target Variable) के तौर पर लिया जा सकता है। उपर कुछ चल ऐसे है जिनको अकुश चल (Control Variable) के रूप म लिया जा सकता है। जिन चलों को राज्य सरकारें अपनी ओर से नियन्त्रित कर सकती हैं, उनको अकुश चल माना जा सकता है और जिन चलों का स्तर जनता के व्यवहार पर अधिकाशत निर्भर करता हो उनको लक्ष्य चलों म शामिल किया जा सकता है। इनके चुनाव में इस प्रकार की वास्तविकता का ध्यान रखना परमावश्यक है।

ऐसा कर चुकने के पश्चात् समस्या यह उठती है कि लक्ष्य चलों की मात्रा क्या हो और यह मात्रा किस सिद्धान्त के अनुसार निर्धारित की जाय ? लोग लक्ष्य चलों को अपने विचार व अनुभव के आधार पर अलग-अलग स्तर पर रखना चाहेंगे। इनमें से कौन-सा रूपान्तर किस आधार पर ग्रहण किया जा सकता है इस प्रश्न को हल करने के लिए एक निष्पक्ष ढग यह हो सकता है कि सभी के विचारों को परखने का अवसर उपलब्ध किया जा सके और जो रूपान्तर गणना के आधार पर राज्य के लिए सबसे हितकारी लगे उसे अपनाया जाय। ऐसा करने के लिए उपरोक्त आर्थिक ढांचे का उपयोग किया जा सकता है। लेखक ने अपने एक शोध अध्ययन म, जिसे पाठक लिखकर मगा सकते हैं, एक विधि प्रतिपादित की है जिसके अनुसार अकुश चलों का वह स्तर—सुझाए गो प्रस्तावित लक्ष्य रूपान्तर के निकटतम हो—निकाला जा सकता है। इस प्रकार कितने भी लक्ष्य चलों का रूपान्तर प्रयोग के तौर पर लिया जा सकता है और इनमे से प्रत्येक से सम्बन्धित अकुश चलों का स्तर निकाला जा सकता है। इस प्रकार निकले हल को हम लक्ष्य अकुश चल रूपान्तर का नाम दे सकते हैं। प्रत्येक लक्ष्य अकुश चल रूपान्तर के कार्यान्वियन म कितना राजकीय व्यय होगा और कितनी आय होगी इसका भी अनुमान लग सकता है। इस आय-व्यय के आधार पर प्रत्येक रूपान्तर की आर्थिक दक्षता माप निम्नलिखित सरल विधि से की जा सकती है।

$$\text{दक्षता माप} = \frac{\text{राज्यकीय आय म वृद्धि}}{\text{राज्यकीय व्यय म वृद्धि}}$$

इस दक्षता माप के अतिरिक्त भी अन्य उद्देश्यों के आधार पर इन रूपान्तरों का मूल्यांकन किया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि जिस रूपान्तर से सबधित दक्षता माप सर्वाधिक होगा उसका चयन नीति नियमन हेतु किया जा सकता है। चुने हुए रूपान्तर म उत्पादन, रोजगार, जन्मदर, मृत्युदर, मूल्य आदि सभी चल उपस्थित मिलेंगे और

प्रतिवर्ष ऐसे व्ययो का अनुमान निकाला जा सकता है जो इन लक्ष्यों की पूर्ति मे सक्षम हो। प्रत्येक वर्ष नए आकड़ो का उपयोग कर सुधरे हुए आर्थिक ढाचे का आकलन करके व्यय अनुमानो की गणना सतत रूप से की जा सकती है और इस प्रकार बदलते समय के अनुरूप, सम्मत और सगत व्यय अनुमानो को राज्य के वार्षिक आय-व्यय लेखा (Annual Budget) मे सन्निहित किया जा सकता है। बदली हुई राजनीतिक, आर्थिक या अन्य परिस्थिति के अनुसार वाछित व्यय अनुमान भी अपेक्षित सोधनता से निकाले जा सकते हैं।

राज्य स्तरीय आर्थिक ढाचे का प्रयोग जनपद स्तरीय और खण्ड स्तरीय व्यय अनुमानों को निकालने मे सरलता से किया जा सकता है। समयान्तर मे आकड़ा के उपलब्ध हो जाने पर जनपद और खण्ड स्तरीय आर्थिक ढाचा का भी आकलन हो सकेगा परन्तु प्रारम्भ करने लिए राज्य स्तरीय आर्थिक ढाचे के उपयोग से व्यय अनुमानो मे समष्टि दोष की अधिकता की सम्भावना कम है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक खण्ड या जनपद के लिए लक्ष्य चलो के स्तर का चुनाव वहा की वास्तविक परिस्थिति के अनुकूल किया जा सकता है। इस प्रकार व्यय अनुमान भी वास्तविक परिस्थिति के अनुकूल ही होंगे। अधिक या कम विकसित क्षेत्रो के आवश्यक लक्षण चुने हुए लक्ष्य चलों के स्तर में स्वाभाविक रूप से निहित रहेंगे और इस प्रकार क्षेत्रीय भिन्नता का समावेश आयोजन पद्धति में स्वत हो जाता है। इन प्रशासनिक स्तरों के लिए भी उपरोक्त दक्षता माप का प्रयोग कर परिस्थिति श्रेष्ठ व्यय अनुमानों का आकलन किया जा सकता है।

इस पद्धति मे कई प्रकार के लाभ की सम्भावना निहित है। नई समस्याओं का निराकरण भी इस विधि मे कुछ साधारण सुधार के पश्चात् किया जा सकता है। इस पद्धति से व्यय के अनुमानो का उपयोग स्थानीय परिस्थिति को ध्यान मे रखकर भौतिक लक्ष्यो के निर्धारण मे किया जा सकता है। इस प्रकार जनता की वास्तविक आवश्यकताओं की शर्तें अधिक सक्षमता से हो सकती हैं। यह भी हो सकता है कि कम-से-कम व्यय में अधिक-से-अधिक विकास हो। सभी खण्डा और सभी जनपदो को समान मानने के दोष से बचाया जा सकता है। अधिकारियो को भी उचित लक्ष्याक कार्यान्वयन हेतु मिल सकेंगे और वे निरर्थक तनाव से छुटकारा पा सकेंगे।

अध्याय 15

भारत में हरित क्रांति : एक मूल्यांकन

परिचय

तथाकथित [हरित क्रांति मुख्यत एक जैविक किस्म की प्रौद्योगिकी क्रांति है जो अधिक उपज देने वाले किस्म के बीजों, रासायनिक उर्वरकों, पौधा सरक्षण उपायों, जल-प्रबन्ध तथा कृषि के सुधरे हुए तौर-तरीकों के सम्यक् समन्वय पर केन्द्रित है। फलत. उपज में बहुत अधिक वृद्धि होती है। उपज की अवधि भी अल्पतर होती है जिसके चलते एक ही वर्ष में उसी भूमि पर दो या यहां तक कि तीन फसलें होती हैं। परन्तु भूमि की प्रति इकाई उत्पादन-लागत उच्चतर होती है जो निश्चय ही प्राप्त अतिरिक्त उपज द्वारा की गयी क्षतिपूर्ति से अधिक रहती है। भारत में यह क्रांति सन् 1965 ई० में अधिक उपज देनेवाले किस्म के बीजों के प्रयोग के साथ शुरू हुई, जब मैक्सिको से 1800 टन गेहू के बीज का आयात किया गया। साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय चावल शोध सस्थान द्वारा विकसित एक नये किस्म के धान का भी आयात किया गया। रॉकफेलर फाउण्डेशन की सहायता से भारत में ही अधिक उपज देने वाले सकर मक्का और बाजरा के बीजों का विकास किया गया। इन सभी किस्मों का प्रभावकारी प्रयोग सन् 1966-67 ई० से शुरू हुआ।

एशिया के उन प्रथम राष्ट्रों में भारत एक है जिन्होंने बड़े पैमाने पर अधिक उपज देने वाली किस्मों को अपनाया, जो इस महादेश में कृषित क्षेत्र आधा से भी अधिक है। भारत में पंजाब और पंजाब में भी विशेषत लुधियाना जिला इस प्रौद्योगिकी से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। सन् 1970 ई० में लुधियाना जिला ने 3000 हेक्टयर किलो ग्राम गेहूं पैदा कर गेहू-उत्पादन के क्षेत्र में नया रेकार्ड कायम किया और इस विश्व में गेहू उत्पादन के प्रजनक मैक्सिको को पीछे छोड़ दिया, जिसकी उच्चतम प्रति हेक्टयर उपज उस वर्ष 2800 किलोग्राम से थोड़ी ही अधिक थी। औसतन लुधियाना के किसानों ने 1966-67 में अधिक उपज की किस्मों को अपनाकर अपनी उत्पत्ति को दुगना कर लिया और एक बार में अपनी शुद्ध आय को 70 प्रतिशत से अधिक बढ़ा लिया। पूरे राष्ट्र का गेहू-उत्पादन सन् 1964-65 के 12 मिलियन टन से बढ़कर 1969-70 में करीब 20 मिलियन टन, 1976-77 में 29 मिलियन टन और 1978-79 में 35 मिलियन टन हो गया।

प्रगति

नयी प्रौद्योगिकी की महत्वपूर्ण विशेषता पैकेज दृष्टिकोण में निहित है, जो बीज, उर्वरक, कीटनाशक दवाओं, नियंत्रित जल-आपूर्ति जैसे विभिन्न अदा (Input) एवं लोग-तरीकों के समन्वित प्रयोग की आवश्यकता पर जोर देता है। "जल एवं उर्वरक के बिना नये बीज पूर्ण सम्भाव्य को प्राप्त नहीं करेंगे, कीटनाशक दवाओं के बिना उनकी उत्पत्ति बहुत अधिक परिवर्तनीय रहेगी और मशीनीकरण के बिना बहुफसल उगाने की उनकी क्षमता का पूरा उपयोग नहीं होगा।" मुख्य तत्व परम्परागत किस्म के बीजों का अधिक उपज देने वाले किस्म के बीजों द्वारा प्रतिस्थापन है। इस दिशा में तीव्र प्रगति हुई है। 1968-69 में 1965 की अपेक्षा अधिक उपज देने वाले किस्म के कृषित क्षेत्र में 9 मिलियन हेक्टेयर से भी ज्यादा की वृद्धि हो गयी और इस प्रकार विगत अन्तर्राष्ट्रीय रिकार्ड टूट गया। यह पुनः बढ़कर 1970-71 में 15 मिलियन हेक्टेयर, 1975-76 में 32 मिलियन हेक्टेयर तथा 1980-81 में 48 मिलियन हेक्टेयर हो गया। इसके साथ ही साथ उर्वरक के प्रयोग में भी समान रूप से महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है जो 1962-66 के 78 मिलियन टन से बढ़कर 1968-69 में 1 76 मिलियन टन, 1970-71 में 2 26 मिलियन टन, 1975-76 में 2 9 मिलियन टन और 1980-81 में 6 0 मिलियन टन हो गया। भारत के सन्दर्भ में किये गये सभी अनुभवजन्य अध्ययन यह प्रदर्शित करते हैं कि परम्परागत किस्म के बीजों के उपयोग की अपेक्षा अधिक उपज वाले बीजों के प्रयोग के फलस्वरूप उर्वरक उपयोग का स्तर अधिक ऊंचा हो गया है (तालिका 15 3)। सिंचित शुद्ध क्षेत्र में वृद्धि 1965-66 में 26 3 मिलियन हेक्टेयर से 1970-71 में 31 1 मिलियन हेक्टेयर और 1975-76 में 34 5 मिलियन हेक्टेयर हो गयी है। नल-कूप द्वारा सिंचित क्षेत्र में अपूर्व वृद्धि 1965-66 में 1.3 मिलियन हेक्टेयर से 1970-71 में 4 5 मिलियन हेक्टेयर और 1975-76 में 6 8 मिलियन हेक्टेयर रही है जिसके फलस्वरूप कुल सिंचित क्षेत्र में इस स्रोत का प्रतिशत 1965 66 के 5% से बढ़कर 1975-76 में 20% हो गया है। जहां धान कृषि के अन्तर्गत सिंचित क्षेत्र 1965-66 में 12 9 मिलियन हेक्टेयर से बढ़कर 1975-76 में 15 मिलियन हेक्टेयर हो गया, जो एक मामूली वृद्धि है, वहां गेहूं की खेती के अन्तर्गत यह वृद्धि दुगनी से भी अधिक हुई है—1965-66 के 5 4 मिलियन हेक्टेयर से बढ़कर 1975-76 में 12.7 मिलियन हेक्टेयर। ये सभी सम्बद्ध किसानों के दृष्टिकोण में परिवर्तन के चलते हुए जिसके फलस्वरूप कृषि जीवन के दरिद्रता से लाभप्रद व्यवसाय में परिवर्तित हो गयी है। इसके साथ ही साथ अदा के सम्पूर्ण पैकेज के उत्पादन, आयात और वितरण हेतु संगठनात्मक एवं संस्थागत व्यवस्था भी सबल हो गयी है। सरकार ने इस प्रक्रिया में बीज, उर्वरक और कीटनाशक दवाओं का आयात करके, बीजों के गुणित होने की व्यवस्था करके, व्यापक वितरण हेतु बीज निगम की स्थापना करके, उर्वरक कारखाने खोलकर, भण्डार एवं विपणन सुविधाओं का सृजन कर, आर्थिक सहायता

प्रदान कर तथा ग्रामीण क्षेत्र म सहायतायुक्त साख सुविधाओ का विस्तार करके अग्रगण्य भूमिका निभायी है। *प्रारम्भ म (मध्य साठ वाले दशक म)* गेहू धान कच्चा कपास पाट तथा गन्ना के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य की व्यवस्था करके हरित क्रान्ति के प्रसार की प्रक्रिया म सरकार ने सहायता भी की है जिसे कुछ अन्य वस्तुओ के सम्बन्ध म भी लागू किया गया है।

नयी प्रौद्योगिकी के फलस्वरूप उपज म हुई वृद्धि ने भारत जैसे विश्व के अन्य अनेक अल्प विकसित देशो के लिए आशा का सचार किया है जो तीव्र गति से बढती हुई जनसख्या और लगभग स्थिर खाद्य आपूर्ति की दोहरी समस्या मे ग्रसित है। फिर भी बाद के वर्षो के अनुभव ने यह प्रदर्शित कर दिया कि ये आशाए कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण है। *हरित क्राति की एक वस्तुनिष्ठ एव वास्तविक समीक्षा यह प्रदर्शित करती है कि यद्यपि* इसने खास क्षेत्रो म खाद्यउत्पादन मे महत्त्वपूर्ण वृद्धि की है फिर भी क्षेत्र एव फसल दोनो ही दृष्टियो से यह पर्याप्त रूप म व्यापक नही रही है। 1970 71 तक नये किस्म के *बीज का क्षेत्र प्राधान्य फसलो के कुछ क्षेत्र का 12 4 प्रतिशत ही था। यह 1979-80* मे बढकर 28 4% हो गया। इस प्रकार आज भी कुल कृषित क्षेत्र का दो तिहाई हिस्सा नयी प्रौद्योगिकी से अछूता रहा है। अधिक उपज वाले किस्मो के अतर्गत प्रतिवेदित क्षेत्र का एक भाग अदा के पूर्ण पैकेज का प्रयोग नही कर पाता जिसके चलते हरित क्राति से प्रभावित क्षेत्र का प्रतिशत और कम हो जाता है।

मुख्यत गेहू के सदर्भ म पैकेज कार्यक्रम महत्त्वपूर्ण रूप मे सफल रहा है। यद्यपि मक्का, बाजरा और ज्वार के सदर्भ म सफलता अपूर्व एव व्यापक नही रही है, फिर भी कोई बुरी भी नही है। लेकिन देश की प्रमुख फसल धान के सदर्भ म बहुत अधिक प्रगति नही हो सकी है। मात्र इस फसल का एक तिहाई क्षेत्र ही इसके दायरे म आ सका है। द्वितीय, प्रति हेक्टेयर उपज मे महत्त्वपूर्ण वृद्धि नही हुई है जिसके चलते इसके उत्पादन म मामूली वृद्धि 1965-66 के पूर्व 35 मिलियन टन औसत से हाल के वर्षो म 50 मिलियन टन ही हुई है। दलहन और तिलहन का उत्पादन स्थिर रहा है और इस क्षेत्र म कोई महान् परिवर्तन नही हुआ है। चूकि कृषित भूमि के अधिकाश भाग म धान की खेती होती है, अत देश के एक बडे भाग म हरित क्राति घटित होना बाकी है। क्षेत्रीय विस्तार के *आधार पर मूल्याकन करने पर कभी-कभी इस पर गेहू क्राति की सज्ञा थोपी जाती है।* गेहू के सदर्भ म भी यह क्राति पजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश तक सीमित रही है। पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के एक विशाल क्षत्र के अन्तर्गत गेहू की उत्पादकता-दर म मामूली वृद्धि हुई है और यह पजाब की तुलना म बहुत निम्न है। उर्वरक के प्रयोग म वृद्धि भी कुछ ही राज्यो तक सीमित रही है। यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भ म नयी प्रौद्योगिकी का तीव्र विस्तार हुआ और बाद मे चलकर इसका प्रसार धीमा रहा।

अवरोध

यह ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है कि नयी प्रयोगिकी का और अधिक प्रसार कुछ मूलभूत तत्त्वों से बाधित है, जो पर्यावरणमूलक तथा आर्थिक दोनों ही हैं। एक मूल तत्त्व देश के अधिकांश हिस्सों की मौसम दशाओं के अनुकूल अधिक उपज देने वाले किस्म के बीजों का आविष्कार है। पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के परम्परागत गेहूं वाले इलाकों में नये किस्म के गेहूं को उपजाने में कोई कठिनाई नहीं थी, क्योंकि इन क्षेत्रों की शुष्क मौसम दशाएं इसके अनुकूल थे। इसके विपरीत धान की आधारित या अपने देश में विकसित किस्म पूर्वी और दक्षिणी भारत की मानसून वाली जलवायु के बहुत उपयुक्त नहीं है, जहां पानी के अभाव और सूखा की सम्भावनाएं हैं। कुछ लोगों के अनुसार धान की विफलता का कारण स्थानीय दशाओं में व्यापक परिवर्तन है जो इसकी कृषि को प्रभावित करते हैं। धान के सम्बन्ध में एक प्रमुख समस्या टी० एन० आर्ट० जैसे पूर्व की किस्मों के साथ दुर्भाग्यपूर्ण अनुभव रहा है जो कीटों के आक्रमण के प्रति संवेदनशील थे। नयी किस्में, जो एक प्रकार के कीटों का प्रतिरोध करती हैं, अन्य प्रकार के कीटों के आक्रमण के प्रति संवेदनशील पायी गयी हैं। इसके अतिरिक्त बीज-प्रकारों की ऊंची उत्पत्ति-दर किसान को भ्रमित कर देती है, क्योंकि वह बीज के प्रकारों में परिवर्तन के अनुरूप अपनी फसल के ढांचे को समायोजित करने का प्रयास करता है और प्रायः यह उसे हतोत्साहित करता है, यहां तक कि वह अपनी पुरानी किस्मों को वापस हो जाता है। कुछ मिलाकर धान की नयी किस्मों ने नालायुक्त सिंचित ऊपरी इलाकों में रबी फसल के रूप में बोने पर अच्छा किया है, लेकिन चूंकि ऐसे इलाकों का अनुपात बहुत ही कम है, अतः धान के क्षेत्र, उत्पत्ति और उपज पर हरित क्रांति का प्रभाव अल्प और सीमित रहेगा। दलहन और तेलहन के सम्बन्ध में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। जब तक इन सभी के, विशेषतः धान के, उपयुक्त किस्मों का विकास नहीं होता, तब तक दीर्घकाल में भी भारत की हरित क्रांति की सीमित सम्भाव्यता बनी रहेगी और इस स्थिति में इस प्रवृत्ति को क्रांति कहना संदेहात्मक है। इसके साथ ही साथ हमें यह भी ध्यान देना होगा कि गेहूं की अधिक उपज देने वाले किस्मों की सफलता ने इन शक्तियों को प्रेरित किया जिन्होंने अन्य वस्तुओं के समान किस्मों की आवश्यकता को सबल किया है जिसके फलस्वरूप इंडियन काउंसिल ऑफ एग्रिकल्चरल रिसर्च को इस क्षेत्र में शोध हेतु उच्च प्राथमिकता देने के लिए बाध्य होना पड़ा है।

अन्य पर्यावरण-पक्ष का सम्बन्ध जल-प्रबन्ध से है। अनुभव से यह पता चला है कि आवश्यक मात्रा में समय पर जल की उपलब्धता नयी प्रौद्योगिकी की आधार-शिला है। इसके लिए अति वृद्धि वाले क्षेत्रों में पर्याप्त नालियों की व्यवस्था तथा अल्प वृद्धि वाले इलाकों में सिंचाई हेतु जल की निश्चित आपूर्ति की आवश्यकता होगी। नयी प्रौद्योगिकी की प्रारम्भिक सफलता का एक महत्त्वपूर्ण कारण इस तथ्य में निहित है कि सर्वप्रथम इसे निश्चित सिंचाई वाले क्षेत्रों में ही लागू किया गया। देश के अनेक क्षेत्रों में अधिक उपज

देने वाले किस्म के गेहूं की उत्पत्ति दर में महत्त्वपूर्ण वृद्धि नहीं होने के कारण अपर्याप्त सिंचाई सुविधाएं ही हैं। कुल कृषित क्षेत्र में सफल सिंचित क्षेत्र का अनुपात 1965-66 में 20 प्रतिशत तथा जो 1975-76 में बढ़कर 25 प्रतिशत हो गया। खाद्यान्नों के लिए तत्सम्बन्धी आंकड़े 21 प्रतिशत और 27 प्रतिशत हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि सरकारी तौर पर वर्गीकृत सिंचित क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण प्रतिशत असिंचित भूमि से बेहतर नहीं है जो जल के प्रमुख स्रोत के रूप में वर्षा पर निर्भर है। निस्सन्देह सिंचाई सुविधाएं बढ़ती जा रही हैं और सरकार पंचवर्षीय योजनाओं पर अधिकाधिक जोर दे रही है, किन्तु विस्तार हेतु सम्भावनाएं सीमित हैं। अधिक आसानी से उपलब्ध जल-संसाधन के एक बड़े भाग का दोहन पहले ही हो चुका है। अतः सिंचित क्षेत्र का और अधिक विस्तार धीमा और खर्चीला होगा। प्रदत्त सतही और जमीन के अन्दर के जल की उपलब्धता के आधार पर यह पता चलता है कि अनेक क्षेत्रों को सिंचाई से वंचित रहना पड़ा है। इस सदर्भ में अब सरकार ने नदी घाटियों को जोड़ने के इरादे से जल साधनों के विकास हेतु दीर्घकालीन योजना बनायी है। लेकिन, इस महत्त्वाकांक्षी एवं अधिक खर्चीले कार्यक्रम का लाभ किसानों तक पहुंचने में अनेक दशाब्दियां लगेंगी। बाढ़ और नालियों की तंगी से ग्रसित एक बड़े क्षेत्र (अनुमानतः 40 मिलियन हेक्टेयर) के सदर्भ में जब तक इन क्षेत्रों के लिए बीज के उपयुक्त किस्मों का विकास नहीं हो जाता तब तक इनमें नयी प्रौद्योगिकी हेतु आदर्श दशा की व्यवस्था नहीं होगी। परम्परागत बीजों की अपेक्षा अधिक उपज देने वाले किस्म के बीज सूखा, बाढ़ और कीटों से हुई क्षति के प्रति अधिक प्रवण हैं।

आर्थिक अवरोध आवश्यक रूप से पूंजी दुर्लभ अर्थ-व्यवस्था में नयी प्रौद्योगिकी की पूंजी-बहुल प्रकृति से उत्पन्न होते हैं जहां लघु और गरीब किसानों का बाहुल्य है। उर्वरक, कीटनाशक औषधियां तथा पम्प जैसी आवश्यक अदा (Inputs) अधिकांश विनिर्मित हैं और अधिक खर्चीली भी। पर्यावरण सम्बन्धी दशाएं पूरी करने वाले इलाकों में भी बहुत से किसान अपने कोष से आवश्यक पूंजी की व्यवस्था नहीं कर सकते। फलतः उनमें से कुछ नयी प्रौद्योगिकी को अपनाते ही नहीं और अपनाते भी हैं तो आंशिक रूप में, आंशिक इस अर्थ में कि तकनीकी दृष्टि से अनुकूलतम की अपेक्षा प्रयुक्त अदा की मात्रा कम होती है जिसके कारण इस अवरोध की अनुपस्थिति में जो उत्पत्ति स्तर प्राप्त होता उससे बहुत निम्न उपज-दर प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त नयी प्रौद्योगिकी के प्रसार में उर्वरक की सीमित उपलब्धता एक अन्य बाधा रही है, उर्वरक की मांग इसकी पूर्ति से प्राय बहुत अधिक रही है। देश के अधिकांश भागों में उर्वरक का अनुशंसित मात्रा की अपेक्षा कम पाया गया है। नेशनल काउंसिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च के एक अध्ययन (1974) के अनुसार नेत्रजन उर्वरक का औसत प्रयोग धान और गेहूं के लिए क्रमश 40 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर था, जो इन फसलों की अनुशंसित मात्रा धान के लिए 150-450 किलोग्राम और गेहूं के लिए 90 270 किलोग्राम से बहुत अधिक निम्न है। अन्य प्रकार के उर्वरकों का उपयोग स्तर तो और भी निम्न है। कुछ

शोधार्थियों ने नयी प्रौद्योगिकी के व्यापक प्रयोग को रोकने के लिए निम्न आय वाले लोगों द्वारा खाद्यान्न की अपर्याप्त मांग के महत्त्व को बताया है। लेकिन भारत जैसे देश के संदर्भ में उनके दावे में अधिक ताकत नहीं है, खासकर गैर-हरित क्रांति क्षेत्रों में लघु एवं सीमांत कृषकों द्वारा उपजाये गये खाद्यान्नों का एक बहुत बड़ा हिस्सा आत्म-उपभोग में ही खप जाता है।

कृषकों की पूंजीगत कठिनाइयों का समाधान सरकार या बैंक साख-सुविधाओं तथा अन्य अदा के प्रावधान द्वारा कर सकती है। फिर भी सिंचाई, उर्वरक तथा अन्य अदा के प्रावधान पर सरकार द्वारा निरन्तर जोर देने के बावजूद साधनों की तंग स्थिति के कारण यह वांछित सीमा तक हासिल नहीं हो सका है। सीमित विकासात्मक कोष पर अन्य क्षेत्रों की प्रतियोगी मांग के कारण इन सुविधाओं तथा अन्य संरचनात्मक सुविधाओं (सभी अपने आप में पूंजी-बहुल है, यथा, सड़क, गोदाम, विपणन शेड इत्यादि) के प्रावधान हेतु आवश्यक साधन को अलग नहीं किया जा सकता। अगर ये सारी सुविधाएं प्रदत्त हैं, तो भी साख सहित अदा के प्रावधान तथा आधारभूत संरचनात्मक सुविधाओं के विकास में सरकारी प्रयास सीमित क्षेत्रों में ही केन्द्रित रहा है। यह साठ के प्रारम्भिक दशक में अपनाये गये दृष्टिकोण के अनुकूल रहा है जब गहरा कृषि विकास कार्यक्रम (आई० ए० डी० पी०) कृषि विकास हेतु सम्भावना युक्त चुने हुए जिलों में लागू किया गया। गहरी कृषि के विकास की दिशा में इस अग्रणी प्रयास ने आवश्यक संगठन एवं संरचना का निर्माण किया था जो इन अधिकांश जिलों में हरित क्रांति की चमत्कारिक सफलता का एक प्रमुख कारण था। उपेक्षित एवं पिछड़े इलाकों में भी इस तरह की सुविधाओं के विकास हेतु अब प्रयास हो रहा है ताकि एक या दो दशाब्दियों में इस समस्या का समाधान किया जा सके।

प्रभाव

हरित क्रांति के प्रभाव पर कुछ शब्द कहना आवश्यक है। प्रारम्भ में मैं यह कहना चाहूंगा कि भारत जैसे देश में कुछ चुने हुए जिलों के अध्ययन के आधार पर हरित क्रांति के प्रभाव के बारे में सामान्यीकरण का प्रतिपादन करते समय किसी भी व्यक्ति को अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता है, जहां परिस्थितियों में बहुत व्यापक परिवर्तन होते रहते हैं। इसमें संदेह नहीं है कि नयी प्रौद्योगिकी अपनाने वाले खेतों की उपज और उत्पत्ति-स्तर बहुत अधिक बढ़ गया है। फिर भी हरित क्रांति के अन्तर्गत सीमित क्षेत्र के कारण कृषि उत्पादों अथवा खाद्यान्नों के भी कुल राष्ट्रीय उत्पादन में इसी तरह की लहर की उम्मीद करना व्यर्थ है। परन्तु, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि नयी प्रौद्योगिकी के फलस्वरूप ही खाद्यान्नों का उत्पादन-स्तर 1964-65 में 89 मिलियन टन से बढ़कर 1978-79 में 131 मिलियन टन हो गया। और विशेषतः गेहूं का उत्पादन इसी अवधि में 12 मिलियन टन से बढ़कर 35 मिलियन टन हो गया। इसने भारत को 1975 के बाद की अवधि में खाद्यान्नों में न्यूनाधिक रूप से आत्मनिर्भर बना दिया। इससे आम तौर पर

अनाज विशेषत गेहू के पक्ष में कृषि उत्पादन की संरचना मे परिवर्तन हुआ। दलहन और तेलहन जैसी फसलें इस प्रौद्योगिकी परिवर्तन से अछूती रही है। खाद्यान्नो की वृद्धि कुछ हद तक अन्य फसलो की कीमत पर हुई है। हरित क्रांति ने उन क्षेत्रों मे तीव्रतर ग्रामीण विकास हेतु आधार भी प्रस्तुत किया है जहा इसके प्रभाव का अनुभव किया गया। चूंकि कृषि ग्रामीण क्षेत्रो की प्रमुख आर्थिक क्रियाशीलता है, अत कृषि उत्पादकता में वृद्धि निश्चयात्मक रूप मे समग्र ग्रामीण विकास की एक महत्वपूर्ण शर्त है न कि एक मात्र शर्त।

रोजगार पर इसके अनुकूल प्रभाव की उम्मीद करने के कई कारण है। सावधानीपूर्वक पौधो की रोपनी, सोहनी, पानी पटाना, दवनी करना जैसे सुधरे खेती के तौर तरीको से श्रम की माग में वृद्धि होने की प्रवृत्ति रहती है। फिर भी, हरित क्रांति यत्रीकरण से सम्बद्ध है जिसका प्रतिकूल प्रभाव पड सकता है। यद्यपि यत्रीकरण नयी प्रौद्योगिकी का एक आवश्यक अग नही है फिर भी निश्चित तौर पर इससे यत्रीकरण को सुविधा मिलती है। इससे बहु फसल उपजाना सम्भव और लाभप्रद दोनो ही होता है। कुछ परिस्थितियो के अन्तर्गत एक फसल काटने और दूसरी फसल बोने के बीच समय-अतराल इतना अल्प होता है कि अगर उपज अधिकतम करना है तो खेत को बोने के लायक तैयार करने के उद्देश्य से ट्रैक्टर का इस्तेमाल करना जरूरी हो जाता है। अत नयी प्रौद्योगिकी की प्रबल प्रवृत्ति यत्रीकरण से सम्बद्ध होने की है, यह तभी सभव है जब किसानो के पास इतना साधन हो कि वे उच्चतर मुनाफा-दर को प्राप्त करने के लिए प्रारम्भिक विनियोग कर सकें। इसके अतिरिक्त उपज बढाने की गतिशील सम्भावना स्वत यत्रीकरण को प्रोत्साहित कर सकती है। जहा तक रोजगार पर यत्रीकरण के प्रभाव का प्रश्न है इससे सम्बन्धित जो थोडे अध्ययन हुए हैं वे किसी न किसी रूप मे निर्णयात्मक साक्ष्य प्रस्तुत नही कर पाते।

आय के वितरण (अन्तर्क्षेत्रीय एव अन्तर्वैयक्तिक) पर हरित क्रांति के प्रभाव ने अधिक विवाद उत्पन्न कर दिया है। अखिल भारतीय अध्ययन के अभाव मे सीमित क्षेत्र के अनुभव पर आधारित निष्कर्षों का सामान्यीकरण कर दिया गया है। चूंकि हरित क्रांति पूरे देश मे नही फैली है, अत स्पष्ट है कि अन्तर्क्षेत्रीय आय के वितरण तथा कृषि-उत्पादन पर इसके प्रभावो का अधिक विस्तारपूर्वक विश्लेषण करने की आवश्यकता है। अन्य क्षेत्रो की तुलना मे ऐसे क्षेत्र निश्चित रूप से आगे बढे हैं जहा की भौतिक एव आर्थिक दशाए नयी प्रौद्योगिकी के अनुकूल हैं। सरकार ने प्रारम्भ मे खाद्यान्न-उत्पादन के राष्ट्रीय स्तर को जल्दीबाजी मे ऊचा उठाने के ख्याल से विकासोन्मुख एव सम्पन्न क्षेत्रो मे ही अपने प्रयास को केन्द्रित रखा जिसके फलस्वरूप क्षेत्रीय विषमता बढने लगी। उत्पादकता म अन्तर्राज्य विभिन्नता, जो पहले मामूली थी, प्रखर हो गयी। अब चूंकि तीव्र दुर्लभता की अवधि समाप्त हो चुकी अत सिंचाई के विकास, अदाओ (Inputs) की व्यवस्था, साख तथा विपणन सुविधाओ का सृजन करके पिछडे क्षेत्र के विकास हेतु विशेष प्रयास किया रहा है।

अन्तर्वैयक्तिक वितरण पर प्रभावों के संबंध में अनेक विचारणीय पहलू हैं। प्रथम प्रश्न यह है कि क्या नयी प्रौद्योगिकी का प्रसार सभी आकार और वर्गों के जोतों में समान रूप से हुआ है। देश के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न अनुभवों के कारण अनुभवजन्य अध्ययन कोई निर्णयात्मक प्रमाण नहीं प्रस्तुत कर पाते। अतः प्रायिकता के आधार पर ही कोई व्यक्ति इस विषय का परीक्षण कर सकता है। फिर भी बड़े किसान अपनी अच्छी वित्तीय स्थिति के कारण मौका से फायदा उठाने की स्थिति में हैं। वे नयी प्रौद्योगिकी की जोखिम वहन करने की भी अच्छी स्थिति में हैं। साख की वितरण प्रणाली, अदा और परामर्श देने की व्यवस्था गरीब किसानों के बजाय धनी किसानों के पक्ष में है। परिणामतः विगत वर्षों में सरकार ने लघु कृषक विकास अभिकरण (एस० एफ० डी० ए०) जैसी विशेष परियोजनाओं का निर्माणकर लघु कृषकों की सहायता करने का प्रयास किया है लेकिन अनेक कारणों से सफलता उम्मीद से कम रही है। द्वितीय, अगर बड़े और छोटे सभी तरह के किसान नयी प्रौद्योगिकी अपना लेते हैं तो लाभ के वितरण के असमान हो जाने की सम्भावना है। अगर नयी प्रौद्योगिकी प्रमाप के प्रति तटस्थ रहे तो भी जोतों के असमान वितरण की दी हुई परिस्थिति में ऐसा होना स्वाभाविक है। फिर भी, जैसा कि कुछ अध्ययनों के द्वारा प्रभावित करने का प्रयास किया गया है (जिसका अन्य लोगों ने विरोध किया है) कि अगर नयी प्रौद्योगिकी प्रमाप की मितव्ययताओं को प्रदर्शित करती है तो विषमताएं और अधिक प्रखर हो जाती हैं। अगर इसे स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी लघु कृषकों को इससे कोई क्षति नहीं होती है। यह गरीब और धनी के बीच बढ़ती हुई खाई की सुपरिचित समस्या का ही एक अंग है और इसमें गरीबों का भी विकास होगा, हालांकि उस हद तक नहीं जिस हद तक धनियों का विकास होगा। अब एक तीसरा प्रश्न यह उठ सकता है कि क्या हरित क्रान्ति से किसी वर्ग की आर्थिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है, तो कैसे और किस हद तक। कुछ लोगों का कहना है कि काश्तकारी के अन्तर्गत पूर्व में पट्टे पर दी गयी भूमि को वृहत् कृषकों द्वारा कृषि-योग्य बनाने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति से लघु कृषक बुरी तरह प्रभावित हुए हैं, जो नयी प्रौद्योगिकी की उच्चतर उत्पत्ति से सम्भव हो सका है। यह भी तर्क दिया जाता है कि नयी प्रौद्योगिकी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वृहत् कृषकों द्वारा जमीन के अन्दर के जल के पूर्वक्रम प्रयोग द्वारा भू-स्तरी तनाव में वृद्धि होती है और फलतः उपज में ह्रास होता है। फिर भी ऐसी धारणाओं से सम्बन्धित पर्याप्त अनुभव-जन्य प्रमाण नहीं है। सरकार की अनुकूल नीतियों द्वारा अनेक प्रतिकूल वितरण-सम्बन्धी प्रभाव पर ध्यान दिया गया है या उन्हें न्यूनतम करने का प्रयास किया गया है। चूंकि भारत खाद्य-अभाव की आवर्ती समस्या से ग्रसित है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सरकार ने यह हितकर सोचा है कि पहले उत्पादन बढ़ाने पर प्रमुख रूप से ध्यान केन्द्रित किया जाय और बाद में वितरण की समस्या पर विचार किया जाय।

तालिका 15 1 अधिक उपज वाली किस्मों के अन्तर्गत क्षेत्र
(मिलियन हेक्टेयर)

वर्ष	धान	गेहूं	मक्का	ज्वार	बाजरा	कुल
1966-67	0 88	0 54	0 21	0 19	0.06	1 [redacted]
1967-68	1 78	2 94	0 29	0 60	0 42	6 03
1968 69	2 60	4 80	0 40	0 70	0 70	9 20
1969-70	4 25	5 00	0 42	0 55	1 14	11 36
1970-71	5 59	6 48	0 46	0 80	2-05	15 38
1971 72	7.41	7 86	0 44	0 69	1 77	18 17
1972 73	8 11	10 00	0 61	0 87	2 50	22-09
1973 74	10 00	11 00	0 90	1 10	3 00	26 00
1974 75	11 20	11 20	1 10	1 30	2 50	27 30
1975 76	12 40	13 50	1 10	2 00	2.90	31 90
1976 77	13 30	14 50	1 10	2.40	2 30	33 [redacted]
1977 [redacted]	15 60	15 50	1 20	3 10	2 60	38 00
1978 79	16 90	16 10	2 10	3 10	2 90	41 10
1979-80	13 60	13 50	2 00	3 00	3 10	35 20
1980-81	20 20	17 80	2 00	4 30	3 70	48 00

स्रोत विभिन्न वर्षों का आर्थिक सर्वेक्षण भारत सरकार।

तालिका 15 2 फसल उगाये गये कुल क्षेत्र में अधिक उपजवाली
किस्मों के अन्तर्गत क्षेत्र का प्रतिशत

वर्ष	धान	गेहूं	खाद्यान्न
1966-67	2 47	4 11	1 67
1970-71	14 87	35 53	12 37
1975 76	31 41	66 01	24 89
1979-80	34 [redacted]	61 48	28 41

तालिका 15 5 भारत मे खाद्यान्न उत्पादन
(मिलियन टन)

वर्ष	धान	गेहू	अन्य खाद्यान्न	कुल खाद्यान्न	कुल दलहन	कुल खाद्यान्न
1961 62	35 7	12 1	23 1	70 9	11 8	82 7
1962 63	33 2	10 8	24 6	68 6	11 6	80 2
1963 64	37 0	9 9	23 [illegible]	70 5	10 1	80 6
1964 65	39 3	12 3	25 4	76 9	12 4	89 4
1965 66	30 6	10 4	21 4	62 4	9 9	77 3
1966 67	30 4	11 4	24 1	65 9	8 3	74 2
1967 68	37 6	16 5	28 8	83 0	12 1	95 1
1968 69	39 8	18 7	25 2	83 6	10 4	94 0
1969 70	40 4	20 1	27 3	87 8	11 7	99 5
1970 71	42 2	23 8	30 5	96 6	11 8	108 4
1971 72	43 1	26 4	24 6	94 1	11 1	105 2
1972 73	39 2	24 7	23 1	87 1	9 9	97 0
1973 74	44 1	21 8	28 8	94 7	10 0	104 7
1974 75	39 6	24 1	26 1	89 8	10 0	99 8
1975 76	48 7	28 9	30 4	108 0	13 0	121 0
1976-77	41 9	29 0	28 9	99 8	11 4	111 2
1977 78	52 7	31 3	29 8	113 8	11 8	125 6
1978 79	53 7	35 5	30 4	119 7	12 2	131 9
1979 80	42 2	31 6	26 7	100 5	8 4	108 9
1980 81	56 5	36 0	29 0	121 5	11 5	133 0

अध्याय 16

लोक उद्यमों के कुशल कार्य निष्पादन हेतु क्रिया-विधि तथा प्रमुख विषय-वस्तु

मूलाधार एव उद्देश्य

1 लोक उद्यमों के पूर्व इतिहास तथा मुख्य उद्देश्यों जिसमे कि ये आयोजित, वित्त-प्रदत्त और संचालित होती है, यथा अंध संरचना एव अनाभकारी आर्थिक अस्तित्व के रूप मे अदृश्य नजर आता है।

2 आवश्यकता है कि प्रबंधन के दोनो समीपस्थ तथा दीर्घकालीन उद्देश्यों को स्पष्ट किया जाय और इसकी प्राप्ति के लिए स्थूल प्रणाली को सामर्थ्य के अधीनस्थ होना चाहिए। स्थूल उद्देश्य की आवश्यकता की पूर्ति के लिए सूक्ष्म स्तरीय उद्देश्य का रहना आवश्यक प्रतीत होता है। आर्थिक एव व्यावसायिक उद्देश्यों का स्पष्ट वर्णन होना आवश्यक है तथा प्रत्याशित लाभांश का परिमाणात्मक उल्लेख यथार्थ शब्दों में होना चाहिए। इन सारे उद्देश्यों को सामाजिक उद्देश्यों से पृथक् होना चाहिए तथा बाद में इससे सम्बन्धित पूर्व रिवाजों का भी स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए। इन सभी अधिकृत उद्देश्यों को संसद में श्वेत पत्र के रूप में उपस्थापित करना चाहिए। वैसे इस प्रकार की प्रक्रिया बहुत दिनों से लम्बित है।

3 उद्यमों का संचालन इस प्रकार होना चाहिए कि भविष्य में विनियोग हेतु बचत हो सके। इसका अर्थ है कि लोक उद्यमों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के मूल्य से लाभ प्राप्त होना चाहिए। सभी पंचवर्षीय योजनाओं में इन बातों का स्पष्ट संकेत है कि पूंजी विनियोग पर ब्याज तथा अवमूल्यन के अलावा इन उद्यमों से सरकार को शुद्ध लाभांश की प्राप्ति होनी चाहिए। अब इसे परिभाषित करने की आवश्यकता है कि प्रत्येक उद्योग में लाभांश की उचित दर यदि वार्षिक आधार पर इसकी संभावना नहीं हो, तो तीन या पांच वर्षों के लिए निर्धारित हो।

परियोजना प्रबंधन

4 लोक उद्यमों में अनुभव बताता है कि समय एव मूल्य द्वारा परियोजनाएं परस्पर सम्बद्ध हैं, जिसका अन्य उद्योगों पर भी सम्बद्ध प्रभाव है। यह प्रभाव लोक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्रों में भी परिलक्षित होता है, जिससे उत्पादित वस्तुओं एव सेवाओं की ऊंची कीमतें आपस में बढ़ती जाती हैं।

5 परियोजना प्रबंधन सावधानीपूर्वक चयनित उपयुक्त दल को ही सौंपना चाहिए

तथा परियोजना से बाहर, सरकार से स्वतन्त्र, विशेषज्ञ दलों द्वारा पर्यवेक्षित होते रहना चाहिए। सामान्यवादी प्रशासकों को, जो परियोजनाओं के कार्यों में त्रुटियां होने पर चाहे उत्तेजित होते हों, चाहे उदासीन रहते हों, अपनी धारणा की उत्तरदायित्वपूर्ण प्रक्रिया को अनिवार्य रूप से प्रकट करना चाहिए।

6 विशेषज्ञ दल द्वारा खण्ड 5 में दिये गये सुझाव योजना आयोग में वैधानिक रूप से स्थापित होना चाहिए। इस परियोजना पर्यवेक्षण इकाई (Project Monitoring Unit) का स्वतन्त्र सचिवालय होना चाहिए तथा उसे योजना आयोग के सदस्य (उद्योग) एवं सम्बद्ध प्रशासकीय मन्त्रालय को निश्चित आवधिक विवरण प्रस्तुत करना चाहिए, और समस्याओं एवं उपलब्धियों की समीक्षाओं के लिए बहुधा बैठक होनी चाहिए।

7. व्यक्तिगत लोक उद्यमों की समस्याओं को समझने के लिए जिससे उन्हें स्वस्थ आधार मिल सके, सरकार कटिबद्ध हो प्रयास कर रही है। पूर्व में ही एक उच्च-स्तरीय दल इस हेतु कार्य-रत है, तथा कुछ उद्योगों पर प्रतिवेदन प्रस्तुत कर चुकी है। यदि सरकार उद्यमों की प्राथमिकता सूची बनाकर उनका अध्ययन अनिवार्य रूप से करावे, तो इससे उद्यमों के स्वस्थ पुनर्स्थापना की प्रक्रिया को गति मिलेगी। इन उद्योगों के चयन में दो प्रमुख माप-दण्डों को लिया जा सकता है—(क) क्षमता का उपयोग स्तर, उदाहरणार्थ—वे जो अपने मुख्य उत्पादों में 50 प्रतिशत या इससे कम दर की क्षमता पर लगातार तीन वर्षों से परिचालित हो रहे हों, और (ख) वे जिनकी पूंजी समाप्त हो चुकी है, वे जो लगातार पांच वर्षों से घाटा दिखलाते आ रहे हैं या वे जिनकी पांच वर्षों से पूंजी की औसत प्रत्याय दर (Average rate of return) पांच प्रतिशत या उससे कम हो।

8 उच्च-स्तरीय समिति को निर्यात लाभ बढ़ाने की दिशा में लोक उद्यमों की क्षमताओं एवं निष्पादन की गहराई से जांच करनी चाहिए। यह लाभोन्मुख भुगतान सन्तुलन को देखते हुए आवश्यक है। इस प्रकार का अध्ययन निर्यातोन्मुख उद्यमों के सम्भावित निर्यात लक्ष्यों को भी तय करना चाहिए।

9 मन्त्रिमण्डल में वाह्य परियोजनाओं के लिए एक मन्त्री की आवश्यकता है जो विदेशों में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के व्यापार की विस्तृत रूप से देखभाल कर सकें तथा मन्त्रिमण्डलीय स्तर पर विदेशों के परियोजना-अधिकारियों को प्रबल समर्थन प्रदान कर सके। यह मध्य-पूर्व की हमारी परियोजना गतिविधियों के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है जहां हमारे उद्यम उलझते जा रहे हैं।

10 समर्थ प्रबन्धकीय एवं तकनीकी संवर्ग तथा प्रशिक्षित श्रम-शक्ति के बिना भारत में लोक-क्षेत्र के प्रतिष्ठानों के वृहत आकार और विनियोग की महती राशि एक बुनियादी समस्या के रूप में रही है। निजी उपक्रमों के विपरीत, जो सामान्यतः जैविक रूप से पनपे हैं, लोक प्रतिष्ठानों का वृहत आकार में कृत्रिम जन्म हुआ है। अपर्याप्त बाजारों, वर्तमान सुविधाओं की व्यवस्था हेतु साधनों की अपर्याप्तता, कार्यरत इकाइयों के समुचित कार्य-कलाप के अभाव के बावजूद राजनीतिक दबाव से क्षमता का विस्तार

17 लोक क्षेत्र के विभिन्न उद्योगों के सम्बन्ध में दशाओं और दृष्टिकोणों का समान्यीकरण करने और निर्देशों को तैयार करने के प्रयास में लोक निगम-ब्यूरो की आशा से समष्टिगत तत्त्वों एवं एकरूपता के लिए आवश्यक बात आझल हो गई है। ब्यूरो और लोक उद्यमों के लिए सबसे अच्छी बात तो यह होगी कि ब्यूरो का कार्यक्षेत्र आकड़ों और सांख्यिकी के संग्रह तथा लोक उद्यमों के सेवा विभाग के रूप में क्षेत्रानुसार विभिन्न उद्यमों की क्रियाओं के समन्वय करने तक सीमित रहना चाहिए।

सरकार-उद्यम सम्बन्ध

18 एक मुद्दा जो, यदि अस्सी वाले दशक के प्रारम्भ में सुलझाया नहीं गया तो अधिक चिन्तनीय बन जायेगा। इसका लगाव एक तरफ मंत्री और सचिव तथा दूसरी तरफ लोक उद्यम के मुख्य कार्यपालक के बीच अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध से है।

19 बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स में सरकार द्वारा मनोनीत व्यक्ति को सरकार और बोर्ड के बीच सम्पर्क बनाये रखना था। व्यवहार में यह उद्देश्य विकृत हो गया है और इसके विपरीत एक ऐसी विधि बन गयी है जिसके द्वारा लोक क्षेत्र निगमों के मुख्य कार्यपालक संयुक्त सचिव/उप-सचिव द्वारा नियन्त्रित हो रहे हैं। अतः कम्पनी के प्रबन्ध के मामलों में इन पदाधिकारियों की प्रभावकारिता एवं उपादेयता सदिग्ध हो गयी है। वे संयुक्त मुख्य कार्यपालक के उत्तरदायित्व के एक अंश को भी सम्भाले बगैर लोक उद्यमों के मालिक बन गये हैं। बोर्ड की सभाओं में या बाहर वे जो कहते हैं या तर्क देते हैं वह सब सरकार के प्रतिनिधि के रूप में जो अतत स्वामी या राष्ट्रपति के विशेषाधिकार के साथ होता है। मुख्य कार्यपालकों को इच्छानुसार मंत्री से मिलना कठिन होता है। मंत्रियों को व्यस्त रहने के कारण मुख्य कार्यपालकों से मिलने के लिए कम समय होता है और वे अधिकांशतः अपने सचिव और संयुक्त सचिव के निर्देश तथा परामर्श पर ही भरोसा करते हैं।

इस समस्या के समाधान के लिए लोक उद्यमों की बोर्डों में संयुक्त सचिवों और उपसचिवों के सरकारी मनोनयन की प्रथा समाप्ति कर देनी है। मुख्य कार्यपालक ही सरकार और बोर्ड के बीच प्रमुख और प्रत्यक्ष कड़ी के रूप में होना चाहिए जो निदेशक मंडल के समक्ष नीति-सम्बन्धी विषयों पर सरकार के विचारों का प्रतिनिधित्व करे। यदि सरकार यह अनुभव करती है कि कोई खास मुख्य कार्यपालक इसके योग्य नहीं है, तो उसकी जगह अधिक सक्षम व्यक्ति रखा जा सकता है। उच्च स्तर पर या किसी भी स्तर पर उद्यमों में अदक्षता की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

लेखादेयता एवं कार्यकुशलता

20 चूंकि कर्मचारियों की नियुक्ति, प्रोन्नति इत्यादि के सम्बन्ध में सरकार द्वारा तथा संसद में प्रश्न उठाये जाते हैं, अतः लोक-दायित्व के चलते स्वायत्तता की आत्मा का हनन होता है।

21 लेखादेयता कोई निरपेक्ष धारणा नहीं है। यह राज्य के सप्रभु अधिकार की अभिव्यक्ति अथवा उसका प्रदर्शन नहीं है। लेखादेयता साध्य की प्राप्ति का साधन है और इसी रूप में इसका कार्यान्वयन और पालन होना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि लोक उद्यमों का प्रबन्ध कुशलतापूर्वक किया जाना चाहिए और राज्य के उन सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक होना चाहिए जिनके लिए उनका सृजन किया गया है। यह देखना राज्य का उत्तरदायित्व है कि कहां तक लोक उद्यम इन उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक है। इससे सरकार और लोक उद्यमों के पारस्परिक लेखादेयता की धारणा को समर्थन मिलता है।

22 किसी भी न्यायसंगत पद्धति की प्रथम आवश्यक शर्त, जिसके अन्तर्गत लोक उद्यम राज्य के प्रति उत्तरदायी है, यह है कि उन मानदण्डों को स्पष्टत परिभाषित किया जाना चाहिए जिनके आधार पर वे इस तरह से उत्तरदायी हैं। यह भी महत्वपूर्ण है कि ये आदर्श सख्या में अधिक नहीं होने चाहिए और प्रतिदिन के प्रबन्ध में बाधक नहीं होने चाहिए और न ऐसे होने चाहिए कि निजी प्रतिष्ठानों के साथ प्रतियोगिता में वे लोक उद्यमों पर अनुचित नियत्रण करें। लेखादेयता स्वायत्तता के साथ सगत होनी चाहिए जो लोक उद्यमों के कुशल क्रिया-कलाप के लिए आवश्यक है।

मूल्य निर्धारण

23 लोक उद्यमों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की मूल्य-नीति में स्फीति और वितरण सम्बन्धी परिणामों पर ध्यान देना चाहिए। यह उन्हें लोक वित्त के दायित्वों के भार से दूर हटाने के लिए आवश्यक है जिसे सामान्य बजट द्वारा न्यायोचित रूप में वहन किया जाना चाहिए। कर-प्रणाली की तरह वस्तुओं और सेवाओं के लिए भेदात्मक मूल्य कुछ हद तक उपभोक्ताओं के ऊपर सापेक्षिक भार में प्रगतिशीलता की मात्रा की सामान्य आवश्यकताओं को प्रतिबिम्बित करता है। लेकिन एक बिन्दु के बाद इस दृष्टिकोण के फलस्वरूप लोक उद्यमों के कुल राजस्व में कमी आती है और वित्तीय कठिनाईयां बनती हैं।

24 दूसरी तरफ कुछ वृहत्तम लोकक्षेत्र इकाइयां आकार में अथवा शोध एव उच्च प्रौद्योगिकी के रूप में अपने विकास की व्यवस्था करने में अक्षम रही हैं। लोक क्षेत्रों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के कीमत-निर्धारण में इस कमी के फलस्वरूप केन्द्र और राज्य सरकारों की बजटों पर भार बढ़ गया है।

25 'कॉस्ट प्लस' फॉर्मूला वास्तविक अकुशलता लागत का आश्वासन देता है। अत लागत पर आधारित उत्पादन का न्यायसंगत कुशल-स्तर मूल्य निर्धारण के लिए निर्देशक नियम होना चाहिए।

26 जब तक वर्तमान दृश्य-विधान परिवर्तित नहीं होता, तब तक निजी क्षेत्र यह निर्धारित करे कि किस किस्म की उपभोग-वस्तुएं कितनी मात्रा में पैदा की जाय और किस कीमत पर उनका विपणन हो। लोक क्षेत्र जब कि निराशापूर्वक शासित मूल्या

पर बुनियादी तथा मध्यवर्त्ती उत्पादों की व्यवस्था करते हैं, उन उद्देश्यों और तरीकों की परवाह नहीं करते जिनके लिए उनका उपयोग होता है।

कार्मिक

27 लोक उद्यम मुख्य पदों पर उपयुक्त कार्मिक आकर्षित करने में विफल रहे हैं और शीर्षस्थ पदों की रिक्तियां भरने के लिए जिस पद्धति का विकास किया गया है उसे कार्यरूप में नहीं लाया गया है। इसके साथ ही साथ रिक्तियों को भरने के लिए दी गयी अनुशंसाओं पर धीमी गति से निर्णय लेने के कारण समस्या और भयानक हो गयी है तथा अनेक बार यह देखने को मिलता है कि वरीय स्तर के बहुत सारे पद खाली पड़े रह जाते हैं। अध्यक्ष की नियुक्ति सहित लोक उद्यम चयन परिषद के संगठन में सुधार लाने की आवश्यकता है। इस पार्षद की सदस्यता के लिए लोक एवं निजी क्षेत्र के पेशेवर उच्च प्रबन्धकों को वरीयता देनी चाहिए और अध्यक्ष एक ऐसा प्रख्यात एवं स्वतंत्र व्यक्ति होना चाहिए जो किसी तरह के दबाव से प्रभावित नहीं हो तथा जिसे औद्योगिक प्रतिष्ठानों को चलाने का अनुभव और ज्ञान हो।

28 शीर्षस्थ एवं उसके नीचे के कार्यपालकों को प्रशिक्षण में रखने की प्रथा त्याग देनी चाहिए।

29. सरकार के सचिव के बजाय प्रभारी मंत्री को उनका गोपनीय एवं समीक्षा प्रतिवेदन लिखना चाहिए। इससे मंत्री के साथ अच्छे सम्पर्क विकसित होने में मदद मिलेगी और मंत्री उद्यम पर नियंत्रण रखने के कार्य में अधिक अभिरुचि लेंगे।

30 लोक क्षेत्र में स्थिर जीवन-वृत्ति के लिए प्रेरणा स्वरूप प्रबंधकों को उद्यम के अन्दर या अन्य उद्यमों में प्रोन्नति के पर्याप्त अवसरों की व्यवस्था होनी चाहिए। एक कोठरी में कठोरतापूर्वक बन्द रहने से लोक क्षेत्र में योग्य प्रबंधकों एवं टेक्निशियनों के लिए प्रोन्नति के दरवाजे बुरी तरह सीमित हो जाते हैं। जहां शीघ्र एवं व्यापक प्रोन्नति अवसर प्रबन्धकों को सुदृढ़ प्रेरणा प्रदान करते है, वहां उच्च रोजगार की सुरक्षा के अच्छे परिणाम नहीं मिले है।

31 अन्य वर्गों को असुरक्षा के बावजूद लोक उद्यमों में कार्मिक के लिए पूर्ण सुरक्षा की व्यवस्था, जो समाज के एक बहुत ही अल्प वर्ग का निर्माण करते हैं, दीर्घकाल तक जारी नहीं रखी जा सकती। जहां एक तरफ ऐसे लोग हैं जिन्हें दूसरे शाम खाना मिलने की उम्मीद नहीं है, वहां संगठित क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्तियों को रोजगार की सुरक्षा है, वार्षिक बढ़ोत्तरी, महंगाई भत्ता और उद्यम में घाटा होने पर भी बोनस मिलता है।

32 सेवामुक्त मुख्य कार्यपालक को, जिसे उद्यम को संचालित करने के लिए प्रौढ़ अनुभव प्राप्त है, दो वर्षों के लिए परामर्शदाता के रूप में रख लिया जाना चाहिए।

पारिश्रमिक

33 केन्द्र सरकार तथा अन्य क्षेत्रों के शीर्षस्थ कार्यपालकों के पारिश्रमिक की

तुलना करने पर इनके बीच व्याप्त व्यापक अन्तर का पता चलता है। निम्न वेतन (जो एक अवमन्दक का काम करता है) के अतिरिक्त लाक उद्यमों में समुचित प्रेरणाओं का अभाव है। बिक्री या उत्पादन के आधार पर उत्पादन प्रेरणा भुगतान तथा लाभ-सहभागिता प्रेरणा लोक उद्यम के प्रबन्धकों म निरन्तर उत्साह बनाये रखने के लिए लागू की जानी चाहिए, ताकि निष्पादन का स्तर ऊपर उठ सके। निजी क्षेत्र मे जहा कहीं ऐसी स्कीमों को लागू करने का प्रयास किया गया है वहा अच्छे परिणाम मिले हैं और कोई कारण नहीं कि लोक उद्यमों को उसी अनुरूप प्रबन्धकों को प्रेरित नहीं करना चाहिए।

34 निजी एव लोक क्षेत्र दोनों प्रकार के उद्यमों के लिए एक औद्योगिक वेतन का आधार स्थापित किया जा सकता है, जो दोनों क्षेत्रों म तुलनीय रोजगार म नियुक्त प्रबन्धकीय कार्मिक की आय की वर्तमान चौड़ी खाई को पाटने के लिए उपायों का सुझाव प्रदान कर सके।

35 औद्योगिक सम्बन्ध का सुधारना अथवा कम उत्पत्ति की औचित्यपूर्ण सह-भागिता के लिए यह वर्तमान प्रथा सहायक नहीं है जिसमें औद्योगिक विवादों का तब तक घसीटा जाता है जब तक किसी राजनीतिक हस्तक्षेप से समझौता नहीं हो पाता। श्रम और प्रबन्ध के दावे के मूल्यांकन हेतु एक अधिक वस्तुनिष्ठ प्रणाली की आवश्यकता है। ऐसी मशीनरी का अपनाना और पारिश्रमिक एव उत्पादकता के बीच स्पष्ट सम्बन्ध पर जार देना समतावादी व्यवस्था के विपरीत नहीं है जिसे हम प्राप्त करने की आकांक्षा रखते हैं। राष्ट्रीय उत्पत्ति में तीव्र वृद्धि के बिना न तो आय की विषमता का उन्मूलन हो सकता है और न रोजगार के अवसरों म सुधार हो सकता है। और दूसरी बात यह है कि तदनुकूल लागत के बिना कोई लाभ न कभी होता है और न हुआ है। स्पष्टत, इन दोनों के राजनीतिक एव सामाजिक पक्ष हैं जिनका अनुभव और सामना किया जाना चाहिए। योजनाकरण के सामान्य परिवेश में ऐसे परिवर्तन के बिना लोक क्षेत्र में न्यून निष्पादन बना रहेगा।

निगरानी दृष्टिकोण

36 लोकक्षेत्र में निगरानी का सम्प्रत्यय रूप हो चुका है। लोकक्षेत्र के प्रबन्धकों के नैतिक बल पर इसका परिणाम विध्वंसक रहा है। सुझाव यह नहीं है कि निजी क्षेत्र की अपेक्षा लोकक्षेत्र म अधिक दोषी व्यक्ति छोड़ दिया जाना चाहिए। परन्तु लोक एव निजी क्षेत्रों के लिए विभेदात्मक प्रक्रिया अपनाने का कोई कारण नहीं है। किसी भी हालत में आवश्यकता इस बात की है कि सम्बन्धित उद्यम के मुख्य कार्यपालक की स्वीकृति के बिना, सामान्य फौजदारी सम्बन्धी जांच-पड़ताल जो सभी नागरिकों पर लागू होती है, कभी नहीं की जाए। आवश्यकता पड़ने पर सम्बद्ध अधिनियम में इस हेतु संशोधन किया जाना चाहिए।

औद्योगिक सम्बन्ध

37 प्रबन्ध की सफलता एवं सगति सरकार के दृष्टिकोण पर निर्भर करेगी कि वह श्रम सम्बन्धी मामलों में प्रबन्ध को प्राप्त विशेषाधिकार राजनीतिक दबाव में आकर हड़पने के लिए प्रलोभित न हो जाए और राजनीतिक नेताओं के हस्तक्षेप को समर्थन नहीं दे। सरकार को चाहिए कि वह श्रमिक सघों और उनके नेताओं को स्पष्ट कर दे कि समुदाय तथा उपभोक्ताओं के हित श्रम के हितों पर हमेशा हावी रहेंगे।

38 कोई भी व्यक्ति ऐसा अनुभव नहीं कर सकता कि विगत वर्षों के दौरान अनेक लोक उद्यमों में बढ़े हुए रोजगार के एक बड़े हिस्से के लिए सीमांत उत्पादकता लगभग शून्य है, अतिरिक्त रोजगार में आवश्यक रूप में राष्ट्रीय उत्पत्ति में वृद्धि नहीं हुई है। ऐसे रोजगार विस्तार को त्याग देना चाहिए।

39 इन उद्यमों में श्रम के तीव्र सगठन के साथ तथा राजनीतिक एवं गैर-राजनीतिक साधनों तक श्रमिक सघों की पहुंच के चलते कार्मिक प्रबंध एक प्रमुख चिन्तनीय विषय बन गया है। ऐसी बात नहीं है कि निजी क्षेत्र की इकाइयों को इन समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता, फिर भी लोक उद्यमों के लिए इस सयोग के अन्दर उपलब्ध स्वतन्त्रता की मात्रा बहुत अधिक सीमित होती है। और, यह उनके निष्पादन स्तर को बहुत अधिक घटा देता है।

40 श्रमिकों के हड़ताल-सम्बन्धी मौलिक अधिकार को चुनौती दिये बिना प्रतिष्ठान के परिसर में या एक या उससे अधिक सस्थानों के सयुक्त औद्योगिक कम्प्लेक्स के तीन किलोमीटर के दायरे में विरोध सभा, प्रदर्शन तथा सघों की अन्य सामूहिक क्रियाओं पर कानून के द्वारा प्रतिबंध होना चाहिए। यह औद्योगिक सम्बन्ध की कटुता या तीव्रता को नियन्त्रित करने में सहायक होगा।

41 सभी औद्योगिक प्रतिष्ठानों में श्रम-प्रबंध के सयुक्त उत्तरदायित्व का सिद्धांत स्वीकार किया जाना चाहिए। इस क्षेत्र में केन्द्र सरकार द्वारा शीघ्र वैधानिक कार्रवाई हेतु सुदृढ़ आधार है। जो कदम उठाये जा सकते हैं वे इस प्रकार हैं

(अ) प्रस्तावित अधिनियम का क्षेत्र जम्मू एवं कश्मीर सहित सम्पूर्ण भारत होना चाहिए तथा इसे निजी एवं लोकक्षेत्र के जनोपयोगी एवं व्यावसायिक प्रतिष्ठानों में लागू किया जाना चाहिए। इस हेतु अधिनियम की अनुसूची में उल्लेख होना चाहिए तथा बाद में समय समय पर इसमें अतिरिक्त नाम भी जोड़े जा सकते हैं।

(ब) अधिनियम में यह उल्लिखित होना चाहिए कि विभिन्न उद्योगों में श्रमिकों एवं ऑपरेटरों के किस व्यवहार से औद्योगिक अनुशासन का उल्लंघन होता है।

(स) प्लान्ट और मशीनरी के रख-रखाव सम्बन्धी समझौते में प्रबंध के साथ श्रमिक सघ भी एक पक्ष होना चाहिए और यह उन्हें मान्यता प्रदान करने के लिए वैधानिक शर्त होनी चाहिए तथा श्रमिक सघ को अपने सदस्यों के आचरण के लिए उत्तरदायी होना चाहिए। इस प्रावधान का अनुकूल प्रभाव श्रमिक सघ

के नेताओं पर पड़ेगा, जो अभी अनेक स्पष्ट कारणों से औद्योगिक संस्थानों के समुचित संचालन में कोई साझेदारी की भूमिका नहीं निभाते।

(द) अधिनियम में उल्लंघन के लिए दण्ड का भी उल्लेख होना चाहिए।

ऐसे दृष्टिकोण के लिए विभिन्न दृष्टि से विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है। इस तथ्य का अनुकूल सौम्य प्रभाव पड़ेगा कि केन्द्र सरकार इस मसले पर विधान द्वारा अनुशासन लाने के उद्देश्य से बड़े-बड़े कदम उठाने के लिए दृढ़ संकल्प है। इस बात पर बल देने की आवश्यकता नहीं कि इस्पात प्लान्टों तथा विद्युत् उत्पादक प्लान्टों सहित अन्य वृहत औद्योगिक संस्थानों की सुरक्षा होनी चाहिए और इनके तोड़-फोड़ से बचाने के लिए ऐसी हर तरह की सतर्कता बरतनी चाहिए। केन्द्र सरकार द्वारा पारित अधिनियम से ही इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। (इसके विस्तृत विवरण हेतु डॉकुमेन्टेशन सेन्टर का 'सम रीसेन्ट रिफ्लैक्शन्स ऑन करेन्ट इकोनॉमिक सिचुएशन' शीर्षक प्रकाशन देखें, डॉ० राज० के० निगम, जून 1981)

42 लोक उद्यमों में श्रम-प्रबन्ध में बहुत अधिक राजनीतिक हस्तक्षेप है। केन्द्र एवं राज्य सरकारें, सम्बद्ध मन्त्रालय एवं मन्त्री, संसद एवं राज्य व्यवस्थापिकाएं, राज्य सरकार का श्रम-विभाग, केन्द्रीय श्रम मन्त्रालय, लोक उद्यम ब्यूरो जैसे विभिन्न अभिकरण—सभी श्रम विषय पर चिन्तित प्रतीत होते हैं। इनकी चिन्ता स्वभावतः उन्हें हड़ताल-तालाबन्दी और कभी-कभी व्यक्तिगत शिकायतों के मामलों में घसीट लाती है। श्रम-प्रबन्ध विवादों से सम्बन्धित छोटी-छोटी घटनाओं को राजनीतिक हित में बढ़ा-चढ़ा कर कहा जाता है और इस सम्बन्ध में संसद में प्रश्न पूछे जाते हैं जिससे प्रबन्ध का नैतिक पतन होता है। इससे अनुशासनहीनता, आज्ञाकारिता का अभाव तथा श्रम द्वारा प्रबन्ध पर छींटा-कशी या कीचड़ उछालने के लिए प्रेरणा मिलती है। श्रमिक संघों का मुकाबला करने के लिए लोक क्षेत्र के प्रबन्धकों को सरकार और अपने मन्त्रालय का पूर्ण समर्थन प्राप्त होना चाहिए। इसके बिना वह अपनी विरोधी शक्तियों के समक्ष खड़ा नहीं हो सकता।

नया औद्योगिक नीति प्रस्ताव

43 भारतीय लोक क्षेत्र के संस्थापक-शिल्पी पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने, जिन्हें योजनाकरण के तीस वर्ष पूरे होने के अवसर पर 'एन्टीज फॉर द पब्लिक सेक्टर' शीर्षक डॉकुमेन्टेशन सेन्टर का प्रकाशन समर्पित है, 1948 और 1956 के ऐतिहासिक औद्योगिक नीति प्रस्तावों को देश की जनता के समक्ष रखा, जो राष्ट्रीय विकास में लोक क्षेत्र की भूमिका की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। आज, तीस वर्ष बाद, समय आ गया है कि हम अपने राष्ट्र की मिश्रित अर्थव्यवस्था के चरित्र एवं मानदण्डों की पुनः परीक्षा करें और फिर एक बार स्पष्ट शब्दों में सबल ढंग से लोक क्षेत्र की बुनियादी और महान भूमिका का उल्लेख करें और एक नये औद्योगिक नीति प्रस्ताव द्वारा इन क्षेत्रों के सापेक्षिक एवं अनुरूप महत्त्व को बिना किसी अस्पष्टता के रेखांकित करें।

प्रधान मंत्री ने इस तरह का प्रस्ताव संसद में रखा जिसे बाद में चलकर अपना लिया गया। 1977 और 1980 में औद्योगिक नीति पर मंत्री की ओर से दिए गए वक्तव्य सम्बद्ध हैं तथा उस उद्देश्य से संयुक्त हैं जो भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्व क्षेत्र की भूमिका और उपयुक्तता के बारे में विकसित हुई है।

एक संसदीय प्रस्ताव को एतत् सम्बन्धित भ्रान्तियाँ दूर करनी चाहिए तथा गतिशील परिवेश में निजी एवं लोक क्षेत्र के कार्यक्षेत्र को पुनः परिभाषित करना चाहिए।

अध्याय 17

परिमाणात्मक आर्थिक विश्लेपण मे अर्थमिति का प्रयोग

अर्थमिति के मूल तत्त्व

विस्तृत रूप मे कहा जाय तो अर्थमिति अर्थशास्त्र मे मापन की समस्या की विवेचन करती है। इसम मापन समस्याए शामिल हैं, यथा, रोजगार, बेरोजगार, अर्द्धरोजगार, आय, उत्पत्ति तथा अन्य महत्त्वपूर्ण कारक, कीमत तथा उत्पत्ति निर्देशाक का निर्माण आदि की माप सम्बन्धी समस्याए। इसके अतिरिक्त व्यावहारिक भविष्यवाणी, मौसम विश्लेपण तथा समायोजन, व्यावहारिक माग तथा लागत विश्लेपण, व्यावहारिक अर्थमिति, मॉडल निर्माण, सर्वेक्षण तथा काल श्रेणी आकडा के विश्लेपण से सम्बन्धित समस्याए हैं।

मॉडल की धारणा और प्रयोग

आम आदमी के लिए मॉडल की धारणा बहुत ही तकनीकी प्रतीत होती है। सच पूछा जाय तो मॉडल की धारणा नहीं बल्कि उसका नाम ही तकनीकी है। हम लोग इस पारिभाषिक शब्द से सरलतापूर्वक मुक्ति पा सकते हैं और इसे एक परिकल्पना की सज्ञा दे सकते हैं। मॉडल का मूल विचार बहुत ही सरल और सुपरिचित है। शब्दावली अवरोधपरक नही होनी चाहिए।

हम सभी यह जानते हैं कि किसी वस्तु की कीमत मे परिवर्तन होने से उसकी माग परिवर्तित होती है। अगर कीमत बढती है तो माग की मात्रा घटती है। लेकिन, दो कारको के बीच पारस्परिक ठोस रूप को हम नही जानते। अगर हम इस सम्बन्ध के निश्चित रूप को जान पाएगे तो हम कीमत परिवर्तन के फलस्वरूप माग मे होने वाले परिवर्तन की सीमा निर्धारित कर सकते हैं। हम एक परिकल्पित मूल्य स्तर के अनुरूप माग स्तर की भी भविष्यवाणी कर सकते हैं। अर्थमिति मे विभिन्न आर्थिक कारको के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे मे वैकल्पिक परिकल्पनाए करते हैं। इन्हें ही मॉडल्स कहा जाता है। हम मॉडल के अज्ञात मापदण्डो का आकलन करने के लिए (माग की कीमत लोच इत्यादि की तरह) वास्तविक आकडो का प्रयोग करते हैं और यह जाच करते हैं कि कहा तक मॉडल वास्तविक अवलोकन के अनुरूप है।

वस्तुत अर्थमिति विशेपज्ञ का कार्य एक भौतिकी-शास्त्रीय, रसायन शास्त्रीय या किसी अन्य वैज्ञानिक के समान है जो विभिन्न सम्बन्ध पता लगाने मे सलग्न रहता है। एक वैज्ञानिक इस अर्थ मे विशेपाधिकार प्राप्त इस स्थिति मे होता है कि वह अपनी

प्रयोगशाला में नियमित प्रयोग करने तथा अपने आंकड़े सृजित करने में सक्षम है। एक अर्थशास्त्री ऐसा नहीं कर सकता है। उसे तो आकड़ा संग्रह अभिकरणों द्वारा प्रस्तुत आंकड़ों के आधार पर ही कार्य करना पड़ता है। यह स्वाभाविक है कि उसके परिणाम प्रयुक्त आंकड़ों के गुण द्वारा प्रभावित होते हैं। एक वैज्ञानिक नियन्त्रित दशाओं के अन्दर अपने प्रयोगों की पुनरावृत्ति कर सकता है। एक अर्थशास्त्री ऐसा नहीं कर सकता है।

अर्थशास्त्री का काम मानव व्यवहार की व्याख्या करना है जो न केवल आर्थिक तत्वों पर बल्कि समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक तथा अन्य संस्थागत तत्वों पर भी निर्भर करता है। इनमें से अनेक तत्वों की परिमाणात्मक माप नहीं हो सकती।

बहु समीकरण मॉडल्स

अगर हम एक विशेष बाजार या पूरी अर्थव्यवस्था के ढांचे की व्याख्या करते हैं, तो अधिक जटिल बहु-समीकरण मॉडल आवश्यक हो जाता है। ये समीकरण परस्पर आश्रित होते हैं और उनके समाधान अर्थव्यवस्था की विभिन्न आर्थिक शक्तियों की अंत क्रिया का प्रावधान करते हैं। हम इन समीकरणों का प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों के कार्य-कलाप पर सरकारी नीति के विशेष साधनों (ब्याज दर, कर, सरकारी व्यय का आकार इत्यादि) में परिवर्तन के प्रभावों के मूल्यांकन हेतु कर सकते हैं। नीति-अनुरूप इस संदर्भ में बहुत लाभप्रद होते हैं और वैकल्पिक नीतियों के मूल्यांकन में सहायतापूर्ण निर्देशन प्रदान करते हैं।

वस्तुत, एक बहु-समीकरण मॉडल के द्वारा अर्थव्यवस्था के ढांचे को प्रदर्शित करने का विचार मूलत प्रोफेसर जे॰ टिनबरजेन द्वारा प्रस्तुत किया गया। जिसे अर्थशास्त्र में प्रथम नोबेल पुरस्कार मिला था। उन्होंने इस धारणा का प्रयोग तीस की अवधि में व्यापार चक्र के सिद्धान्तों की आनुभविक जाच करने हेतु किया था। उन्होंने पश्चिमी यूरोप की विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं के लिए मॉडल्स का निर्माण किया। बाद में अनेक देशों के द्वारा इस दृष्टिकोण का बृहत रूप अपनाया गया और प्रोफेसर एल॰ आर॰ क्लाइन (1980 में अर्थशास्त्र पर नोबेल पुरस्कार विजेता) के नेतृत्व में अर्थव्यवस्था-व्यापी मॉडल्स निर्मित किए गए हैं। इस कार्य में 1960 वाले दशक के प्रारम्भिक वर्षों के बाद शीघ्रगामी एलेक्ट्रोनिक कम्प्यूटर्स के अभ्युदय से बहुत अधिक सुविधा मिली है। अनेक भारतीय शोधार्थियों ने जिन्होंने क्लाइन के निर्देशन में अपना पी॰एच॰ डी॰ शोध-प्रबन्ध पूरा किया है, भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों और पूरी अर्थव्यवस्था के लिए भी मॉडल्स का निर्माण किया है।

बृहत अर्थव्यवस्था व्यापी मॉडल्स की सीमाए

एक बृहत अर्थव्यवस्था-व्यापी मॉडल्स की अपनी सीमाए हैं। अत्यधिक जटिलता से समीकरणों की बहुत अधिक संख्या हो जाती है। उदाहरणार्थ, कनाडा, आस्ट्रेलिया और जापान के मॉडल्स में दो हजार से भी अधिक समीकरण होते हैं। सामान्यत अगर

हम त्रैमासिक आंकड़ों का प्रयोग करते हैं, तो हमारे पास पचास या साठ समय-श्रेणी अवलोकन हो जाते हैं। क्या पचास या साठ अवलोकनों से दो हजार समीकरणों का प्राक्कलन अर्थपूर्ण है। उत्तर स्पष्टत नकारात्मक ही होगा। इस संदर्भ में अन्य अनेक सैद्धान्तिक समस्याएं हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। स्वतन्त्रता की नकारात्मक डिग्री सम्बन्धी कठिनाई का एक स्पष्ट निदान है। हम मॉडल के आकार को 40 या 50 समीकरण तक सीमित कर सकते हैं लेकिन समष्टिपरक मॉडल को गुहीय तथा क्षेत्रीय अध्ययन से व्युत्पन्न सूचनाओं के साथ समन्वित कर सकते हैं। वस्तुत इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए कुछ समय पूर्व हम लोगों ने दिल्ली स्कूल ऑफ इकनॉमिक्स में भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए एक बहुक्षेत्रीय मॉडल के निर्माण का यह कार्य प्रारम्भ करने का प्रयास किया, लेकिन हम लोगों का अधिकांश समय श्रेणी-बद्ध आंकड़ों की प्रारम्भिक जांच-पड़ताल में बीत गया। इधर हाल में नेशनल कौंसिल ऑफ एप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नई दिल्ली, भी इस दिशा में संलग्न रहा है और उन लोगों ने कुछ प्रारम्भिक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया है।

आंकड़ों की सीमाएं

मॉडल निर्माण प्रक्रिया में अन्तर्निहित मेथडलॉजिकल मुद्दों पर सविस्तार विचार किए बगैर मैं यह जोर देना चाहूंगा कि अच्छे गुण वाले आंकड़े इस प्रयास में एक पूर्व शर्त हैं। इण्डियन इकनॉमेट्रिक सोसायटी ने इस समस्या का अनुभव किया और दीर्घकालीन योजना, दिनानुदिन नीति निर्णयों हेतु सरकार की आंकड़े सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा भारतीय अर्थव्यवस्था के आंकड़े सम्बन्धी आधार को सुदृढ़ करने के लिए उपाय बनाने के उद्देश्य से विचारार्थ विभिन्न संगोष्ठियों का आयोजन किया। जुलाई 1972 में दिल्ली में आयोजित प्रथम विचार संगोष्ठी ने कृषि, व्यापार और औद्योगिक सांख्यिकी की कमियों का विवेचन किया। दूसरी संगोष्ठी का आयोजन पूना में 1973 में सरकारी सांख्यिकी की कमियों को पूरा करने के लिए आंकड़ा संग्रह हेतु सेम्पुल सर्वे के प्रयोग पर विचार करने हेतु किया गया था। इस क्रम में तीसरी संगोष्ठी ने सामाजिक एवं आर्थिक नियोजन हेतु जन सांख्यिकी पर विशेष जोर देने के उद्देश्य से जनसंख्या सांख्यिकी पर विचार किया था। चौथी और पांचवीं विचार-संगोष्ठियां क्रमश बंगलोर और मद्रास में आयोजित की गई थीं। बंगलोर में स्वास्थ्य एवं शिक्षा सांख्यिकी पर और मद्रास में 'असंगठित क्षेत्र की सांख्यिकी पर जोर दिया गया था। अंतिम संगोष्ठी 1981 की जनगणना के परिणामों पर विचार करने हेतु तथा प्रयोगकर्ताओं को आंकड़े उपलब्ध कराने के उद्देश्य से नई दिल्ली में आयोजित की गई थी।

आंकड़ों के आपूर्तिकर्ता एवं प्रयोगकर्ता के बीच विभाजन दुर्भाग्यपूर्ण है। यह केवल अच्छे सांख्यिकी आंकड़ों की प्रगति में बाधा उपस्थित कर सकता है। अगर आंकड़े संग्रह करने वाली एजेंसियों को ऐसे आंकड़े प्रस्तुत करना है जो समयानुसार, सही और व्यक्तिक्रम विहीन हो, तो उन्हें इस बात की अच्छी जानकारी होनी चाहिए कि आंकड़ों

के प्रयोग किन उद्देश्यों से हो रहे हैं। यथार्थता, समयानुकूलता तथा त्रुटियों को निरपेक्ष अर्थ में नहीं सोचा जा सकता।

उन्हें समस्या विशेष के समाधान हेतु आकड़ो के उपयोग के साथ सम्बन्धित करना आवश्यक है। अर्थात् पूर्णत आकड़ा जैसी कोई चीज नहीं होती। वेरस नामक जर्मन चिकित्सक ने सोलहवीं शताब्दी में (जब यूरोप का अधिकांश भाग राक्षसों एवं डायनों के भय से जकड़ा हुआ था) यह गणना की कि पृथ्वी पर 74,05, 926 राक्षस निवास करते हैं। अधिकांश लोगों ने विश्वास किया कि यह सख्या सही है क्योंकि उनके अनुसार राक्षस एक वास्तविकता थे और वेरस एक विद्वान व्यक्ति था। कहानी एक ऐसे व्यक्ति के बारे में कही जाती है जिसने एक ग्राम नदी की उम्र के बारे में पूछने पर जवाब दिया कि यह 30,00,004 वर्षों पुरानी है। जब उससे ऐसा पूछा कि आप एक ऐसा यथार्थ आकड़ा किस तरह प्रदान कर सकते हैं, तो उनका उत्तर था कि चार वर्ष पूर्व उस नदी की आयु तीन मिलियन वर्ष बताई गई थी।

जब सांख्यिकी-शास्त्री को विश्लेषण करने का मौका मिलता है, तभी वह सग्रह किए गए आकड़ों की विश्वसनीयता और कमी को जानेगा और अपेक्षित सुधार की सीमा और प्रकृति का निर्णय लेगा।

यह सुझाव नहीं दिया जाता है कि सरकार के सांख्यिकी कार्यालय शोध-पत्रों एवं प्रबन्धों को प्रस्तुत करने हेतु शोध विभागों के रूप में परिणत हो जाए। वांछित उद्देश्य की पूर्ति तो अन्य रूप में भी हो सकती है। प्रथमतया, सांख्यिकी कार्यालयों को निम्नलिखित कार्य सम्पादित करने हेतु आवश्यक विशेषज्ञता प्राप्त होनी चाहिए।

1 आकड़ा-सग्रह करने के तरीकों पर शोध करना (प्रयुक्त सारणी का प्रकार, प्रयुक्त किए जाने वाले अभिकरण, गलती का पता लगाने और परिणाम सम्पादित करने में उपयोगी सहायक सूचना)।

2 न्यूनतम सांख्यिकी विश्लेषण करना जो भविष्यवाणियों में अन्तर्निहित अशुद्धियों को आकने तथा नीति निर्णय हेतु उपलब्ध आकड़ों की पर्याप्तता का मूल्याकन में सहायक हो। शोध का रूप आकड़ा सुधार, अर्थपूर्ण सक्षिप्त निर्देशांकों का सग्रह, अदा-प्रदा सांख्यिकी इत्यादि उन्मुखी होना चाहिए जो सरकार के दिन-प्रतिदिन लिए जाने वाले निर्णयों के सदर्भ में उपयोगी हो।

3 बाह्य विशेषज्ञों के साथ आवधिक सभाओं का आयोजन, शोध उद्देश्यों के लिए आकड़ों की आवश्यकता का पता लगाना, दीर्घकालीन योजना हेतु उपयोगी शोधों को प्रोत्साहित करना, सांख्यिकी कार्यालयों के वर्तमान तथा भावी कार्यों के सम्बन्ध में अपने सुझावों को प्रकाशित करना।

प्रोफेसर सी० आर० राव ने हाल में यह सुझाव दिया है कि सरकार के सांख्यिकी-शास्त्रियों के दायित्व बढ़ गए हैं। उन्होंने सरकारी सांख्यिकी कार्यालयों के कार्य में बाह्य अभिकरणों की सम्पन्नता के महत्व पर बल दिया तथा इसकी प्राप्ति हेतु कुछ उपायों का सुझाव प्रस्तुत किया। सरकारी सांख्यिकी दफ्तरों में कार्य करने के लिए शोध सस्थानों

जिसे आसानी से पढ़ा जा सके। वस्तुतः डा०ह्वी०एम० दान्डेकर की अभूतपूर्व अध्यक्षता मे नेशनल सैम्पुल सर्वे ने इस तरह के कुछ कदम उठाये हैं। 25वें राउण्ड के बाद से एन० एम० एस० आकडो का कम्प्यूटर कर लिया गया है लेकिन, जैसा कि मैं समझता हू, प्रयुक्त कम्प्युटरी भाषा ऐसी है कि टेपो को दूसरे कम्प्युटर्स पढ़ नही सकते। 25वें राउण्ड के पूर्व एन० एम० एस० आकडो की हालत दयनीय थी। फर्महोल्डो की स्थिति म अनुसूचियो का सग्रह भारतीय साख्यिकी सस्थान, कलकत्ता मे किया जाता है। दुर्भाग्यवश उद्योगो के वार्षिक सर्वेक्षण तथा अन्य अभिकरणो द्वारा सग्रहीत आकडो की स्थिति ऐसी ही है। सम्भवत भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा सग्रहीत आकडो की व्यवस्था सर्वोत्तम है तथा वे आसानी से पहुच के अन्दर हैं।

अन्य प्रश्न जो मेरे लिए अधिक चिन्ता का विषय है वह यह है कि क्यो इतने अधिक राष्ट्रीय व्यय के बाद सरकार द्वारा सग्रहीत आकडो को प्रारम्भ से आवश्यक रूप से गोपनीय कह दिया जाता है? मैं यह समझ सकता हू कि कुछ खास कारणो से फर्मो तथा परिवारो का परिचय उद्घाटित नही किया जाय और अत इसे 'गुप्त' रखा जाना चाहिए। आवश्यकता पडने पर गोपनीयता बरतने के तरीको का पता लगाया जा सकता है। सच तो यह है कि बातें इसके विपरीत होती हैं। उदाहरणार्थ, योजना आयोग के प्रत्येक एकाकी प्रपत्र पर 'गुप्त' का चिह्न अकित रहता है, भले ही उसका सारांश कुछ भी क्यो न हो। यद्यपि सरकारी अभिकरणो द्वारा बडे पैमाने पर पहले आकडे सग्रहीत रहते हैं, फिर भी शोधकर्ताओं को अपने प्रयासो मे सूचना प्राप्त करने म बडी कठिनाई का सामना करना पडता है।

अगर हम ईमानदारीपूर्वक यह चाहते हैं कि अर्थशास्त्री एकातवास के बजाय (जैसा कभी-कभी यह व्यग्यपूर्ण कहा जाता है) आर्थिक विकास एव नियोजन की वर्तमान वास्तविक समस्याओ पर अपना समय दें तो हमे उनको आवश्यक सूचना (आकडे) प्रदान करना होगा, न कि उन्हे अपने प्रयास से आकडे सग्रह करने के लिए छोड देना होगा। हमे इस साहसिक कार्य म अन्य देशो के अनुभवो से भी लाभान्वित होने का प्रयत्न करना चाहिए।

अध्याय 18

मुद्रा-स्फीति परिस्थितियों में विकासशील देशों के योजनाबद्ध विकास की संभावनाएं

मुद्रास्फीति का प्रभाव किसी विकासशील देश की आर्थिक प्रगति पर क्या-क्या हो सकता है और क्यों हो सकता है—इस प्रश्न को लेकर आर्थिक जगत में बहुत कुछ कहा और सुना जा चुका है। प्रारंभिक चर्चाओं और परिचर्चाओं में प्रायः इस बात पर अधिक बल दिया गया है कि मुद्रास्फीति किसी सीमा तक ऐसे देशों के लिए विकास की गति को बढ़ाने में टानिक का काम करती है। मुद्रास्फीति के हिमायतियों का प्रायः ही यह तर्क रहा है कि मुद्रास्फीति से आय का वितरण समाज के ऐसे वर्गों के हित में होता है जो पहले से ही अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न होते हैं, इनमें बचत की शक्ति अधिक होती है। मुद्रास्फीति ऐसे लोगों की बचत की शक्ति को और अधिक बढ़ा देती है जिसके कारण राष्ट्रीय बचत की दर में वृद्धि हो जाती है, फलस्वरूप निवेश की दरें बढ़ जाती हैं। यदि मान लिया जाय कि अल्पकाल में पूंजी-उत्पादन अनुपात में परिवर्तन संभव नहीं होता या यह परिवर्तन बहुत सीमित होता है तो निश्चय ही राष्ट्रीय आय में वृद्धि की गति इससे तेज हो जायगी और फलस्वरूप राष्ट्र की आर्थिक प्रगति उत्तरोत्तर तेजी से बढ़ती जाएगी। इसलिए इन देशों में एक सीमा तक मुद्रास्फीतिक परिस्थितियों को मान्यता और आदर ही दिया गया। यही कारण है कि घाटे की अर्थव्यवस्था को इन देशों में काफी प्रधानता भी दी गई।

पिछले बीस-पचीस वर्षों के अनुभवों के आधार पर अब अर्थशास्त्रियों का एक ऐसा दल सामने आया है जो उपरोक्त मान्यता को विवेकहीन बताने लगा है। इनका कहना है कि किसी भी देश के लिए कीमतों का स्थायित्व विकास दर में तेजी लाने की दृष्टि से अधिक प्रभावी होता है। अपने देश के सम्बन्ध में आइए हम इस विवेचन की जांच करें।

भारत जैसे देश के लिए इतना ही आवश्यक नहीं है की देश में बचत और पूंजी निर्माण की दर में वृद्धि हो। अधिक पूंजी-निर्माण से देश अवश्य ही प्रगति करेगा ऐसा सोचना सर्वथा सत्य होगा यह आवश्यक नहीं है। प्रश्न यह भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि बचत समाज का कौन वर्ग कर रहा है और साथ-साथ किन-किन वर्गों के हाथों में पड़कर बचतें पूंजी निर्माण या निवेशों का रूप लेती जा रही हैं। बचत की दरों और निवेश की दरों में वृद्धि होने पर भी राष्ट्रीय आय की दर धीमी हो सकती है या गिर भी सकती है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर वस्तुतः बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करेगी कि समाज

के किस वर्ग को अन्ततः निवेश की क्षमता प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए, यदि हम मान लें कि बचत की दर में काफी वृद्धि होते हुए भी बचत का प्रवाह समाज के ऐसे वर्गों की ओर चला जाता है जो विलास की वस्तुओं के उत्पादन पर जोर देते हैं तो निश्चय ही एक दीर्घ अवधि में समाज के आर्थिक विकास की गति बुरी तरह से गलत रास्ते की ओर जाएगी और विकास की दर भी लम्बी अवधि में गिरने लगेगी। समाज का एक धनी वर्ग भले ही इस प्रकार के विलास का, लाभ उठा ले परन्तु विशाल सामान्य जन-समुदाय आर्थिक अधोगति की ओर ही बढ़ता दिखेगा। इसलिए यह देखना अत्यन्त आवश्यक है कि बचत दर बढ़े, परन्तु उसका प्रवाह ऐसे निवेशों की ओर हो जो वस्तुतः सम्पूर्ण देश के सम्यक् विकास के लिए कटिबद्ध हो या वे बचत के प्रवाहों को ऐसा मोड़ देने में समर्थ हो जो योजनाकारों द्वारा आवश्यक समझा जाता है।

विकासशील देशों की योजनाबद्ध ढंग से प्रगति का दायित्व मुख्यतः सरकारी अथवा लोक-क्षेत्र पर होता है। लोक-क्षेत्र (Public Sector) के लिए योजना में निर्धारित व्यय के कुशल कार्यान्वयन पर ही किसी देश की योजना की सफलता निर्भर करती है। यह क्षेत्र यदि विफल हो जाता है तो योजना की असफलता निश्चित हो जाती है, क्योंकि विकासशील देशों में योजना का ढांचा स्वतः कुछ इस प्रकार का बनता जाता है कि निजी-क्षेत्र (Private Sector) की गतिविधि बहुत कुछ लोक-क्षेत्र की गतिविधि से जुड़ी होती है। लोक-क्षेत्र के निवेशों में कमी आने पर निजी-क्षेत्र के उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ने लगता है और अन्ततः इनका निवेश भी गिरने लगता है। फलतः इनकी बचतों पर बुरा प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार अर्थव्यवस्था विपरीत प्रभावों का शिकार बनने लगती है। इस संदर्भ में आइए, देखें मुद्रास्फीति का प्रभाव योजनाबद्ध विकास पर क्यों और कैसा पड़ेगा।

पिछले कई वर्षों के मुद्रा-स्फीतिक अनुभवों से यह सिद्ध होने लगा है कि मुद्रा स्फीतिक परिस्थितियों में लोक-क्षेत्र की बचत पर काफी बुरा प्रभाव पड़ता है। लोक-क्षेत्र के दो भाग होते हैं। प्रथम, सरकारी क्षेत्र और दूसरे लोक अवलंबीय उद्यम। सरकारी-क्षेत्र में सरकारी प्रशासन का अंश आता है। लोकअवलंबीय उद्यमों में दो प्रकार के उद्यम आते हैं—प्रथम सरकारी उद्यम जिन पर लोक सभा, राज्य विधान सभाओं का नियन्त्रण होता है, और द्वितीय वे उद्यम जिन पर सरकारी नियन्त्रण अपरोक्ष रूप से होता है। इनमें प्रायः सरकारी अपरोक्ष नियन्त्रण में काम करनेवाले सभी उद्योग या निगम (Corporation) आ जाते हैं।

मुद्रा-स्फीतिक परिस्थिति में सरकारी प्रशासन अंश की आय प्रायः गिर जाती है। इसके कई कारण हैं। सरकार की आय मुख्यतः प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों पर निर्भर करती है। मुद्रास्फीति की दर जितनी ऊंची होती है सरकार की कर से उपलब्ध आय उतनी ऊंची नहीं हो पाती, क्योंकि कीमत-सम्बन्धी करों की लोच अपेक्षाकृत कम होती है। विकासशील देशों में मुद्रास्फीति का प्रभाव सबसे अधिक कृषि-सम्बन्धी उत्पादनों पर होता है। परिणामतः ऐसी अवधि में प्रायः कृषि वर्ग की आय अपेक्षाकृत अधिक होती है।

घट सकता है। कीमत के स्थायी होने पर राष्ट्रीय आय का उपयुक्त वितरण किया जा सकता है जिनके फलस्वरूप हम अपनी योजनाओं के अनुसार देश में किए जाने वाले निवेशों का सही ढाचा बनाने में समर्थ हो सकते हैं जो योजना-बद्ध विकास के लिए परमावश्यक है।

अध्याय 19

भारत में क्षेत्रीय नियोजन

"क्षेत्रीय नियोजन" शब्दावली का प्रयोग इस निबंध में अवर राष्ट्रीय स्तरों पर नियोजन के अर्थ में किया गया है।[1] इस परिभाषा में नियोजन प्रक्रिया के विकेन्द्रीकरण की कुछ मात्रा निहित है। इसका तात्पर्य यह भी है कि क्षेत्रीय नियोजन राष्ट्रीय नियोजन प्रक्रिया का एक अविच्छिन्न अंग है, जिसे राष्ट्र के भौगोलिक क्षेत्र में विभिन्न स्तरों पर समग्र राष्ट्रीय विकास के उद्देश्यों को परिवर्तित करने की एक तकनीक के रूप में समझा जाता है। इस अर्थ में क्षेत्रीय नियोजन बहु-स्तरीय नियोजन हो जाता है और यह भारत जैसे विशाल देश (क्षेत्रफल 3 3 मिलियन वर्ग किलोमीटर, जनसंख्या 658 मिलियन) के लिए विशेष रूप में उपयुक्त है।[2] संघात्मक संविधान में केन्द्र तथा राज्य सरकारों के सापेक्षिक कार्य-क्षेत्र प्राधिकार का प्रावधान है। ऐसे भी महत्त्वपूर्ण क्षेत्र हैं जिनमें राज्य सरकारों के साथ प्राधिकार के संबंध केन्द्र सरकार की सहभागिता है। इसका तात्पर्य यह है कि आर्थिक नीति के कार्यान्वयन हेतु केन्द्र एवं बहुसंख्यक राज्य सरकारों में प्रयास-समन्वय की अधिक मात्रा की आवश्यकता होगी।[3] इसके अतिरिक्त भारत की अर्थव्यवस्था मिश्रित है। फिर भी अपनी संघात्मक राजनीति प्रणाली के अन्तर्गत नियोजन के लक्ष्यों एवं साध्यों को प्राप्त करने के लिए राष्ट्र राज्यों को समझाने-बुझाने, मौद्रिक एवं राजकोषीय अस्त्रों विस्तृत नियंत्रण, वैधानिक उपाय, कार्यपालक नियमों तथा संस्थागत परिवर्तन-संबंधी संयंत्रों के एक विशाल शस्त्रागार की रूपरेखा खींच सकता है। राजनीतिक प्रशासकीय एवं आर्थिक ढांचे से सम्बन्धित ये मूलभूत तथ्य उस तौर-तरीके को समझने के लिए आवश्यक हैं जिसके अन्तर्गत देश में अवर राष्ट्रीय स्तरों पर नियोजन-प्रणाली कार्यशील होती है।

प्रारंभ में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भारत में 'आर्थिक क्षेत्रों' के आधार पर क्षेत्रीय नियोजन विद्यमान नहीं है। खासतौर पर साठ वाले दशक में अधिकांशतः

[1]संयुक्त राष्ट्र क्षेत्रीय नियोजन की परिभाषा 'अवर राष्ट्रीय विकास नियोजन' के रूप में करता है। संयुक्त राष्ट्र के प्रकाशन में प्रयुक्त एक अन्य शब्दावली 'स्थानीय एवं मध्यस्तरीय विकास' है

[2]भारत में बहु-स्तरीय नियोजन ढांचे में निम्नलिखित क्षेत्रीय स्तर सम्मिलित हैं राष्ट्र, राज्य, जिला और प्रखण्ड। राज्यों का क्षेत्र और जनसंख्या भिन्न-भिन्न है। भारत के जिला का औसत क्षेत्रफल 9000 वर्ग किलोमीटर और जनसंख्या 1 5 मिलियन है। प्रखण्ड में औसतन 100 गांव होते हैं और उनका औसत क्षेत्रफल 600 वर्ग किलोमीटर तथा आबादी 1 00 000 होती है।

[3]22 राज्य एवं 9 केन्द्र शासित क्षेत्र हैं।

अनौपचारिक माध्यमों से विकास समन्वय किया जाता है और ऐसे समन्वय में योजना आयोग की केन्द्रीय भूमिका होती है।

(ग) **पूर्वोत्तर क्षेत्र**—इस क्षेत्र के अन्तर्गत पांच राज्य तथा दो केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्र शामिल हैं, जिनमें से अधिकांश लघु प्रशासनिक इकाइयां हैं और वे इस स्थिति में नहीं हैं कि अपने आर्थिक विकास के भार को अपने कन्धों पर वहन कर सकें तथा आवश्यक वित्तीय एवं अन्य साधनों को जुटा सकें। इनमें से कुछ इकाइयों का लघु आकार भी विकासात्मक परियोजनाओं (जिनके लिए बृहत् भौगोलिक विस्तार अपेक्षित है) को सम्पादित करने में बाधा पहुंचाता है। इस प्रकार उनकी आर्थिक परस्पर-निर्भरता की वास्तविकताओं ने इन क्षेत्रों के विकास की देख-रेख करने के लिए पूर्वोत्तर परिषद् नामक एक अभिकरण के सृजन को आवश्यक बना दिया। यह अभिकरण 1971 में संसद के एक अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित कर दिया गया जो सामान्य हित के विषयों पर अंगीभूत इकाइयों को सहायता प्रदान करने वाला परामर्शदात्री निकाय है, यथा आर्थिक एवं सामाजिक नियोजन के क्षेत्र में, यातायात और सवाद-वहन सम्बन्धी अन्तर्राज्य समस्या तथा सामान्य हित की विद्युत या बाढ़-नियंत्रण परियोजनाओं से सम्बन्धित कोई विषय।

परिषद् को राज्य योजना छोड़कर एकीकृत एवं समन्वयित क्षेत्रीय योजना बनाने का आदेश प्राप्त है। इस प्रकार जहां हर व्यक्तिगत राज्य उस क्षेत्र में अपना विकास कार्यक्रम तैयार करता है, वहां पूर्वोत्तर परिषद् सहायता की अपनी पूरक योजना के द्वारा इन सब की मदद कर रहा है जो अधिकाधिक क्षेत्रीय संयोजन की व्यवस्था करने का प्रयास करती है।

इस क्षेत्रीय योजना के अन्तर्गत विकसित अन्तर्राज्य क्षेत्रीय परियोजनाओं में निम्नांकित शामिल हैं, यथा, विद्युत् विकास की परियोजनाएं, मानव शक्ति-विकास के लिए संस्थाएं (अभियंत्रण, प्रौद्योगिकी, औषधि इत्यादि); क्षेत्रीय कृषि बीज विकास फार्म, क्षेत्रीय पशु नस्ल फार्म, क्षेत्रीय पशु आहार विकास फार्म, क्षेत्रीय मत्स्य विकास फार्म इत्यादि।

योजना आयोग और केन्द्रीय गृह-मंत्रालय पूर्वोत्तर परिषद् के कार्य-कलाप से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध हैं। प्रथम योजना निर्माण के तकनीकी कार्यों को निर्देशित करता है और योजना कोष का आवंटन करता है, जबकि अंतिम सामान्य प्रशासनिक नियंत्रण रखता है।

(घ) **आर्थिक क्षेत्र**—साधन समाप्ति की सम्भावनाओं पर चेतावनी, वातावरण प्रदूषण जैसी कुछ नयी प्रौद्योगिकी की सम्भाव्य विनाशकारिता से उत्पन्न चेतावनियों के फलस्वरूप विश्वसरहित विकास की धारणा पर आधारित क्षेत्रीय नियोजन के प्रति एक नया दृष्टिकोण अर्थात् 'इको-डेवलपमेण्ट' विकसित हुआ है। विगत वर्षों में योजना आयोग के अन्तर्गत स्थापित अनेक टास्क-फोर्सों तथा वर्किंग ग्रुपों ने इस चिन्तन को

योगदान प्रदान किया है।[6] विशिष्ट 'आर्थिक क्षेत्रों' के प्राकृतिक एवं मानवीय साधनों के प्रबन्ध हेतु नियोजन पर जोर देने वाले कार्यक्रमों में दो अन्तर्राज्य क्षेत्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, यथा, पश्चिमी घाट क्षेत्र तथा हिमालय क्षेत्र। इन क्षेत्रों में विशेष केन्द्रीय सहायता कार्यक्रम लागू है जो हर आर्थिक क्षेत्र के लिए उपयुक्त उत्पादन पद्धति को प्रोत्साहित करने वाली विशिष्ट परियोजनाओं के लिए राज्यों के हेतु पूरक कोषों की व्यवस्था करते हैं। छठी योजना में ऐसे कार्यक्रम शामिल किये गए हैं जो जल और भूमि के सदुपयोग, वृक्षारोपण, भूमि के कटाव का नियमन इत्यादि के द्वारा पहाड़ी इलाकों में विकास को प्रोत्साहित करें।

पश्चिमी घाट के, जो महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल जैसे पांच राज्यों और केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्र गोवा से होकर गुजरता है, विकास का प्रारम्भ पांचवीं योजना में हुआ था। योजना के कार्यक्रम पौधा-रोपण, बागवानी, वन-रोपण, पशुपालन तथा पर्यटन के विकास पर केन्द्रित हैं। हिमालय क्षेत्र को (जिसमें उत्तर प्रदेश के आठ जिलों में पड़ने वाले पहाड़ी क्षेत्र, पश्चिमी बंगाल के दार्जिलिंग जिले के तीन अनुमण्डल और असम के दो पहाड़ी जिले शामिल हैं) पहाड़ी क्षेत्र विकास स्ट्रैटेजी के अनुरूप विकास की विशिष्ट स्कीमों के लिए विशेष केन्द्रीय सहायता मिलती है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत एक से अधिक राज्य को सामान्वित करने वाली कोई अन्तर्राज्य परियोजना नहीं है। चूंकि प्रथम चरण में इन क्षेत्रों की सम्भावनाओं, समस्याओं तथा प्राकृतिक साधनों की छानबीन आवश्यक है, अतः इन क्षेत्रों में अवस्थित विश्वविद्यालयों की सहायता से समन्वयित कार्य-प्रधान शोध परियोजना प्रारम्भ की गयी है। चौवालीस विश्वविद्यालय इस शोध कार्य में भाग ले रहे हैं। पश्चिमी घाट क्षेत्र के लिए एक अभिकरण (टाउन एण्ड कन्ट्री प्लानिंग ऑर्गेनाइजेशन) की सहायता से कुछ अध्ययन किये गए हैं और केन्द्रीय तकनीकी विकास योजना की रूप-रेखा भी तैयार की गई है।[7]

आर्थिक क्षेत्र में विकास के समन्वय हेतु संगठनात्मक व्यवस्था इस प्रकार है

पश्चिमी घाट विकास के लिए द्वि-श्रेणी ढांचे वाली एक उच्च स्तरीय समिति महाराष्ट्र (इस क्षेत्र में पड़ने वाले एक राज्य) के मुख्य मन्त्री की अध्यक्षता में गठित की गयी है। योजना आयोग के एक सदस्य तथा अन्य अंगीभूत राज्यों के मुख्य मंत्री इसके सदस्य हैं। योजना आयोग के एक सदस्य की अध्यक्षता में सचिव समिति प्रबन्ध की द्वितीय श्रेणी है। ये निकाय नीति-निर्धारण एवं व्यावहारिक मुद्दों पर विचार करते हैं। हिमालय क्षेत्र के विकास हेतु प्रधान मंत्री की अध्यक्षता में एक शीर्ष-स्तरीय निकाय

[6]भारत सरकार, योजना आयोग, नयी दिल्ली—रिपोर्ट आफ द वेस्टर्न घाट्स वाटर रिसोर्स स्टडी कमिटी, मार्च, 1981

रिपोर्ट आफ द टास्क फोर्स फार द स्टडी आफ इको-डेवलपमेंट इन द हिमालयन रिजियन, मार्च, 1982

[7]भारत सरकार, टाउन एण्ड कन्ट्री प्लानिंग आर्गेनाइजेशन, कार्य एवं आवास मन्त्रालय, नयी दिल्ली

राज्य है, जिसने जिला नियोजन की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रगति की है।

3 प्रक्षेत्र विकास नियोजन

ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न विकास कार्यक्रमों में प्राप्त अनुभव ने यह प्रदर्शित किया है कि किसी इलाके के न तो समग्र विकास के लिए और न स्थानीय लोगों, विशेषत ग्रामीण समाज के कमजोर वर्गों, तक लाभ को न्यायोचित ढंग से पहुंचाने के लिए पर्याप्त है। यह भी अनुभव किया गया कि विकास के सामान्य कार्यक्रम लाभ-विहीन इलाकों तथा व्यक्तियों की कतिपय विशिष्ट समस्याओं की ओर ध्यान नहीं दे पाते। इस अनुभूति के फलस्वरूप बहुत सी प्रक्षेत्र विकास परियोजनाएं उत्पन्न हुईं जो सुविधा-हीन वर्गों को लाभान्वित करने के उद्देश्य से स्थानीय प्रेरणा एवं नवप्रवर्तन पर जोर देती हैं। चौथी योजना अवधि में विशिष्ट क्षेत्र केन्द्रित कार्यक्रमों के अन्तर्गत लघु एवं सीमान्त कृषक विकास कार्यक्रम, सूखाग्रस्त प्रक्षेत्र कार्यक्रम तथा जन-जातीय प्रक्षेत्र कार्यक्रम शामिल हैं। पांचवीं पंचवर्षीय योजना अवधि में ये कार्यक्रम और अधिक बढ़ गए तथा प्रक्षेत्र विकास नियोजन हेतु प्रविधि तीव्र हो गई। इस सन्दर्भ में विभिन्न दृष्टिकोण प्रयुक्त हुए, जिनमें साधन पर आधारित या समस्यापेक्षी विकास दृष्टिकोण, लक्ष्य समूह दृष्टिकोण तथा विस्तृत समग्र प्रक्षेत्र विकास दृष्टिकोण शामिल हैं। इन दृष्टिकोणों के अन्तर्गत अपनाये गये कार्यक्रम निम्नांकित हैं।

I साधन/समस्यापेक्षी प्रक्षेत्र दृष्टिकोण।	ड्राउट प्रोन एरिया प्रोग्राम, कमाण्ड एरिया कार्यक्रम, मरुस्थल विकास कार्यक्रम।
II. लक्ष्य समूह दृष्टिकोण	लघु कृषक विकास अभिकरण, जन-जातीय विकास परियोजनाएं।
III क्षेत्र विशिष्ट उत्प्रेरणा दृष्टिकोण	रियायती वित्त, विनियोग सहायता तथा यातायात सहायता परियोजनाएं।
IV व्यापक प्रक्षेत्र विकास कार्यक्रम	पहाड़ी एवं जन-जातीय क्षेत्रों के लिए अनुपूरक योजनाएं।

प्राप्त अनुभव ने हमें सम्बद्ध कार्यक्रम को चुनने तथा अधिक ठोस ढंग से परिभाषित करने के योग्य बना दिया है ताकि विस्तृत एवं समन्वित विकास योजनाओं के निर्माण में सहायता मिले।

4 स्थानीय स्तर नियोजन

सम्भवत, स्थानीय प्रक्षेत्रीय नियोजन में स्तर पर महत्त्वपूर्ण परिवर्तन अब हो रहे हैं। वास्तविक स्थानीय-स्तर नियोजन को प्रोत्साहित करने के लिए दो दिशाओं में प्रयास किये जा रहे हैं:

(अ) जिला स्तर पर नियोजन मशीनरी को सबल बनाया जा रहा है। योजना आयोग ने जिला स्तर पर नियोजन कोशिकाओं में कुछ आवश्यक बहु-सकाय प्रतिभाओं

को सम्मिलित करने की परियोजनाएं लागू की हैं।

(ब) राज्यों को जिला स्तर पर कतिपय कार्यपरक, वित्तीय एवं प्रशासनिक उपाय करने के लिए कहा गया है। कार्यपरक विकेन्द्रीकरण का तात्पर्य 'जिला क्षेत्र' परियोजनाओं के क्षेत्र को परिभाषित करना होगा। वित्तीय विकेन्द्रीकरण में कुछ नर्क-सगत शर्तों पर राज्य-स्तर से जिला-स्तर की ओर विभाज्य योजना कोष का विभाजन शामिल है। देश के चार राज्य, यथा, महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक और उत्तर प्रदेश ऐसे विकेन्द्रीकरण के साथ पूर्व से ही आगे बढ़ चुके हैं। चूंकि स्थानीय दृष्टि से निर्धारित परियोजनाओं के लिए इन कोषों को स्थानीय स्तर पर संचालित करने, अधिकार के बिना जिला-स्तर तक कोष के मात्र विभाजन का मतलब स्थानीय स्तर नियोजन का खण्डन है, अतः राज्य-स्तर पर सीमित हद तक स्वतंत्र योजना बनाने के लिए कुछ अनुपात में बन्धनहीन सहायता प्रदान करने की व्यवस्था कर रहे हैं। विकेन्द्रित नियोजन के अधिकाधिक अनुभव से नियोजन में 'स्थानीयतावाद' के तत्त्व के वर्धमान विस्तार की उम्मीद है।

जिलों में घटित होने वाले उपर्युक्त विकासों के साथ-साथ योजना आयोग जिला स्तर नियोजन की प्रविधि को दृढ़ बनाता जा रहा है। योजना आयोग के एक सदस्य की अध्यक्षता में एक वर्किंग ग्रुप (अध्ययन दल) जिला नियोजन के निर्देशक तत्त्वों के निर्माण-कार्य में सलग्न है।

देश के 5004 प्रखण्डों में समग्र ग्रामीण विकास कार्यक्रम लागू करने के साथ जिला के नीचे विकास प्रखण्डों के हेतु नियोजन का समर्थन बड़ी सबलता पूर्वक किया गया है। प्रखण्ड-स्तरीय नियोजन में द्वितीयक एवं तृतीयक क्षेत्र में गतिविधि तथा सरचना नियोजन सहित समग्र ग्रामीण-विकास कार्यक्रम का समन्वय शामिल है। प्रखण्ड-स्तरीय नियोजन की प्रविधि भी निर्मित कर ली गयी है तथा निर्देश निर्गत किए जा चुके हैं। फिर भी स्थानीय स्तर पर कार्यरत अनेक अवरोधों के कारण समग्र प्रखण्ड-स्तरीय नियोजन की पर्याप्त प्रगति नहीं हुई है। यह उम्मीद की जाती है कि जिला-स्तर नियोजन को मजबूत बनाने से प्रखण्ड-स्तर नियोजन को भी और अधिक प्रेरणा मिलेगी।

5 नगर क्षेत्रीय एवं शहरी नियोजन

चूंकि पचासादि में क्षेत्रीय आधार पर दिल्ली महानगरी के लिए मास्टर प्लान का निर्माण किया गया, अतः भारत के अन्य महत्त्वपूर्ण नगरों के लिए महानगरी क्षेत्रीय नियोजन को भी अपनाया गया। चूंकि ये महानगर निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं, इसलिए इनमें व्याप्त तंगी की समस्या के निदान हेतु विशेष सहायता की व्यवस्था की गयी है। यद्यपि कोई 575 नगरों और शहरों के लिए मास्टर प्लान बना लिये गये हैं, फिर भी जिले के ग्रामीण पृष्ठ प्रदेश या इलाके की अन्य मानवीय बस्तियों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। वर्तमान दशाब्दी में नागरीकरण-नीति का झुकाव लघु, मध्यम एवं अनुवर्ती शहरों में पर्याप्त सरचनात्मक एवं अन्य सुविधाओं को

व्यवस्था पर अधिक जोर देने की ओर रहा है। बाजार केन्द्रों को ग्रामीण पृष्ठभूमि के विकास एवं सेवा-केन्द्र के रूप में कार्य करने के योग्य बनाने के उद्देश्य से समुचित रूप से सुसज्जित किया जाता है। वर्तमान छठी योजनावधि में लघु एवं माध्यम शहरों के विकास हेतु एक केन्द्रीय आयोजित परियोजना प्रारम्भ की गयी है।

नगरीकरण की क्षेत्रीय विषमताओं को नीति-स्तर पर ध्यान में रखा गया है और इसे स्वीकार किया गया है कि राष्ट्रीय नगरीकरण नीति में क्षेत्रीय समस्याओं के विशिष्ट विचार मुखर होने चाहिए। दिल्ली के समीपस्थ चारों तरफ उत्तर प्रदेश, हरियाणा और राजस्थान राज्यों की आर्थिक क्रियाओं को विकेन्द्रित करने के विशेष प्रयास किये जा रहे हैं। क्षेत्रीय नीतियों को महानगरों के बाहर विशेषकर लघु एवं मध्यम शहरों में, नये उद्योगों तथा अन्य व्यावसायिक एवं पेशेवर संस्थानों को स्थापित करने के लिए सकारात्मक प्रोत्साहन प्रदान करने के अनुकूल बनाया जा रहा है। इनमें अस्पतालों तथा विद्यालय भवनों के निर्माण हेतु और पार्क, क्रीडा-स्थल, सामुदायिक केन्द्र सिनेमा जैसी मनोरंजन की सुविधाओं के लिए तथा विद्युत, जल-आपूर्ति, नालियों की व्यवस्था हेतु पूंजीगत व्यय सम्बन्धी उचित प्रावधान शामिल है। स्थानीय निकायों को भी संगठनात्मक एवं वित्तीय दोनों ही दृष्टियों से सबल बनाया जा रहा है ताकि वे स्वतः अपने शहरों में संरचना एवं सेवाओं को सुधार सकें।

साराश

चूंकि राष्ट्रीय एवं राज्य सरकारें और उनके अभिकरण प्रायः क्षेत्रीय विकास को अपने सेक्टोरल नीति के विस्तार रूप में ही लेते हैं, अतः अनेक विशिष्ट क्षेत्रीय प्रदेशीय कार्यक्रमों को हमारी नियोजन पद्धति के अविच्छिन्न अंग के रूप में बनाना आवश्यक था। उन्हें क्षेत्रीय विकास के अन्तरस्थ एवं अविच्छिन्न उत्प्रेरक रूप में माना गया है। आज जब हम देश में इस क्षेत्रीय विकास नियोजन के अनुभव पर ध्यान देते हैं तो हमें इस समस्या के प्रति दृष्टिकोणों की बहुलता का पता चलता है। कम से कम तीन प्रमुख दृष्टिकोणों की अत्यन्त प्रशंसा की जा सकती है

(अ) कतिपय आवश्यक क्षेत्रीय अन्तरालों को पाटने के लिए अनुपूरक क्षेत्रीय नियोजन,

(ब) लघु क्षेत्रों पर केन्द्रित नियोजन यानी व्यवस्था-योग्य स्थानिक इकाइयां जिनमें विकास गतिविधि प्राकृतिक सम्पन्नता और समाज-व्यवस्था की विशिष्टता के अनुकूल हो सकती है।

(स) जिला और प्रखण्डों को इकाई मानते हुए स्थानीय स्तर नियोजन।

उपर्युक्त दृष्टिकोणों से प्राप्त अनुभव के आधार पर क्षेत्रीय प्रदेशीय/स्थानीय नियोजन के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण सबक मिले हैं। इनमें निम्नांकित सम्मिलित हैं

1. विशिष्ट सीमा-बद्ध समस्या वाले इलाकों के विभिन्न समाधान विकास प्रयासों के

लिए प्राथमिकताओं के निर्धारण तथा साधनों के आवटन-सम्बन्धी तौर-तरीके,

2. लक्षित आबादी तथा पेशा समूह के लिए प्राथमिकताओं का चयन तथा वित्तीय व्यवस्था सम्बन्धी तरीका,
3. क्षेत्रीय विकास परियोजनाओं में वित्तीय समन्वय लाने का तरीका,
4. सीमाबद्ध इलाकों में विभिन्न कार्यक्रमों के सेक्टोरल, स्पेशल तथा टेम्पोरल अवयवों को समन्वयित करने का तरीका,
5. नियोजन प्रक्रिया के विकेन्द्रीकरण सम्बन्धी कार्य को सम्पादित करने की प्रणाली, तथा
6. न केवल दृष्टिकोण बल्कि कार्यान्वयन की वास्तविक प्रक्रिया का भी सांस्थानीकरण का पक्ष।

उपर्युक्त दिशाओं में प्राप्त नये ज्ञान और अनुभव को अब संग्रहीत किया जा रहा है तथा अधिक ठीक उपलब्धियों की ओर एक-एक कदम आगे बढ़ने के लिए मार्ग प्रशस्त किया जा रहा है। यह नियोजन की एक विकासात्मक प्रक्रिया है और ऐसी प्रक्रिया का शुभारम्भ अपने अवर राष्ट्रीय नियोजन तथा विकास प्रयासों में हो चुका है।

अध्याय 20

स्वातंत्र्योत्तर काल में भारत का आर्थिक विकास

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत का आर्थिक विकास धीमी गति से हुआ है। अब तक प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि की वार्षिक औसत दर 1.5 प्रतिशत से कम रही है। कृषि-क्षेत्र में भी जो लगभग 67 प्रतिशत श्रम-शक्ति को रोजगार तथा आय प्रदान करता है अच्छी प्रगति नहीं हुई है। इतना ही नहीं कि इसकी विकास-दर निम्न है, बल्कि कृषि-उत्पादन की अस्थिरता में भी वृद्धि हो गयी है। गरीबी रेखा के नीचे की आबादी का प्रतिशत भी कम नहीं हुआ है। पहले से व्याप्त बेरोजगारी जो पचास वाले दशक के प्रारम्भ में करीब 5 मिलियन थी, अब बढ़कर 25 मिलियन से अधिक हो गयी है। देश में व्याप्त विषमता में विशेष वृद्धि हुई है। स्वतन्त्रता के शीघ्र बाद सत्ताधारी वर्ग द्वारा जो नारा दिया गया था वह 'सामाजिक न्याय पर आधारित विकास' का था। विगत अनुभवों को देखने पर यह पता चलता है कि भारत इनमें से किसी को भी प्राप्त नहीं कर पाया है। न तो हमने उस विकास-दर को प्राप्त किया है, जिसे इस अवधि में देश प्राप्त करने में सक्षम था और न हमें किसी न्यायोचित मानदण्ड के आधार पर सामाजिक न्याय के किसी भी रूप को प्राप्त करने का आश्वासन ही है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय भारत विकासशील देशों में प्रौद्योगिक दृष्टि से सर्वाधिक विकसित था। इन विकासशील देशों में लैटिन अमरीकी कैरीबियन राष्ट्र, दक्षिणी अफ्रीका को छोड़कर अफ्रीका के अन्य राष्ट्र, चीन, उत्तरी कोरिया, वियतनाम, जापान और मंगोलिया को छोड़कर अन्य एशियाई राष्ट्र शामिल थे। भारत के पास उपरोक्त विकासशील देशों की तुलना में तकनीकी प्रशिक्षण प्राप्त मानव-शक्ति का अधिक अनुपात था। यहाँ एक प्रौढ़ औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग था जिसने ब्रिटिश आघात के बावजूद भारतीय राजनीतिक-तन्त्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।

ब्रिटिश भारत में देश के कुछ केन्द्रों में, विशेषतः पश्चिमी भारत में, विकास के साथ वाणिज्य पूंजी का आविर्भाव जुड़ा हुआ था। दोनों विश्व-युद्धों के मध्य काल में भारत में औद्योगिक एवं प्रौद्योगिक विकास को अतिरिक्त प्रेरणा मिली थी। पचास वाले दशक के प्रारम्भ तक भारत के बुर्जुआ वर्ग ने अब तक हुई प्रगति की अपेक्षा औद्योगिक विकास की अधिक ऊंची दर के लिए विनियोग को बढ़ावा देने तथा साधनों को जुटाने की अपनी क्षमता का विकास कर लिया था।

ये कुछ अनुकूल पक्ष की बातें हैं। परन्तु प्रतिपक्ष की बातें इससे भी ज्यादा बड़ी हैं। उनमें महत्तम तथ्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद और स्वतन्त्रता आन्दोलन के अगुणियों के बीच समझौता था जिसके फलस्वरूप 1947 में भारत को आजादी मिली। इसने सत्ता

का हस्तांतरण बड़े बुर्जुआ, लघु बुर्जुआ तथा भूमि-सम्पन्न सामन्तशाही के संयुक्त समूह के हाथों में किया। इस समझौते ने तत्कालीन नौकरशाही के ढांचे को अक्षुण्ण रखा, जो साम्राज्यवाद की सृष्टि था। नौकरशाही का ढांचा इतना पुरातन था कि इसने किसी भी शीघ्रगामी परिवर्तन को अवरुद्ध करने हेतु अपनी आंतरिक क्षमता विकसित कर ली थी। इसने आंतरिक उद्यम का हेय-दृष्टि से भी देखा। इसने पश्चिमी उद्यम की अपेक्षा इसको बहुत ही निकृष्ट पाया। इसके अतिरिक्त विदेशी व्यापारियों तथा कम्पनियों ने सेवा-निवृत्ति के पश्चात् दफ्तरशाहों और उनकी सन्तानों को आकर्षक नियुक्तियां प्रदान कीं। अतः नौकरशाही ने साम्राज्यवादी सम्पर्क का समर्थन किया। वस्तुतः इसने साम्राज्यवादियों के हितों की पूर्ति में भारी आघात इसलिए नहीं किया कि वह राष्ट्र विरोधी था, बल्कि यह एक वर्ग के रूप में भारत के तीव्र औद्योगिक विकास के विरुद्ध साम्राज्यवादियों के रूप रंग का समझने में अक्षम था। यह प्रवृत्ति साम्राज्यवादी हितों में सहायक विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, यू०एन०डी०पी० जैसे अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों के आविर्भाव के साथ बहुत महत्त्वपूर्ण हो गयी। इस प्रकार आक्रमण प्रारम्भ हुआ। इस आक्रमण का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह था कि भारत के तीव्र औद्योगिक विकास को अवरुद्ध करने के लिए अर्थव्यवस्था पर वर्तमान नौकरशाही नियन्त्रण का परामर्श साम्राज्यवादियों द्वारा दिया जाने लगा। चूंकि सत्ता की भूखी नौकरशाही इस परामर्श को सुनने के लिए इच्छुक थी, अतः उन्होंने एक दूसरे का अभिवादन किया। दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष औद्योगिक विकास तथा पूंजीगत आवश्यकता के नाम पर भारतीय बाजार में साम्राज्यवादियों की घुसपैठ की अनुमति में नौकरशाही का समर्थन था। भारतीय बुर्जुआ का एक वर्ग पहले से ही इसकी पकड़ में था, भारत के ऊपर साम्राज्यवादी रूपरंग अधिक चढ़ने में और अधिक सुविधा मिली। वयस्क मताधिकार का आविर्भाव तथा अपनी राजनीतिक प्रणाली का संवैधानिक प्रावधान इस प्रकार ढाला गया कि लघु बुर्जुआ शीघ्र ही सत्ता वर्ग के संयुक्त समूह से बाहर फेंका गया। ऐसी स्थिति में हमारी आर्थिक गत्यात्मकता ग्रामीण भारत के अधिकांश भाग में व्याप्त अर्द्ध-सामन्ती-व्यवस्था के भद्रजन के तीव्र विकास विरोधी दृष्टिकोण से प्रभावित हो गयी।

अर्द्ध-सामंती सामाजिक व्यवस्था के आधार का निर्माण दीन मध्यमवर्ग के किसानों तथा कृषि श्रमिक परिवारों के समूह ने किया, जो इस अर्थ में भयानक रूप में 'हीन परिवार' बना रहा कि वे अपनी आय से न्यूनतम जीवन निर्वाह खर्चों को पूरा करने में असमर्थ थे। फलतः वे बड़े कृषकों से नियमित तौर पर उपभोग-ऋण लेते रहे, जो ग्रामीण साम्राज्य का मुख्य अंग है तथा इस प्रकार प्रत्यक्ष उत्पादकों एवं बृहत् कृषकों के बीच अविच्छिन्न सम्पर्क की प्रथा बनी रही। अनौपचारिक बंधुआपन भी छोटे भू-खण्डों को पट्टे पर देकर अथवा कृषि श्रमिक परिवारों को कुछ जमीन प्रदान कर कार्यरत रहा। गैर-आर्थिक अवपीड़न तथा दमन की जड़ता ने अनुपूरक का काम किया जिसके फलस्वरूप कृषि श्रमिक परिवारों की जीवन-दशा एक अर्द्ध-दास की हो गयी।

यह सत्य है कि ब्रिटिश भारत ने निजी सामंती सेना का उन्मूलन देखा। लेकिन सामन्ती सैन्य दमन की जड़ें परम्परा में घर कर गयी थीं और विस्तृत रूप से इसकी शाखा-प्रशाखाएं छा गयी थीं, जिनसे प्रत्यक्ष उत्पादकों के लिए पूर्णतः मुक्ति पाना आसान नहीं था, हालांकि निजी सेना प्रथा का उन्मूलन हो चुका था और (बुर्जुआ सुपर-स्ट्रक्चर पर आधारित) एक नयी विधि-व्यवस्था पनप चुकी थी। औपनिवेशिक उत्पादन-विधि के प्रचलन के साथ गैर-आर्थिक दमन का गुण परिवर्तित हो गया सैन्य शक्ति की जगह लठैतों और पहलवानों ने ले ली। उत्तर भारत के अधिकांश भाग में सर्वाधिक सामान्य उदाहरण सिपाही, प्यादा लठैत हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में भी बृहत् कृषकों ने (आर्थिक एवं गैर-आर्थिक दमन पर आधारित) अनौपचारिक दास प्रथा को समाप्त नहीं होने दिया। एक विशेष आर्थिक लाभ इससे जुड़ा हुआ है। उन्हें कार्य के अधिक घण्टों के साथ सस्ते और निरन्तर श्रम-आपूर्ति का आश्वासन दिया गया। वे कृषि श्रमिकों तथा दीन मध्यम किसानों से मामूली कीमतों पर भूमि प्राप्त करने में भी सक्षम थे। अर्द्ध-सामंती दासता की इस प्रथा और नव-अर्जित आधिक्य की सहायता से वे राजनीतिक तौर पर बहुत शक्तिशाली भी हो गये। उन्होंने ग्रामीण गरीबों के निमित्त विकासात्मक गतिविधियों के नाम पर लाभ के बहुलांश पर दावा किया। उन्होंने किरोसिन तथा चीनी किरासन तेल जैसी आवश्यक वस्तुओं के वितरण में एकमात्र मध्यस्थ का काम करना शुरू किया। उन्होंने सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए अपने क्षेत्र में विधि का रूप ग्रहण कर लिया, यहां तक कि कृषि श्रमिक परिवारों की महिलाओं के साथ काम-वासना तृप्ति का दबाव (जो उनकी सामान्य पीड़ा थी) अक्षुण्ण बना रहा।

इस प्रकार बृहत् कृषकों (ग्रामीण संस्थानों के प्रमुख अंग) ने आम जनता की गरीबी के बरकरार रहने में निहित स्वार्थ विकसित कर लिया है। इस अर्द्ध-सामंती कृषि ढांचे से उत्पन्न लाभों ने बृहत् कृषकों को तीव्र विकास के लिए उत्साही नहीं बनाया, जो अगर बनाए रखा जाता, तो सम्भवतः कृषि श्रमिकों की आर्थिक स्थिति को सुधार देता। फलतः खेतिहर मजदूर 'अनौपचारिक दासता' से अपने आपको मुक्त कर पाते। अतः प्रबल वर्ग (ग्रामीण धनी वर्ग) नयी प्रौद्योगिकी से सामान्वित होकर बृहत् रूप में कृषि को गतिशील बनाने की दिशा में उत्साहपूर्ण नहीं रहा है। यही कारण है कि विकास-कार्यों में लगाये जानेवाले साधनों का बहुलांश या तो व्यर्थ हो गया है अथवा अत्यधिक उपभोग पर व्यय हो गया है। यह कृषि विकास हेतु संरचना में (यथा वर्तमान सिंचाई सुविधा) निम्न उपयोग तथा ग्रामीण भारत के अधिकांश हिस्से में धनी वर्ग द्वारा कृषि में नगण्य शून्य विनियोग की भी व्याख्या करता है। इसके साथ ही साथ अनेक राज्य सरकारों (विशेषतः हिन्दी के हृदय स्थल क्षेत्र में जहां अर्द्ध-सामन्ती अधिक प्रखर थी) के स्तर पर सही दिशा में तीव्र कृषि विकास हेतु आन्दोलन चलाने के लिए सत्यात्मकता के अभाव की व्याख्या होती है।

दूसरी तरफ मध्यम एवं दीन मध्यम कृषक वर्ग का (मुख्यतः हिन्दी हृदय-स्थल की

मध्यम जातियों) विकास के संदर्भ में उपरोक्त निषेधों से क्षति नहीं पहुंची। क्योंकि ने उन्हें कुछ सहायता ही प्रदान की थी। उन्होंने कृषि-विकास के लिए अपने नव अर्जित आर्थिक मूल्य का प्रयोग करना शुरू किया। हालांकि ग्रामीण धनिकों की उपलब्ध मात्रा की तुलना में यह बहुत थोड़ा ही था। बाद में उन लोगों ने नई प्रौद्योगिकी को अपनाया। विभिन्न पूंजीवादी वर्गों से उधार लिए गए नव राजनीतिक सुपर स्ट्रक्चर के संदर्भ में समस्याएं भी महत्वपूर्ण हो गईं। दूसरी तरफ विशेषतः उत्तर भारत में हिन्दुओं के उच्च जाति वर्गों में राजनीतिक सत्ता हेतु आपस में होड़ लग गई और इस प्रक्रिया में जाति तत्व भी महत्वपूर्ण हो गया। सत्ता पक्ष की ओर वर्गों को आकर्षित करने के ख्याल से अनुसूचित जातियों और जन-जातियों को शिक्षा संस्थाओं और सरकारी रोजगारों में उन्हें आरक्षण करके रियायतें प्रदान की गईं। प्रायः सभी सत्ताधारी वर्गों ने इन जातियों के हृदय को जीतने के लिए उन्हीं के बीच से उनके संरक्षण में नेतृत्व पनपने में प्रोत्साहन देना शुरू किया। निस्सन्देह कुछ अंश के लिए ग्रामीण धनियों और मध्यम तथा दीन कृषकों के बीच वर्ग विरोध विस्तृत हो गया। लेकिन इसने मध्यम जातियों, अनुसूचित जातियों और जन-जातियों की आशाओं और आकांक्षाओं को भी जगाया।

लघु बुर्जुआ सुधारवादी दबाव तथा उच्च एवं मध्य वर्ग के बीच भूमि की भूख के कारण उत्पन्न विरोध के फलस्वरूप अनेक भू-सुधार अधिनियम विशेषतः जोतों की हदबन्दी संबंधी अधिनियम पारित किए गए। यद्यपि विशेषतः उत्तर भारत के अधिकांश भाग में ये अधिनियम कागज पर ही रह गये, फिर भी उच्च कृषकों ने सतर्कता के फलस्वरूप अपनी सुदूर अधिकृत भूमि को अपने वर्ग के अन्तर्गत नहीं, बल्कि मुख्यतः मध्यवर्ग के किसानों के हाथ बेच दिया, क्योंकि उनकी भुगतान क्षमता अच्छी थी। निश्चय ही यह प्रक्रिया धीमी थी, लेकिन कालान्तर में भूमि के कम से कम दस प्रतिशत पर नियंत्रण मध्यम वर्ग के किसानों के हाथ में चला गया।

इस प्रकार मध्यम वर्ग उस अर्द्ध-सामन्ती क्षेत्र में कृषि-विकास के संदर्भ में सर्वाधिक कुशल वर्ग हो गया। उन्होंने अपनी नव-अर्जित आर्थिक सत्ता के बल पर राजनीतिक सत्ता पर आधिपत्य जमाने का प्रयास किया। उदीयमान मध्यम कृषक वर्ग की इसी लहर के फलस्वरूप 1967 में हिन्दी क्षेत्रों के अन्तर्गत अनेक राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारें बनीं। वस्तुतः 1971 में इसी मध्यम वर्ग की ग्रामीण जनता के बीच आशा एवं आकांक्षाओं को जगाकर कांग्रेस सत्ता में आई थी।

ग्रामीण गत्यात्मकता का एक दूसरा पक्ष भी था जो इस संदर्भ में उपयुक्त है। बीसादि और तीसादि के कृषि आन्दोलनों तथा स्वतन्त्रता आन्दोलन में भी कुछ ऐसी बातें थीं जिन्होंने कृषि श्रमिकों के बीच जागरूकता फैलाने में सहायता पहुंचाई। तत्पश्चात् स्वतन्त्रता मिली और जमींदारी उन्मूलन हुआ। इन सबों के चलते कृषि मजदूर वर्ग में प्रबुद्धता आई। आर्थिक और सामाजिक शोषण (विशेषतः महिलाओं के शोषण) के विरुद्ध आवाज उठने लगी। सम्पन्न एवं उच्च मध्यम वर्ग के कृषकों ने इस प्रवृत्ति का

अनुभव करते हुए 50 वाले दशक के अन्तिम वर्षों से गैर आर्थिक दमन का अधिकाधिक प्रयोग शुरू कर दिया था। पहलवानों और लठैतों का इस्तेमाल 60 वाले दशक तक विस्तृत रूप में होने लगा। कृषि श्रमिकों पर अत्याचारों में लगातार वृद्धि स्थिति के इस पक्ष को इंगित करती है। इससे निश्चय ही 60 वाले दशक के अन्तिम वर्षों के बाद से प्रति-उपद्रव शुरू हुए।

साठ वाले दशक के उत्तरार्ध में दो तरह के परस्पर विरोध तेज होते जा रहे थे। प्रथमतः उच्च कृषकों और मध्य कृषकों के बीच और द्वितीयतः कृषि श्रमिक वर्ग और उच्च कृषकों के बीच संघर्ष था। जहां प्रथम संघर्ष ने वर्तमान संसदीय शासन-प्रणाली के सामाजिक एवं आर्थिक ढांचे में राजनीतिक सत्ता के लिए संघर्ष का रूप ग्रहण किया, वहां दूसरा प्रति-विद्रोह के रूप में उभरा, जिसका उद्देश्य उस वर्ग सम्बन्ध को दूर करना था, जिसके फलस्वरूप कृषि श्रमिकों का सामाजिक एवं आर्थिक शोषण होता है (जिसे नक्सलपंथी आन्दोलन की संज्ञा दी गई)।

उच्च वर्ग ने उच्च और मध्य वर्ग के पारस्परिक विरोध को स्वीकार करते हुए सौदाबाजी (समझौता) से काम लिया और शासन-खण्ड में उन्हें दूसरा स्थान दिया। यह परिस्थिति सातवें दशक के प्रारम्भिक वर्षों की थी। मध्यमवर्गीय जातियों के अधिकतम समर्थन से सन् 1971 ई० में इन्दिरा-कांग्रेस सत्तारूढ़ हो गयी और दूसरी ओर नक्सल-पंथी आन्दोलन को, नियम-व्यवस्था-समस्या मानकर, निर्दयतापूर्वक पददलित किया गया।

परन्तु इसी चरण में एक मनोरंजक घटना का दृश्य उपस्थित हुआ। लघु बुर्जुआ के सुधारात्मक दबाव ने, जैसे भूमिसुधार कृषि श्रमिकों को आवास भूमि, अनुपूरक काश्तकारी अधिनियमों ने (यद्यपि ये सभी सुधारात्मक प्रयास परिणामविहीन थे) उच्च कृषक वर्ग को पर्याप्त कष्ट दिया तथा उनकी सामाजिक राजनीतिक अजेयता को काफी क्षति पहुंची। वस्तुतः सामान्य राजनीतिक जागरूकता ने (जिस प्रक्रिया का प्रारम्भ स्वतन्त्रता-आंदोलन के साथ हुआ) घटनाओं की स्थिति में सर्वाधिक योगदान किया। इसने उच्च कृषकों और सत्ता पक्ष के बीच प्रतिरोध पैदा कर दिया, क्योंकि उच्च वर्ग वालों ने (हालांकि भ्रांतिपूर्ण ढंग से ही) सोचा कि यह राज्य शक्ति का ग्रामीण क्षेत्र के मध्य एवं सत्ता-स्तर के साथ मित्रतापूर्वक फेरी लगाने का प्रत्यक्ष परिणाम था। मध्यम वर्ग भी सहर्ष साथ देने में संतुष्ट नहीं था। परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस (इ) 1977 में उत्तर भारत में सत्ता से बाहर हटा दी गई। लेकिन इस प्रक्रिया में भी मध्यम कृषक ने प्रभावपूर्ण ढंग से सत्ता में हिस्सा लिया। फलतः मध्यम वर्ग के लोगों ने भी इसमें अपने हिस्से की मांग की। विगत वर्षों में उच्च जाति के हिन्दुओं द्वारा बड़े विरोध के बीच सरकार की कुछ नियुक्तियों एवं प्रोन्नतियों में मध्यम जातियों के लिए आरक्षण मध्यम जातियों के उभरते हुए राजनीतिक अभ्युदय का प्रमाण है।

फिर भी नयी प्रवृत्ति बड़ी तेजी से उत्तर भारत के अधिकांश भाग में उभर रही थी। उच्च कृषक गैर आर्थिक दमन का अधिकाधिक प्रयोग कर रहे थे मानो 'मांसपेशीय

शक्ति' का वर्द्धमान प्रयोग हो रहा था। इस हेतु उनके पास आवश्यक आर्थिक शक्ति थी और उन्होंने मध्यम वर्ग तथा कृषि श्रमिकों के राजनीतिक अभ्युदय को नियन्त्रित करने के प्रयास में इसे सुदृढ़ बनाना शुरू किया। कांग्रेस (इ) ने इस परिवर्तित प्रवृत्ति का आलोचनात्मक दृष्टि से अवलोकन तथा विश्लेषण किया, जो अपनी पूरी ताकत के साथ महत्वपूर्ण ढंग से पुन सत्ता में आने का प्रयास कर रहा था तथा 1980 आते-आते कांग्रेस (इ) ने इस वर्ग को अपने पक्ष में ले लिया और वह विजयी होकर पुन सत्ता में आ गयी। मध्यम कृषक वर्ग की अधिकाधिक संख्या तथा वर्धमान आर्थिक शक्ति के बावजूद राजनीतिक सत्ता निश्चित रूप से उत्तर भारत में ग्रामीण क्षेत्र के उच्च वर्ग के पक्ष में घूम गयी। अब उनकी आर्थिक सत्ता का वर्धमान प्रयोग 'सामुपेक्षीय शक्ति' के उपयोगार्थ हो रहा है जिसका उद्देश्य क्षेत्र के अन्य आर्थिक वर्गों का वशीभूत करना तथा राजनीतिक सत्ता को बनाये रखना है जो कुछ वर्ष पूर्व उनसे खिसकती हुई प्रतीत हो रही थी।

जहां एक समय उदीयमान मध्यम कृषक वर्ग ने अर्द्ध-सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों के गढ़ को शक्तिहीन करने की धमकी दी, वहाँ यह नयी प्रवृत्ति ग्रामीण असंतुलन तथा कृषि सम्बन्धों के अत्यधिक निकृष्ट रूप को फिर से वापस लाने की धमकी देती है। कुछ हद तक ग्रामीण भारत के कतिपय भागों में कृषि श्रमिक परिवारों की ओर से उपद्रवों के द्वारा इसका प्रतिरोध हो रहा है। कृषि दृश्य व्यापक तीव्र विकास की संभावनाओं के बिना उपद्रव एव प्रति-उपद्रव से ग्रसित है।

बड़े बुर्जुवा और साम्राज्यवाद के बीच प्रेम-घृणा दृश्य ने इसमें से दोनों को अर्थ-व्यवस्था पर बढ़ाते हुए नौकरशाही नियंत्रण का समर्थन करते हुए पाया। नियोजन-मिश्रित अर्थव्यवस्था की नीति, नियत्रण-सयत्र का प्रथम के द्वारा (हालांकि पूर्ण हृदय से नहीं) समर्थन ने बड़े औद्योगिक घरानों के विस्तार को नियन्त्रित करना छोड़ दिया है। मध्यम एव लघु क्षेत्र को प्रोत्साहित करने के उपाय तथा बैंकिंग, बीमा और खनन उद्योग का राष्ट्रीयकरण मुख्यत इन्ही तथ्यों पर आधारित था, जिनमें सबों के फलस्वरूप अर्थ-व्यवस्था पर नौकरशाही नियत्रण बढ़ता गया है। बुनियादी एव भारी उद्योगों तथा अन्य सरचनाओं में लोक विनियोग व्यावसायिक बैंकों एव बीमा के राष्ट्रीयकरण तथा सावधि ऋण सस्थाओं के लोक-क्षेत्र में अभ्युदय के फलस्वरूप मुख्यत बड़े बुर्जुवा को सहायता मिली। मध्यम वर्ग के लिए रोटी के कुछ टुकड़े उपलब्ध करा दिये गए। जहां तक लघु वर्ग का सम्बन्ध है यह एक बहानेबाजी थी। यद्यपि वर्धमान नौकरशाही नियत्रण सामान्यत. औद्योगिक एव व्यापारिक क्रियाशीलता में बाधक था, फिर भी इसके प्रति-कूल प्रभाव का न्यूनतम अनुभव बड़े बुर्जुवा ने किया। बड़े बुर्जुवा जो सत्ताधारी वर्गों का महत्त्वपूर्ण अंगीभूत कारक है, बढ़ते हुए नौकरशाही नियत्रण के अधिकांश बाधक प्रभाव को आसानी से दूर कर सका। यही कारण है कि बड़े औद्योगिक घरानों का विकास छोटे उद्योगपतियों की तुलना में बहुत अधिक हुआ। अधिनियमों और नीति-निर्णयों के बावजूद यह किसानों के विकास को नियन्त्रित करने के लिए हुआ। अत

पल्ला सामान्य रूप में मध्यम एवं लघु वर्गों तथा तीव्र औद्योगीकरण के विपक्ष में भार में दबा रहा।

लघु बुर्जुवा ने अर्थव्यवस्था के वर्धमान नौकरशाहीकरण के साम्राज्यवादी रूप की व्यंग्यात्मक ढंग से सहायता भी की। लघु बुर्जुवा ने राष्ट्र को उच्च आकांक्षा के बहाव, अनिर्णय, जटिलता, नवप्रवर्तनों एवं समतावाद और इसके साथ गहरी जड़ों वाली परम्परागत दिनचर्या अनिश्चितता एवं तदर्थवाद के भ्रमित सम्मिश्रण में लगातार फँसा दिया। इसने राज्य-संरक्षण में पूँजीवाद के विकास हेतु राष्ट्रीय दृष्टिकोण को बहुत अधिक योगदान प्रदान किया। यद्यपि प्रारम्भ में साम्राज्यवाद भारत के नियोजन प्रयासों तथा औद्योगिक एवं व्यापारिक क्रियाओं में राजकीय क्षेत्र के बारे में संशयी था, फिर भी बाद में इसने अनुभव किया कि यह साम्राज्यवादियों के हितों के लिए बहुत अधिक हानिकारक नहीं है, प्रत्युत यह इसमें सहायक है, क्योंकि इसके साथ नयी जटिलताओं और तदर्थवाद को लाकर अर्थव्यवस्था पर नौकरशाही नियंत्रण बढ़ा देता है। विस्तृत प्रशासनिक क्षेत्र के परिणाम स्वरूप लोक-व्यय बढ़ता गया और यह बृहत बुर्जुवा के प्राबल्य में जकड़ा रहा। इससे राज्य द्वारा आवश्यक संसाधन जुटाने का मौका नहीं मिल सका। इसका शुद्ध परिणाम मुद्रा-स्फीति और समानान्तर अर्थव्यवस्था का विकास था। लघु बुर्जुवा वर्ग के दबाव से और अधिक नियंत्रण तथा प्रशासनिक क्षेत्र एवं राजकीय खर्च का और अधिक विस्तार हुआ। फलतः नियोजन तथा विकास-प्रक्रिया अधिकाधिक मात्रा में विदेशी सहायता और साम्राज्यवादी शक्तियों की चाल-बाजी पर निर्भर हो गयी। लघु बुर्जुवा वर्ग के दबाव ने इस स्थिति में (जहाँ राज-सत्ता दृढ़तापूर्वक साम्राज्यवादी शक्तियों की पकड़ में है) अनुत्पादक प्रशासनिक क्षेत्र का विस्तार तथा राजकीय व्यय एवं स्फीति में वृद्धि मात्र की। इसने लघु बुर्जुवा तथा स्वामी वर्गों को निर्लज्जतापूर्वक समाज के धन को धोखाधड़ी के साथ छीनने के लिए अतिरिक्त मौका दिया तथा सभी तरह के भ्रष्ट व्यवहार और भाई-भतीजेवाद को उत्पन्न किया। जैसे-जैसे आर्थिक संकट तेज होता गया, लाखों लाखों की गरीबी और युवा निराशा बढ़ती गयी, संकीर्ण प्रान्तीयता और उपद्रव जैसी ताकतें बढ़ने लगीं और पूँजीवादी विकास की गति को क्षति पहुँची।

बृहत बुर्जुवा-साम्राज्यवाद 'घृणा सम्बन्ध' मुख्यतः सीमित भारतीय बाजार पर आधिपत्य जमाने में विरोधी स्वार्थ के चारों ओर चक्कर काटने लगा। बड़े बुर्जुवा का राष्ट्रीय आंदोलन हेतु समर्थन घरेलू बाजार पर आधिपत्य जमाने में केन्द्रित रहा। साम्राज्यवाद और बड़े बुर्जुवा के बीच खींचा-तानी अक्षुण्ण रूप में चलती रही। जहाँ साम्राज्यवाद भारत को एक 'कम्प्राडोर' पूँजीवादी राज्य में परिणत करना चाहता था, वहाँ बड़े बुर्जुवा स्वतन्त्र पूँजीवादी विकास के लिए संघर्षरत रहे। 'कैरट एण्ड स्टीक' नीति तथा 'गन-बोट' कूटनीति के बावजूद साम्राज्यवाद भारत की गुटनिरपेक्षता एवं आत्म निर्भरता हेतु संघर्ष को प्रतिकूल दिशा प्रदान करने में विफल रहा। यह राज-नीतिक प्रवृत्ति स्वतन्त्र पूँजीवादी विकास हेतु आन्दोलन की आर्थिक अभिव्यक्ति है।

स्वतन्त्रता के बाद भारत का राजनीतिक दृष्टिकोण राज-सत्ता बनाम साम्राज्यवादी पकड़ के ऊपर बड़े बुर्जुवा की शक्ति का प्रदर्शित करता है। मरक्षण हेतु राष्ट्रीय आन्दोलन का लोकाचार कुछ सफलतापूर्वक जारी रहा। आयात-उदारता के विरुद्ध नियत्रण ने भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन प्रदान किया था। लेकिन भारत की प्रौद्योगिक निकृष्टता ने कभी-कभी सहयोग के लिए मार्ग प्रशस्त किया और इससे भारत में बहु-राष्ट्रीय फर्मों को घुसपैठ को भी सुविधा मिली। यह एक दूसरा पक्ष था जहा साम्राज्यवाद भारत में पूजीवाद की विकास-प्रक्रिया को बाधित कर सका। अर्द्ध-सामन्ती व्यवस्था के सम्प्रान्तों का तीव्र विकास विरोधी दृष्टिकोण पहले से ही कृषि विकास हेतु सरचना में विनियोग के महत्त्व को घटा रहा था। दूसरी तरफ साम्राज्यवाद ने यह देखा कि भारत एक अत्यधिक विविधीकृत विनियोग एव व्ययनीति अपनाता है। फलत कुछ महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों (*यथा विद्युत् सिंचाई बाढ़-नियत्रण, नालियों की व्यवस्था और वनरोपण इत्यादि*) में विनियोग बहुत ही अपर्याप्त हुआ जिसके चलते भारत में पूजीवादी विकास को भारी क्षति पहुची। एक अन्य महत्त्वपूर्ण अन्तर्विरोध का सम्बन्ध *तीसरी दुनिया के देशो के आकर्षक बाजारो को हथियाने से है।* यहा भी बड़े बुर्जुवा कभी साम्राज्यवाद के विरुद्ध रहे और कभी उससे समझौता करते रहे। किन्तु साम्राज्यवाद तो एक दुर्जेय शक्ति है। अपने नेतृत्व या आधिपत्य को थोपने में विफल होकर यह आर्थिक एव राजनीतिक अस्थायीकरण नीतिया आजमाता है और इस सीमा तक भारत में पूजीवादी विकास बाधित हुआ है। इस प्रकार जहा भारत में स्वतन्त्र पूजीवादी विकास लाने वाली शक्तिया विगत तीन दशाब्दियों में मन्द रही हैं, वहा ग्रामीण भारत के अधिकाश भाग में अर्द्ध-सामन्ती समाज निर्माण की गत्यात्मकता और निरन्तर विद्यमान साम्राज्यवादी मन्त्रीकरण-प्रक्रिया कृषि एव औद्योगिक विकास को बाधित करने में सफल रही है और इसने विश्व के इस भाग में आर्थिक सकट तीव्र होता गया है।

अध्याय 21

भारत की औद्योगिक उपलब्धियां

सारांश

संयुक्त राष्ट्र के अनुसार, भारत 684 मिलियन की एक वृहत जनसंख्या के साथ, एवं नव-औद्योगिक विकासशील राष्ट्र है। स्वतन्त्रता के 35 वर्षों के दौरान कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति के क्षेत्र में देश की अर्थव्यवस्था की प्रगति अधिकांशतः सन्तोषप्रद रही है, जिसे 1981-82 में 1575 बिलियन रुपये (166 बिलियन यू० एस० डालर) आंका गया है और वर्तमान मूल्यों पर 2300 रुपये (242 यू० एस० डालर) की प्रति व्यक्ति आय का अनुमान लगाया गया है। फिर भी वास्तविक रूप में 1948-49 से लेकर 1980-81 की अवधि में अर्थव्यवस्था की औसत विकास दर मात्र 3 4 प्रतिशत रही है। लेकिन 1980-81 में सुधार हुआ है और अर्थव्यवस्था की विकास दर 5 3 प्रतिशत हो गयी।

भारत यद्यपि आर्थिक दृष्टि से गरीब है, किन्तु प्रमुख औद्योगिक विकासशील देशों में से एक है। इसके उद्योग के निर्माण क्षेत्र का उत्पादन 1980-81 में 647 बिलियन रुपये (68 बिलियन यू० एस० डालर) के मूल्य के बराबर संगठित क्षेत्र में हुआ और लघु प्रमाप क्षेत्र में 260 बिलियन रुपये (27 5 बिलियन यू० एस० डालर)। 1982-83 में इसके निर्यातों और आयातों के क्रमश 86 5 बिलियन रुपये (14 75 बिलियन यू० एस० डालर) तक पहुंच जाने का अनुमान है। इस प्रकार राष्ट्र अभी भी 53.5 बिलियन रुपये (5 7 बिलियन यू० एस० डालर) के व्यापार घाटे से पीड़ित है, हालांकि विगत वर्ष की तुलना में निर्यात वृद्धि की दर 1982-83 में बढ़ी है और आयात की वृद्धि दर में गिरावट आयी है। फलत 1982-83 में पिछले वर्ष की अपेक्षा व्यापार घाटे के कम होने की उम्मीद है। भारत के पास एक विस्तृत औद्योगिक आधार है तथा वह उद्योग के क्षेत्र में आत्म-निर्भर है जो उसे विश्व-व्यापार की अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है। देश औद्योगिक उत्पादों की एक विशाल शृंखला निर्मित करता है और मायक्रिन तथा ट्रांजिस्टर युग में आगे बढ़कर यह कम्प्यूटर और दूरदर्शन के यन्त्रों का भी अब निर्माण करने लगा है। वृहत एवं विस्तृत आधार वाले रासायनिक एवं औषधि-निर्माण उद्योग ने देश को इस क्षेत्र में लगभग आत्म-निर्भर बना दिया है। आज भारत विश्व के आधे दर्जन देशों में से एक है जो न्यूक्लियर पावर स्टेशन, सुपर-सोनिक जेट फाइटर्स और अन्तरिक्ष उपग्रह जैसे कुछ सर्वाधिक जटिल यन्त्रों को निर्मित करने में सक्षम है।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

यदि हम सम्पूर्ण उद्योग के (250 वर्षों से भी पहले घटित औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भ के बाद) स्वरूप पर विचार करें, तो हम एक विशिष्ट विकास ढांचा देख सकते हैं। चाहे इंग्लैण्ड हो अथवा विश्व का कोई अन्य औद्योगिक राष्ट्र, सामान्य विकास ढांचा उपभोक्ता वस्तु पर अधिक बल देता हुआ प्रतीत होता है। उपभोक्ता वस्तु तथा उपभोक्ता टिकाऊ वस्तु उद्योगों के पर्याप्त विकास के बाद ही कोई देश प्रायः पूंजीगत वस्तुओं के लिए बृहत बाजार विकसित करता है और तदुपरान्त द्वितीय चरण में हम स्वाभाविक परिणामस्वरूप पूंजी वस्तु उद्योग का विकास देख पाते हैं। इंग्लैण्ड में वस्त्र उद्योग की औद्योगिक क्रान्ति और पूंजीगत वस्तु औद्योगिक ढांचे के एक प्रमुख अंग के रूप में अभियंत्रित उद्योग के अभ्युदय के बीच कोई सात या आठ दशाब्दियां गुजरती पड़ी थीं। 1840 के आसपास ही इंग्लैण्ड 'विश्व-कर्मशाला' के रूप में उभरा। किन्तु भारत जैसे विकासशील देशों की स्थिति उनके निम्न औद्योगिक विकास के सन्दर्भ में कुछ भिन्न प्रतीत होती है।

पृष्ठभूमि

1947 में भारत की स्वतंत्रता के शीघ्र बाद विकसित राष्ट्रों के ऐतिहासिक अनुभव पर भरोसा करते हुए देश और विदेश के अनेक अर्थशास्त्रियों ने यह परामर्श दिया कि वह सर्वप्रथम उपभोक्ता वस्तु उद्योग पर ध्यान केन्द्रित करे और मूलभूत एवं पूंजी वस्तु उद्योगों को प्रारम्भ करने के पूर्व कुछ दशक तक प्रतीक्षा करे। फिर भी तत्कालीन प्रधानमंत्री स्वर्गीय पंडित जवाहरलाल नेहरू की दूरदर्शिता और सुयोग्य निर्देशन में देश के समग्र उद्योगीकरण के अन्तर्गत बुनियादी और पूंजी वस्तु उद्योगों को स्थापित करने तथा उच्च प्राथमिकता के साथ विकसित करने के लिए नीति निर्णय लिया गया। स्वतंत्र भारत सरकार द्वारा प्रदत्त औचित्य यह था कि बुनियादी एवं पूंजी वस्तु औद्योगिक क्षेत्र की उपेक्षा होने से एक ऐसी स्थिति का सृजन होगा जिसमें इस्पात, विद्युत इत्यादि के अभाव में उपभोक्ता वस्तुओं की मात्रा में वांछित वृद्धि सम्भव नहीं होगी। इसके अतिरिक्त ऐसी स्थिति में बुनियादी तथा पूंजी वस्तु उद्योगों का विकास अनेक दशकों तक विलम्बित हो जायेगा। अतः देश ने 1950 वाले दशक के अन्तर्गत भारत के औद्योगीकरण की प्रक्रिया के प्रारम्भ में बुनियादी एवं पूंजी वस्तु उद्योगों को विकसित करने के लिए महान प्रयत्न करने का कार्यक्रम तय किया।

1947 में देश की स्थिति की चार बुनियादी विशेषताएं थीं : (i) पूंजीगत वस्तु उद्योग नाम की कोई चीज नहीं थी। कुछ इंजीनियरिंग शॉप्स थे जो मुख्यतः भारतीय रेलों की आवश्यकता की आपूर्ति करते थे और दो इस्पात मिलें भी थीं जो प्रतिवर्ष मोटे तौर पर 1.5 मिलियन टन इस्पात पैदा करती थीं, (ii) विद्युत, जल, यातायात सुविधाओं के रूप में औद्योगिक विकास को त्वरित करने के लिए आवश्यक संरचना का अभाव था; (iii) भारतीय कृषि का स्तर बड़ा दयनीय था, (iv) कृषि को छोड़कर

लाभप्रद रोजगार का कोई अन्य साधन नहीं था। इसके फलस्वरूप आय, उपभोग और बचत का स्तर दयनीय था।

स्वतंत्र भारत की सरकार ने नीति निर्णय लिये। यथा, (i) कृषि का सुधार, (ii) बड़े एवं भारी उद्योगों की स्थापना द्वारा देश के बुनियादी और पूंजीगत वस्तु उद्योगों का विकास, (iii) आम उपभोग की वस्तुओं के निर्माण में वृद्धि तथा उद्योग में रोजगार अवसरों का सृजन, तथा (iv) तीव्र औद्योगिक विकास हेतु संरचना का विकास।

इन कार्यों की विशालता को देखते हुए भारत सरकार के लिए यह स्वाभाविक था कि वह खुद इसका नेतृत्व अपने हाथों में ले। फलत राज्य सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के प्रमुख साधन के रूप में उभरा। सभी आर्थिक क्षेत्रों में विकास हेतु पूंजी का निर्धारण सरकार को करना पड़ा, ताकि आर्थिक विकास के विभिन्न क्षेत्रों में साधन आवंटन इस रूप में हो सके कि सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्यों के ढांचे के अनुकूल विकास प्रक्रिया में अन्तर्क्षेत्रीय संतुलन की प्राप्ति हो। यहीं पर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत की पंचवर्षीय योजनाओं की धारणा महत्वपूर्ण हो गयी।

विकास के प्रारंभिक चरण में भारत सरकार द्वारा लिये गए मौलिक निर्णयों में से एक यह था कि भारतीय अर्थव्यवस्था का ढांचा मिश्रित अर्थव्यवस्था पर आधारित हो, जिसका मतलब यह था कि जहां एक ओर आर्थिक विकास में सरकार का वृहत और प्रमुख हिस्सा होगा, वहां दूसरी तरफ निजी प्रेरणा के लिए भी एक वैधानिक निश्चित स्थान होना चाहिए। इन दोनों गतिविधियों के बीच किस रूप में विकास के विभिन्न चरणों और विविध समयों में समन्वय हो सकता है—यह भारत में नियोजन का प्रमुख उद्देश्य रहा है।

भारत में लोक-क्षेत्र का अभ्युदय औद्योगिक विकास के प्रमुख साधन के रूप में हुआ है और इस क्षेत्र ने यह निजी क्षेत्र के साथ एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। इसने अपनी पूरी ताकत के साथ इस कार्य में अपने आपको लगाया है। यह बात नहीं है कि औद्योगिक विकास लोक क्षेत्र में हुआ है। सच तो यह है कि निजी उद्यमों—वृहत, मध्यम और लघु प्रकार—को अधिमान वित्त के द्वारा राजकोषीय सहायता और... सरकारी प्रोन्नति के द्वारा प्रोत्साहित किया गया है ताकि बुनियादी और पूंजीगत क्षेत्र में आत्म-निर्भरता की दिशा में यह प्रयास त्वरित और प्रोन्नत किया जा सके। फलत विश्वास के साथ यह कहा जा सकता है कि भारत स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के तीन दशक के क्रम में कुछ जटिल औद्योगिक मशीनों को छोड़कर बुनियादी और पूंजीगत उद्योगों के मामले में आत्म निर्भर हो गया है।

भारतीय अर्थव्यवस्था एक झलक में

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद विगत तीन दशकों के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था महान् परिवर्तनों से होकर गुजरी है। इन तीस वर्षों की अवधि को विस्तृत रूप से तीन दशकों में विभाजित किया जा सकता है यथा, 1950-51 से 1960-61, 1960-61 से

1970-71 और 1970-71 से 1980-81 । कृषि सहित सभी महत्त्वपूर्ण आर्थिक क्रियाओं में सामयिक सुधार हुए हैं । इन तीस वर्षों की अवधि में 2.19 प्रतिशत की औसत वार्षिक जनसंख्या-वृद्धि ने विकास को बहुत अधिक बाधा पहुंचायी है, तथा कच्चे तेल और अन्य पेट्रोलियम उत्पादों के बढ़ते हुए आयातों के फलस्वरूप नकारात्मक व्यापार सन्तुलन बढ़ता गया है । कच्चे तेल और पेट्रोलियम उत्पादों की कीमतें 1972 से 450 प्रतिशत बढ़ गयी । इन तीन दशकों में प्रति व्यक्ति आय वास्तविक रूप में 53 प्रतिशत बढ़ी है तथा औसतन इसी अवधि में 2.9 प्रतिशत वार्षिक जनसंख्या-वृद्धि की तुलना में 1.4 प्रतिशत वार्षिक रही । जहां तक व्यापार घाटे का सवाल है देश की आवश्यकता को पूरा करने के लिए तेल और पेट्रोलियम उत्पादों के आयात ने खलनायक की भूमिका निभायी है । उपर्युक्त तीनों अवधियों में प्रति व्यक्ति आय की वार्षिक वृद्धि दर महत्त्वपूर्ण रही है लेकिन अनेक विकासशील देशों की तरह स्फीति की ऊंची दर के कारण वृद्धि अपेक्षाकृत कम हो गयी है ।

यद्यपि शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति में कृषि का कुल योगदान सबसे अधिक रहा है, फिर भी, आनुपातिक रूप में इसका हिस्सा घटता गया और उद्योग, यातायात, संचार-वहन, व्यापार और सेवाओं का हिस्सा बढ़ता गया । वर्तमान कीमतों पर राष्ट्रीय आय की क्षेत्रीय संरचना निम्नांकित है :

क्षेत्र	1950-51	1979-80
कृषि क्षेत्र	51.2%	36.2%
औद्योगिक क्षेत्र	16%	25.5%
यातायात, व्यापार इत्यादि	17.7%	22.5%
सेवाएं	15.1%	15.8%
जोड़	100.0	100.0

उपर्युक्त अवधि में वास्तविक रूप में राष्ट्रीय आय में कृषि का हिस्सा 51 प्रतिशत से घटकर 36 प्रतिशत हो गया है और उद्योग का हिस्सा इसी अवधि में 16 प्रतिशत से बढ़कर 25.5 प्रतिशत हो गया है । यद्यपि कृषि राष्ट्रीय आय के 36% हिस्से को प्रदान करती है, फिर भी 70 प्रतिशत से ज्यादा लोग कृषि और उससे सम्बद्ध क्षेत्र से अपनी जीविका प्राप्त करते हैं । अगर राष्ट्रीय आय में औद्योगिक हिस्से की आनुपातिक वृद्धि के साथ-साथ कृषि से भारतीय श्रम-शक्ति को तदनुरूप हटाया गया होता तो यह भारतीय अर्थव्यवस्था के ढांचे का सर्वाधिक प्रगतिशील विविधीकरण माना जाता । ऐसा नहीं होने का कारण मुख्यतः असीम जनसंख्या का विस्फोट है । जनसंख्या-वृद्धि ने आय-वृद्धि को मात कर दिया है । उदाहरणार्थ, 1950-51 से 1980-81 की अवधि में वास्तविक राष्ट्रीय आय 184 प्रतिशत बढ़ी जबकि इसी

अवधि में 150 प्रतिशत की जनसंख्या-वृद्धि ने प्रति व्यक्ति आय की 53 प्रतिशत वृद्धि के बावजूद मुश्किल से 1.5 प्रतिशत रहने दिया है।

आधुनिकतम प्रवृत्तियां

वर्ष 1981-82 में भारतीय अर्थव्यवस्था में हुई विकास अर्थव्यवस्था विभिन्न दिशाओं में सुधार के विगत निर्देशों की सम्पुष्टि करते हैं। 1981-82 में कृषि उत्पादन में लगभग 4 प्रतिशत की सर्वोचित वृद्धि का अनुमान लगाया गया है और औद्योगिक उत्पत्ति में 8 प्रतिशत बढ़ने की उम्मीद की गयी है जो 1980-81 की प्राप्त दर के दुगुनी है। विद्युत, कोयला और रेल क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण सुधार की सम्भावना है। राष्ट्रीय आय में 5.3 प्रतिशत की वृद्धि का अनुमान है यानी जनाकिक वृद्धि दर से ऊंची। थोक मूल्यों का निर्देशांक विगत वर्ष की अपेक्षा अधिक धीमी गति से बढ़ने वाला है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि पूर्व की आशंका के विपरीत वर्तमान भुगतान सन्तुलन का घाटा कम होने की सम्भावना है।

1981 के अप्रैल से सितम्बर के बीच महत्त्वपूर्ण संरचना के क्षेत्र में हुई प्रगति के सम्बन्ध में केन्द्रीय वित्त मन्त्रालय द्वारा की गई मध्य वार्षिक समीक्षा का दावा है कि अर्थव्यवस्था का पुनरुत्थान, जो 1980-81 वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ में शुरू हुआ था, वित्तीय वर्ष के इन छह महीनों (अप्रैल-सितम्बर) की अवधि में और अधिक आवेग से हुआ है। विद्युत् प्रजनन में 14.3 प्रतिशत कोयला क्षेत्र में 10 प्रतिशत और इस्पात उत्पादन में 18.5 प्रतिशत की वृद्धि के फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन में प्रभावकारी रूप से सुधार हुआ। अप्रैल-अगस्त 1981 में 12 उद्योगों की विकास दर 25 प्रतिशत के लगभग रही और अन्य 7 उद्योगों की वृद्धि दर 10 से 25 प्रतिशत के बीच में रही। कुछ बुनियादी उद्योगों ने भी महत्त्वपूर्ण रूप से उच्च विकास दरें रेखांकित की हैं। 1981-82 के प्रथम पांच महीनों में बिक्री-योग्य इस्पात का उत्पादन 24.2 प्रतिशत, उर्वरक का उत्पादन 71 प्रतिशत और सीमेन्ट का उत्पादन 17.2 प्रतिशत बढ़ा। इसके अतिरिक्त अन्य उद्योगों में भी विगत वर्ष की इसी अवधि की तुलना में उत्पादन-वृद्धि पहले की अपेक्षा अधिक हुई है।

कृषि-मोर्चे पर 1980-81 का महत्त्वपूर्ण पुनरुत्थान 1981-82 में बनाये रखा गया है।

स्फीति का नियन्त्रण एक अत्यावश्यक कार्य है जिसका निदान भारत सरकार को करना चाहिए। और एतत्सम्बन्धी अनेक दिशाओं में किये गये प्रयासों को सफलता मिली है। स्फीति की वार्षिक दर 1979-80 में 23 प्रतिशत थी जो 1980-81 में घटाकर 16 प्रतिशत कर दी गयी। वर्तमान वर्ष (1981-82) में यह और अधिक घटकर 7 प्रतिशत से भी कम हो गयी है।

भारतीय उद्योग

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश के औद्योगीकरण के लिए भारत सरकार के विचारपूर्ण नीति-निर्णय और इस सम्बन्ध मे लोक एव निजी दोनो ही क्षेत्रों म विशाल विनियोग के फलस्वरूप प्रथम पचवर्षीय योजना (1950-51) के प्रारम्भ से लेकर इन तीन दशकों मे भारतीय उद्योग का महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है। देश मे निर्माण उद्योगा की सख्या 1951 म 24,800 थी, जो 1980 म बढकर 1,42,000 हो गयी। आज प्रतिवर्ष 8,000 के आसपास नये कारखाने स्थापित हो रहे है, जिनमें से अधिकाश लघु आकार के है। कारखानो मे सेवारत श्रमिको की सख्या इस अवधि (1951-1980) मे 2 9 मिलियन से बढकर 6 8 मिलियन हो गयी। इन कारखानो से प्राप्त उत्पत्ति का मूल्य उत्पाद-कर छोडकर वर्तमान कीमतो पर 1956 में 31,000 मिलियन रुपये से बढकर 1980 में 647,000 मिलियन रुपये हो गया।

भारत में औद्योगिक ढाचा लोक निगम क्षेत्र, निजी निगम क्षेत्र, सहकारी क्षेत्र, निजी साझेदारी तथा व्यक्तिगत स्वामित्व का एक मिला-जुला रूप है। सरकार की भूमिका औद्योगिक सरचनाओ तक ही सीमित नही रही है, बल्कि इसने स्वय अपने लोक क्षेत्र निगमो के द्वारा उद्योग और व्यवसाय के क्षेत्र मे निजी क्षेत्र के साथ साथ सह-भूमिका भी निभायी है। इसके साथ ही साथ यह ढाचा विभिन्न क्षेत्रो के बीच न्यायोचित ढग से उद्योग के लाभो का वितरण हो सके, इसके लिए सकारात्मक नियत्रण का प्रयोग करता है। यथा समाज और समुदाय की सामाजिक, शैक्षणिक, स्वास्थ्य एव वातावरण सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति तथा राष्ट्र के विकास तथा समृद्धि के लिए समग्र सरचना की व्यवस्था करता है।

1977-78 मे लघु इकाइयो की सख्या का बाहुल्य था, जिनमे श्रमिको की सख्या 49 तक थी। 200 से कम मजदूर नियुक्त करने वाले लघु कारखाने 80,000 थे और 200 से अधिक श्रमिक वाले कारखाने शेष 5,000 थे। 1,000 से 1,999 श्रमिको के साथ मध्यम एव बृहत इकाइयो की सख्या 576 थी। 2,000 से 4,000 के बीच श्रम शक्ति वाली बृहत्तर इकाइया 370 थी और 5,000 से अधिक श्रमिकों के साथ बहुत बडी इकाइया मात्र 84 थी। यद्यपि भारत मे लघु प्रमाप औद्योगिक इकाई की परिभाषा पूजी विनियोग के दृष्टिकोण से दी जाती है, तथापि श्रम-शक्ति भी उद्यम के आकार को इगित कर सकती है।

यह अनुभव किया जाना चाहिए कि पूर्णत परिमाणात्मक आधार पर,भारतीय उद्योगों की उस महत्त्वपूर्ण प्रगति को प्रकट करने म विफल रहे हैं जो इन वर्षो के दौरान प्रौद्योगिक जटिलता से रूप मे हुई है। भारत की कुल औद्योगिक उत्पत्ति का मूल्य भारतीय अर्थव्यवस्था के मूल्याकन-केन्द्र (सी० एम० आई० ई०, बम्बई) ने वर्ष 1980 के लिए 647 बिलियन रुपये अनुमानित किया है। वास्तविक रूप मे औद्योगिक उत्पादन के निर्देशाको द्वारा मापने पर यह पता चलता है कि औद्योगिक उत्पत्ति की मात्रा विगत 30 वर्षो (1950-80) मे पाच गुनो बढ गयी है, जिसकी औसत वार्षिक वृद्धि दर

5 7 प्रतिशत है।

फिर भी विगत 30 वर्षों की अवधि में यह धीमी औसत-वृद्धि विभिन्न उद्योगों के बीच विकास दर की महत्त्वपूर्ण क्षेत्रीय विषमताओं को छिपा देती है। 1956 से लेकर 1976 के बीच बुनियादी उद्योगों के कुल उत्पादन में सापेक्षिक भाग 22 13 से बढ़कर 36 14 प्रतिशत हो गया, पूँजी वस्तु उद्योगों का 4 71 से बढ़कर 16 76 प्रतिशत तथा मध्य महत्त्वपूर्ण वस्तु उद्योगों के लिए यह 24 59 से गिरकर 19 27 प्रतिशत हो गया और उपभोक्ता वस्तु पैदा करने वाले क्षेत्र में यह 48 37 से घटकर 27 83 प्रतिशत हो गया। आँकड़ों की इन प्रवृत्तियों से कुछ स्पष्ट निष्कर्ष निकलते हैं। बुनियादी और पूँजीगत वस्तु उद्योग का विकास भारत में उपभोक्ता वस्तु उद्योग की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से हुआ है। उपभोक्ता वस्तु की श्रेणी में भी टिकाऊ वस्तुओं के उत्पादन ने गैर-टिकाऊ वस्तुओं की उत्पादन दर को बहुत अधिक मात कर दिया है।

लेकिन इन क्षेत्रीय औसतों को विशेष अवर-क्षेत्रों की उत्पादन-विषमताओं ने विकृत कर दिया है। इस प्रकार बुनियादी उद्योगों में लोहा एवं इस्पात, खनन जैसे पुराने अवर-क्षेत्रों की स्थिति बुरी रही है और इसमें कुल औसत नीचे आ गया है। इसके विपरीत भारी रसायन, बिजली उत्पादन अल्युमिनियम और उर्वरक जैसे नये अवर-क्षेत्रों का निष्पादन बहुत अच्छा हुआ है।

पूँजी वस्तु उत्पन्न करने वाले क्षेत्र में यही सामान्य ढाँचा रहा है। रेल के साज-सामान जैसे प्राचीन अवर-क्षेत्र का सापेक्षिक भार निम्न रहा है, जबकि मोटर गाड़ियों और मशीनों (विद्युत एवं गैर-विद्युत), बिजली के सामान औजार इत्यादि का भार बहुत तीव्र गति से बढ़ा है।

आज भारत के औद्योगिक दृश्य-पट पर नये क्षेत्रों एवं अवर क्षेत्रों के महत्त्व में इस गतिमान वृद्धि की प्रवृत्ति को भुलाया नहीं जा सकता। इसके साथ ही साथ यह भी स्पष्ट है कि मध्य एवं उपभोग वस्तु क्षेत्रों की अपेक्षा बुनियादी एवं पूँजी वस्तु क्षेत्र अधिक महत्त्वपूर्ण होते जा रहे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय अर्थव्यवस्था उद्योगीकरण के उसी ढाँचे का अनुसरण कर रही है जिसे पश्चिम के विकसित राष्ट्रों ने किया।

भारतीय अर्थव्यवस्था के निष्पादन-सम्बन्धी उपलब्ध अद्यतन आँकड़ा (1981-82) के आधार पर औद्योगिक उत्पादन का निर्देशांक 1981-82 में 8 प्रतिशत बढ़ गया जबकि विगत वित्तीय वर्ष 1980-81 में यह 4 1 प्रतिशत था। निरपेक्ष अर्थ में औद्योगिक उत्पादन का निर्देशांक औसतन 1981-82 में 166 4 था, जबकि 1979-80 और 1980-81 में यह क्रमशः 148 1 तथा 154 2 था। यद्यपि अद्यतन औद्योगिक उत्पादन के मूल्य सम्बन्धी आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी निश्चित तौर पर अनुमान लगाया जा सकता है कि 1981-82 में वर्तमान कीमतों पर 1980-81 के 647 बिलियन रुपये से बढ़कर 750 बिलियन रुपये (80 बिलियन यू० एस० डालर)

किया।

फिर भी, 1982-83 के प्रारम्भिक परिणाम यह संकेत प्रदान करते हैं कि विगत वर्षों की अपेक्षा भारतीय अर्थव्यवस्था बहुत अच्छी स्थिति में है। संरचनात्मक सुविधाओं में सुधार हुआ है, क्योंकि विद्युत उपलब्धता में वृद्धि हुई है और श्रम-स्थिति भी शोचनीय नहीं है। यातायात सुविधाओं में सुधार हुआ है। ये प्रवृत्तियां पहले ही आयात वृद्धि दर में गिरावट और निर्यातों में वृद्धि के रूप में प्रतिबिम्बित हुई हैं। 1982-83 में विगत वर्ष की तुलना में 15 प्रतिशत निर्यात-वृद्धि (86500 मिलियन रुपये) होने का अनुमान है। निर्यातों के इस नियोजित स्तर के विपरीत आयात 140,000 मिलियन रुपये होने वाला है। इस प्रकार 1982-83 की प्रत्याशित व्यापार न्यूनता (53500 मिलियन रुपये) 1981-82 के 57150 मिलियन रुपये की तुलना में कम है।

प्रौद्योगिक उपलब्धियां

आज भारत विश्व के ऐसे आधे दर्जन देशों में से एक है जो न्यूक्लियर पावर स्टेशन, सुपर-सोनिक जेट फाइटर तथा अंतरिक्ष उपग्रह जैसे जटिल यंत्रों को बनाने में सक्षम है। फिर भी अनेक भारतीय स्वतन्त्रता के बाद विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुई इस प्रगति की प्रशंसा नहीं करते। उदाहरणार्थ, तीसी के मध्य में भारतीय सिलाई मशीन बनाना एक गुरुतर कार्य था, क्योंकि उन दिनों हमारे पास आन्तरिक अभियन्त्रण उद्योग नाम की कोई चीज नहीं थी। इन्जीनियरिंग उद्योग का हमारा वर्तमान उत्पादन (180,000 मिलियन रुपये प्रतिवर्ष) एक महान प्रगति का विषय है जिसे भारत ने स्वतन्त्रता के बाद प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्राप्त किया है।

यह संदेहास्पद नहीं है कि आज देश में वर्तमान प्रौद्योगिक क्षमताओं के अधिकांश नहीं तो कुछ की स्थापना विदेशी (औद्योगिक राष्ट्रों) सहयोग समझौते के फलस्वरूप हुई है। 1948 से लेकर 1979 तक भारत सरकार ने 6,079 विदेशी सहयोग समझौतों को अपनी स्वीकृति प्रदान की तथा अगर हम सिर्फ उद्योग के संगठित क्षेत्र पर भी विचार करें तो पायेंगे कि 1979 के अन्त में 1,204 सहयोग समझौते कार्यरत थे।

इसके साथ ही साथ, भारत ने प्रौद्योगिकी आत्म-निर्भरता की दिशा में भी प्रशंसनीय कदम उठाये हैं। कुछ राष्ट्रीय शोध एवं विकास खर्च का 50 प्रतिशत भाग प्रमुख वैज्ञानिक अभिकरणों पर चला जाता है, यथा, आण्विक ऊर्जा विभाग, अंतरिक्ष शोध एवं विकास संगठन, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक शोध परिषद्, भारतीय कृषि परिषद्, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग, भारतीय मेडिकल शोध परिषद् तथा इलक्ट्रोनिक्स विभाग। भारत में शोध एवं विकास व्यय में महत्त्वपूर्ण वृद्धि स्वतन्त्रता के बाद हुई है। 1948-49 में यह 10 मिलियन रुपये थी जो 1976-77 में बढ़कर 4500 मिलियन रुपये हो गयी। इन सरकारी संगठनों के अतिरिक्त अनेक पूर्णतः उद्योग पर आधारित शोध एवं विकास संगठन भी हैं, यथा, सेन्ट्रल मेकैनिकल इंजीनियरिंग रिसर्च इन्स्टीट्यूट, चमड़ा शोध संस्थान, सेन्ट्रल मशीन टूल्स संस्थान, प्लाईवुड शोध संस्थान इत्यादि। स्वयं

उद्योगों के अन्दर भी शोध एवं विकास क्रियाकलापों में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है। फिर भी अभी इस मद में लोक एवं निजी क्षेत्र के उद्योगों द्वारा किए गये खर्च की राशि कम है। शोध एवं विकास व्यय में केन्द्रीय सरकार का हिस्सा 1978-79 में 81 प्रतिशत था। इधर हाल में विभिन्न औद्योगिक उद्यमों के शोध एवं विकास सम्बन्धी क्रियाकलाप को प्रोन्नत करने के लिए भारत सरकार ने महत्त्वपूर्ण मौद्रिक एवं राजकोषीय प्रेरणाएं प्रदान की हैं।

सरकार और उद्योग की इन क्रियाओं को बढ़ाने के लिए देश के विश्वविद्यालय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संस्थान तथा अभियन्त्रणा महाविद्यालय शोध एवं विकास क्रियाएं सम्पादित करते हैं। अभी देश में 2.5 मिलियन वैज्ञानिक 120 विश्वविद्यालय, 5 प्रौद्योगिकी के उच्च संस्थान 150 अभियन्त्रणा महाविद्यालय 350 पालीटेक्निक्स और 100 चिकित्सा महाविद्यालय हैं। ये प्रति वर्ष कोई 15,0000 योग्य वैज्ञानिक एवं तकनीकी कार्मिक पैदा करते हैं। देश की तीव्र शोध-विकास प्रगति को प्राप्त करने के लिए सरकार की विचारपूर्ण नीति के फलस्वरूप भारत के प्रौद्योगिक विकास का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है। प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने वातावरण एवं विकास की अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका 'MAZINGIRA' के अपने निबंध में लिखा है "तीव्र विकास के लिए हमें जटिल प्रौद्योगिकी की आवश्यकता है। लेकिन जब हम किसी परिवर्तन की परिकल्पना की जाती है, तो यह कुछ श्रमिकों को तबाह कर देता है तथा अस्थायी तौर पर औद्योगिक श्रम को विस्थापित कर देता है। मुझे औद्योगिक राष्ट्र के लोगों ने आश्वासन दिलाया है कि यही परिवर्तन दीर्घकाल तक अधिक रोजगार प्रदान करता एवं मात्र सरोता है।"

भारतीय संयुक्त उद्यम

भारत के औद्योगिक मशीन एवं सयन्त्रों को निर्मित करने की प्रौद्योगिक क्षमता इन वर्षों में उच्च स्तर पर पहुंच गयी है। यह इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि अधिकांश विकासशील देश संयुक्त उद्यम द्वारा भारत से तकनीकी एवं वित्तीय सहयोग की आकांक्षा रखते हैं। आज अनेक भारतीय कम्पनियों द्वारा 228 संयुक्त उद्यम 40 देशों में स्थापित हैं जिनमें 1200 मिलियन रुपये का विनियोग हुआ है। इनसे प्राप्त आय की राशि 1980-81 तक 205 मिलियन रुपये हो गयी। इन परियोजनाओं के द्वारा भारत से अतिरिक्त निर्यात की राशि 1137 मिलियन रुपये की थी। लगभग 40 परियोजनाएं ब्रिटेन, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड, युगोस्लाविया आस्ट्रेलिया और संयुक्त जैसे विकसित देशों में स्थित हैं। अन्य सभी 189 परियोजनाएं एशिया, अफ्रीका और मध्य पूर्व के विकासशील देशों में अवस्थित हैं। चीन में भी वस्त्र उद्योग आदि के क्षेत्र में संयुक्त उद्यम स्थापित करने की योजना भारत की है। इस आशय का 'मेमोरेण्डम ऑफ अण्डरस्टैंडिंग' पर भारतीय फर्मों और चीन के बीच हस्ताक्षर भी इधर हाल में हो गये हैं।

आज भारत विश्व के अग्रगण्य औद्योगिक राष्ट्रों में से एक है। स्वतंत्रता के पूर्व महत्त्वपूर्ण उद्योग, जूट, सूती वस्त्र उद्योग, चाय, काफी और रबर से सम्बन्धित थे। विनिर्मित वस्तुओं की अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति आयातों द्वारा होती थी। आज अधिकांश औद्योगिक आयातों का स्थानीय उत्पादों ने विस्थापित कर दिया है। भारत आज अपने प्रमुख उद्योगों, यथा, सूती वस्त्र, जूट, चीनी, रसायन, कागज और सिमेण्ट उद्योगों के लिए आवश्यक प्लाण्ट एवं मशीनरी को बनाने में अपेक्षाकृत अधिक आत्म-निर्भर है। देश अब साइकिल एवं ट्रांजिस्टर युग से आगे बढ़ गया है तथा रेफ्रिजिरेटर, दूरदर्शन यन्त्र, इलेक्ट्रॉनिक कैलकुलेटर तथा स्टीरियो यन्त्र बनाने की स्थिति में पहुंच चुका है जिन्हें अनेक देशों में निर्यात किया जाता है। अधिकांश बुनियादी दवाएं तथा रसायन, जो इस शताब्दी के छठे दशक में भी बाहर से मंगाये जाते थे, अब देश में ही पैदा किये जाते हैं। कम्प्यूटर प्रणाली एवं जटिल उपभोक्ता एवं पेशेवर इलेक्ट्रानिक्स के क्षेत्र में श्रीगणेश हो चुका है। इस प्रकार तीन दशक की अवधि में भारतीय उद्योग 'साबुन से लेकर उपग्रह' तक औद्योगिक उत्पादों की एक विस्तृत श्रृंखला के निर्माण में सक्षम हो गया है।

अध्याय 22

भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र का महत्त्व

आज राज्य के उत्तरदायित्वों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। राज्य अब आर्थिक प्रक्रिया का केवल मूक एवं निष्क्रिय दर्शक मात्र ही नहीं रह गया है, बल्कि नागरिकों और उद्योगों के संरक्षक, नियामक तथा अभिभावक के रूप में सक्रिय भूमिका अदा कर रहा है। सोवियत रूस और चीन जैसे समाजवादी देशों की बात तो दूर रही, इंग्लैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे पूंजीवादी देशों में भी सार्वजनिक क्षेत्र का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। सच तो यह है कि समाज की आर्थिक क्रियाओं में राजकीय हस्तक्षेप आधुनिक सरकारों के कार्यक्रमों का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। विभिन्न देशों में राजकीय हस्तक्षेप की मात्रा और क्षेत्र अलग-अलग हो सकते हैं, लेकिन आर्थिक असन्तुलनों को दूर करने, समाज में हितों का संवर्द्धन करने तथा राष्ट्रीय हित में विकास-कार्यक्रमों को संचालित करने की दृष्टि से लोक उद्योगों की स्थापना और विस्तार वर्तमान सरकारों का अनिवार्य दायित्व हो गया है। आज विश्व का शायद ही कोई देश ऐसा होगा जहां वाणिज्यिक तथा औद्योगिक उपक्रमों की स्थापना एवं संचालन में सरकार द्वारा सक्रिय भूमिका न निभाई गई हो।

भारतीय योजनाकरण के सामान्य उद्देश्यों और सामाजिक प्रतिबद्धताओं का उद्देश्य, हमारे संविधान में दिये गये नीति निर्देशक सिद्धान्तों के कार्यान्वयन में राज्य को सम्पूर्ण समुदाय की ओर से प्रमुख अभिकरण के रूप में भारी दायित्व निभाना पड़ता है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से ही यह कार्यनीति प्रतिपादित की गयी कि राज्य न केवल आधारभूत संरचनात्मक सुविधाएं उपलब्ध कराने का दायित्व अपने जिम्मे ले, बल्कि वह प्रत्यक्ष सम्वर्धनात्मक कार्य भी करे। औद्योगिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता स्वीकार की गयी तथा बुनियादी और महत्त्वपूर्ण उद्योगों का विकास सरकारी क्षेत्र के लिए निर्धारित किया गया। इसके साथ ही यह भी अनुभव किया गया कि देश के सामने कार्य इतना बड़ा है कि निजी क्षेत्र में उपलब्ध पहल और विशेषज्ञता का उपयोग करना पड़ेगा ताकि अधिकतम विकास हो सके, हालांकि निजी क्षेत्र के कार्य-कलाप को विनियमित किया जाना था और उन्हें योजनाबद्ध विकास के समग्र सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों के अनुरूप बनाया जाना था। इसका आशय यह था कि सरकार की विनियमनकारी शक्ति तथा केन्द्रीय कानून और राजकोषीय, वित्तीय और मुद्रा सम्बन्धी नीतियों का उपयोग निजी क्षेत्र में आर्थिक कार्य-कलाप के निदेशन

के लिए किया जाना था।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् देश के सन्तुलित, सर्वांगीण और तीव्र आर्थिक विकास के लिए हमने मिश्रित अर्थव्यवस्था का मार्ग अपनाया है। मिश्रित अर्थव्यवस्था की विचारधारा, जिसका विकास मुख्य रूप से 1929-30 की विश्व-व्यापी मन्दी के पश्चात् हुआ है, दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं—स्वतन्त्र पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और पूर्ण सामाजीकृत अर्थव्यवस्था—के बीच लाभप्रद समझौते का परिणाम है। मिश्रित अर्थव्यवस्था आर्थिक विकास की वह प्रणाली है, जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र साथ-साथ कार्य करते हैं। यह स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था और केन्द्रीय नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था दोनों से भिन्न है, अर्थात् इस व्यवस्था में उत्पादन और वितरण के साधनों पर कुछ सीमा तक राज्य का और कुछ सीमा तक व्यक्तियों का अधिकार रहता है। इस प्रणाली में, राज्य और व्यक्ति दोनों का देश की आर्थिक क्रियाओं में महत्वपूर्ण योगदान रहता है। राज्य और व्यक्ति दोनों ही उत्पादन और वितरण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से उन्नत और समृद्धशाली बनाने का प्रयत्न करते हैं। दोनों क्षेत्रों के साथ-साथ कार्य करने के कारण दोनों में स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा रहती है, जिससे देश की अर्थव्यवस्था पर किसी भी क्षेत्र का एकाधिकार स्थापित नहीं हो पाता, बल्कि दोनों क्षेत्रों की शक्ति का अधिकतम उपयोग होने के कारण प्रसाधनों का समुचित विदोहन होता है, उत्पादन की मात्रा एवं गुणों में वृद्धि होती है, वितरण की व्यवस्था में सुधार होता है और प्रबन्धकीय एवं तकनीकी कुशलता का विकास होता है। इस प्रकार इस प्रणाली में समाज का अधिकतम कल्याण होता है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र था ही नहीं। केवल उल्लेखनीय लोक-उद्यम थे, यथा, रेल, डाक और तार, युद्ध सामग्री और विमान कारखाने तथा कुछ राजकीय प्रबन्ध वाले कारखाने इत्यादि। वस्तुतः अपने देश में सार्वजनिक क्षेत्र का जन्म 1948 में औद्योगिक नीति प्रस्ताव अंगीकार करने के साथ ही हुआ। इसके बाद 1951 का उद्योग अधिनियम बनाया गया। औद्योगिक नीति प्रस्ताव और उक्त अधिनियम ने सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों के अपने अपने दायरे नियत कर दिये, जिनमें उन्हें काम करना था। 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव ने उद्योगों को तीन स्पष्ट वर्गों में बांट दिया—(1) वे उद्योग जिनमें नयी इकाइयों की स्थापना की पूरी जिम्मेदारी सरकार पर होगी और रेलवे, वायुमार्ग परिवहन, अस्त्र-शस्त्र निर्माण और परमाणु ऊर्जा पर सरकार का एकाधिकार रहेगा, (2) वे उद्योग जिन पर सरकार उत्तरोत्तर अपना स्वामित्व स्थापित करती जायेगी और भविष्य में नये प्रतिष्ठानों की स्थापना भी सामान्यतः वही करेगी तथापि इस वर्ग में निजी क्षेत्र को विकास करने के अवसर होंगे और (3) शेष वे सब उद्योग जिनका विकास निजी क्षेत्र के हाथों में होगा, हालांकि सरकार इस वर्ग में भी अपना कोई उद्यम आरम्भ करने के लिए स्वतन्त्र होगी। इस प्रकार 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव में भारतीय अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र की अपेक्षित भूमिका को अधिक स्पष्ट रूप से

बनाया गया। वह प्रस्ताव आज भी औद्योगिक नीति का आधार बना हुआ है।

सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत उद्योगों की स्थापना यद्यपि प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में आरम्भ हुई, किन्तु इनका अधिक विकास द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में हुआ जिसे औद्योगिक योजना भी कहा जाता है। विभिन्न योजना अवधियों में उन योजनाओं के सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका का विस्तार किया गया। तीसरी तथा चौथी योजनाओं में विषमताएं घटाने, आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण की रोकथाम, जनजातीय और पिछड़े क्षेत्रों तथा पिछड़ी जातियों के विकास से सम्बन्धित नीतियों पर अधिक जोर दिया गया। 1969 में प्रमुख बैंकों के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप ऋण नीतियों के पुनर्गठन से भी अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र का महत्त्व बढ़ता गया है। पांचवी और छठी पंचवर्षीय योजना (1980 85) में गरीबी को दूर करने तथा आत्म-निर्भरता प्राप्त करने के प्रधान उद्देश्यों ने भी सार्वजनिक क्षेत्र को प्रमुख भूमिका प्रदान की है।

सार्वजनिक क्षेत्र को प्रमुख भूमिका सौंपने का औचित्य अपने देश में योजना-करण के विगत तीन दशकों में हुई प्रगति से साबित हो गया है। विशेष रूप से बुनियादी और भारी उद्योगों में राज्य द्वारा की गयी पहल के बिना यह प्रगति संभव न हो पाती। औद्योगिकरण के लिए अपेक्षित बुनियादी सुविधाएं उपलब्ध कराने का दायित्व भी

तालिका 22 1 पूंजी-विनियोग (करोड़ रुपयों में)

	सार्वजनिक क्षेत्र	निजी क्षेत्र
पहली पंचवर्षीय योजना (1951-56)	1,560 (46 4 प्रतिशत)	1 800 (53 6 प्रतिशत)
दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956-61)	3 650 (54 0 प्रतिशत)	3 100 (45 9 प्रतिशत)
तीसरी पंचवर्षीय योजना (1951-66)	6 300 (66 6 प्रतिशत)	4 100 (39 4 प्रतिशत)
चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-74)	13 653 (60 4 प्रतिशत)	8 940 (39 6 प्रतिशत)
पांचवी पंचवर्षीय योजना (1974-79)	31,400 (66 0 प्रतिशत)	16 161 (34 0 प्रतिशत)
छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85)	84 000 (53 0 प्रतिशत)	74 710 (47 0 प्रतिशत)

स्रोत : 1 योजना 26 जनवरी 1981, पृ० 101

2 छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85)

सरकार ने निभाया है। इन आर्थिक सुविधाओं और सामाजिक सेवाओं पर भारी निवेश करने और बुनियादी तथा महत्त्वपूर्ण उद्योगों का सार्वजनिक क्षेत्र में तीव्र विकास करने से ही औद्योगीकरण को गति मिली है और निजी क्षेत्र में औद्योगिक उत्पादन बढ़ने का वातावरण तैयार हुआ है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में योजनाकरण के विगत तीस वर्षों की अवधि के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार और बढ़ते हुए महत्त्व का अन्दाजा तालिका 22 1 और 22 2 में दिये गए आंकड़ों के अवलोकन से होता है।

तालिका 22 1 से स्पष्ट है कि जहां पहली पंचवर्षीय योजना अवधि में सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत पूंजी विनियोग 1,560 करोड़ रुपये का हुआ था वह पांचवीं योजना में बढ़कर 31,400 करोड़ रुपये हो गया और वह छठी योजना में 84,000 करोड़ रुपये आयोजित है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि योजना के कुल उद्व्यय में सार्वजनिक क्षेत्र का अनुपात जहां पहली योजना में 46 4 प्रतिशत था वह पांचवीं योजना में बढ़कर क्रमशः 66% हो गया। यद्यपि छठी योजना में सार्वजनिक क्षेत्र का प्रतिशत हिस्सा 53% है जिसका कारण योजना के आकार में वृद्धि है, मगर निरपेक्ष रूप से देखा जाय तो कुल राशि में लगभग तिगुने के बराबर वृद्धि है।

तालिका 22 2 केन्द्र सरकार के उद्यमों में विनियोग-वृद्धि

वर्ष	इकाइयों की संख्या	कुल विनियोग (करोड़ रुपये)	गत वर्ष की तुलना में प्रतिशत वृद्धि
1950-51	5	29	
1955-56	21	81	
1960-61	48	953	
1968-69	85	3,902	
1973-74	122	6 237	12.0
1974-75	129	7,261	16.4
1975-76	129	8,973	23.5
1976-77	145	11,097	23.7
1977-78	174	13,389	20.6
1978-79	156	15,602	16.5
1979-80	186	18,225	16 8
1980-81	185	21,126	15.9

स्रोत : केन्द्र सरकार के औद्योगिक एवं व्यावसायिक प्रतिष्ठानों का कार्यकरण सम्बन्धी वार्षिक प्रतिवेदन, 1980-81, पृ० 25

तालिका 22 2 मे प्रस्तुत आंकडो से स्पष्ट है कि जहा 1950-51 मे केन्द्र सरकार के उद्यमो की सख्या 5 थी और उनमे कुल विनियोग की राशि 29 करोड रुपये थी वह तीस वर्षों मे बढकर क्रमश 185 और 226 करोड रुपये हो गयी।

न केवल केन्द्र सरकार के उद्यमो की सख्या और उनमे निवेश म वृद्धि हुई है बल्कि इनके कार्यकलापो का विस्तार और विविधिकरण भी हुआ है। अधिकाश निवेश उद्योग और खनन क्षेत्र मे है। ऊर्जा के क्षेत्र म, कोयला खनन, पट्रोलियम व अन्वेषण और शोधन तथा बिजली उत्पन्न करने म सरकारी क्षेत्र को वास्तविक एकाधिकार प्राप्त है। रेल परिवहन, सचार और विमान परिवहन के क्षेत्र म एकाधिकार के अलावा जहाजरानी और सडक परिवहन म सरकारी क्षत्र का काफी बडा भाग है। बड़े बैंको के राष्ट्रीयकरण से सरकारी क्षेत्र को बैंकिंग वित्तीय और बीमा सवाओ म प्रमुख स्थान प्राप्त है। विनिर्माण क्षेत्र म, सरकारी क्षेत्र के कार्यकलापो म अनेक उद्योग, विशषकर बुनियादी उद्योग जैसे इस्पात अलौह धातुए, उर्वरक विद्युत उत्पादन के उपस्कर तथा अन्य उद्योग जैसे मशीनी औजार, खनन मशीने, इस्पात बनान क उपस्कर, औषधिया, पेट्रो-रसायन कीटनाशक और हल्के इजीनियरिंग-जैसे अन्य उद्योग बीमार उद्योगो के अधिग्रहण से सूती वस्त्र-जैसी उपभोक्ता वस्तुओ के क्षेत्र म सरकारी क्षेत्र की भूमिका का और अधिक विस्तार हो गया है। यहा तक कि सरकार द्वारा नियत्रण म ली गयी बीमार कपडा मिलो का उत्पादन आज देश की कपडा मिलो के कुल उत्पादन के पाचवें भाग के लगभग है।

सार्वजनिक क्षेत्र की शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति मे विगत 30 वर्षों के दौरान लगातार वृद्धि हुई है। वर्तमान मूल्यो पर सार्वजनिक क्षेत्रो का शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति म हिस्सा 7 5% था जो 1960-61 मे बढकर 10 6% हो गया और 1970 71 तथा 1978 79 म क्रमश 14 5% और 19 6% हो गया। वर्तमान मूल्यो पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति मे सार्वजनिक क्षेत्र के इस बढते हुए हिस्से की प्रवृति को तालिका 22 3 के आकडो द्वारा प्रदर्शित किया गया है, जो निम्नाकित है।

तालिका 22 3 राष्ट्रीय उत्पत्ति में वर्तमान मूल्यो पर शुद्ध सार्वजनिक एव निजी क्षेत्रों का प्रतिशत हिस्सा

(अ) लोक प्रशासन एव प्रतिरक्षा	4 5	4 0	4 7	5 0
(ब) लोक उद्यम	3 0	6 6	9 8	14 6
(स) कुल सार्वजनिक क्षेत्र (अ+ब)	7 5	10 6	14 5	19 6
(द) निजी क्षेत्र	92 5	89 4	85 5	80 4

स्रोत Central Statistical Organisation, National Accounts Statistics, 1970-71—1978-79, January 1981.

सार्वजनिक क्षेत्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान कुल घरेलू बचत और पूंजी निर्माण के सम्बन्ध में है। इस दिशा में इसका महत्व सामरिक और केन्द्रीय स्थान रखता है। यह तालिका 22.4 में दिये गए आंकड़ों से स्पष्ट होता है, जो निम्नांकित है।

तालिका 22.4. कुल घरेलू बचत एवं पूंजी निर्माण 1950-51 से 1979-80

(करोड़ रुपये में)

अवधि-औसत	सार्वजनिक क्षेत्र	निजी क्षेत्र	कुल	कुल बचत का प्रतिशत हिस्सा		प्रचलित कीमतों पर कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति का प्रतिशत		
				सार्वजनिक	निजी क्षेत्र	सार्वजनिक क्षेत्र	निजी क्षेत्र	कुल
कुल घरेलू बचत								
1950-51 से 1954-55	169	784	953	11	82	1.7	7.9	9.6
1955-56 से 1959-60	222	1292	1514	15	85	108	10.6	12.4
1960-61 से 1954-65	602	1916	2518	24	76	3.3	10.6	13.9
1965-66 से 1969-70	807	3902	4709	17	83	2.6	12.7	15.3
1970-71 से 1974-75	1669	7550	9219	18	82	3.2	17.4	21.9
1975-76 से 1978-80	4044	1558	19702	21	79	4.5	17.4	21.9
कुल पूंजी निर्माण								
1950-51 से 1954-55	309	666	975	32	68	3.1	6.7	9.8
1955-56 से 1959-60	743	1067	1810	41	59	6.1	8.7	14.8
1960-61 से 1964-65	1472	1507	2979	49	51	8.1	8.4	16.5
1965-66 से 1969-70	2222	3090	5112	42	58	7.4	10.1	17.4
1970-71 से 1974-75	4005	5657	9662	41	59	7.7	10.9	18.6
1975-76 से 1979-80	9062	10127	19189	47	53	10.2	11.1	21.3

स्रोत: (i) National Accounts Statistics: 1970-71—1978-79, January 1981

(ii) Estimate of National Product, Savings and Capital Formation, 1979-80, 1981

तालिका 22.4 से यह प्रकट होता है कि पहली योजना के दौरान सरकारी क्षेत्र का कुल पूंजी निर्माण में भाग 41 प्रतिशत था, परन्तु दूसरी योजना में सरकारी क्षेत्र का भाग गैर-सरकारी क्षेत्र में पूंजी निर्माण की तुलना में बढ़ गया है किन्तु तीसरी योजना के दौरान सार्वजनिक क्षेत्र का भाग गिरकर 47.5 प्रतिशत हो गया। वार्षिक योजनाओं की अवधि में यह और भी गिरकर 39.5 प्रतिशत हो गया। इसका मुख्य कारण वार्षिक योजनाओं के दौरान विनियोग की मात्रा में कमी थी। चौथी योजना के दौरान सरकारी क्षेत्र का भाग थोड़ा-सा बढ़कर 41.3 प्रतिशत हो गया है परन्तु सत्य तो यह है कि सरकारी क्षेत्र को जो सफलता दूसरी और तीसरी योजना अवधि में प्राप्त हुई थी, वह कायम नहीं रखी जा सकी है। पांचवीं योजनाकाल में सार्वजनिक और निजी क्षेत्र का भाग लगभग आधा-आधा हो गया है।

देश के औद्योगीकरण में सार्वजनिक क्षेत्र की बढ़ती भूमिका का संकेत इस तथ्य से भी मिलता है कि देश की बुनियादी कच्चे माल के उत्पादन में इसका प्रभावी भाग तथा कतिपय औद्योगिक और कृषि निवेशों के कुल उत्पादन में सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान बढ़ता गया है। कोयला, पेट्रोलियम, तांबा जैसे कुछ उद्योग तो अब लगभग पूर्ण रूप में सार्वजनिक क्षेत्र में ही हैं। इनके अलावा इस्पात, सीमेन्ट, एल्यूमिनियम, उर्वरक जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण उद्योग में भी सार्वजनिक क्षेत्र के भाग में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

पिछले दशक में सरकारी क्षेत्र के विकास की दो और भी विशेषताएं रही हैं। सरकार द्वारा स्थापित प्रमुख और अग्रणी उद्यमों की संख्या तथा उनके उत्पादन की मात्रा बढ़ी है। दूसरे, निजी क्षेत्र से ली गयी इकाइयों की संख्या में वृद्धि हुई है। यह वृद्धि कुछ तो कोयला, तांबा, आदि महत्त्वपूर्ण उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के कारण हुई है, किन्तु मुख्य रूप से सरकार द्वारा रुग्ण इकाइयों के अधिग्रहण के फलस्वरूप हुई है। उनका अधिग्रहण इसलिए किया गया कि औद्योगिक उत्पादन में स्थिरता बनी रहे और श्रमिकों का सतत रोजगार उपलब्ध रह सके। सरकार द्वारा नियन्त्रण में लिए गए इन उद्यमों के कर्मचारियों की संख्या केन्द्रीय सरकारी क्षेत्र के उद्यमों में काम करने वाले कुल कर्मचारियों की संख्या का लगभग 48 प्रतिशत है। मार्च 1980 में सार्वजनिक क्षेत्र के विभिन्न वर्गों में 157 लाख कर्मचारी कार्यरत थे जो सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रों में उपलब्ध कुल रोजगार का 65.5% भाग था। यह तालिका 22.5 में दिये गये आंकड़ों से स्पष्ट है।

सार्वजनिक क्षेत्रों के उद्यमों ने जहां एक तरफ रोजगार के अधिक अवसर उपलब्ध कराये हैं, वहां दूसरी तरफ कम आय वाले वर्ग के वेतन-स्तर को बढ़ाया है। इस प्रकार इनके उद्यमों ने आय में असमानता कम करने में भी सहायता की है। इन उद्योगों ने आदर्श सेवायोजक की भूमिका भी निभायी है। सरकारी उद्यम अपने कर्मचारियों को आवास, स्वास्थ्य-सेवा और शिक्षा की सुविधाएं आदि उपलब्ध करके सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। सरकारी क्षेत्र के कर्मचारियों की औसत परिलब्धियां 1968-69 में

तालिका 22.5. सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार (मार्च 1980)

	सार्वजनिक क्षेत्र		सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र के कुल योग में सार्वजनिक क्षेत्र का प्रतिशत हिस्सा
	लाख	कुल का प्रतिशत	
कृषि, आखेट, वन एवं मत्स्य पालन	10.8	6.9	55.3
खनन	7.9	5.0	86.3
विनिर्माण	14.4	9.2	24.7
विद्युत, गैस एवं जल	6.6	4.2	95.0
निर्माण	10.7	6.8	93.5
थोक, खुदरा व्यापार, रेस्तरां तथा होटल	1.1	0.7	23.0
यातायात, संवाद-वहन एवं भंडार	26.5	16.8	97.4
वित्त प्रबन्धन, बीमा, वास्तविक सम्पत्ति एवं व्यावसायिक सेवाएं	6.8	4.4	76.5
सरकारी प्रशासन, समुदाय, सामाजिक एवं वैयक्तिक सेवाएं	72.2	46.0	86.0
कुल	157.0	100.0	65.5

स्रोत : Quarterly Employment Review, Jan-March 1980, Directorate General of Employment and Training, Ministry of Labour, Govt. of India, 1980.

4,264 रुपये प्रतिवर्ष से बढ़कर 1980-81 में 14,214 रुपये प्रतिवर्ष हो गयी है। इस्पात, कार्यों पर, रेलें, डाक, प्रति कर्मचारी औसत व्यय भी इस अवधि में 420 रु॰ प्रतिवर्ष से बढ़कर 701 रुपये प्रतिवर्ष हो गया है।

सार्वजनिक उद्यमों का स्वरूप सामान्य पूंजी-प्रधान होता है। उद्यम कहां स्थापित किया जाए, इसका निर्णय भी तकनीकी आर्थिक आधार पर किया जाता है। फिर भी, सारे देश में केन्द्रीय निवेश का वितरण किया गया है और इसमें पिछड़े क्षेत्रों के विकास की आवश्यकता को भी ध्यान में रखा गया है। बड़े सीमेन्ट कारखानों और हिन्दुस्तान मशीन टूल्स की कुछ इकाइयों को पिछड़े क्षेत्रों में जान-बूझ कर उनका विकास करने के लिए स्थापित किया गया है। सरकारी क्षेत्र ने सहायक उद्योगों के विकास में भी

सहायता की है। सतत प्रयासों के परिणामस्वरूप सहायक इकाइयों की संख्या 1980-81 में बढ़कर 984 हो गयी है।

देश की अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने के बावजूद सार्वजनिक क्षेत्र में अनेक कमियाँ हैं, जिनके कारण यह क्षेत्र अक्सर आलोचना का शिकार होता रहा है। जिन मुख्य बातों के लिए सार्वजनिक क्षेत्र की आलोचना होती है वे हैं, सार्वजनिक क्षेत्र में निरन्तर घाटा तथा फिजूल खर्ची। तालिका 22 6 से इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है।

तालिका 22 6 सार्वजनिक क्षेत्र के वृहत विभागों की लाभ हानि 1975-76 से 1979 80 (करोड़ रुपये)

	लाभ (+) हानि (—)				
	1975-76	1976-77	1977-78	1978-79	1979-80
1 केन्द्रीय विभागेतर उद्यम	+129	+184	+91	—40	—74
2 रेलवे	—61	—87	+126	+37	—60
3 डाक-तार	—4	—112	+127	+146	+134
4 राज्य विद्युत पर्षद	—120	—112	—172	—230	—450
5 सिंचाई कार्य	—216	—244	—228	—297	—339
6 राज्य पथ-परिवहन प्रतिष्ठान (नगर सेवा सहित)	—34	—14	—एन० ए०	—एन० ए०	—111
कुल योग (1 से 6)	—306	+13	—238	—384	—900
कुल योग (1 से 5)	—272	—1	—238	—384	—789

स्रोत . Centre for Monitoring India Economy, Public Sector in the Indian Economy, August 1981.

उपर्युक्त तालिका 22 6 में सार्वजनिक क्षेत्र के वृहत विभागों की लाभ-हानि का विवरण पाँच वर्षों की अवधि (1975-76 से 1979-80) में प्रस्तुत है। इससे यह स्पष्ट है कि सिर्फ 1976-77 को छोड़कर सभी वर्षों में निरन्तर घाटे की राशि में वृद्धि होती गयी है। 1976-77 में नगण्य घाटे का कारण अर्थव्यवस्था पर आपात-काल का अनुकूल प्रभाव ही माना जायेगा।

सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में निम्न लाभकारिता या घाटा होने के कई कारण हैं, यथा—रुग्ण निजी कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण, निर्धारित से अधिक समय में उत्पादन शुरू होना, निर्धारित उत्पादन क्षमता के अनुरूप उत्पादन नहीं होना, कच्चे माल का वांछित मात्रा में और समय पर उपलब्ध न होना, आवश्यकता से अधिक कर्मचारियों की नियुक्ति, श्रमिक असंतोष इत्यादि।

छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) में 5 2 प्रतिशत वार्षिक विकास दर का

अध्याय 23

औद्योगिक सम्बन्ध में अशांति के लक्षण

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व अधिकांश आधारभूत उद्योगों का स्वामित्व एवं संचालन अपने देश (भारत) के निजी उद्यमियों के हाथ में था। यद्यपि कुछ उद्योग यथा, युद्ध सामग्री, तथा अस्त्र-शस्त्र बनाने के कारखाने, डाक-तार आदि केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में थे, फिर भी तत्कालीन शासकों के द्वारा इन्हें संचालित करने का विचार पूर्णतः भिन्न था। उस समय राजकीय प्रतिष्ठानों की वर्तमान विषय-वस्तु 'अधिकतम लोगों का अधिकतम कल्याण पूर्णतः अनुपस्थित थी। मुद्रा-सामग्री तथा अन्य शस्त्र बनाने के कारखानों को राजकीय नियंत्रण और संचालन में रखने का प्राथमिक उद्देश्य शस्त्रागार को अपने देशवासियों के विरुद्ध प्रयोग हेतु तत्पर रखना था और रेलवे को हथियारों तथा गोला-बारूद और उनका प्रयोग करने वाले लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान में ढोने के लिए तैयार रखना था।

1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने एक के बाद एक औद्योगिक नीति प्रस्तावों द्वारा स्पष्ट नीतियों का निर्धारण कर दिया है जिसमें यह उल्लिखित है है कि कुछ उद्योग राजकीय एकाधिकार में होंगे, कुछ सहकारी एवं लघु क्षेत्र के अंतर्गत और शेष उद्योगों का स्वामित्व एवं संचालन निजी क्षेत्र के उद्यमियों द्वारा होगा। उद्योग व्यवसाय में प्रबन्ध में सरकार का हस्तक्षेप सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति का एक अंग रहा है और इसे निजी विनियोगकर्ताओं के स्वामित्व एवं संचालन के बदले राज्य नियंत्रित व्यवसाय द्वारा आसानी से प्राप्त किया जा सकता है।

लेकिन अनेक "प्रबन्ध-अपेक्षाओं' का अनुभव सर्वथा भिन्न रहा है। कुशलता के मापदण्ड के रूप में लाभ अर्जित करने की शर्त की उपेक्षा के बावजूद क्या यह कहा जा सकता है कि सरकारी प्रतिष्ठानों के अधिकांश कर्मचारी निजी उद्योगों के कर्मचारियों की अपेक्षा अधिक संतुष्ट हैं? यद्यपि निजी एवं लोक-क्षेत्रों के संतुष्ट' तथा 'असंतुष्ट' कर्मचारियों की संख्या के प्रश्न पर कोई शोध-कार्य नहीं हुआ है फिर भी यह प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध है कि कैसे असंतुष्ट कर्मचारी लोक-क्षेत्र में भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं।

एक असंतुष्ट कर्मचारी किसी भी उद्यम की वास्तविक समस्या है। इतना ही नहीं कि उसकी उत्पादकता निम्न या सीमांत होती है, बल्कि वह अपने शब्दों, विचारों, आचारों, हाव-भाव, तथा आचरणों के द्वारा अपने चारों तरफ काम करने वाले कर्मचारियों के सम्पूर्ण समूह को विषाक्त बना देता है। असंतोष का कारण अनेक हो

सकता है जो खुद पर्यवेक्षकों के 'दास खींचो दृष्टिकोण' को प्रेरित करता है वैकल्पिक रूप में असंतोष कार्य की दशाओं, कारखाने की मशीनों, निकृष्ट कच्चे मालों तथा अन्य अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकता है। कुछ ऐसे भी कारण हो सकते हैं जो पर्यवेक्षकों तथा स्वयं प्रबन्ध के नियंत्रण में हो भी सकते हैं और नहीं भी। एक कर्मचारी अपने काम से इसलिए भी असन्तुष्ट हो सकता है, क्योंकि उसकी पत्नी उस तरह के कार्य को पसन्द नहीं करती, जिसे वह कर रहा है, क्योंकि उसके पड़ोसन का पति कम शिक्षित होने पर भी उससे अधिक अर्जित कर रहा है।

असंतोष की परिभाषा पर विचार करने से ऐसा पता चलता है कि यह ऐसी कोई भी चीज हो सकती है जो किसी कर्मचारी को तबाह कर देती है, जिसे शब्दों में व्यक्त किया जाता है अथवा नहीं भी किया जाता है। कारण कुछ भी क्या न हो पर्यवेक्षक को यह देखना चाहिए कि असंतोष उच्चरित या व्यक्त हो जाए। दमित असंतोष मानसिक, भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असंतुष्ट कर्मचारी के लिए तो हानिकारक है ही, सम्पूर्ण संगठन के लिए भी उससे भी अधिक हानिकारक है। जब असंतोष शांत हो जाता है, तब वह संगठनात्मक स्वास्थ्य का निर्देशांक बन जाता है। जिस तरह अधिक शिकायतें बुरे प्रबन्ध का आवश्यक निर्देशांक नहीं है, उसी तरह से यह आवश्यक नहीं कि शिकायतों की पूर्णतः अनुपस्थिति स्वस्थ प्रबन्ध का निर्देशांक हो। आधुनिक युग में शिकायतों को उपरि सवाहन के रूप में लिया जा सकता है, जिनके माध्यम से कर्मचारी अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। अतः प्रबन्ध इन्हें एक ऐसे दर्पण के रूप में लेता है, जिसमें श्रमिकों (उसकी सर्वाधिक बहुमूल्य सम्पत्ति) की आंखों में खुद अपना ही बिम्ब प्रतिबिम्बित करता है। जिस प्रकार शरीर में दर्द आने वाली तकलीफ का लक्षण है और एक व्यक्ति को अपने भयानक रोग को दूर करने के लिए भावी चेतावनी प्रदान करता है, उसी प्रकार प्रायः आवर्ती शिकायतें औद्योगिक जीवन में अशान्ति के लक्षण हैं। कुछ परिस्थितियों में ये लक्षण दृश्य होते हैं जबकि अन्य दशाओं में यह स्पष्टतः दृश्य नहीं है, लेकिन असंतुष्ट कर्मचारियों का अवलोकन पर्यवेक्षक तो कर सकता है। ऐसे असंतोष के ज्वलन्तमान उदाहरण हड़ताल, अनुपस्थिति, सौंपे गये काम में अभिरुचि का अभाव, अनुशासनहीनता, श्रम-परिवर्तन, दुर्घटनाओं की ऊंची-ऊंची दरें तथा बीमारी प्रभृति हैं।

हड़तालें—यह अस्त्र—हालांकि इसका प्रयोग अंतिम साधन के रूप में होना है—कर्मचारियों की अशांति का सर्वोच्च प्रतीक है। हड़ताल से यह पता चलता है कि औद्योगिक सम्बन्ध का पतन हो गया है और कर्मचारियों ने काम करना बन्द कर दिया है, क्योंकि वे कुछ ऐसे प्रश्नों पर प्रबन्ध के विरुद्ध में हैं जिनको अभी सुलझाया नहीं गया है।

हड़ताल की लागत को केवल मुद्रा के रूप में मापा नहीं जा सकता, क्योंकि एक कम्पनी में हड़ताल दूसरी कम्पनी के मजदूरों को भी रोजगार से हटा सकती है। इसके अतिरिक्त सभी नागरिक उन वस्तुओं एवं सेवाओं से वंचित हो जाते हैं जिन्हें हड़ताली

कर्मचारी अगर वे हड़ताल पर नहीं जाते तो पैदा करते।

अनुपस्थिति—काम के प्रति असंतोष का दूसरा सर्वाधिक दृश्य लक्षण अनुपस्थिति है। हालांकि स्मरणीय तथ्य यह है कि प्राय. अनुपस्थिति कर्मचारियों के असंतोष से नहीं उत्पन्न होती, फिर भी इसका कारण धान की रोपनी, शादी या अन्य कोई ऐसा ही अवसर हो सकता है। लेकिन अधिकांश दशाओं में अनुपस्थिति की उच्च दर कार्यरत पुरुषों एवं महिलाओं की ओर से असंतोष है।

अभिरुचि का अभाव—अनेक लोग इस बात से सहमत नहीं हो सकते कि अभिरुचि का अभाव असंतोष का लक्षण है। कर्मचारियों को काम में अभिरुचि का अभाव इसलिए हो सकता है कि गलत व्यक्ति को गलत स्थान पर बहाल कर दिया गया।

लेकिन प्राय अभिरुचि का अभाव निरीक्षण की दयनीय स्थिति से पैदा होता है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि कोई भी व्यक्ति श्रमिक में रुचि नहीं लेता। निःसंदेह अनुपस्थिति एवं अभिरुचि के अभाव की मात्रा को पूर्णत खत्म नहीं किया जा सकता, किन्तु इसे निश्चित रूप से घटाया जा सकता है।

अनुशासनहीनता—हम अपने समाज के सभी क्षेत्रों में देखते हुई अनुशासनहीनता के बारे में जितनी ही कम चर्चा करें उतना ही अच्छा है। यह हमारे औद्योगिक सम्बन्ध की स्थिति के बारे में बहुत अप्रिय सत्य है। कर्म विभाग वाले कर्मचारियों को छोड़कर वास्तव में अनुशासनहीनता कार्य करने के वातावरण के खिलाफ असंतोष की एक प्रणाली हो सकती है।

श्रम-आवर्त (लेबर टर्न ओवर)—यह श्रम असंतोष का एक सामान्य लक्षण है। यद्यपि पुन रोजगार स्थिति से असंतोष इसका एक मात्र कारण नहीं हो सकता, खास करके अपने देश में जहाँ पुन नियुक्ति के मौके सदिग्ध हैं, फिर भी अधिकांश दशाओं में और प्रशिक्षित श्रमिकों के विभिन्न रूपों के संदर्भ में रोजगार में असंतोष श्रम-आवर्त की ऊंची दर का कारण हो सकता है।

उच्च दुर्घटना एवं रुग्णता दरें—कर्मचारियों के असंतोष का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम दुर्घटनाओं और बीमारी की अत्यधिक ऊंची दर है। उद्यम के लिए दुर्घटनाएं बड़ी खर्चीली हैं, इसलिए नहीं कि दुर्घटना-ग्रस्त कर्मचारियों को क्षति-पूर्ति के रूप में भुगतान करना पड़ता है, बल्कि इस रूप में भी कि साज-सज्जा, सामग्री और प्लांट को होने वाली क्षति की लागत को वहन करना पड़ता है।

निदान—औद्योगिक विवाद के लक्षणों और कारणों को जानना एक बात है और उनके निदान हेतु उपाय करना दूसरी बात। श्रमिक संघ के माध्यम से सौदेबाजी के अधिकार के प्रति कर्मचारियों में जागरूकता के कारण नये-नये अधिनियम पारित होते जाते हैं। आधुनिक औद्योगिक श्रमिकों की ऊंची आकांक्षाओं के कारण उनके बीच व्याप्त असंतोष को कदापि दूर नहीं किया जा सकता। फिर भी ऐसे सभी प्रयास किये जाने चाहिए जिससे असंतोष का वृत्त दिन पर दिन बड़ा नहीं होता जाए बल्कि इसका प्रभाव कम किया जाना चाहिए।

हम यह भूलें नहीं कि विभिन्न समयों में विभिन्न अभिकरणों (प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्बद्ध) के द्वारा दबाव और असतोष के विभिन्न रूपों का सामना किया जा सकता है। सेवायोजक, श्रमिक-सघ, राज्य तथा बहुत-सी दशाओं में खुद समाज औद्योगिक असतोष की समस्या के मुख्य अभिकरण हैं।

सेवायोजक—किसी फर्म के औद्योगिक सम्बन्ध पर इस बात का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है कि सेवायोजक ने क्या किया है अथवा क्या नहीं किया है, क्या कर रहा है या क्या नहीं कर रहा है अथवा भविष्य में क्या करने जा रहा है। इन शब्दों में से कोई एक या सभी प्रतिष्ठानों में पारस्परिक विश्वास, शांति और समन्वय का वातावरण सृजित कर सकते हैं। प्रबुद्ध, कार्मिक नीतियां और व्यवहार सामञ्जस्यपूर्ण वातावरण का निर्माण कर सकते हैं। अतः कर्मचारियों के असतोष के निदान का भार बहुत हद तक सेवायोजकों पर है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अनेक परिस्थितियों में खुद राज्य सेवायोजक बन जाता है।

श्रमिक सघ—सगठित उद्योगों में मजदूर अपने सघों के माध्यम से वेतन-भत्ते तथा कार्य की अनेक दशाओं के बारे में समझौता करते हैं। आज की जैसी स्थिति है अधिकांश श्रमिक-सघों की क्रियाशीलता का निर्णय श्रमिक सघ के ऐसे पदाधिकारियों द्वारा होता है जो खुद कर्मचारी नहीं होते। ये सघ पदाधिकारी दल विशेष के राजनीतिक सिद्धांतों एव कार्यक्रमों से ज्यादा निर्देशित होते हैं, न कि उन श्रमिकों के कल्याण से जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं।

सकारात्मक एव सहकारी भावनाएं एकपक्षीय रूप में सेवायोजकों से ही अपेक्षित नहीं हैं। कर्मचारियों को भी आगे आना होगा और उन्हें अपने सघ के माध्यम से प्रबन्ध के साथ सहयोग भी करना होगा।

राज्य—राज्य को एक बड़ी भूमिका निभानी है जिसके द्वारा अधिकांश असतोष कम किया जा सकता है। राज्य केवल ऐसी दशाओं का ही सृजन नहीं कर सकता जिनमें कर्मचारियों के पूर्व प्रकट असतोष को कम किया जा सकता है बल्कि यह औद्योगिक अधिनियमों के माध्यम से ऐसी परिस्थिति को रोक सकता है जो असतोष पैदा करती है। अपनी निष्पक्ष भूमिका के द्वारा यह निश्चित रूप से सेवायोजकों और कर्मचारियों को इस योग्य बना सकता है कि वे अपेक्षित व्यवहार करें।

समाज—यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि समाज औद्योगिक सम्बन्ध की स्थिति पर कुछ प्रभाव डालता है। हड़ताल या तालेबन्दी के समय श्रमिक सघ और सेवायोजक दोनों ही समाज के समक्ष अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। यह इस तथ्य को प्रदर्शित करने का पर्याप्त प्रमाण है कि दोनों में से कोई भी एक समाज की उपेक्षा नहीं कर सकता। कोई बहुत अधिक पहले की बात नहीं है जबकि बिहार राज्य विद्युत् पर्षद में सामान्य हड़ताल हुई थी और हड़तालों कर्मचारियों ने इस हड़ताल के प्रति समाज के अमैत्रीपूर्ण दृष्टिकोण के प्रभाव को देखा था।

अध्याय 24

भारत-अफ्रीकी-एशियाई आर्थिक सहयोग

तकनीकी तथा आर्थिक सहयोग की आवश्यकता

2 जून से लेकर 30 जून 1983 तक बेलग्रेड में आयोजित अंकटाड के छठे अधिवेशन में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग से सम्बन्धित अनेक मुद्दों पर विचार हुआ। उदाहरणार्थ आर्थिक विकास और सहयोग सम्बन्धी कार्यक्रमों को अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों और विकसित राष्ट्रों द्वारा क्रियान्वित करने के अलावा दक्षिण-दक्षिण सहयोग सम्बन्धी प्रश्न पर भी विचार किया गया जो 77-समूह की ब्यूनेस आयर्स (Buenos Aires) में आयोजित सभा का विचारणीय विषय था। मार्च 1983 में भारत के आतिथ्य में नई दिल्ली में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के सम्मेलन में भी आर्थिक विकास और सहयोग सम्बन्धी मुद्दों पर विचार किया गया।

सच तो यह है कि कानकुन (Cancun) में आयोजित उत्तर दक्षिण वार्तालाप के फलस्वरूप एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के पनपने के कारण तथा विकसित राष्ट्रों द्वारा प्रदत्त विकास सहायता में गिरावट की आशंका को देखते हुए दक्षिण-दक्षिण सहयोग का प्रश्न अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। उत्तर और दक्षिण के बीच आर्थिक सहयोग की समस्या पर विगत वर्षों के अन्दर कम से कम आधे दर्जन अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में विचार किया गया है। बार-बार धनी राष्ट्रों को यह कहा गया है कि नैतिक अथवा मानवीय विचारों के अलावा प्रबुद्ध निजी स्वार्थ अल्प विकसित राष्ट्रों को उनके द्वारा प्रदत्त अधिकाधिक सहायता को औचित्यपूर्ण बताता है। इन सभी शिखर सम्मेलनों में विकसित राष्ट्रों द्वारा की गई पवित्र उद्घोषणा (कि वे 'विकसित राष्ट्र' विकासशील राष्ट्रों को उनके विकास-प्रयासों में सहायता प्रदान करेंगे) के बावजूद उनके कार्यकलाप अब तक उत्तर-दक्षिण सहयोग की आशाओं के अनुकूल नहीं रहे हैं। कुछ प्रमुख विकसित राष्ट्रों की ओर से न केवल सहायता की राशि में भारी कटौती का ही संयुक्त प्रयास हुआ है, बल्कि इसे कठोर से कठोर शर्तों पर भी उपलब्ध कराने की कोशिश रही है।

उपर्युक्त परिस्थितियों में दक्षिण-दक्षिण सहयोग अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। विकासशील राष्ट्रों के बीच तकनीकी और आर्थिक सहयोग की आवश्यकता पर बार-बार जोर विभिन्न क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सभाओं में दिया गया है।

इसी पृष्ठभूमि में विभिन्न मंचों से 77-समूह द्वारा उद्घोषित 'सामूहिक आत्म-

निर्भरता' के उद्देश्य को एशिया, अफ्रीका और भारत के विकासशील राष्ट्रों के बीच आर्थिक सहयोग हेतु आरम्भ-बिन्दु के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। पारस्परिक आर्थिक सहयोग को सुदृढ़ करने के लिए विकासशील राष्ट्रों को उपलब्ध विभिन्न नीति विकल्पों में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं: व्यापार अधिमान प्रणाली के द्वारा बुद्धिमान आपसी व्यापार, क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विपणन उद्यमों की स्थापना द्वारा क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग का सुदृढ़ीकरण, इन राष्ट्रों में राजकीय व्यापार संगठनों के बीच सहयोग प्रौद्योगिकी का स्थानान्तरण, विकासशील राष्ट्रों में पूंजी के प्रवाह की सुविधाएं। इन नीति विकल्पों का प्रयोग अपने आर्थिक विकास एवं सहयोग सम्बन्धी समग्र स्ट्रैटजी के एक अंग के रूप में विकासशील राष्ट्रों द्वारा या तो अकेले हो सकता है या संयुक्त रूप में हो सकता है।

व्यापार-स्तर

विकासशील राष्ट्रों के बीच विदेशी व्यापार के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि पेट्रोलियम उत्पत्ति को छोड़कर उनके आपसी व्यापार का स्तर सत्तर वाले दशक में 3 6 प्रतिशत के आसपास स्थिर रहा है। स्पष्टतः यह एक अच्छी स्थिति नहीं है।

भारत और अनु-सहारा अफ्रीका, जिसमें पचास राष्ट्र शामिल हैं, के बीच द्विपक्षीय व्यापार 1975 76 में 2 1 बिलियन रुपये से बढ़कर 1979-80 में 2 6 बिलियन हो गया। यद्यपि 1980-81 में इस क्षेत्र के साथ कुल द्विपक्षीय व्यापार बढ़कर 4 1 बिलियन रुपया हो गया, लेकिन इस क्षेत्र के विदेशी व्यापार में भारत का हिस्सा देश के कुल निर्यातों का 4 प्रतिशत मात्र और इस क्षेत्र से मंगाए कुल आयातों का 1 1 प्रतिशत था। इन अधिकांश देशों में निम्न कृषि निष्पादन के कारण निर्यात स्थिर रहा है और इनके निर्यातों में 80 प्रतिशत से भी अधिक प्राथमिक उत्पत्ति शामिल है।

बंगला देश, बर्मा, चीन, नेपाल, पाकिस्तान और श्रीलंका जैसे छह पड़ोसी राष्ट्रों के साथ भारत का कुल व्यापार बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। 1980 81 में भारत के कुल निर्यातों में इन राष्ट्रों का हिस्सा लगभग 3 8 प्रतिशत और भारत के कुल आयातों में इस क्षेत्र का हिस्सा मात्र 1 3 प्रतिशत था। न केवल यह क्षेत्र भारत का महत्त्वहीन व्यापार साझेदार है बल्कि इनमें से प्रत्येक के साथ पतनोन्मुख है।

अफगानिस्तान और ईरान जैसे एशिया के अन्य विकासशील राष्ट्रों के साथ भी भारत के व्यापार में गिरावट आई है। यद्यपि भारत के विदेशी व्यापार में एशिअन (ASEAN) क्षेत्र एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है और 1973-80 की अवधि में इस क्षेत्र के राष्ट्रों से भारत के आयातों में लगभग 25 प्रतिशत और भारत से इस क्षेत्र को निर्यात में लगभग 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई है, फिर भी इस क्षेत्र के साथ भारत के व्यापार का हिस्सा नगण्य है, अर्थात् उनके कुल व्यापार का लगभग एक प्रतिशत था।

इन राष्ट्रों में से अधिकांश के साथ भारत के अनुकूल व्यापार-संतुलन का सत्याभासी कारण यह हो सकता है कि ये राष्ट्र उन अल्प अपवादों को छोड़कर जिनके पास तेल

साधन हैं, मूलत: कच्चे माल तथा प्राथमिक कृषि उत्पत्ति के निर्यातक हैं। विनिर्मित वस्तुओं के लिए इन देशों को विकसित राष्ट्रों पर निर्भर रहना पड़ता है। विकासशील राष्ट्रों में अपेक्षाकृत अधिक विकसित होने के चलते भारत के लिए यह स्वाभाविक था कि भारत में इन क्षेत्रों का आयात भारत को उनके निर्यात की अपेक्षा अधिक हो।

पुन: भारत और इन क्षेत्रों के बीच व्यापार के निम्न-स्तर से यह पता चलता है कि ये क्षेत्र भारत के सामानों के लिए न तो महत्त्वपूर्ण बाजार रहे हैं और न उसके प्रमुख आपूर्तिकर्ता। संचार सुविधाओं का अभाव, जैसे, जहाजरानी सेवा इत्यादि, भारत और अफ्रीका जैसे अन्य क्षेत्रों के कतिपय राष्ट्रों के बीच व्यापार के निम्न-स्तर का एक दूसरा कारण हो सकता है।

इस प्रकार व्यापार ने अब तक विकासशील राष्ट्रों के बीच आर्थिक सहयोग को सुदृढ़ करने में अधिक मदद नहीं पहुँचाया है। अनुमानत: ऐसा इसलिए हुआ है कि अधिकांश विकासशील राष्ट्रों की समानान्तर अर्थव्यवस्थाएँ हैं। वे मूलत: विकसित राष्ट्रों के उद्योगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कच्चे माल तथा प्राथमिक कृषि उत्पत्ति के निर्यातक हैं। विनिर्मित वस्तुओं के लिए उन्हें विकसित राष्ट्रों पर निर्भर रहना पड़ता है। फिर भी, भारत जैसे कतिपय विकासशील राष्ट्रों में हुए औद्योगिक विकास के साथ यह सम्भव है कि अब भावी व्यापार के विस्तार द्वारा भारत तथा इन क्षेत्रों के विकासशील राष्ट्रों के बीच अधिक से अधिक आर्थिक सहयोग किया जाय। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संयुक्त प्रयास आवश्यक है। राजकीय व्यापार संगठन सहित प्राधिकार सरकार तथा लोग, को इस दिशा में प्रयास करना चाहिए ताकि इनके आपसी व्यापार का स्तर ऊँचा हो।

प्रौद्योगिकी-स्थानान्तरण

प्रौद्योगिकी-स्थानान्तरण विकासशील राष्ट्रों के बीच आर्थिक सहयोग को प्रोत्साहित करने के लिए एक अन्य साधन है। फिर भी एक लम्बे अर्से से विशेषत: विकसित विश्व के अर्थशास्त्री विकासशील देशों के बीच प्रतियोगितात्मक साधन असफलता के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते रहे हैं। यह तर्क विकसित राष्ट्रों पर विकासशील राष्ट्रों की निर्भरता को औचित्यपूर्ण बताने के लिए दिया जा सकता है, लेकिन यह सर्वथा सत्यरहित नहीं है। बहुत से देश, जिन्होंने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त की तथा अपने आर्थिक विकास-सम्बन्धी महत्त्वाकांक्षी कार्यक्रम बनाया, एक दूसरे से लाभान्वित नहीं हो सके, क्योंकि उस समय उनके पास उन्नत प्रौद्योगिकी नहीं थी और इस कारण वे आपस में बहुत अधिक क्रिया नहीं बढ़ा सके। अत: विकास हेतु आवश्यक तकनीकी ज्ञान तथा विशिष्टता की खोज में विकासशील राष्ट्रों को स्वभावत: विकसित राष्ट्रों की ओर देखना पड़ा। अनेक विकासशील राष्ट्रों में जो कुछ विकास हुआ है वह वास्तव में दुनिया के औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों द्वारा प्रदत्त प्रौद्योगिकी के आयात द्वारा

ही हो सका है।

फिर भी, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धा एव उद्योगीकरण के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे प्रौद्योगिकी के वैकल्पिक आपूर्तिकर्ता के रूप मे तृतीय विश्व के विकासशील राष्ट्रो के मध्य अपेक्षाकृत अधिक विकसित राष्ट्रो का प्रादुर्भाव अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक मच पर घटित एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। लेकिन, विश्व के प्रमुख औद्योगिक राष्ट्रों के बहुराष्ट्रीय निगमों के मोह से विमुक्त और कभी-कभी उनसे सदिग्ध होकर आर्थिक एव गैर-आर्थिक दोनो ही कारणों से तथा अपनी विशिष्ट सामाजिक एव आर्थिक समस्याओ के चलते अनेक विकासशील देशो ने भारत जैसे अपेक्षाकृत अधिक उन्नत राष्ट्रों की ओर औद्योगिकी के स्रोत के रूप मे देखना शुरू कर दिया है।

पुन इसका एक अन्य कारण यह भी हो सकता है कि ये राष्ट्र केवल अपनी अर्थ-व्यवस्था के आर्थिक विकास से ही सम्बद्ध नहीं हैं, बल्कि वे आर्थिक लाभो का औचित्यपूर्ण वितरण भी चाहते हैं। इस प्रश्न का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रौद्योगिकी के चयन से है।

विकासशील राष्ट्रो मे गरीबी, बेकारी और अर्ध-रोजगार मानवीय एव प्राकृतिक साधनो के अपर्याप्त प्रयोग के कारण व्याप्त है। कृषि, उद्योग तथा सेवा-क्षेत्र के निष्पादन म भी तकनीकी ज्ञान का अभाव तथा श्रम और पूजी दोनों की निम्न उत्पादकता है। अत विकासशील राष्ट्रो को ऐसी प्रौद्योगिकी की आवश्यकता है जो विनियोग की प्रति इकाई के रोजगार और उत्पादन को अनुकूलतम करे। स्पष्टत इन राष्ट्रों को उन्नत प्रौद्योगिकी तथा पूजी-सघन उद्योगों मे लाभ नही हो सकता। इन राष्ट्रों को स्वाभाविक लाभ तब होगा जबकि वे कम निपुणता वाली अपेक्षाकृत आसान प्रौद्योगिकी को अपनायें। इससे उन्हें अपेक्षाकृत कम समय मे अपने उत्पादन ज्ञान को समायोजित करने मे भी मदद मिलेगी।

इसके विपरीत विकसित राष्ट्रो मे उपलब्ध प्रौद्योगिकी उनकी अपनी विशेषताओं तथा आवश्यकताओं के अनुकूल है, यथा, कम श्रम आपूर्ति, अत्यधिक उन्नत वैज्ञानिक एव तकनीकी निपुणता, पर्याप्त पूजीगत साधन, जटिलता की अधिक मात्रा और वृहत बाजार।

दूसरी तरफ विकासशील राष्ट्रों के पास अपेक्षाकृत अधिक निम्न क्रय-शक्ति है अत उनके बाजार सीमित हैं। इन देशों मे सरचनात्मक सुविधाओं का अभाव भी है जो विकसित राष्ट्रो मे उपलब्ध हैं। अत विकसित राष्ट्रो की जटिल प्रौद्योगिकी का प्रयोग लाभप्रद ढग से विकासशील राष्ट्रो की आवश्यकताओं के अनुकूल समायोजित तथा सशोधित किये बिना नहीं हो सकता।

यह कहा जाता है कि विकासशील राष्ट्रो की आवश्यकताओं के अनुकूल प्रौद्योगिकी विकसित राष्ट्रों मे एकदम उपलब्ध नही है। लेकिन, विकासशील राष्ट्रो की आवश्यकताओ के अनुकूल ऐसी प्रौद्योगिकी को समायोजित करने में अधिक लागत पड़ेगी जिसके फलस्वरूप यह लाभप्रद तथा मितव्ययितापूर्ण नहीं होगा। कम-से-कम प्रारम्भिक चरण मे विकासशील राष्ट्रो के लिए यह विकल्प नही है कि वे उपयुक्त प्रौद्योगिकी के

विकास हेतु अपने शोध एवं विकास पर निर्भर करें या विकसित राष्ट्रों की जटिल प्रौद्योगिकी को अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल बनायें। किसी भी हालत में एक बनी बनायी शीघ्र उपलब्ध उपयुक्त प्रौद्योगिकी ही श्रेयस्कर है, क्योंकि इससे पहिये के पुनर्विनियोग (रिइन्वेंटिंग द ह्वील)' की लागत में बचत होगी।

इसी संदर्भ में भारत जैसे राष्ट्रों के द्वारा (जो विकासशील राष्ट्रों में अपेक्षाकृत अधिक विकसित माने गए हैं) प्रौद्योगिकी की उपलब्धता विशिष्ट महत्त्व धारण कर लेती है। भारत जैसे कतिपय राष्ट्रों ने, जिन्होंने संसार के विभिन्न विकसित राष्ट्रों से प्रौद्योगिकी का आयात किया है, न केवल अपने शोध एवं विकास प्रयासों द्वारा ऐसी प्रौद्योगिकी को समायोजित तथा संशोधित किया है, बल्कि नयी प्रौद्योगिकी को विकसित भी किया है।

फिर भी, विकासशील राष्ट्रों की प्रौद्योगिकी की भर्त्सना करना तथा उन्हें निम्न नवप्रवर्तनयुक्त निम्न-स्तर की प्रौद्योगिकी की संज्ञा देना एक सामान्य प्रवृत्ति हो गयी है। यह सही नहीं है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो एक बहुत ही अनोखी स्थिति का उद्घाटन करते हैं। ऐसे काम, जो मूलतः विकसित राष्ट्रों की कम्पनियों को सौंपे गये थे कार्यान्वयन हेतु अन्ततोगत्वा भारतीय फर्मों को हस्तांतरित कर दिये गये। इस प्रक्रिया में भारत तथा अतिथि-राष्ट्रों को घाटा हुआ, एक को अधिक भुगतान करना पड़ा तथा दूसरे को कम प्राप्त हुआ। अतः इससे भारत जैसे विकासशील राष्ट्रों से अन्य ऐसे देशों को प्रौद्योगिकी के आयात के प्रश्न पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो गया। इस प्रकार खुद विकासशील राष्ट्रों के बीच प्रौद्योगिकी के स्थानान्तरण का प्रश्न एक व्यावहारिक सम्भाव्य बन गया है।

सच तो यह है कि विकासशील राष्ट्रों के बीच विनियोग-प्रवाह तथा प्रौद्योगिकी का स्थानान्तरण न केवल विकास को प्रोत्साहित करेगा, बल्कि व्यापार का विस्तार भी करेगा। इसके अतिरिक्त अपेक्षाकृत अधिक उन्नत विकासशील राष्ट्रों द्वारा प्रौद्योगिकी की उपलब्धता होने से मितव्ययी एवं प्रासंगिक होने के साथ-साथ विकसित औद्योगिक राष्ट्रों की तुलना में विकासशील राष्ट्रों की सौदेबाजी की क्षमता बढ़ेगी।

फिर, भारत विकासशील राष्ट्रों के बीच आपसी सहयोग बढ़ाने के कार्यक्रम के प्रति पूर्णतः प्रतिबद्ध है। भारत सरकार इस दिशा में काफी सचेत है। 77-समूह के एक प्रमुख सदस्य के रूप में भारत यह अपना कर्तव्य एवं दायित्व समझता है कि वह अन्य विकासशील राष्ट्रों, विशेषतः एशिया तथा अफ्रीकी क्षेत्र के विकासशील राष्ट्रों को अपना अनुभव और विशिष्ट ज्ञान उपलब्ध कराए।

आर्थिक तथा तकनीकी सहयोग के प्रति भारत का दृष्टिकोण सकारात्मक है। जहाँ वह अन्य विकासशील राष्ट्रों को प्रौद्योगिकी प्रदान करता है, वहाँ अपनी आवश्यकता के मुताबिक उनसे भी प्रौद्योगिकी समान रूप में प्राप्त करने के लिए इच्छुक है। अपने देश में हुए विकास के बावजूद भारत विभिन्न क्षेत्रों में जटिल प्रौद्योगिकी के साथ-साथ विदेशी विनियोग भी प्राप्त करता है। अगर किसी अन्य विकासशील राष्ट्र में

भारत की आवश्यकतानुकूल प्रौद्योगिकी उपलब्ध है, तो वह सहर्ष इसे प्राप्त करने के लिए तैयार है। वस्तुतः भारत के फर्मों तथा सिंगापुर, मेक्सिको, दक्षिण कोरिया, थाईलैण्ड आदि अन्य विकासशील राष्ट्रों के फर्मों के बीच कुछ गठबंधन रहा है।

विगत वर्षों में भारत की विदेशी विनिमय-नीति में ढिलाई के चलते प्रौद्योगिकी के बिना तेल-निर्यातक विकासशील राष्ट्रों के विनियोग को स्वीकृति मिली है जिसके फलस्वरूप भारत और ओ० ई० सी० डी० के विनियोगकर्ताओं के बीच सहयोग की सम्भावनाएं बढ़ी हैं। इसी प्रकार भारत के फर्मों और हांगकांग, दक्षिण प्रशांत क्षेत्र, दक्षिण कोरिया तथा ताईवान के फर्मों के बीच सहयोग की अपरिमित सम्भावना है।

वस्तुतः भारत तथा अन्य विकासशील राष्ट्रों के बीच आर्थिक सहयोग की सम्भावनाएं बहुत अधिक विशाल हैं या यों कहें कि लगभग असीमित हैं। फिर भी, विनियोग तथा प्रौद्योगिकी-स्थानान्तरण के क्षेत्र में भारत और इन विकासशील राष्ट्रों के बीच आदान-प्रदान का स्तर बहुत कम है। प्रक्रिया अवश्य शुरू हो चुकी है लेकिन विकासशील राष्ट्रों की विशाल आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इसे बहुत अधिक त्वरित करने की आवश्यकता है। भारत पहले से ही अनेक विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान कर रहा है।

प्रौद्योगिकी-स्थानांतरण में भारत की क्षमता

तीन दशक के नियोजित आर्थिक विकास के फलस्वरूप भारत विकासशील राष्ट्रों की आवश्यकताओं के अनुकूल आधुनिक प्रौद्योगिकी एवं तकनीकी विशिष्टता के एक वैकल्पिक स्रोत के रूप में उभरा है। आज भारत समग्र औद्योगिक विकास की दृष्टि से विश्व में दसवां सबसे बड़ा राष्ट्र है, अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में इसे सातवां स्थान प्राप्त है, यह विश्व का तीसरा सबसे बड़ा रेलवे विकास वाला राष्ट्र है, कोयला, मैंगनीज, कच्चा लोहा आदि खनिज पदार्थों के सबसे बड़े उत्पादक-राष्ट्रों में एक है और संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस के बाद प्रशिक्षित तकनीकी एवं वैज्ञानिक मानवशक्ति का तीसरा सबसे बड़ा आगार है।

यह सच है कि विगत तीस वर्षों में भारत ने 7500 सहयोग समझौतों के द्वारा विश्व के प्रायः सभी विकसित राष्ट्रों से आधुनिक प्रौद्योगिकी प्राप्त की है। लेकिन, आयात की गयी प्रौद्योगिकी को स्थानीय दशाओं के अनुकूल समायोजित तथा संशोधित किया गया है। यह इसलिए सम्भव हुआ है कि भारत ने देश में तकनीकी एवं वैज्ञानिक शिक्षा के प्रसार एवं विकास पर काफी ध्यान दिया है। यह अनुभव करते हुए कि शोध एवं विकास पर किया गया खर्च विकास का उत्प्रेरक है, भारत ने इस क्षेत्र में अधिक राशि का विनियोग किया है। सरकार ने निजी क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा देश के विभिन्न भागों में मानव क्रियाशीलता के प्रायः हर क्षेत्र में वैज्ञानिक शोध में संलग्न राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं का जाल बिछा दिया है। पूरे देश में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी

विभाग द्वारा मान्यता प्राप्त कोई 1000 से भी अधिक शोध एवं विकास संस्थाएं कार्यरत हैं, जिनमें लगभग एक करोड़ लोग नियुक्त हैं। देश में तकनीकी शिक्षा तथा शोध एवं विकास क्रियाओं की प्रगति पर जोर देने के फलस्वरूप बाहर से मंगायी गयी प्रौद्योगिकी को सुधारने तथा समायोजित करने में मदद मिली है और भारत प्रौद्योगिकी निर्यातक देश की स्थिति को प्राप्त कर सका है।

इसके अतिरिक्त अभियंताओं, पर्यवेक्षकों और शिल्पियों को प्रशिक्षित करने के लिए देश के विभिन्न भागों में तकनीकी प्रशिक्षण संस्थाएं स्थापित की गयी हैं। फलतः भारत विश्व में तकनीकी एवं वैज्ञानिक मानवशक्ति की दृष्टि से तीसरे स्थान पर है। महत्व की बात यह है कि इस कोष में निरंतर वृद्धि होती जा रही है। प्रति वर्ष विभिन्न प्रशिक्षण संस्थाओं से बहुत बड़ी तादाद में अभियंता तथा डिप्लोमाधारी निकल रहे हैं।

वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रशिक्षण पर जोर देने से बहुत अधिक लाभ हुआ है। आयात की गयी प्रौद्योगिकी को अन्तर्लीन, समायोजित और संशोधित करने के अलावा, अन्वेषण की प्रवृत्ति जगी है। अनेक नयी प्रक्रियाओं को विकसित एवं एकस्वीकृत किया गया है। आज कोई 3000 से भी अधिक एकस्व अधिकार भारतीयों के अधीन कार्यरत हैं। राष्ट्रीय शोध एवं विकास निगम ने इस क्षेत्र में एक हजार लाइसेंस प्रदान किये हैं। इसके अतिरिक्त करीब 450 प्रक्रियाओं का वाणिज्यीकरण कर दिया गया है। इन औद्योगिक इकाइयों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का मूल्य 1960-61 में 3 मिलियन रुपये से बढ़कर 1981-82 में 1200 मिलियन रुपये हो गया।

कृषि के क्षेत्र में भी भारत की महत्वपूर्ण उपलब्धियां हैं। जहां पचास वाले दशक में भारत खाद्यान्न का आयात कर रहा था, आज यह देश की जनसंख्या के दुगुना होने के बावजूद उन्नत किस्म के बीजों का विकास कर खाद्य-आपूर्ति के मामले में न केवल आत्मनिर्भर हुआ है, बल्कि इसके पास कुछ आधिक्य भी है। तीव्र गति से बढ़ते हुए उद्योग द्वारा प्रदत्त समर्थन के फलस्वरूप कृषि उत्पत्ति के कुछ क्षेत्रों में आत्म-निर्भरता मिली है। जूट, कपास, गन्ना आदि कृषि द्वारा पैदा किए गए कच्चे माल के क्षेत्र में लगभग आत्म निर्भर हुआ है। बुद्धिमान उद्योग ने कृषि के लिए आवश्यक इनपुट्स की आपूर्ति की है और कृषि उत्पत्ति के प्रशोधन की व्यवस्था की है। यह कृषि के क्षेत्र में सघन विकास कार्यक्रमों, शोध और विकास सुविधाओं के प्रसार कृषि शिक्षा और प्रसार सेवाओं के फलस्वरूप भी सम्भव हो सका है। भारतीय कृषि विश्वविद्यालय और विकास अभिकरण खाद्य एवं कृषि संगठन, विश्व बैंक, एशियाई विकास बैंक तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों के तत्वाधान में तथा विकासशील सरकारों के साथ प्रत्यक्ष द्विपक्षीय समझौते के अन्तर्गत विभिन्न देशों में बहुमूल्य सेवाएं प्रदान कर रहे हैं।

भारतीय उद्यमों के द्वारा विकासशील देशों को प्रौद्योगिकी प्रदान करने का एक कारण यह है कि भारत और इन देशों में व्याप्त परिस्थितियां समान हैं। अधिकांश विकासशील राष्ट्र बेकारी, कौशल का निम्नस्तर, पर्याप्त संरचनात्मक सुविधाओं का

अभाव, बाजार की सीमाएं आदि समस्याओं से ग्रसित हैं। इन्हीं परिस्थितियों के अन्तर्गत भारत आधुनिक प्रौद्योगिकी के एक बड़े क्षेत्र में आत्म-निर्भरता की स्थिति में पहुंचा है। कठिन सीमाओं के अन्तर्गत औद्योगिक, कृषि तथा संरचनात्मक विकास की पीड़ा से गुजरने के बाद भारत का अनुभव अन्य विकासशील राष्ट्रों के लिए न केवल प्रासंगिक है बल्कि काफी उपयोगी भी है।

प्रौद्योगिकी-स्थानांतरण में भारत का योगदान

आर्थिक सहयोग को सुदृढ़ करने में विनियोग, सहयोग और प्रौद्योगिकी के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भारत अन्य विकासशील राष्ट्रों में ऐसे प्रवाहों को प्रोत्साहित एवं प्रोन्नत करने की नीति का अनुसरण करता रहा है। भारत से प्रौद्योगिकी का स्थानांतरण विभिन्न माध्यमों से हुआ है, जैसे- भारत में विदेशियों का प्रशिक्षण, भारतीय विशेषज्ञों की विदेशों में प्रतिनियुक्ति, भारत से परामर्शदात्री सेवाओं की आपूर्ति, परियोजना निर्यात, निर्माण संविदा, औद्योगिक संयुक्त उद्यम। 1 जनवरी 1983 को विश्व के 37 राष्ट्रों में 233 भारतीय- संयुक्त उद्यम भारतीय प्रौद्योगिकी, साज-सज्जा तथा निपुणता के सहयोग से कार्यरत थे या उन्हें स्थापित करने की प्रक्रिया में थे। इनमें भारतीय भागीदारी भी निहित थी। इनमें से 140 (60 1%) पहले से ही कार्यरत हैं तथा शेष 93 (39.9%) क्रियान्वयन के विभिन्न चरणों से गुजर रहे हैं।

कार्यरत 140 संयुक्त उद्यमों में से अधिकतम संख्या 68 (48 6%) दक्षिण पूर्व एशिया में है। इसके बाद यूरोप, अमेरिका और आस्ट्रेलिया का नम्बर है जहां यह संख्या 23 है, अफ्रीका में 22, पश्चिमी एशिया में 15, दक्षिण एशिया में 9 और ओसियानीया में 3 है। इन उद्यमों में निहित कुल भारतीय हिस्सा लगभग 596 मिलियन रुपये हैं। भारतीय फर्मों के द्वारा अधिकतम हिस्से की भागीदारी दक्षिण-पूर्व एशिया में है जो 397.2 मिलियन रुपये अथवा कुल हिस्सा भागीदारी का 66 6 प्रतिशत है। इसके बाद अफ्रीका का स्थान है जहां भारतीय हिस्सा भागीदारी 165 7 मिलियन रुपये (कुल हिस्सा भागीदारी का 27 8%) है। पश्चिमी एशिया में भारतीय हिस्सा 12 7 मिलियन रुपये, यूरोप, अमेरिका और आस्ट्रेलिया में 13 2 मिलियन रुपये तथा दक्षिण एशिया में 5 5 मिलियन रुपये हैं।

मलेशिया में कार्याधीन परियोजनाओं की संख्या 27 अधिकतम है। इसके बाद सिंगापुर में 16, इन्डोनेशिया में 13, संयुक्त राज्य अमेरिका में 10, केनिया तथा संयुक्त अरब एमिरेट्स प्रत्येक में 9, यूनाइटेड किंगडम तथा थाईलैण्ड प्रत्येक में 8, श्रीलंका में 7, नाइजीरिया में 7, मॉरिशस में 4, पश्चिमी जर्मनी और सऊदी अरबिया प्रत्येक में 3, फिलीपाइन्स तथा हांगकांग प्रत्येक में 2 तथा युगांडा, बोर्टसवाना, फ्रांस, निदरलैण्ड्स, आस्ट्रेलिया, फिजी, टोन्गस, नेपाल, बंगलादेश, यमन, कुवैत तथा बहरान प्रत्येक में एक है।

इसी प्रकार 93 संयुक्त उद्यम वाले परियोजनाओं में से सबसे अधिक संख्या 25

अफ्रीका में है जिसका स्वीकृत भारतीय हिस्सा 380 6 मिलियन रुपये है। इसके बाद दक्षिण-पूर्व एशिया और दक्षिण एशिया का स्थान है जहां इनकी संख्या क्रमश 21 और 22 है और स्वीकृत हिस्सा 86 7 मिलियन रुपये और 90 9 मिलियन रुपए है। यूरोप अमेरिका और आस्ट्रेलिया म सयुक्त रूप से कुल मिलाकर 15 परियोजनाएं क्रियान्वयन की प्रक्रिया मे हैं जिनका स्वीकृत भारतीय हिस्सा 37 1 मिलियन रुपय है। इसके विपरीत पश्चिम एशिया मे इस तरह की मात्र 10 परियोजनाएं हैं जिनका स्वीकृत भारतीय हिस्सा 57 1 मिलियन रुपये है।

क्रियान्वयन के अधीन अधिकतम परियोजनाएं श्रीलका म हैं जिनकी सख्या 14 है। इसके बाद नाइजीरिया एव सिंगापुर प्रत्यक मे 12 परियोजनाए हैं जिनका भारतीय हिस्सा क्रमश 139 0 मिलियन रुपये और 49 3 मिलियन रुपय है। नेपाल मे ऐसी परियोजनाए 6 हैं, सयुक्त राज्य अमेरिका मे 5, केनिया, यू० के० एव इन्डोनेशिया प्रत्येक मे 4 परियोजनाए है। शेष राष्ट्रो म 1 स लेकर 3 तक ऐसी परियोजनाए हैं।

भारतीय निपुणता के द्वारा विभिन्न देशों म स्थापित सयुक्त उद्यम प्रौद्योगिकी की एक विस्तृत शृखला समाहित करता है, जैसे, सिंगापुर मे एक सर्वाधिक आधुनिक यत्र कक्ष है जो पश्चिम जर्मनी, अमेरिका के जटिल केताओं को अपना सम्पूर्ण उत्पादन निर्यात कर रहा है, इन्डोनेशिया मे आधुनिक धातुकर्मीय उद्योग तनजानिया मे औद्योगिक मशीनरी निर्माण, इन्डोनेशिया, थाइलैण्ड, केनिया और नाइजीरिया म कागज और कागज के गुद्दे की इकाइया, इन्डोनेशिया केनिया, मलेशिया और मारिशस म सूती वस्त्र की मिलें तथा रेडीमेड वस्त्र, तनजानिया, केनिया, इन्डोनेशिया मे कृत्रिम धागे उद्योग, तथा मलेशिया म ग्लास उद्योग इत्यादि। ये भारत से निर्यात की गई आधुनिक प्रौद्योगिकी के उदाहरण हैं। मलेशिया, इन्डोनेशिया और दक्षिण अफ्रीकी राष्ट्रो मे अपेक्षाकृत कुछ छोटी इकाइया भी स्थापित की गई हैं जिनमे श्रम-सघन प्रौद्योगिकी का प्रयोग होता है। इनमें कृषि पर आधारित उद्योग, खाद्य प्रशोधन उद्योग, होटल तथा रेस्तरा आदि शामिल हैं। ये उदाहरण भारत की ऐसी क्षमताओं का विवरण प्रस्तुत करते हैं जिनके फलस्वरूप वह विभिन्न राष्ट्रों को उनकी सभी प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आधुनिक और अपेक्षाकृत कुछ अधिक पुरातन प्रौद्योगिकी को प्रदान करने की स्थिति मे है।

यद्यपि अधिकाश भारतीय सयुक्त उद्यम विकासशील राष्ट्रो मे स्थापित किए गए हैं, तथापि इनमे से कुछ विकसित राष्ट्रो म स्थापित किए गए हैं। इन उद्यमों मे होटल और रेस्तरा जैसे सेवा क्षेत्र ही शामिल नहीं हैं, बल्कि कुछ विनिर्माण इकाइयां भी इन देशो में स्थापित की गई हैं। ऐसे भी उदाहरण उपलब्ध हैं कि भारतीय उद्यमो ने सयुक्त राज्य अमेरिका, यू० के०, पश्चिमी जर्मनी कनाडा इत्यादि के अपने मूल सहयोगकर्ताओ को सुधरी तथा सर्वथा नयी प्रौद्योगिकी की बिक्री की है। ये उदाहरण प्रदर्शित करते है कि भारत जैस विकासशील देशो ने, जो पहले विश्व के विकसित राष्ट्रो म प्रौद्योगिकी का आयात करते थे, अपने शोध एव विकास प्रयासो के फलस्वरूप न केवल इसे समा-

योजित किया है, बल्कि संशोधित तथा सुधरी हुई प्रौद्योगिकी को पुनः विकसित राष्ट्रों को निर्यात किया है और इस प्रकार प्रौद्योगिकी के स्थानान्तरण-चक्र को पूरा कर दिया है।

भारतीय हिस्से की भागीदारी वाले संयुक्त उद्यमों के अतिरिक्त विकासशील देशों में ऐसे अनेक औद्योगिक उद्यम हैं जो सिर्फ भारतीय प्रौद्योगिकी की सहायता से ही स्थापित किये गये हैं। जैसे, मलेशिया में आधे दर्जन से भी अधिक कारखाने भारतीय तकनीकी सहयोग से स्थापित किये गये हैं। कुछ ऐसे भी उद्यम हैं जो विदेशों में निवास करने वाले भारतीयों द्वारा भारतीय साज-सज्जा तथा प्रौद्योगिकी का प्रयोग करके स्थापित किये गये हैं।

कतिपय विदेशों में भारतीय संयुक्त उद्यम प्रौढ़ता की स्थिति में पहुंच गये हैं जिसके फलस्वरूप अन्य देशों में संयुक्त उद्यम या अपनी सहायक इकाइयां स्थापित करने के लायक हो चुके हैं। जैसे, मलेशिया में गोदरेज उपस्कर उद्यम ने अब सिंगापुर और इन्डोनेशिया में नयी इकाइयां स्थापित की हैं। इधर हाल में विदेशों में भारतीय संयुक्त उद्यम के ऐसे उदाहरण हमें उपलब्ध हैं कि वे या तो अपनी मूल कम्पनी को प्रौद्योगिकी की आपूर्ति करते हैं या भारत में ही नये संयुक्त उद्यम स्थापित कर रहे हैं। जैसे सिंगापुर में टाटा की यन्त्र कक्ष परियोजना अपनी प्रौद्योगिकी की सहायता से भारत में संयुक्त उद्यम स्थापित कर रही है।

ये उदाहरण इंगित करते हैं कि भारतीय प्रौद्योगिकी का अपने संयुक्त उद्यम से विदेशों में स्थानान्तरण पूर्ण एवं प्रभावी हो चुका है। यह एक ऐसा तथ्य है जिसे ध्यान में रखने और प्रकाश में लाने की आवश्यकता है।

भारतीय संयुक्त उद्यमों ने आयात प्रतिस्थापन, निर्यात की मांगों तथा स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा कर अतिथि राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है। अनेक संयुक्त उद्यम अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में अपने उत्पादन का निर्यात कर रहे हैं। अनेक इकाइयों ने 'बैकवार्ड लिंकेजेज' को अपनाया है और इस प्रकार मध्यवर्ती उत्पत्तियों या कच्चे माल के आयात को दूर किया है जिसके फलस्वरूप अतिथि राष्ट्र के लिए विदेशी विनिमय की और अधिक बचत होती है। ऐसे उदाहरण भारत द्वारा पड़ोसी विकासशील राष्ट्रों को प्रदत्त आर्थिक सहयोग की जड़ों को सुदृढ़ कर रहे हैं।

परामर्श

विनिर्माण इकाइयों को स्थापित करने के अतिरिक्त भारतीय विशेषज्ञ अनेक राष्ट्रों, विशेषतः विकासशील राष्ट्रों में परामर्श सेवाएं प्रदान करते रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में देर से प्रवेश के बावजूद भारतीय परामर्श संगठनों ने अनेक विकासशील राष्ट्रों पर अपना प्रभाव डाला है और प्रौद्योगिकी के स्थानान्तरण में प्रभावपूर्ण योगदान प्रदान किया है। परामर्श निर्यात का मूल्य 1970-71 में 10 मिलियन रुपये से बढ़कर 1981-

82 में 300 मिलियन रुपये हो गया है। भारतीय परामर्शदाता एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों सहित अनेक विकासशील देशों को विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्ट ज्ञान और निपुणता प्रदान करते रहे हैं। भारतीय परामर्शदाता विकासशील राष्ट्रों के लोहा एवं इस्पात उद्योग के नियोजन एवं विकास से भी घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध रहे हैं। यथा लीबिया में लोहा और इस्पात प्रोजेक्ट के डिजाइन तथा इंजीनियरिंग के सम्बन्ध में M/s B. N. Dustar & Co (P) Ltd. के एक विस्तृत तकनीकी आर्थिक सम्भाव्य सर्वेक्षण संविदा में भारतीय परामर्श की सम्भावनाएं प्रतिबिम्बित होती हैं।

परियोजना निर्यात

परियोजना निर्यात विकासशील राष्ट्रों में आर्थिक सहयोग और प्रौद्योगिकी-स्थानान्तरण की एक अन्य कड़ी है। विगत वर्षों में संरचना विकास की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए प्रौद्योगिकी-स्थानान्तरण के माध्यम के रूप में परियोजना निर्यात का महत्त्व बढ़ गया है। भारतीय फर्मों द्वारा पहले क्रियान्वित अथवा क्रियान्वयन की प्रक्रिया में लगभग 40 राष्ट्रों में फैले परियोजना निर्यातों का कुल मूल्य अनुमानतः 50 बिलियन रुपये है जिसमें निर्माण संविदा को छोड़कर 10 बिलियन रुपये के मूल्य के बराबर परियोजनाएं भी शामिल हैं। भारतीय विशेषज्ञों द्वारा विभिन्न परियोजनाओं का विश्व पैमाने पर विस्तार एवं विभिन्नता से यह प्रदर्शित होता है कि विकासशील राष्ट्र भारतीय फर्मों को न केवल सक्षम बल्कि विश्वसनीय भी मानते हैं।

यह तथ्य विस्तृत रूप से मान्य है कि प्रौद्योगिकी के प्रभावकारी स्थानान्तरण तथा अवधारणा से लेकर कमीशनिंग तक निपुणता प्रदान कर भारतीय फर्में विकासशील राष्ट्रों के औद्योगिक विकास में लाभप्रद एवं उपयोगी योगदान दे सकती हैं।

भारतीय तकनीकी एवं आर्थिक सहयोग कार्यक्रम

सम्पूर्ण विश्व की अन्तर्निर्भरता तथा आर्थिक कूटनीति के बढ़ते हुए आयामों को देखते हुए भारत ने अन्य राष्ट्रों, विशेषतः विकासशील राष्ट्रों, के साथ अपने आर्थिक सम्बन्धों को सुदृढ़ करने की दिशा में कार्य किया। कुशल मानव-शक्ति के एक विशाल भण्डार के फलस्वरूप भारत इस स्थिति में है कि वह अनेक विकासशील राष्ट्रों को अपना तकनीकी ज्ञान प्रदान कर सके तथा विभिन्न क्षेत्रों में संयुक्त सहयोग एवं सहकारिता हेतु प्रस्ताव प्रस्तुत कर सके। विकासशील राष्ट्रों के साथ अधिकाधिक आर्थिक तथा तकनीकी सहयोग के प्रयास से भारत सरकार ने 1964 में भारतीय तकनीकी तथा आर्थिक सहयोग कार्यक्रम प्रारम्भ किया। विगत वर्षों में इस कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत द्वारा प्रदत्त सहायता में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है और 1981-82 में इसके विभिन्न कार्यक्रमों के क्रियान्वयन हेतु 98 मिलियन रुपये की राशि आवंटित थी। इन क्षेत्रों के विकासशील

राष्ट्रों के प्रति विशेष ध्यान दिया गया और नेपाल, भूटान, बंगला देश आदि के साथ व्यक्तिगत तकनीकी एवं आर्थिक सहयोग कार्यक्रम के लिए अतिरिक्त सहायता उपलब्ध करायी गयी। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत लाभान्वित होने वाले प्रमुख राष्ट्रों में श्रीलंका भी शामिल है।

भारत सरकार की नीति

भारत सरकार भारतीय उद्यमियों को विकासशील राष्ट्रों के उनके प्रतिपक्षों को सहायता प्रदान करने हेतु आवश्यक सुविधाएं प्रदान करती है। विगत वर्षों में भारतीय कम्पनियों द्वारा विदेशी संयुक्त उद्यमों में विनियोग सम्बन्धी नीति को उदार तथा प्रक्रियाओं को सरल बनाया गया है। साज-सज्जा के निर्यात व अतिरिक्त भारतीय उद्यमी अब समुद्र पार संयुक्त उद्यमों में नगद विनियोग भी कर सकते हैं। संयुक्त उद्यम की स्थापना के द्वारा *प्रौद्योगिकी-स्थानान्तरण हेतु भारत सरकार द्वारा निर्गत निर्देश यह है कि अन्य* राष्ट्रों में भारतीय उद्यमियों द्वारा विनियोग स्थानीय नियमन के अनुकूल होना चाहिए तथा स्थानीय विनियोगकर्ता, वित्तीय संस्थाएं एवं उपक्रमी यथासम्भव अधिकतम मात्रा में सम्बद्ध हो, वस्तुतः हाल तक भारत सरकार ने भारतीय हित को अल्पमत स्वीकार करते हुए जोर दिया। इधर हाल में निर्देशों को बहुमत विनियोग की अनुमति प्रदान करने के लिए *संशोधित किया गया है बशर्ते अतिथि सरकार इसकी अनुमति प्रदान* करे। भारत सरकार इस पर काफी जोर दे रही है कि भारतीय उद्यमी विदेशों में जाकर विकास में भागीदार के तौर पर संयुक्त उद्यम कायम करें और उस परिस्थिति को दूर करें जिसका सामना कुछ समय पूर्व भारत को देश के अन्दर कार्यरत विदेशी उद्यमियों के साथ व्यवहार के क्रम में करना पड़ा था।

विकासशील राष्ट्रों में भारतीय विनियोग को प्रभावित करने वाले तत्त्व

विशेषज्ञों की प्रति नियुक्ति तथा एशिया और अफ्रीका के विकासशील राष्ट्रों के कर्मियों के प्रशिक्षण तथा इन क्षेत्रों में विभिन्न राष्ट्रों को साख प्रदान करने से सम्बन्धित भारत सरकार द्वारा अपनाये गये अनेक उपायों को देखते हुए अन्य विकासशील राष्ट्रों से भारत की भौगोलिक निकटता, विधि एवं गणना पद्धतियों की समानता, इन अनेक राष्ट्रों में व्यापारिक कार्यों हेतु अंग्रेजी भाषा का प्रयोग तथा इन राष्ट्रों और भारत सरकार व जनता के बीच अत्यधिक आपसी सद्भाव, इन राष्ट्रों को भारत द्वारा उपयुक्त प्रौद्योगिकी प्रदान करने की क्षमता, एवं भारत सरकार द्वारा विकासशील राष्ट्रों के बीच सहयोग को प्रोत्साहित करने की नीति आदि बातों को देखते हुए कोई भी व्यक्ति भारत और इन क्षेत्रों के राष्ट्रों के बीच सहयोग के एक उच्चतर स्तर की उम्मीद कर सकता है।

अनुमानतः कुछ ऐसे तत्त्व जो भारतीय उद्यमियों को इन देशों में संयुक्त उद्यम स्थापित

करने हेतु जाने से रोक सकते हैं वे हैं कतिपय इन राष्ट्रों में संरचना विकास के निम्न स्तर। आतरिक संघर्ष, आर्थिक राष्ट्रीयतावाद और राजनीतिक अस्थिरता, भारतीय उद्यमियों तथा इन राष्ट्रों के विनियोगकर्ताओं के बीच एक विस्तृत संवाद अन्तराल आदि इन क्षेत्रों में भारतीय विनियोग के निम्न स्तर के अन्य कारण हो सकते हैं।

जहां भारत ने एशिया और अफ्रीका के देशों के विकास आदान (इनपुट्स) सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता प्राप्त कर ली है, वहां इन राष्ट्रों में उनके विकासार्थ भारत द्वारा सहायता प्रदान करने की क्षमता के प्रति जागरूकता की एक आम कमी व्याप्त है।

अतः एशिया और अफ्रिका के देशों में भारतीय विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिए इन देशों के व्यापारियों को भारत की क्षमताओं के बारे में पर्याप्त और व्यवस्थित रूप में अवगत कराने की आवश्यकता है। कुछ भारतीय प्रतिनिधि-मण्डलों ने, जिन्होंने कतिपय इन राष्ट्रों का भ्रमण किया है कुछ हद तक भारतीय प्रौद्योगिकी के प्रति इनके उद्यमकर्ताओं की अभिरुचि जगाने में सहायता पहुंचायी है। लेकिन विभिन्न स्तरों पर अफ्रीका और एशिया के देशों में भारतीय हाई कमीशन, इन देशों में स्थापित भारतीय बैंकों, चेम्बर ऑफ कॉमर्स, विशिष्ट उद्योग समुदाय आदि जैसे अनेक अभिकरणों द्वारा और अधिक संगठित एवं निरन्तर प्रयास की आवश्यकता है। यहां तक कि भारतीय क्षमताओं और उपलब्धियों के बारे में अफ्रीकी-एशियाई राष्ट्रों में जागरूकता प्रोत्साहित करने के लिए नये अभिकरणों का सृजन भी आवश्यक माना जा सकता है। संयुक्त उद्यम स्थापित करने तथा भारत में प्रौद्योगिकी के स्थानान्तरण हेतु भारतीय एवं समुद्र पार उद्यमियों को एकजुट होने के लिए सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने अनेक कदम उठाये हैं। इनमें भारतीय विनियोग केन्द्र का संयुक्त उद्यम का दायित्व सौंपना उल्लेखनीय है।

न केवल इन राष्ट्रों के व्यापारी ही उनके औद्योगिक उद्यम स्थापित करने के लिए आवश्यक निपुणता एवं प्रौद्योगिकी प्रदान करने की भारतीय क्षमताओं से अपरिचित हैं, बल्कि भारतीय विनियोगकर्ताओं में भी इन राष्ट्रों की आवश्यकताओं के बारे में जानकारी का सामान्य अभाव है। वे इन राष्ट्रों की सरकारों द्वारा विदेशी विनियोग को आकर्षित करने तथा औद्योगिक उद्यमों को प्रोत्साहित करने हेतु प्रदत्त सुविधाओं एवं प्रेरणाओं तथा एवं अपनी विनियोग योजनाओं और प्राथमिकताओं से भी अपरिचित हैं।

इस प्रकार जहां एक तरफ विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक विकास हेतु उपयुक्त प्रौद्योगिकी तथा अन्य सम्बद्ध आवश्यक आदानों को प्रदान करने की भारतीय क्षमताओं का ज्ञान आवश्यक है, वहां दूसरी तरफ विकासशील राष्ट्रों की आवश्यकताओं का सही मूल्यांकन भारत तथा अन्य विकासशील राष्ट्रों के बीच अधिकाधिक आर्थिक सहयोग के प्रोत्साहन की कुंजी है। अतः पारस्परिक आर्थिक सहयोग को सुदृढ़ करने के हमारे प्रयासों में भारत तथा अन्य विकासशील राष्ट्रों के बीच और अधिक उत्तम सम्पर्क स्थापित करने हेतु अधिक से अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

में कोसी योजना या गंडक योजना अथवा अन्य नदी घाटी योजनाओं के कारण सिंचाई की क्षमता तो बढ़ ही गई थी, परन्तु इसका उपयोग पूर्ण रूप से सिंचाई के लिए नहीं हो रहा था। इसको ध्यान में रखते हुए कमाण्ड क्षेत्र विकास प्राधिकार की स्थापना इसलिए की गई कि सिंचाई की सृजित क्षमता का ज्यादा-से-ज्यादा उपयोग किया जा सके। उपर्युक्त कार्यक्रम ग्रामीण विकास के विशेष कार्यक्रमों के रूप में शुरू किए गए और देश के 5011 प्रखण्डों में से 3,000 प्रखण्डों में ये कार्यक्रम प्रारम्भ किए गए। लगभग एक दशक तक लघु कृषक विकास अभिकरण कार्यक्रम के चलते रहने पर भी यह कहना कठिन था कि किस हद तक ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार और आय सृजन में इसमें वृद्धि हुई। इस कार्यक्रम की एक आलोचना यह की जाती है कि अभिकरण ने लक्ष्य वर्ग के लोगों के लिए कोयाग की भूमिका नहीं निभाई। हमारे देश में आबादी निरन्तर बढ़ती ही जा रही है और इसके फलस्वरूप प्रति-व्यक्ति भूमि घट गई जिसके चलते भी गरीबी रेखा से नीचे के लोगों की संख्या में वृद्धि हुई है।

ऐसा सोचा गया कि तीव्रता से बेरोजगारी को हटाने तथा ग्रामीण निर्धनों के रहन-सहन को ऊंचा उठाने का उद्देश्य तभी पूरा हो सकता है जबकि ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों का समेकीकरण कर दिया जाय। यह आवश्यक था कि विभिन्न प्रक्षेत्रों द्वारा किए जानेवाले कार्यक्रमों का भी समेकीकरण हो, कोई भी स्कीम असम्बद्ध रूप से न की जाय। इसीलिए ग्रामीण विकास के चालू कार्यक्रम में बाधा नहीं दी गई और भारत सरकार द्वारा इस नयी नीति के अपनाये जाने के कारण समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम 1978-79 ई० में देश के 2,000 प्रखण्डों में प्रारम्भ किया गया। देश में जिन 3,000 प्रखण्डों में विशेष कार्यक्रम कार्यान्वित किए जा रहे थे उन्हीं में से उपर्युक्त 2000 प्रखण्डों का चयन किया गया। इस संख्या में और वृद्धि हुई। 2 अक्टूबर, 1980 में देश के कुल 5,011 प्रखण्डों में यह कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया गया। बिहार के सभी 588 प्रखण्डों में उसी तिथि से समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया गया। लघु कृषक विकास अभिकरण कार्यक्रम अब समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के साथ मिल गया है। इसका अब अलग कोई अस्तित्व नहीं है। ग्रामीण विकास कार्यक्रम का प्रबन्ध अब जिला स्तर पर जिला ग्रामीण विकास अभिकरण के द्वारा किया जाता है। कार्यक्रम का उद्देश्य है ग्रामीण निर्धनों के परिवारों को गरीबी रेखा से ऊपर उठाना। इसके लिए यह आवश्यक है कि ऐसे निर्धनतम परिवारों के उत्थान के लिए उन्हें परिसम्पत्ति, तकनीक और कौशल प्राप्त कराए जाएं जिससे आय का सृजन सम्भव हो। लक्ष्य वर्ग के लोगों को जो सहायता दी जाय उससे ठोस आय प्राप्त हो सके, जिससे वे सामान्यतः अपने जीवन स्तर से ऊपर उठ सकें। इस बात को भी सुनिश्चित करना है कि लाभान्वित न केवल गरीबी रेखा पार कर जाए है बल्कि पुनः वह गरीबी रेखा के नीचे फिसलकर न आ जाय। यह भी उचित होगा कि इन परिवारों को ऐसी सेवाओं के साथ जोड़ दिया जाय जो न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के अन्तर्गत उपलब्ध है।

1 लक्ष्य वर्ग

इस कार्यक्रम के लिए लक्ष्य वर्ग निर्धारित कर दिया गया है। लक्ष्य वर्ग में गांव में रहने वाले वे सारे परिवार आते हैं जो गरीबी रेखा के नीचे हैं। ऐसे लोगों में लघु कृषक, सीमान्त कृषक, खेतिहर मजदूर और ग्रामीण आदि शिल्पी आते हैं। ऐसे परिवार जिनकी वार्षिक आय 3500 रुपये या उससे नीचे है, उनकी गणना गरीबी रेखा के नीचे के लोगों में की जाती है। एक परिवार में औसतन 5 सदस्यों की परिकल्पना है। यद्यपि लक्ष्य वर्ग के सभी परिवार इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सहायता के लिए उपयुक्त हैं फिर भी ऐसे लोगों को पहले सहायता दी जाएगी जो निर्धनतम हैं।

लाभान्वितों के चयन में कम-से-कम 30 प्रतिशत लाभान्वित अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों में से लिए जाएंगे। यह भी अपेक्षित है कि समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत कुल निवेश का 30 प्रतिशत ऐसे परिवारों के लिए होगा।

2. अनुदान, कोष और लक्ष्य

औसतन प्रति प्रखण्ड प्रति वर्ष 600 निर्धनतम परिवार सहायता के लिए चुने जाएंगे। छठी पंचवर्षीय योजनावधि में प्रति प्रखण्ड 3,000 परिवारों को समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत सहायता पहुंचाई जाएगी। इस प्रकार 30 लाख परिवार प्रति वर्ष और 1 5 करोड़ परिवार छठी पंचवर्षीय योजना की अवधि में सम्पूर्ण देश में इस कार्यक्रम के अन्तर्गत लाभान्वित होंगे और बिहार राज्य में 17.64 लाख परिवार लाभान्वित होंगे। इस कार्यक्रम में अनुदान की व्यवस्था की गई है। अनुदान की दर निम्न प्रकार की है।

सीमान्त कृषक, कृषक मजदूर, ग्रामीण शिल्पी जो भी स्कीम लेंगे और उस पर जितनी पूंजी की लागत आएगी उसका एक तृतीयांश सरकार द्वारा लाभान्वितों को अनुदान के रूप में दिया जाएगा। जहां तक लघु कृषकों का प्रश्न है उन्हें पूंजी निवेश का 25 प्रतिशत अनुदान के रूप में मिलेगा। अनुसूचित जातियों के लिए हर हालत में यह अनुदान 50 प्रतिशत होगा। छठी योजना काल—1980-85 में 750 करोड़ रुपये केन्द्रीय सरकार के द्वारा खर्च किया जाएगा और उतनी ही रकम राज्यों के द्वारा खर्च की जाएगी। योजना के प्रथम वर्ष में प्रति प्रखण्ड 5 लाख रुपये दूसरे वर्ष में 6 लाख रुपये और अन्तिम तीन वर्षों में प्रत्येक वर्ष के लिए 8 लाख रुपये खर्च के लिए उपलब्ध होंगे। इसमें 50 प्रतिशत केन्द्र सरकार द्वारा और 50 प्रतिशत राज्य सरकार द्वारा राशि उपलब्ध कराई जाएगी। प्रति वर्ष उपलब्ध राशि को ध्यान में रखते हुए यह सम्भव है कि योजनाकाल के प्रथम दो वर्षों में लाभान्वितों की संख्या कम हो सकती है। अन्तिम तीन वर्षों में लक्ष्य वर्ग के ज्यादा लोगों को सहायता दी जा सकती है। उपलब्ध राशि का लगभग 10 प्रतिशत लाभान्वितों की स्कीम को ध्यान में रखकर आधारभूत ढांचे पर खर्च किया जा सकता है और इसी प्रकार कुछ हिस्सा स्थापना पर खर्च किया जा सकेगा। मोटे तौर पर अनुदान में जितनी राशि उपलब्ध होगी उसकी दुगुनी राशि ऋण के रूप में

लाभान्वितों को प्राप्त करानी होगी। जैसा कि ऊपर कहा गया है लगभग 1500 करोड़ रुपये अनुदान के रूप में खर्च होंगे तो इस हिसाब से लगभग 3 000 करोड़ रुपये ऋण के रूप में लाभान्वितों को उपलब्ध कराया जाएगा।

3 समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत ली जाने वाली स्कीमें

लाभान्वितों द्वारा कोई भी लाभप्रद स्कीम जिससे आय की सृष्टि होगी, इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ली जा सकती है। परन्तु एक बात ध्यान में रखने की है कि कोई भी स्कीम जो लाभान्वितों द्वारा ली जाएगी वह उनकी रुचि और निपुणता को ध्यान में रखकर ही होनी चाहिए। एक प्रखण्ड में औसतन 600 परिवारों में जिन्हें गरीबी रेखा पार कराने के लिए स्कीमें दी जाएंगी, लगभग 400 परिवार ऐसे होंगे जो कृषि तथा उससे सम्बन्धित प्रक्षेत्रों की स्कीमें लेंगे और शेष 200 परिवार प्रति वर्ष प्रति प्रखण्ड गैर कृषि या उससे सम्बन्धित प्रक्षेत्रों की स्कीम लेंगे। इसमें स्थानीय आवश्यकताओं और परिस्थितियों को ध्यान में रखकर परिवर्तन भी किया जा सकेगा।

4 बिहार की स्थिति

वर्ष 1981-82 में भारत सरकार से बिहार सरकार को 12 49 करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे। 17 61 करोड़ रुपये राज्य सरकार द्वारा समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के लिए निर्गत किए गए थे और 13 80 करोड़ रुपये पिछले वर्ष की बची राशि थी। इस प्रकार वर्ष 1981-82 में खर्च के लिए 49 90 करोड़ रुपये उपलब्ध थे। प्रधानमंत्री ने पटना में जून 1981-82 में विमर्श के दौरान वर्ष 1981-82 के लिए 33 करोड़ रुपये खर्च का लक्ष्य स्थिर किया था। इसके विरुद्ध कुल 31 33 करोड़ रुपये 31 मार्च 1982 तक खर्च हुए। उपर्युक्त अवधि में 2 76 लाख परिवार लाभान्वित हुए जबकि यह संख्या 3.52 लाख सिर्फ 1981-82 वर्ष के लिए ही होनी चाहिए थी।1982-83 में बिहार के लिए 8 लाख रुपये प्रति वर्ष प्रति प्रखण्ड की दर से लगभग 47 करोड़ रुपये की राशि समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम पर खर्च करने के लिए उपलब्ध थी। इसमें केन्द्र सरकार और राज्य सरकार दोनों का ही हिस्सा सम्मिलित है। यदि इसमें पिछले वर्ष की बची राशि को भी जोड़ दिया जाए जो 12 59 करोड़ के लगभग थी तो कुल 59 93 करोड़ की राशि 1982-83 में खर्च के लिए उपलब्ध हुई। 1982-83 में अनुदान और स्थापना पर लगभग 34 करोड़ रुपये खर्च हुए तथा 3 62 लाख परिवार लाभान्वित हुए जिनमें 100,588 परिवार अनुसूचित जाति के और 347,886 परिवार अनुसूचित जनजाति के हैं। वर्ष 1983-84 में 8 लाख प्रति प्रखण्ड के हिसाब से लगभग 47 करोड़ रुपये इस कार्यक्रम पर खर्च के लिए उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त पिछले वर्षों की बची हुई राशि भी खर्च के लिए उपलब्ध होगी। प्रारम्भिक वर्षों में कार्यक्रम के कार्यान्वयन में जो कुछ कठिनाइयां हुई वह स्वाभाविक ही है। जिला स्तर पर तथा राज्य स्तर पर भी संगठनात्मक कार्यों

भोगियो के लिए ऋण की स्वीकृति की सूचना देता है, त्योंही सम्बन्धित बैंक मे ग्रामीण विकास अभिकरण द्वारा अनुदान की राशि जमा कर दी जाती है और लगभग एक साथ अनुदान और ऋण की राशि निर्गत की जा सकती है, जिससे अनुदान का ऋण खाते मे तुरन्त सामजन कर लिया जा सके। इसमे लाभ भोगियों को यह लाभ होगा कि जिस सीमा तक बैंक को अनुदान दे दिया जाता है उस सीमा तक की राशि पर उन्हे सूद नही देना पड़ेगा।

7 पिछले अनुभव

समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम पर जो कुछ मूल्याकन-अध्ययन किए गए हैं उनसे पता चलता है कि समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के लिए लाभान्वितो को जो ऋण की राशि दी गई है वह अनुकूलतम स्तर से नीचे है। फिर समकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम मे एक ही परिवार के द्वारा कई प्रकार की स्कीम ली जा सकती हैं। ऐसा देखा गया है कि बैंक कुछ स्कीमो के लिए तो आसानी से ऋण देने को तैयार हो जाता है, परन्तु कुछ के लिए ऋण देने को तैयार नही होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति नही हो पाती है। जब तक सभी स्कीमो के लिए वित्त उपलब्ध नही होगा तब तक वह परिवार गरीबी रेखा को पार नही कर सकेगा क्योकि उसको इतनी अतिरिक्त आय नही हो सकेगी जिससे वह अपने रहन-सहन को ऊचा उठा सके। कभी-कभी समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत न केवल परिवार के मुख्य व्यक्ति के लिए बल्कि परिवार के अन्य व्यक्तियो के लिए भी ऋण की आवश्यकता पड़ती है और इन व्यक्तियो को भी ऋण देने मे किसी प्रकार की हिचकिचाहट नही होनी चाहिए। उद्देश्य यह होना चाहिए कि परिवार के सभी सदस्यो की मिली हुई आय से परिवार अपने रहन-सहन के स्तर को ऊचा उठा सके। इस कारण यदि परिवार के एक से अधिक सदस्यो को ऋण देने की आवश्यकता हो तो उन्हे दिया जाना चाहिए।

8 साख की गतिशीलता के मार्ग मे रोके

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम साख से जुड़ा हुआ है और यही कारण है कि वित्तीय सस्थाओ को इस कार्यक्रम के कार्यान्वयन में प्रमुख भूमिका अदा करनी है। लाभान्वितो को बैंको के द्वारा ऋण उपलब्ध कराया जाता है। बैंक-साखा तथा जनसख्या का अनुपात बिहार मे दिसम्बर 1980 मे 1:25,000 था और यह दिसम्बर 81 मे 1:20,000 हो जाता, यदि निर्धारित लक्ष्य के अनुसार शाखाए स्थापित की जाती। 31 दिसम्बर 1981 को वाणिज्य/क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको की 2,662 शाखाए बिहार मे कार्यरत थी। बैंक के अधिकारियो ने यह आश्वासन दिया था कि 1979-81 के अन्तर्गत जितनी भी बैंक शाखाए खोली जानी चाहिए थी, वे सब नवम्बर 81 तक खुल जाएगी। परन्तु 31-12-81 को भी जो 353 शाखाए खोली जानी चाहिए थी, वे वाणिज्य बैंक/ग्रामीण बैंको द्वारा नही

खोली जा सकी। इस प्रकार दिसम्बर 81 में बैंक-शाखा तथा जनसंख्या का अनुपात 1:20,000 भी नहीं पहुंच सका, जबकि शाखा और जनसंख्या का अनुपात दिसम्बर 1980 में 1:9,000 केरल तथा पंजाब में, 1:12,000 गुजरात में, 1:13,000 हरियाणा में और 1:14,000 तमिलनाडु और महाराष्ट्र में था। राज्य सरकार रिजर्व बैंक के साथ बिहार में 1982-85 अवधि के लिए शाखाओं के प्रसार की स्कीम के सम्बन्ध में बातचीत कर रही है जिससे शाखा और जनसंख्या का अनुपात 1985 के अन्त तक 1:10,000 हो सके। इसी बीच रिजर्व बैंक ने अपनी नीति की घोषणा की है कि ग्रामीण अर्द्ध शहरी क्षेत्रों के लिए 17,000 की आबादी पर एक बैंक-शाखा उपलब्ध होगी। बिहार की विशेष परिस्थिति का ध्यान में रखते हुए राज्य सरकार रिजर्व बैंक से इस सम्बन्ध में निरन्तर बात कर रही है। इस प्रकार बैंक-शाखाओं की कमी के कारण इस राज्य में साख-सृजन की गतिशीलता में कमी आ जाती है और इसलिए यह एक ऐसा रोड़ा है जिसे यथाशीघ्र हटाया जाना चाहिए।

दूसरी बाधा जो साख की गतिशीलता के सम्बन्ध में आती है, वह है बैंक की शाखाओं में कर्मचारियों का अभाव। बैंक के प्रतिनिधियों को राज्य सरकार ने बार-बार यह सलाह दी है कि वे अपने मुख्य कार्यालयों से आवश्यक संख्या में कर्मचारियों की मांग करें जिससे कि वर्तमान बैंक शाखाएं अच्छी तरह से काम कर सकें और नई शाखाएं भी खोली जा सकें। राज्य सरकार बैंकों के कार्मिकों के चयन के लिए बिहार के लिए अलग से एक नियुक्ति पर्षद (रिक्रूटिंग बोर्ड) की स्थापना का प्रयत्न कर रही है। कुछ दिनों पूर्व भारत सरकार के वित्त मंत्री से बिहार के मुख्य मंत्री डा० जगन्नाथ मिश्र ने बिहार के लिए एक अलग नियुक्ति पर्षद (रिक्रूटिंग बोर्ड) की स्थापना के लिए विचार-विमर्श किया था।

उपर्युक्त अवरोधों के हट जाने से कुछ हद तक साख के सृजन में जो गतिशीलता की कमी है वह घट जाएगी और इससे समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम में प्रगति होगी।

9. ट्राइसम

ग्रामीण युवक-युवतियों के लिए स्वरोजगार स्थापित करने के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है। इसको ही संक्षेप में 'ट्राइसम' की संज्ञा दी गई है—ट्रेनिंग आफ रूरल यूथ फार सेल्फ एम्प्लायमेंट। यह एक विशिष्ट राष्ट्रीय स्कीम के रूप में अगस्त 1979 में प्रारम्भ हुआ। अक्तूबर 1980 में यह समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के साथ मिल गया। अब यह समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का एक उपादान या अंग है। 'ट्राइसम' समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के उस अंग का नाम है जो स्वनियोजन के लिए ग्रामीण युवक-युवतियों को तैयार करता है।

ग्रामीण युवकों की परिभाषा बिलकुल सरल है। वे प्रखण्ड के निवासी हों और उनका घर नगरपालिका, नगर निगम या अधिसूचित क्षेत्र समिति में न हो। उनकी

उम्र 18 से 35 वर्ष की होनी चाहिए।

उनका चयन प्रखण्ड-स्तरीय समिति के द्वारा किया जाता है जिसके सदस्य प्रखण्ड विकास पदाधिकारी, प्रसार पदाधिकारी (उद्योग), प्रशिक्षण देने वाली संस्थाओं के प्रतिनिधि, बैंक के प्रतिनिधि आदि होते हैं। मौलिक सूची जनसेवक द्वारा तैयार की जाती है परन्तु अन्य सूत्रों से भी नाम प्राप्त किए जाते हैं। सामान्यतः 40 युवा प्रति वर्ष प्रति प्रखण्ड प्रशिक्षण के लिए चुने जाते हैं। उनकी संख्या इससे अधिक भी हो सकती है। युवक या युवती की रुचि और प्रशिक्षण के उपलब्ध साधन को देखकर ही उनके प्रशिक्षण का विषय निश्चित किया जाता है।

कृषि विज्ञान केन्द्र, किसान प्रशिक्षण केन्द्र, औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थान, पोलीटेकनिक आदि संस्थाओं द्वारा अथवा मास्टर क्राफ्ट्समेन ट्रेनर द्वारा चुने गए युवक-युवतियों को प्रशिक्षण दिया जाता है। इनके प्रशिक्षण की अवधि में छात्रवृत्ति भी देने की व्यवस्था है। यदि प्रशिक्षणार्थी अपने गांव में रहकर प्रशिक्षण लेता है तो यह राशि 50 रु० प्रति मास तक हो सकती है। यदि वह गांव से बाहर रहता है और उसके निःशुल्क निवास की व्यवस्था है तो यह राशि 100 रु० तक तथा निःशुल्क व्यवस्था नहीं रहने पर 125 रु० तक हो सकती है।

प्रशिक्षण देने वाले को प्रति प्रशिक्षणार्थी 50 रु० प्रति मास प्रशिक्षण खर्च के रूप में दिया जाता है। 25 रु० प्रति मास के हिसाब से प्रशिक्षण की अवधि में कच्चे माल के लिए भी दिया जा सकता है। परन्तु सम्पूर्ण प्रशिक्षण-अवधि में यह राशि 200 रु० से अधिक नहीं हो सकती है। जहां तक मास्टर क्राफ्ट्समेन ट्रेनर का प्रश्न है, उन्हें प्रति प्रशिक्षणार्थी प्रत्येक कोर्स के लिए सफलतापूर्वक प्रशिक्षण समाप्त कराने पर 50 रु० दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त मुफ्त में 'टूलकिट' भी प्रशिक्षणार्थियों को दी जा सकती है बशर्ते उसकी कीमत 250 रु० से अधिक न हो। प्रशिक्षण की अवधि एक सप्ताह से नौ महीने तक और विशेष परिस्थिति में इससे भी अधिक हो सकती है।

जहां तक अनुदान की बात है प्रशिक्षित युवक-युवती के लिए अनुदान की वही व्यवस्था है जो अन्य समेकित ग्रामीण विकास के लाभान्वितों के लिए रोजगार शुरू करने पर है।

अध्याय 26

सहकारी संसाधन : त्वरित ग्रामीण विकास हेतु संस्थागत प्रविधि

विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक विकास सम्बन्धी अनुभव ने यह स्पष्टत अभिव्यक्त कर दिया है कि समग्र प्रगति ग्रामीण विकास की दर पर निर्भर है। सभी विकासशील राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था ग्रामीण एव कृषि प्रधान है, अत आर्थिक विकास का तब तक कोई अर्थ नही, जब तक कि ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले बहुसंख्यक लोग विकास प्रक्रिया में भाग नही लेते और विकास के फल के भागीदार नही होते। ग्रामीण विकास सम्बन्धी मूल प्रश्न उनके लिए लाभप्रद रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना है। इसमें अर्द्ध-रोजगार के दोष दूर होंगे तथा अच्छे जीवनयापन हेतु ग्रामीण परिवारों का आय-स्तर ऊंचा उठेगा।

विकासार्थ अनेक उपायों के बावजूद विकास के सलक्षण गावों तक नही फैल रहे है। ग्रामीण जीवन शैली पर विरले ही प्रभाव प्रतीत होता है, बेरोजगारी/अर्द्ध-रोजगारी कम नही हो रही है, ग्रामीण गरीबी म वृद्धि हो रही है जिसके फलस्वरूप अत्यधिक सामाजिक तनाव पैदा होता है और इस प्रकार विकास का उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता। अत ग्रामीण विकास को त्वरित करना विकासशील राष्ट्रों के लिए चुनौती है। आर्थिक विकास सम्बन्धी अनेक विशेषज्ञो एव लेखको ने इस बात पर बल दिया है कि (आर्थिक) क्रियाओ का सास्थानिकीकरण ग्रामीण अर्थव्यवस्था के सतत तीव्र विकास हेतु एक पूर्व-दशा है। सहकारी साख-पद्धति कृषि विकास को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से साख-आपूर्ति के सास्थानिकीकरण करने के एक उपाय के रूप मे विकसित की गयी। जिस सीमा तक सहकारी साख-पद्धति ने किसानो की आवश्यकताओ को पूरा किया, उस हद तक कृषि विकास को अग्रसारित किया। सहकारी विकास का रहस्य क्रियाओ के अन्य रूपो ने विभिन्न क्षेत्रो मे आर्थिक विकास को प्रेरणा प्रदान की। वस्तुत ग्रामीण विकास-आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए उपयुक्त सस्थागत ढाचे के सृजन एव कायम रखने मे निहित है।

ग्रामीण विकास की एक आवश्यक शर्त आधुनिक वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक प्रविधियो को अपनाना तथा कृषि एव अन्य आर्थिक क्रियाक्षेत्रो मे इनका प्रयोग है। इनके तौर-तरीको के लिए आधुनिक अदाओ (इनपुट्स) जैसे सकर बीज, उर्वरक, कीटनाशक औषधि, ट्रैक्टर एव थ्रेसर जैसे यत्रो की आवश्यकता पडती है। जब तक सस्थागत स्रोतो से समय पर पर्याप्त मात्रा उपलब्ध नही हो पाती तब तक इन तौर-तरीको के अपनाने

के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता। निजी महाजनों से कर्ज लेकर ऐसे इनपुट्स प्राप्त करने की कल्पना नहीं की जा सकती। सहकारी साख-प्रणाली को आवश्यक साख की आपूर्ति हेतु उपयुक्त सस्था के रूप में स्वीकार किया गया है। ग्रामीणों की बचत जुटाने तथा जरूरतमद लोगों तक साख पहुंचाने के लिए ग्रामीण विकास हेतु सहकारी साख-प्रणाली में अन्तर्निहित गुण है। सर्वत्र सहकारी समितियां सफल नहीं हुई है— यह एक ऐसा तथ्य नहीं जिसके आधार पर सहकारी विकास के समर्थन में तर्क प्रस्तुत नहीं किया जाय, क्योंकि निजी क्षेत्र या सार्वजनिक क्षेत्र की किसी भी सस्था ने इस उद्देश्य से साख पहुंचाने में उत्कृष्टता या पूर्णता प्रदर्शित नहीं की है। अत सहकारी विकास का लक्ष्य निर्धनों के विकास हेतु वैकल्पिक सस्थागत प्रविधि की व्यवस्था करना होना चाहिए।

सहकारी सगठन के विकास के पक्ष में तर्क इसलिए प्रस्तुत किया जाता है कि निर्बल आर्थिक इकाइयों की अधिक सख्या व्याप्त है और व इतनी अधिक कमजोर हैं कि स्वत अपने को मुक्त नहीं कर सकतीं। सख्या के कारण राजकीय सहायता प्रभावपूर्ण ढग से उनके पास नहीं पहुच सकती। परन्तु सामूहिक प्रयास के द्वारा निर्धन अपने आप को गरीबी से अच्छी तरह मुक्त कर सकते हैं, यथा, साख की आपूर्ति, अपनी उत्पत्ति का विपणन, समाधान, उपभोक्ता वस्तुओं की आपूर्ति इत्यादि। वस्तुत ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं कि गाव के लोगो ने सहकारी आधार पर अपने क्रिया-कलापो के द्वारा अपने जीवन-स्तर तथा आय में वृद्धि कर ली है।

हमारे अनुभव ने यह प्रदर्शित किया है कि परम्परागत निजी सस्थाए समाज में घटित परिवर्तनीय सामाजिक, आर्थिक एव प्रौद्योगिक प्रगति की आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ रही हैं। साख की निजी महाजनी प्रणाली के द्वारा आधुनिक व्यवसायिक कृषि की उम्मीद करना कल्पना से परे है। ग्रामीण विकास के सदर्भ में सार्वजनिक क्षेत्र की सस्थाओं का अनुभव भी बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि असली ग्रामीण अर्थव्यवस्था की स्थिति में सहकारी सगठन ग्रामीण साधनों को जुटाने, मानव-शक्ति के प्रयोग तथा विकास-कार्यक्रमों के क्रियान्वयन हेतु उपयुक्त सस्थागत प्रविधि होगी। सच तो यह है कि लघु आर्थिक इकाइयों की अधिक सख्या के चलते उनकी समस्याओं के समाधान हेतु सामूहिक क्रियाशीलता सगठित करने का दायित्व आ जाता है। जापान की ग्रामीण एव कृषि विकास की सफलता का कारण अधिकांशत विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सगठन का सहकारी रूप ही है। सहकारिता दर्शन एव सिद्धान्त की गहराई में जाने के बजाय यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि सहकारी सगठन सभी विकासशील राष्ट्रों में ग्रामीण विकास हेतु उपयुक्त सस्थागत ढाचा प्रस्तुत करता है। ग्रामीण विकास के साधन के रूप में सहकारी सगठन की सफलता को गुजरात की दुग्ध सहकारी समितियां तथा महाराष्ट्र की चीनी गन्ना-धन सहकारी समितियों ने पर्याप्त रूप से प्रदर्शित कर दिया है।

विकास के अनेक मार्ग हैं। स्ट्रैटेजी के तौर पर समाज को एक तरीका चुनना पड़ता है जो विकास को आगे बढ़ाने में सहायक हो। वस्तुतः विकास-प्रक्रिया कुछ मात्रा में स्वतः

होनी चाहिए और संस्था-निर्माण का कार्य विकास-प्रक्रिया में 'उत्प्रेरक' के रूप में होना चाहिए। सहकारी समाधन में क्रियाशीलता से तीव्र ग्रामीण विकास प्रोत्साहित करने की अपार शक्ति समाहित प्रतीत होती है। यह अनेक सामाजिक आर्थिक उद्देश्यों को पूरा भी करती है। समाज अपनी आर्थिक क्रियाओं के द्वारा अनेक लक्ष्यों को पूरा करना चाहता है और सहकारी समाधन संगठन में एक ही साथ समाज के अनेक लक्ष्यों को पूरा करने की संरचनात्मक उत्कृष्टता अन्तर्निहित है।

अपने विशिष्ट गुणक प्रभाव के कारण आर्थिक विकास की समग्र प्रक्रिया में सहकारी समाधन क्रियाशीलता का अधिक महत्त्व है। इसकी अपार विकास सम्भाव्यता है जिसे सही ढंग से पहचानने और विकसित करने की आवश्यकता है।

ग्रामीण विकास के लिए सहकारी समाधन को आज काफी मान्यता प्रदान की जा रही है। यह अनुभव किया जाता है कि उपर्युक्त विपणन एवं समाधन के अभाव में उत्पादन कार्यक्रम बाधित होता है। यदि उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर एवं उचित गुण के सामान उपलब्ध नहीं हों, तो कृषि की बढ़ी हुई उत्पत्ति का कोई अर्थ नहीं रह जाता। अनेक ऐसी कृषि वस्तुएँ हैं जिन्हें उपभोग के योग्य होने के पूर्व बहुत अधिक समाधित करने की आवश्यकता पड़ती है। सम्भव है कि किसान दोषपूर्ण समाधन के कारण अपनी उत्पत्ति का पर्याप्त प्रतिफल पाने में समर्थ नहीं हों। विकसित राष्ट्रों में कृषि समाधन क्रियाओं के क्षेत्र में क्रान्तिकारी विकास हुए हैं। यह कहा जाता है कि समाधन का विकास आर्थिक विकास का कार्य एवं प्रतिफल दोनों ही हैं। आर्थिक विकास के साथ-साथ जैसे-जैसे लोगों की आय में वृद्धि होती जाती है, उपभोक्ता अपेक्षाकृत अधिक समाधित उत्पत्तियों की माँग करते हैं। समाधन की आधुनिक तकनीकों के प्रयोग के कारण ही दुग्ध सहकारी समितियों ने दुग्ध उत्पादकों को उच्चतर आय प्रदान किया है। अधिकांश कृषि उत्पादों के सन्दर्भ में यह सत्य है। सच तो यह है कि समाधन का आधुनिकीकरण कृषि के आधुनिकीकरण का आवश्यक तार्किक एवं युक्तिसंगत विस्तार है।

समाधन के आधुनिकीकरण के अभाव में समाज को सम्भाव्य उत्पादन के बहुभाग की क्षति होती है। फोर्ड फाउण्डेशन विशेषज्ञों ने यह अनुमान लगाया था कि इस देश में सम्भाव्य चावल का दस से बारह प्रतिशत भाग धान के दोषपूर्ण समाधन के कारण बर्बाद हो जाता है। अधिकांश कृषि उत्पत्ति स्वभावतः नाशवान हैं और कृषक को निजी व्यापारियों के हाथ इन्हें एक बहुत ही निम्न कीमत पर बेच देना पड़ता है। ऐसे नाशवान उत्पादों के समाधन की व्यवस्था करके किसान अपनी उत्पत्ति का उच्चतर मूल्य प्राप्त कर सकते हैं। फिर भी आज जैसी समाधन तकनीक है, लघु कृषकों के लिए समाधन के आधुनिक तरीकों का लाभ उठाना कठिन है। लेकिन इसे बहुत प्रभावपूर्ण ढंग से सम्पादित किया जा सकता है, अगर किसान गुजरात के खेड़ा जिला के दुग्ध उत्पादकों और महाराष्ट्र के गन्ना उत्पादकों की तरह अपनी उत्पत्ति के सहकारी समाधन की व्यवस्था करें।

निजी उद्यमी भी संसाधन क्रिया सम्पादित कर सकता है। लेकिन सहकारी संसाधन का गुण समाज पर इसके अग्र एवं पृष्ठ लिंकेज प्रभावों के कारण है तथा यह आर्थिक विकास के लिए स्वतः प्रेरणा का काम करता है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रोफेसर गाडगिल ने सहकारी संसाधन के द्वारा अनेक उद्देश्य समूहों की प्राप्ति का पर्याप्त स्पष्टीकरण किया है। एक निजी संसाधक अपने मुनाफे को अधिकतम करने में रुचि रखा करता है, परन्तु एक सहकारी संसाधन समिति, जो कृषक सदस्यों द्वारा निर्मित होती है, का उद्देश्य संसाधन का विकास एवं कृषि अर्थव्यवस्था का विकास है। कृषि उत्पत्ति के निजी संसाधन की तरह संसाधन समिति तथा कृषक समुदाय के बीच स्वार्थ की टकराहट नहीं होती। इसे महाराष्ट्र में सहकारी चीनी कारखाने के अनुभव द्वारा अच्छी तरह स्पष्ट किया जा सकता है जहां सहकारी चीनी कारखाने ने आधुनिकीकरण के लाभों का अपने कार्यक्षेत्र के सम्पूर्ण ग्रामीण इलाकों में विस्तृत कर दिया है। सहकारी संसाधन की सफलता कृषक सदस्यों से उपलब्ध कृषि कच्चे माल के गुण पर निर्भर करती है। अतः संसाधन समिति अपने कृषक सदस्यों की कृषि उत्पत्ति को सुधारने में अभिरुचि लेती है ताकि कच्चे माल अधिक मात्रा में और अच्छे गुण वाले मिल सकें। सहकारी संसाधन क्रियाशीलता का पृष्ठ लिंकेज प्रभाव (बैकवार्ड लिंकेज इफेक्ट) अनेक रूपों में अभिव्यक्त होता है जैसे फसल पद्धति में परिवर्तन के द्वारा, बारी-बारी से फसलों को उगाना, प्रौद्योगिकी सुधार, कृषि की तीव्रता तथा आधुनिक कृषि प्रबन्ध के तौर-तरीके का प्रबन्ध। अतः सहकारी संसाधन के लाभ संसाधन तक ही सीमित नहीं हैं। परन्तु अनेक रूपों में यह ग्रामीण विकास के लिए उत्प्रेरक का काम करता है। इसका साक्ष्य बारामती अनुभव है जहां सहकारी चीनी कारखाने ने अपने कार्यक्षेत्र के एक सौ गांवों में ग्रामीण विकास के लिए उत्प्रेरक का काम किया है।

सहकारी संसाधन क्रियाशीलता समाज पर अनेक गौण प्रभावों के द्वारा विकास को त्वरित करती है। सहकारी संसाधन समिति विकास हेतु अनेक संरचनाओं का सृजन करती है, जैसे, ग्रामीण क्षेत्रों में सड़क, परिवहन, आधुनिक आवास, विद्यालय एवं अस्पतालों के निर्माण द्वारा।

ग्रामीण विकास की एक आवश्यकता, जीवनयापन की अच्छी दशाओं का सृजन है। सहकारी चीनी कारखाना या कोई अन्य संसाधन इकाई आधुनिक प्रौद्योगिक एवं प्रबन्धकीय शैली के आधार पर कार्यरत है और ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य करने की दिशा में आधुनिकता का संचार करती है। यह सच है कि नगरीकरण के सरल का सृजन वहां पर हुआ है जहां एक उदीयमान इकाई अवस्थित है और यह एक ग्रामीण विकास केन्द्र बन जाती है।

ग्रामीण विकास के लिए एक आवश्यक शर्त यह भी है कि गांव के लोग उत्पादन प्रक्रिया में संलग्न हों। यह तभी सम्भव है जबकि निजी संसाधन की अपेक्षा सहकारी संसाधन की व्यवस्था हो। इस प्रकार प्रोफेसर डब्ल्यू० ए० लुइस ने ग्रामीण समुदाय में व्यावसायिक नेतृत्व के फैलाव के लिए सहकारी संसाधन संगठन की प्रशंसा की है।

बढाने के लिए काफी सभावना होगी। वस्तुत ससाधन के द्वारा कुशल विपणन सेवा और उत्पत्ति के लिए उचित व्यवस्था होती है।

सहकारी साख पद्धति का एक दोष किसानो के बकाए की वसूली का अभाव है। लेकिन किसान जब सहकारी ससाधन की व्यवस्था कर लेते हैं तो वसूली का कार्यक्रम बहुत सतोषजनक हो जाता है। इस सदर्भ मे बारानगर अनुभव उद्धृत किया जा सकता है, जहा सहकारी चीनी मिल अनेक सहकारी समितियों की मातृ सहकारिता के रूप मे कार्यरत है।

सहकारी ससाधन के हमारे अनुभव ने यह प्रदर्शित किया है कि अपने कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत विकास को त्वरित करने मे यह अन्तर्निहित उत्प्रेरक की भूमिका निभाता है। भारत मे हमारे अनुभव ने यह प्रदर्शित किया है कि सभी सहकारिताओ मे सहकारी ससाधन समितियों ने ग्रामीण विकास पर अधिकतम प्रभाव दिखलाया है, जैसे गुजरात की दुग्ध सहकारी समितिया, महाराष्ट्र की सहकारी चीनी मिलें तथा देश के विभिन्न भागो मे फैली ऐसी अन्य सहकारी सस्थाए। मैं सहकारी ससाधन को इस देश मे ग्रामीण विकास की एक स्ट्रेटेजी के रूप मे मानता हू। यह अन्य विकासशील राष्ट्रो के लिए भी समान रूप से सही है।

अध्याय 27

भारत में नगरीकरण की आधुनिक प्रवृत्तियां

नगरीकरण का स्तर आर्थिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण सूचक है। कुछ लेखकों तथा जनांकिकी विशेषज्ञों के मुताबिक जनसंख्या का ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों में परिवर्तन आर्थिक विकास की सुदृढ़ कसौटी है। बीसवीं शताब्दी में तीव्र नगरीकरण एक विश्वव्यापी प्रवृत्ति बन गयी है। दुनिया के विकसित राष्ट्रों में ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर जनसंख्या का प्रव्रजन काफी तेजी से हुआ है। फलतः इस संदर्भ में वहां एक संरचनात्मक परिवर्तन हो चुका है जैसे इंगलैण्ड, आस्ट्रेलिया, जापान, संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस जैसे देशों में नगरीकरण का स्तर क्रमशः 91 प्रतिशत, 89 प्रतिशत, 78 प्रतिशत, 73 प्रतिशत और 65 प्रतिशत है। लेकिन इसकी तुलना में *1981 की जनगणना के अनुसार भारत की शहरी आबादी देश की कुल जनसंख्या का 23 73 प्रतिशत ही है।*

पश्चिम में औद्योगिक क्रान्ति के प्रभावस्वरूप नगरों की संख्या में वृद्धि हुई। मशीनी वस्तुओं की प्रतिस्पर्द्धा के कारण श्रमिक, कारीगर और शिल्पी बेकार हो गए और इन बेरोजगार श्रमिकों को नगर क्षेत्रों में खपा लिया गया। इस प्रकार बड़े पैमाने पर उत्पादन, मशीनों के प्रयोग और औद्योगिक सभ्यता के परिणामस्वरूप नगरीकरण हुआ। भारत में यूरोप के समान नगरीकरण की प्रक्रिया घटित नहीं हुई। भारत में 19वीं शताब्दी तथा 20वीं शताब्दी के आरम्भिक काल में निम्नलिखित तत्त्वों के परिणामस्वरूप नगरीकरण की प्रक्रिया घटित हुई:

(1) रेल के विकास के कारण व्यापार महत्त्वपूर्ण स्टेशनों के मार्गों द्वारा होने लगा। भारत में रेल की आवश्यकता या तो प्रशासनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनुभव की गई या फिर निर्यात के उद्देश्य से महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्रों पर वस्तुएं और कच्चा माल एकत्रित करने के लिए।

(2) 19वीं शताब्दी में व्यापक अकालों के कारण बड़े पैमाने पर किसान बेरोजगार हो गए। ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार न मिल सकने के कारण ग्रामीण जनसंख्या रोजगार की तलाश में नगरों की ओर चल पड़ी। 1872 से 1881 और 1891 से 1901 की अवधि में भीषण अकाल पड़ने के कारण नगरों की ओर जनसंख्या का प्रवाह सर्वाधिक तीव्र दिखाई पड़ता है।

(3) भूमिहीन श्रम वर्ग के विकास से भी नगरीकरण उत्पन्न हुआ, भले ही यह केवल नकारात्मक प्रवृत्ति क्यों न रही हो। इस वर्ग का मूल कृषि में था और यह ग्राम

तथा नगरों के बीच आने-जाने वाली श्रम-शक्ति का ही एक अंग था। इस वर्ग के जिन लोगों को नगर क्षेत्रों में स्थायी रोजगार अथवा अपेक्षाकृत ऊंची मजदूरी मिल गई, वे वहीं बस गए। किन्तु इनमें से कोई आकर्षण महत्त्वपूर्ण रूप में कार्य नहीं कर सका।

(4) धनी जमींदारों की प्रवृत्ति भी नगरों में बसने की हुई, क्योंकि नगर जीवन में कुछ ऐसे आकर्षण हैं जिनका ग्रामों में सर्वथा अभाव है।

(5) नये उद्योगों की स्थापना अथवा पुराने उद्योगों का विस्तार होने के कारण श्रम-शक्ति नगरों में खपने लगी।

इन सब कारणों से उद्योगों का विकास अन्य सभी देशों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण रहा है किन्तु भारत में इसका प्रभाव निश्चय ही इतना सघन नहीं रहा। सच तो यह है कि भारत में बहुत ऐसे नगर हैं जिनका उद्भव नये उद्योगों के कारण हुआ है।

20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत आर्थिक गतिरोध से काल से गुजरा। परिणामतः नगरीकरण की मात्रा सीमित हो रही। नगर जनसंख्या, जो 1911 में कुल जनसंख्या का 11 प्रतिशत थी, बहुत धीमे-धीमे बढ़ते हुए 1941 में 14 प्रतिशत हो गई। 1951 की जनगणना में नगर क्षेत्र की उदार परिभाषा अपनाने के कारण, नगर जनसंख्या कुल 17.2 प्रतिशत हो गयी। अतः इसमें वृद्धि का बहुत बड़ा भाग सांख्यिकी था, न कि वास्तविक। 1961 की जनगणना में नगर क्षेत्र की थोड़ी सख्त परिभाषा करने के कारण नगर जनसंख्या में बहुत थोड़ी वृद्धि हुई और यह 18.1 प्रतिशत हो गई। यह भी सत्य है कि चाहे औद्योगीकरण की प्रक्रिया द्वितीय योजना से प्रारम्भ की गई, परन्तु नगर क्षेत्रों में जनसंख्या परिवर्तन की दृष्टि से 1961 तक इसका प्रभाव नाममात्र ही रहा। यद्यपि द्वितीय एवं तृतीय योजना अवधि में औद्योगीकरण के महान कार्यक्रम को लागू करने का निर्णय किया गया परन्तु इन योजनाओं में भारी और मूल उद्योगों के विकास पर बल दिया गया। इन उद्योगों की रोजगार क्षमता सीमित होने के कारण, इनके विकास के कारण श्रम-शक्ति ग्रामों से नगरों में इस हद तक अन्तर्लीन न हो सकी कि इसका अर्थव्यवस्था पर प्रभाव सुव्यक्त हो जाए। अतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि औद्योगीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई, परन्तु 1961-71 के दशक में यह क्षमता प्राप्त न कर पाई। परिणामतः औद्योगीकरण की प्रगति महत्त्वपूर्ण रूप में नहीं हुई। इसके अतिरिक्त, 1971 की जनगणना में नगर क्षेत्र की अधिक सख्त परिभाषा करने के कारण जो थोड़ा-बहुत नगरीकरण हुआ भी था वह भी दब गया। 1981 की जनगणना में भी नगर क्षेत्र की 1971 वाली परिभाषा अपनायी गयी।

नगर क्षेत्र की निम्नलिखित परिभाषा स्वीकार की गई (क) सभी स्थान जहां नगरपालिका, नगर निगम, छावनी या अनुसूचित नगर क्षेत्र है, (ख) सभी अन्य स्थान जो निम्नलिखित कसौटियों पर पूरे उतरते हैं—(i) 50,000 की निम्नतम जनसंख्या, (ii) पुरुष कार्यकारी जनसंख्या का कम से कम 75 प्रतिशत गैर कृषि व्यवसायों में कार्यरत होना और (iii) कम से कम 400 प्रति वर्ग किलोमीटर का जनघनत्व होना।

चाहे पहली जनगणनाओं में नगर क्षेत्र की दी गई परिभाषाओं की तुलना में जन-

तालिका 27.2 भारत में नगरीकरण की प्रवृत्ति (1901-81)

जनगणना वर्ष	कुल जनसंख्या	नगरी जनसंख्या	कुल जनसंख्या के प्रतिशत के रूप में नगरी जनसंख्या
1901	232 967 285	25 616 051	11 00
1911	245 352 239	25 280 199	10 40
1921	244 259 874	27 691 306	11 34
1931	270 746 659	32 976 018	12 18
1941	309 012 042	43 558 665	14 10
1951	349 805 382	61 629 646	17 62
1961	424 836 466	77 562 000	18 26
1971	528 917 868	106 966 534	20 22
1981	658 140 676	156 188 507	23 73

स्रोत Census of India 1981, Paper 2, p 24

है लेकिन संख्यात्मक दृष्टि से हम देखें तो यह पता चलता है कि जहाँ 1901 में अपने देश की शहरी आबादी 25,616 051 थी वहाँ 1981 में बढ़कर 156 188,507 हो गई।

तालिका 27.3 भारत में नगरी जनसंख्या की वृद्धि 1901 से 1981

जनगणना वर्ष	नगरी जनसंख्या	दशकीय वृद्धि	दशकीय प्रतिशत वृद्धि	1901 के बाद सापेक्षी वृद्धि
1901	25 616 051	.	. .	100
1911	25 580 199	—35 852	— 0 14	100
1921	27 691 306	+2 111 107	+ 8 25	10
1931	32 976 018	+5 284 712	+19 08	129
1941	43 558 665	+10 582 647	+32 07	170
1951	61 629 646	+18 070 981	+41.49	24
1961	77 562 000	+15 932 354	+25 [illegible]	303
1971	106 966 534	+29 404 534	+37 91	418
1981	156 188 507	+49.221 973	+46 02	610

स्रोत Census of India 1981, Paper 2, p 35

तालिका 27 3 के द्वारा भारत में नगरी जनसंख्या की वृद्धि को 1901 से लेकर 1981 की अवधि में भौतिक संख्या, प्रतिशत दशक वृद्धि और सचयी दशक वृद्धि के रूप में प्रदर्शित किया गया है। इस सारणी से यह पता चलता है कि 1901 को आधार मानने पर नगरी जनसंख्या का निर्देशांक 100 है तो 1981 में यह बढ़कर 610 हो गया। अर्थात् इन 80 वर्षों के दौरान भारत की नगरी जनसंख्या में सचयी वृद्धि छह गुणा से भी कुछ अधिक हुई है।

तालिका 27.4. नगरों की आकार-श्रेणियों के आधार पर जनसंख्या का प्रतिशत वितरण

वर्ष	प्रथम 1,00,000+	द्वितीय 50,000— 1,00,000	तृतीय 20,000— 49,999	चतुर्थ 10,000 19,999	पचम 5,000— 9,999	षष्ठ 5,000 से कम
1901	25.71	11.92	15 77	20.92	20 13	6.18
1951	44.31	9.95	15.79	13.79	13.04	3.12
1961	50 77	11 00	17.41	13.00	7 03	0.79
1971	56.21	11.24	16.32	11.20	4.57	0.46
1981	60.37	11.65	14.35	9.52	3.41	0.50

स्रोत : Census of India, 1981.

तालिका 27.4 से स्पष्ट है कि 1 लाख से अधिक जनसंख्या वाले प्रथम श्रेणी के नगरों में नगरीय जनसंख्या अनुपात जो 1901 में 25.7 प्रतिशत था, बढ़कर 1981 में 60.37 प्रतिशत हो गया। स्पष्टतः नगर जनसंख्या की प्रवृत्ति बड़े नगरों में सकेंद्रित होने की है। द्वितीय और तृतीय श्रेणी के नगरों में नगर जनसंख्या का सापेक्ष अनुपात लगभग स्थिर ही रहा अर्थात् 1901-81 के दौरान यह लगभग 26-28 प्रतिशत था। परन्तु इसकी तुलना में चतुर्थ, पचम और षष्ठ श्रेणी के नगरों में जनसंख्या के सापेक्ष अनुपात में तीव्र कमी हुई और यह 1901 की तुलना में 47.2 प्रतिशत से कम होकर 1981 में केवल 13.6 प्रतिशत हो गया।

तालिका 27.5 से स्पष्ट है कि प्रथम श्रेणी के नगरों की वृद्धि तेजी से हुई है। प्रथम श्रेणी के नगर प्रशासनिक और सामान्य आर्थिक क्रिया के केन्द्र हैं। उद्योग, परिवहन, व्यापार और वाणिज्य, प्रशासनिक एव उदार सेवाएं भी इन्हीं में केन्द्रित हैं। नगर जनसंख्या का इस आकार श्रेणी के नगरों में सकेन्द्रण का यही कारण है। इसके अतिरिक्त द्वितीय श्रेणी की उच्चतम सीमा पर पहुंचे नगर प्रथम श्रेणी में प्रवेश करते जाते हैं। इसका प्रमाण यह है कि जहां 1951 में 74 नगर प्रथम श्रेणी में थे, वहां इनकी

तालिका 27.5. विभिन्न जनगणनाओं में नगरों की सख्या और जनसख्या

वर्ष	नगर श्रेणी					
	प्रथम	द्वितीय	तृतीय	चतुर्थ	पचम	षष्ठ
नगरों की सख्या						
1951	74	95	330	621	1146	578
1961	102	129	449	732	739	179
1971	145	178	570	847	641	150
1981	216	270	739	1048	742	230
प्रति नगर औसत जनसख्या						
1951	369 032	64 536	29,483	13 689	7 016	3 323
1961	386,081	66,168	30 071	13 773	7 379	3,404
1971	414 644	67,584	30 621	14 147	7 624	3,262
1981	436,542	67,377	30 329	14 181	7 603	3,419
कुल नगर जनसख्या (लाखों में)						
1951	273 1	61.3	97 3	85 0	80 4	19 2
1961	393 8	85 4	135 0	100 8	54 5	6 1
1971	601 2	120 2	174 5	119 8	48 9	4 9
1981	942.9	181 9	224 1	148 6	56.4	7.9

स्रोत : Census of India से सकलित ।

सख्या बढ़कर 1981 में 216 (लगभग तीन गुना) हो गयी । परिणामत प्रथम श्रेणी में जहा 1951 में 273 लाख व्यक्ति रहते थे, वहा 1981 में इनकी सख्या 943 लाख हो गयी अर्थात् इसमें 245 प्रतिशत की वृद्धि हुई ।

द्वितीय और तृतीय श्रेणी के नगर सक्रान्ति की अवस्था में है । इनकी सख्या और इनमें रहने वाली जनसख्या में वृद्धि हुई है । द्वितीय श्रेणी के नगरो की सख्या जो 1951 में 95 थी बढकर 1981 में 270 हो गयी और इसमें कुल जनसख्या लगभग 61 लाख से बढकर 182 लाख हो गयी अर्थात् तीन गुना वृद्धि । तृतीय श्रेणी के नगरो की सख्या जो 1951 में 330 थी, बढकर 1981 में 739 हो गयी और 1951-81 के दौरान इनकी कुल जनसंख्या 97 लाख से बढकर 224 लाख हो गयी अर्थात् इसमें 130 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

चतुर्थ, पचम और षष्ठ श्रेणी के नगरो में नगर जनसख्या के अनुपात में अधोप्रवृत्ति विद्यमान हुई, यद्यपि कुल रूप में इनकी जनसख्या में वृद्धि हुई । चतुर्थ श्रेणी के नगरो की सख्या 1951 में 621 से बढ़कर 1981 में 1,048 हो गयी और उनकी कुल जन-

सख्या 85 लाख से बढकर 149 लाख हो गयी—केवल 75 प्रतिशत की वृद्धि। इसके विरुद्ध पचम श्रेणी के नगरो की सख्या जो 1951 में 1,146 थी गिरकर 1981 में 742 हो गयी और 1951-81 के दौरान इनकी कुल जनसख्या 80 लाख से कम होकर 56 लाख रह गयी—लगभग 30 प्रतिशत की गिरावट। इसी प्रकार, षष्ठ श्रेणी के नगरों की सख्या 1951 में 578 से गिरकर केवल 230 रह गयी और 1951-81 के दौरान इस श्रेणी के नगरो की कुल जनसख्या 19 2 लाख से तीव्र रूप में गिरकर केवल 7.9 लाख रह गयी। प्रथम श्रेणी के नगरों की औसत जनसख्या में 18 2 प्रतिशत की वृद्धि हुई है जबकि 1951 मे इन नगरो में औसतन 3.7 लाख व्यक्ति रहते थे, 1981 में इन नगरो की औसत जनसख्या 4.4 लाख हो गयी। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ श्रेणी के नगरो की औसत जनसख्या में बहुत थोड़ी सी वृद्धि हुई किन्तु पचम श्रेणी के नगरो की औसत जनसख्या 1951 में 7,016 से बढकर 1981 में 7,603 हो गयी अर्थात् 8.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई। षष्ठ श्रेणी के नगरों की औसत जनसख्या मे नाममात्र वृद्धि हुई, यह 1951 में 3,323 से बढ़कर 1981 मे 3,419 हो गयी अर्थात् इसमें केवल 2.9 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

तालिका 27 6 दस लाख से अधिक जनसख्या वाले महानगर

(जनसख्या लाखो मे)

	1971	1981	1971-81 के दौरान वृद्धि दर प्रतिशत
विशाल कलकत्ता	70.3	91.6	30.3
विशाल बम्बई	59.7	82 3	37.8
दिल्ली	36 5	57.1	56.6
मद्रास	31.7	42.8	34.9
बगलौर	14.5	29 1	76.2
हैदराबाद	18 0	25.3	40.7
अहमदाबाद	17.4	25.1	44.4
कानपुर	12.7	16 9	32.4
पूना	11.3	16 8	48.4
नागपुर[1]	9 3	13 0	39.5
लखनऊ[1]	8.2	10.1	23.7
जयपुर[1]	6.2	10 0	57.8
कुल	297.9	420.3	41 0

[1]1971 की जनसख्या मे ये शहर महानगरो की श्रेणी में नही थे।

तालिका 27.6 से स्पष्ट है कि जहां 1971 की जनगणना के अनुसार 9 महानगर ऐसे थे जिनकी जनसंख्या 10 लाख से अधिक थी, 1981 की गणना के अनुसार ऐसे 12 महानगर हैं। नवप्रवेशकों में हैं नागपुर, लखनऊ और जयपुर। महानगरों में जनसंख्या के आधार पर कलकत्ता प्रथम स्थान पर है (92 लाख), इसके बाद है बम्बई (82 लाख) दिल्ली जिसकी जनसंख्या 1971 में 36.5 लाख थी एकदम बढ़कर 1981 में 57.1 लाख हो गयी है अर्थात एक दशक के दौरान इसमें 57 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इन 12 बड़े शहरों की कुल जनसंख्या 420 लाख है जो कि कुल नगरीय जनसंख्या का 27 प्रतिशत है। 12 महानगरों की जनसंख्या में 1971-81 के दशक के दौरान 41 प्रतिशत की वृद्धि हुई और यह 298 लाख से बढ़कर 420 लाख हो गई। दशक के दौरान जनसंख्या में सबसे अधिक वृद्धि बंगलौर (76.2%) में हुई, इसके बाद जयपुर में (57.8%) और दिल्ली में (56.6%)।

तालिका 27.7 नगरीय जनसंख्या का प्रतिशत वितरण और प्रति व्यक्ति आय

राज्य	कुल जनसंख्या में नगर जनसंख्या (1981) प्रतिशत	प्रति व्यक्ति आय प्रचलित कीमतों (रुपये) पर 1978-79
दिल्ली	92.8	2,364
महाराष्ट्र	35.0	1,637
तमिलनाडु	33.0	1,036
गुजरात	31.1	1,452
पश्चिम बंगाल	26.5	1,268
कर्नाटक	28.9	1,129
पंजाब	27.7	1,962
अखिल भारत	23.7	1,214
आन्ध्र प्रदेश	23.3	1,002
हरियाणा	22.0	1,472
राजस्थान	20.9	925
मध्य प्रदेश	20.3	905
केरल	18.8	937
उत्तर प्रदेश	18.0	916
बिहार	12.5	735
उड़ीसा	11.8	799
हिमाचल प्रदेश	7.7	1,173

नोट : जम्मू काश्मीर और असम के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

स्रोत : जनगणना 1981 और रिज़र्व बैंक आफ इन्डिया बुलेटिन

भारत के विभिन्न राज्यो मे नगरीकरण की मात्रा मे भारी अन्तर विद्यमान है परन्तु फिर भी नगरीकरण की मात्रा और प्रति व्यक्ति आय म एक सकारात्मक सम्बन्ध प्रतीत होता है। सामान्यत जिन राज्या मे कुल जनसख्या मे नगरीय जनसख्या का अनुपात अधिक है, उनकी प्रतिव्यक्ति आय भी अधिक है। इसका प्रमाण तालिका 27 7 मे मिलता है। तमिलनाडु, महाराष्ट्र, गुजरात और बगाल मे नगरीकरण की मात्रा अखिल भारतीय स्तर से अधिक होने का मुख्य कारण यह है कि इन राज्यो को योजना काल मे राष्ट्रीय महत्त्व की औद्योगिक परियोजनाओ या सरकारी क्षेत्र के प्रोजेक्टो मे मुख्य भाग प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण बन्दरगाहो के स्थित होने के कारण विदेशी व्यापार का विकास इन राज्यो की प्रगति का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है।

भारत मे नगरीकरण की स ग प्रवृत्तिया को देखने से यह पता चलता है कि देश के नगरी दृश्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता महानगरो तथा बडे-बडे शहरो का विकास है। 1971 मे भारत के नगरी जनसख्या का एक-चौथाई भाग महानगरो मे रहता था जबकि 1981 की जनगणना के अनुसार यह अनुपात बढकर 27 प्रतिशत हो गया है। महानगरो की सख्या, जो 1971 मे 10 थी, बढकर 1981 मे 12 हो गयी। बडे-बडे शहरो मे रहने वाले लोगो का अनुपात (कुल नगरी जनसख्या से अनुपात) 1971 के 48 प्रतिशत से बढकर अब 1981 की जनगणना के मुताबिक 60 प्रतिशत हो गया है।

इन महानगरो और बडे-बडे शहरो की सामाजिक, आर्थिक, स्वास्थ्य एव सफाई, आवास, यातायात, जल आपूर्ति, वातावरण प्रदूषण सम्बन्धी समस्याए विस्फोटक स्थिति मे पहुच चुकी हैं। इन्ही समस्याओ को ध्यान मे रखते हुए भारत सरकार ने छठी पचवर्षीय योजना (1980-85) की अवधि मे लघु एव मध्यम आकार के शहरो के समन्वित विकास सम्बन्धी केन्द्रीय परियोजना को शुरू किया है जिसका वित्तीय भार केन्द्र एव राज्य सरकारें 50 50 के आधार पर वहन करेंगी। इसका उद्देश्य नियोजित हस्तक्षेप के द्वारा लघु एव मध्यम आकार के शहरो के विकास को प्रोत्साहन प्रदान करना है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 1971 की जनगणना के अनुसार एक लाख आबादी वाले 231 लघु एव मध्यम आकार के शहरों का समन्वित विकास शामिल है। छठी पचवर्षीय योजना अवधि मे इस मद मे 160 मिलियन रुपये के आवटन का प्रावधान है।

निस्सदेह यह कहा जा सकता है कि लघु एव मध्यम शहरो का समन्वित एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम है जिसकी भविष्य मे शाखाए एव प्रशाखाए प्रस्फुटित तथा विस्तृत होने की काफी उम्मीद है। लेकिन इसके उद्देश्यो एव लक्ष्यो की प्राप्ति कार्यक्रम की प्रकृति, वस्तुस्थिति और इसके प्रति प्रबन्धकीय एव राजकोषीय दृष्टिकोण पर बहुत अधिक निर्भर है।

अध्याय 28

भारतीय अर्थव्यवस्था में मौद्रिक प्रसारण-प्रक्रिया पर एक वैकल्पिक दृष्टिपात

इस निबन्ध में मुद्रा के स्टाक में परिवर्तन के प्रसारण का अध्ययन भारतीय अर्थव्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में किया गया है। निबन्ध को तीन भागों में बाटकर सैद्धान्तिक पहलू मौद्रिक नीति, उपेक्षित पहलू तथा वैकल्पिक दृष्टिकोण का अध्ययन किया गया है।

I

मुद्रा और मूल्य का गहरा सम्बन्ध होता है। मुद्रा के स्टॉक में परिवर्तन होने से मूल्य स्तर के ऊपर प्रभाव पड़ता है। परन्तु मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन का मूल्य स्तर के ऊपर प्रभाव पड़ने की आन्तरिक प्रक्रिया क्या है इस सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रमुख अर्थशास्त्रियों के द्वारा किया गया है। किन्स, डेविड ह्यूम, रिकार्डो, कैन्टिलटन, मिल आदि प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों के द्वारा मुद्रा के प्रवाह और प्रभाव की विवेचना की गई थी। जॉन लॉक के द्वारा प्रसिद्ध मुद्रा के परिमाण सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया था जिसे बाद में फिशर तथा कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों के द्वारा परिष्कृत किया गया था। इस सिद्धांत में मुद्रा के स्टॉक और वस्तुओं के मूल्य स्तर के बीच सीधा सम्बन्ध दिखलाया गया था।

स्व० लार्ड किन्स के द्वारा जो मौद्रिक सिद्धांत प्रतिपादित किया गया था उसमें मुद्रा की मात्रा को पूर्ण रोजगार के सिद्धान्त में समन्वित करने का प्रयास किया गया था। किन्स के अनुसार मुद्रा के स्टॉक में परिवर्तन होने से समाज का कुल व्यय तथा माग के ऊपर प्रभाव पड़ता है जो आय के स्तर एवं रोजगार के माध्यम से मूल्य स्तर को प्रभावित करता है। इस सिद्धांत के अनुसार मुद्रा का प्रभाव मुख्यतः दो मार्गों से प्रभाव डालता है सम्पत्ति प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव। सम्पत्ति प्रभाव के अनुसार मुद्रा एक सम्पत्ति होती है। इसलिए मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने से सम्पत्ति के वितरण तथा सम्पत्ति की मांग पर प्रभाव पड़ता है। प्रतिस्थापन प्रभाव ब्याज के दर माध्यम से कार्य करती है। यदि ब्याज की दर घट जाती है, तो लोगों की तरलता प्राथमिकता बढ़ जाती है। गैर-मौद्रिक सम्पत्तियों के आय में वृद्धि होने से मुद्रा के स्टॉक में गिरावट होती है।

किन्स के कुछ अर्थशास्त्रियों ने (पोसेक, सेविन, वारेन, गुरले इत्यादि) मुद्रा के स्टॉक

प्रसारण की प्रक्रिया का विश्लेषण करने के लिये "आन्तरिक मुद्रा" तथा "बाहरी मुद्रा" के बीच अन्तर करने का प्रयास किया है। बाहरी मुद्रा मे ऐसी सम्पत्तियो को शामिल किया जाता है जो सार्वजनिक कर्ज से सबधित होती है। आन्तरिक मुद्रा सार्वजनिक कर्ज का वह अश होती है जो निजी प्रतिभूतियो को क्रय करने के लिए प्रयोग की जाती है। परन्तु मुद्रा का यह वर्गीकरण ऐसे देशो के मूल्य-स्तर का विश्लेषण करने मे सहायक होता है जो पूर्णत मौद्रिक होते हैं तथा मुद्रा बाजार के हल्के झकोरो से भी प्रभावित हो सकते हैं।

मुद्रा और मूल्य के सम्बन्ध मे आधुनिक विचारधारा "मुद्रावादी" (मोनेटरिज्म) दृष्टिकोण पर आधारित है। इस विचारधारा के प्रणेता प्रसिद्ध आधुनिक अर्थशास्त्री मिलटन फ्रायडमन है जिन्होने 1958 मे शिकागो प्रकाशन मे अपने विचारो का प्रतिपादन किया था।

इस दृष्टिकोण के अनुसार मुद्रा एक सम्पत्ति है तथा धन को रखने का एक प्रकार है। मुद्रा की माग कुल सपत्ति तथा विभिन्न प्रकार की सपत्तियो पर मिलने वाली वापसी दर के द्वारा निर्धारित होती है। फ्रायडमन ने धन को आय का पूजीगत सस्करण माना है। उन्होने चालू आय के स्थान पर स्थायी आय के धारणा को अधिक प्रमुखता दिया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार मौद्रिक नीति के माध्यम से समाज के कुल व्यय के स्तर को प्रभावित करने मे निम्नलिखित घटको का प्रयोग करना होता है।

मौद्रिक नीति का प्रभाव ब्याज के दर पर होता है। ब्याज दर मे परिवर्तन होने से सपत्ति के पोर्टफोलियो मे परिवर्तन होता है। पोर्टफोलियो के वितरण मे परिवर्तन होने से व्यक्ति और फर्मों के वास्तविक और वित्तीय सपत्तियो के स्टॉक मे समायोजन होता है। इसके कारण या माध्यम से कुल व्यय के स्तर पर प्रभाव होता है।

इस सिद्धात के अनुसार उपभोक्ता के व्यय के ऊपर मुद्रा के स्टॉक मे परिवर्तन होने से जो प्रभाव होता है, वह पूजीगत वस्तुओ पर होने वाले व्यय के माध्यम से होता है।

II

पश्चिम के विकसित देशो मे जो मौद्रिक व्यवस्था और नीति का निर्माण किया गया है वह उपयुक्त सिद्धातो की पृष्ठभूमि से ही किया गया है। इस लेख का उद्देश्य भारतीय परिवेश मे इस सिद्धात की सार्थकता का विश्लेषण करना है। पिछले तीस वर्षों की मौद्रिक व्यवस्था के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत मे मौद्रिक प्रबन्ध से कुछ आधारभूत तत्वों की उपेक्षा की जाती रही है जिसके कारण मौद्रिक नीति अपने उद्देश्यो को प्राप्त करने मे असफल होती है। मौद्रिक नीति में मुख्यत दो तत्वो की उपेक्षा होती रही है जो निम्नलिखित हैं —

(i) वित्तीय क्षेत्र, तथा

(ii) समाज के कुल व्यय की प्रवृत्ति।

रिजर्व बैंक की दूसरी मुद्रा-पूर्ति से सबंधित अध्ययन मण्डल ने 1976 की अपनी रिपोर्ट मे यह स्पष्ट किया था कि "मुद्रा की पूर्ति के विश्लेषण मे मौद्रिक क्षेत्र तथा वित्तीय क्षेत्र के बीच विभेद करना आवश्यक है।" मौद्रिक और वित्तीय क्षेत्र का अन्तर इस बात से स्पष्ट होता है कि मौद्रिक क्षेत्र मुद्रा का निर्माता होता है जबकि वित्तीय क्षेत्र मुद्रा को रखने वाला क्षेत्र होता है। वित्तीय क्षेत्र ऐसी सस्थाओ को मिलाकर बनता है जो विनियोजक वर्ग तथा उसके उपयोग करने वाले वर्ग के बीच मध्यस्थता करता है।

वित्तीय क्षेत्र मे मौद्रिक नीति की प्रभावहीनता के मुख्यत चार कारण होते हैं

(i) वित्तीय क्षेत्र मे कोष का प्रवाहकाल (टर्न ओवर काल) दीर्घकालीन होता है जबकि मौद्रिक क्षेत्र का प्रवाहकाल अल्पकालीन होता है।

(ii) वित्तीय क्षेत्र मे प्रवाह से चूने (लीकेज) की सभावना अधिक होती है जबकि व्यापारिक बैंको मे साख की हिसाबदेयता अधिक रही होती है।

(iii) वित्तीय क्षेत्र चालू व्यय के लिए मुद्रा का निर्माण करता है जबकि बैंको के द्वारा बचत तथा विनियोग के उद्देश्य मे मुद्रा बनाई जाती है।

(iv) वित्तीय क्षेत्र को भी बैंको के माध्यम से ही अपने कोष को प्रवाहित करना होता है। जो कोष बैंको के माध्यम से बहते हैं, मौद्रिक नीति का प्रभाव *उन्ही के ऊपर होता है।*

वित्तीय क्षेत्र की उपेक्षा का मुख्य कारण यह है कि आर्थिक विवेचना म एक सतोषप्रद वित्तीय सिद्धान्त का अभी भी अभाव है जो वित्तीय क्षेत्र मे कार्य करने वाले घटको के आचरण की व्याख्या कर सके। अपने देश मे 'कोष के प्रवाह' के सबध से आकडो और तथ्यो के सकलन का कार्य हाल ही मे प्रारम्भ किया गया है। अब 'राष्ट्रीय लेखा पद्धति के अन्तर्गत कोष के प्रवाह' का अनुमान भी सकलित किया जाता है। रिजर्व बैंक के द्वारा जो 'कोष प्रवाह' का अनुमान प्रकाशित किया जाता है वह कर्ज देन और लेने तथा बचत और विनियोग के अन्तर सबध को स्पष्ट करता है। इन लेखाओ के अनुसार दिये गये कर्ज (लेंडिंग) की राशि लिए गये कर्ज (बौरोविंग) के बराबर होनी चाहिए। बचत का तत्व दोनो को सतुलित करने वाला तत्व होता है।

उपलब्ध आकडो के अनुसार भारत मे 1973-74 म कुल वित्तीय प्रवाह 15,558 करोड थी। इनमे 14,700 करोड भौतिकी सपत्ति तथा 858 करोड तरल रूप मे थे। तरल संपत्ति मे 549 करोड की बचत थी परन्तु 309 करोड अनदेखा कोष (अन-एकाउन्टेड) रह गये। अनदेखा कोष मौद्रिक नीति से प्रभावित नही होते हैं।

III

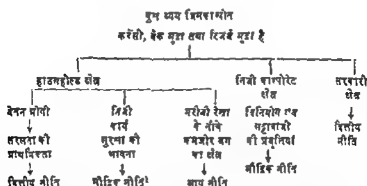
भारतीय अर्थव्यवस्था मे मौद्रिक प्रसारण की प्रक्रिया की व्याख्या वर्तमान मौद्रिक सिद्धान्तो के माध्यम से नही किया जा सकता है। मौद्रिक तत्व समाज के कुल व्यय की परिधि के अन्तर्गत कार्य करते हैं। भारत मे कुल व्यय की सरचना पश्चिमी विकसित

के इसी व्यय को प्रभावित किया जा सकता है। उपभोग या बचत की बनावट म म वेदनशीलता का अभाव है इसीलिए ये तत्त्व मौद्रिक प्रेरक। के प्रभाव के बाहर रहते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषणा मे यह स्पष्ट होता है कि देश के वर्तमान व्यय की सरचना मे अकेले मौद्रिक नीति व्यय की प्रवृत्तिया को नियमित या निर्देशित करन म प्रभावपूर्ण नहीं है। देश के सम्पूर्ण मौद्रिक प्रवाह को भिन्न भिन्न बिन्दुआ पर प्रभावित करन के लिये अलग-अलग नीतियो की आवश्यकता है। तालिका 28 2 म विभिन्न क्षेत्रा म अलग अलग नीतियो के उपयुक्तता को निर्धारित करन का प्रयास किया गया है।

तालिका 28 2 मे यह दिखाया गया है कि मौद्रिक नीति मुख्यत हाउसहोल्ड क्षेत्र के निजी कार्य वर्ग के लोगो को तथा निजी कारपोरेट क्षेत्र मे विनियोग और सट्टाबाजी की प्रवृत्तिया को प्रभावित कर सकती है। समाज म उच्च आय वर्ग के लोगा या निम्न आय (गरीबी की रेखा के नीचे) वर्ग क लोगा के मौद्रिक क्रियाओ को तथा काला धन के प्रवाह को वित्तीय और आय नीति द्वारा ही नियमित किया जा सकता है। सरकारी क्षेत्र मे वित्तीय प्रवाह को वित्तीय या बजटरी नीति के माध्यम से ही नियमित करना सम्भव है।

तालिका 28 2 विभिन्न नीतियों का क्षेत्र



¹उच्च आय वर्ग में सम्पत्ति प्रभाव तथा प्रतिस्थापना प्रभाव कार्य करता है। कोष के प्रवाह से काला धन क्षेत्र का निर्माण होता है। इसके लिये वित्तीय एव आय-नीति प्रभावशाली होगी।

उपर्युक्त विश्लेषणो से स्पष्ट होता है कि भारत के परिवेश मे पश्चिमी देशो की नीति अधिक प्रभावपूर्ण नहीं हो सकती है। बिना सम्पूर्ण व्यय की सरचना को प्रभावित किये मूल्य स्तर पर नियन्त्रण पाना सभव नहीं है। इसके लिए एक वैकल्पिक 'समेकित मौद्रिक नीति' की आवश्यकता है जिसमे मौद्रिक, वित्तीय, मूल्य तथा आय नीतियो का सतुलित सम्मिश्रण हो। अकेला मौद्रिक नीति उस पौधे के समान है जो अनुकूल मौसमो मे ही फूलती-फलती है। मौसम की अनुकूलता वर्तमान मौद्रिक व्यवस्था का एक अभिन्न अग है।

अध्याय 29

निर्णय लेने में आंकड़ा-संग्रह की समस्याए । अर्थमिति के विशिष्ट संदर्भ में

आधुनिक काल मे जीवन के प्राय सभी क्षेत्रो मे नीति-निर्धारण और निर्णय लेने के लिए साख्यिकी विश्लेषणकर्ता के हाथ मे एक सर्वाधिक सशक्त एव बहुमूल्य यत्र बन गयी है। विभिन्न सगठनो तथा सस्थाओ की जटिलता मे तीव्र वृद्धि और विकास के फलस्वरूप महत्वपूर्ण निर्णय लेने मे साख्यिकी का प्रयोग आवश्यक हो गया है।

साख्यिकी को अनिश्चितता की स्थिति मे निर्णय लेने के विज्ञान के रूप म परिभाषित किया जाता है और विषय के इसी पक्ष ने इस क्षेत्र के प्रयोग को अत्यधिक बढा दिया है।

चिकित्सा विज्ञान मे इसका प्रयोग कतिपय रोगो के निदान हेतु अनेक औषधियो के प्रभाव और निष्पादन का विश्लेषण करने के लिए किया जाता है। यहा इसे जैवी साख्यिकी कहा जाता है।

शिक्षा मे विभिन्न साख्यिकी तकनीको के प्रयोग द्वारा छात्रो पर विभिन्न शिक्षण-पद्धतियो के गुण और निष्पादन का मूल्याकन किया जाता है। यहा इसे शैक्षणिक साख्यिकी कहा जाता है।

कृषि मे उपज पर भिन्न भिन्न प्रकार के बीजो और खादो के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए प्रयोग किये जाते हैं। विभिन्न साख्यिकी प्रणालियो का प्रयोग करके उनके परिणामो का मूल्याकन किया जाता है। इस शाखा को कृषि-साख्यिकी की सज्ञा दी जाती है। इसी प्रकार ज्ञान की प्राय सभी शाखाओ मे किसी न किसी रूप मे साख्यिकी का प्रयोग होता है। विभिन्न क्षेत्रो के प्रयोगो ने इसे अपनी आवश्यकताओ के अनुकूल मोडने या सशोधित करने का प्रयास किया है।

परन्तु, इन सभी प्रयोगो मे एक सामान्य विशेषता यह है कि साख्यिकी का प्रयोग उन प्रवृत्तियों के अध्ययन और विश्लेषण हेतु होता है जो मानव प्राणी विशेष मे विभिन्न तत्त्वों के अज्ञेय आचरण के वशीभूत हैं। साख्यिकी प्रणालियो की सहायता से लिये गये निर्णय तथा नीति-निर्धारण प्रवृत्ति से सम्बन्धित तथ्यो (जिन्हे आकडे कहा जाता है) के सख्यात्मक कथन पर आधारित हैं। आकडे साख्यिकी के प्राण हैं और उसके सग्रह पर उपयुक्त ध्यान देने और सावधानी बरतने की आवश्यकता है।

अन्वेषण की विषय-वस्तु से सम्बन्धित सतोषजनक आकडो का प्रावधान मौलिक महत्व रखता है और मेरी दृष्टि मे इसे अन्वेषण मे सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी

चाहिए। यह देखा जाता है कि शोधार्थी या नीति-निर्धारण करने वाले लोग इस पक्ष पर बहुत कम अथवा नगण्य ध्यान देते हैं। इस शोध-पत्र में आंकड़े संग्रह करने की पद्धतियों के दोषों को उजागर करने का प्रयास किया गया है। अंततोगत्वा अर्थमिति के विशेष संदर्भ में उपयुक्त उपचारपरक उपायों का सुझाव प्रस्तुत किया गया है।

निर्णय लेने के तरीकों में सांख्यिकी और सांख्यिक का तात्पर्य

'सांख्यिकी' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जा सकता है (*i*) सांख्यिक तथा (*ii*) सांख्यिकी। सांख्यिकी किसी अन्वेषण से सम्बन्धित आंकड़ा को इंगित करती है जबकि सांख्यिक का तात्पर्य उन विभिन्न तरीकों से है जिनका प्रयोग आंकड़ों के संग्रह, विश्लेषण और व्याख्या करने के लिए होता है।

अर्थमिति के अंतर्गत भी सांख्यिकी का प्रयोग दोनों अर्थों में होता है। विभिन्न अर्थमिति-सम्बन्धी मॉडल के अध्ययन या विश्लेषण हेतु सांख्यिकी पद्धतियों के प्रयोग के लिए आर्थिक प्रवृत्ति में अन्तर्निहित परिवर्तनीय तत्त्वों से सम्बन्धित उपयुक्त आंकड़ों के संग्रह की आवश्यकता है।

अर्थमिति तथा अध्ययन के विभिन्न चरणों में आंकड़ों का महत्त्व

किसी आर्थिक प्रवृत्ति की व्याख्या और विश्लेषण करने के लिए उपयुक्त मॉडल का निर्माण सभी अर्थमिति-अध्ययनों का आरम्भ बिन्दु है। यह अध्ययन की विषय-वस्तु, आर्थिक तत्त्वों की संख्या और अंततोगत्वा सम्बद्ध आर्थिक तत्त्वों से सम्बन्धित उपलब्ध सूचना पर निर्भर है। अनेक बार ऐसा होता है कि प्रवृत्ति के आचरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाले तत्त्वों को आंकड़ा की अनुपलब्धता के कारण अध्ययन से हटा देना पड़ता है। इस प्रकार आंकड़े अर्थमिति-अध्ययनों के आरम्भिक चरण से ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

एक बार जब कोई मॉडल बनाया जाता है, तो प्राचल (पैरामीटर) को आंका जाता है, और पुन: मॉडल की सत्यता की जांच आवश्यक आंकड़ों की सहायता से की जाती है।

अन्त में, भविष्यवाणी भी, जो अर्थमिति-अध्ययनों का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है, संगृहीत सूचना पर आधारित है।

यह स्पष्ट है कि अर्थमिति के प्राण वे आंकड़े हैं जो विभिन्न आर्थिक परिवर्तनीय तत्त्वों से सम्बन्धित होते हैं और अर्थमिति के अन्वेषणों में इनका अत्यधिक महत्त्व है।

सांख्यिकी तथा अर्थमिति में आंकड़ा-संग्रह की पद्धतियां

सांख्यिकी के अन्तर्गत मुख्यतः दो तरीकों से आंकड़े संगृहीत किये जाते हैं:

(क) प्रतिचयन अथवा सगणन

यहा यह मान लिया जाता है कि वाछित सूचना जनसख्या की इकाइयों के पास पहले से ही उपलब्ध है। जब सगणना सम्भव नही होती, तो प्रतिचयन की विभिन्न प्रणालियो (अर्थात् यादृच्छिक (रेंडम), स्तरित, व्यवस्थित इत्यादि) का प्रयोग किया जाता है। मुख्यत चयन जनसख्या की प्रकृति पर निर्भर करता है।

इन प्रणालिया के आधार प्राप्त आकडा का गुण प्रतिचयन मे चुनी गयी इकाइयों की प्रतिक्रिया तथा आपूर्ति म उनके सहयोग पर निर्भर करता है। अधिकाशत उत्तर का अभाव, सूचना की अनुपलब्धता इत्यादि की समस्याओं का अनुभव किया जाता है।

सगणना उच्च लागत, निम्नतर यथार्थता, मद गति तथा अत्यधिक श्रम के दोषों से ग्रसित है।

(ख) प्रयोगों की रूपरेखा

यह आकडे सगृहीत करने की नियोजित तकनीक है जहा साख्यिकीय प्रविधि में निहित विभिन्न मान्यताओ एव तकनीकों जटिलताओं को और आगे विश्लेषण हेतु विचाराधीन रखा जाता है। यहा प्रयोग को नियन्त्रित किया जा सकता है; क्योंकि प्रयोगात्मक वस्तु और पता लगाये जाने वाले व्यवहार की प्रकृति प्रयोगकर्ता को ज्ञात है। पर्यवेक्षणा के विश्लेषण हेतु प्रक्रियाए पहले से ही निर्धारित कर दी जाती हैं तथा रूपरेखा के गुण अनुमानित विश्लेषण पर निर्भर करते हैं।

अर्थमिति-अध्ययनों में आकडों को सगृहीत करने के लिए नियोजित प्रयोग का उपयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रयोगात्मक इकाइयों, अध्ययन-क्रम में प्रकट होने वाले विभिन्न व्यवहारों आदि को नियन्त्रित नही किया जा सकता है। अर्थमिति-अध्ययन में हम मानवीय जनसख्या पर नीति परिवर्तन के प्रभावों को मापना चाहते हैं। अध्ययन के लिए बहुत अधिक मुद्रा, समय और श्रम की आवश्यकता है।

अर्थमिति-अध्ययनों में प्रतिचयन और प्रयोगात्मक रूपरेखा का सीमित प्रयोग होता है। साख्यिकीय पाठ्य-पुस्तकें विरले ही व्यावहारिक प्रयोग की आवश्यकताओं के अनुकूल समायोजित की जाती हैं। अर्थमिति-अध्ययनों हेतु सृजित अधिकाश महत्वपूर्ण आकडे काल क्रम इगित करते हैं, जहा बाधाए यादृच्छिक नहीं होतीं।

अर्थमिति शोध हेतु प्रयोगात्मक आधार का अभाव उन अनेक तकनीकों को प्रतिबाधित करता है जिन्हें अन्य वैज्ञानिक अपने निष्कर्षों को परिष्कृत करने के लिए प्रयुक्त कर सकते हैं।

अर्थमिति में आंकड़े-संग्रह के विभिन्न स्रोत

स्रोतों को मुख्यत दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है, यथा (i) प्राथमिक और (ii) द्वितीयक या गौण।

प्राथमिक स्रोत के अंतर्गत वांछित सूचना रखने वाली इकाइयों में वास्तविक सम्पर्क स्थापित कर आकड़े संगृहीत किये जाते हैं। यह प्रतिचयन सर्वेक्षण अनुसंधान के द्वारा सम्पादित किया जाता है।

द्वितीयक या गौण स्रोत वे हैं जिनका सम्बन्ध वास्तविक अनुसंधान से नहीं होता। ऐसे आकड़े सामान्यतः सरकारी संगठनों, अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों, व्यावसायिक फर्मों, व्यापार समुदायों तथा संघों द्वारा संगृहीत किये जाते हैं।

अर्थमितिक आंकड़ों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है.

(अ) काल श्रेणी आंकड़े जहां एक दिए हुए समय के अन्तर्गत विभिन्न प्रतिचयन इकाइयों से पर्यवेक्षण संगृहीत किये जाते हैं। जैसे, मासिक, त्रैमासिक इत्यादि।

(ब) क्रास सेक्शन आंकड़े : यहां किसी सामान्य समय बिन्दु पर विभिन्न प्रतिचयन इकाइयों से तथ्य प्राप्त किये जाते हैं। ये आकड़े व्यक्तिगत आर्थिक इकाइयों की क्रियाओं को उल्लिखित करते हैं। इनका संग्रह प्रतिचयन सर्वेक्षणों द्वारा ही होता है।

(स) पुंज आंकड़े विभिन्न प्रतिचयन इकाइयों से संगृहीत काल-श्रेणी और क्रास सेक्शन आंकड़ों को एक साथ मिला दिया जाता है, अर्थात् विभिन्न समय-अवधियों के अंतर्गत समान आर्थिक इकाइयों से प्राप्त काल-श्रेणी एवं क्रास सेक्शन आंकड़ों का मिला दिया जाता है।

सर्वाधिक अवांछनीय तत्व : 'आंकड़ों की अंध स्वीकृति'

ऊंचे स्तर के शोध और नीति का स्पष्ट प्रतिरोधक सांख्यिकीय आंकड़ों की सामान्य अविवेकी स्वीकृति है। नियमतः आंकड़े अनुसंधान की विषय-वस्तु के विशिष्ट संदर्भों से बिना किसी सम्बन्ध के स्वीकार किये जाते हैं। अधिकांश शोधों में आंकड़ों के दोषों के सम्बन्ध में एक मात्र उल्लेख यह है कि वे पर्याप्त रूप से अद्यतन नहीं हैं।

बाजार सर्वेक्षणों में (जो आंकड़े संग्रह करने का एक महत्वपूर्ण साधन है) अंतर्वीक्षा में शामिल की जाने वाली कुल संख्याओं के निर्धारण के रूप में एक प्रकार का सम्भाव्य प्रतिचयन किया जाता है। प्रतिचयन प्रणालियों के चुनाव अथवा प्रतिक्रिया विहीन या अनुत्तर के निदान पर विचार नहीं किया जाता है।

सरकारी प्रकाशन आंकड़ों का एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत है, लेकिन ये प्रायः गुमनाम होते हैं। सरकारी संगठनों को संगृहीत तथ्यों (सूचनाओं) के प्रयोग अथवा दुरुपयोग के बारे में कोई जानकारी नहीं रहती और न उन्हें उपयोगकर्ताओं की आवश्यकतानुसार आंकड़ों की उपयुक्तता के सम्बन्ध में विचार करने का अवसर होता है।

औद्योगिक संगठनों के पास जो आंकड़े उपलब्ध हैं, वे उन्हें अपने ही उद्देश्य से संग्रह करते हैं और अधिकांशतः वे अप्रकाशित होते हैं। संयुक्त राष्ट्र एवं विश्व बैंक जैसे अंतर्राष्ट्रीय स्रोत बहुमूल्य आर्थिक सूचना उपलब्ध कराते हैं, लेकिन अंतर्राष्ट्रीय संगठन स्वयं आंकड़े संगृहीत नहीं करते और वे राष्ट्रीय सांख्यिकीय कार्यालयों पर ही आश्रित रहते

हैं। यही कारण है कि अंतर्राष्ट्रीय अभिकरण संग्रह की प्रक्रिया, इकाइयों की प्रकृति, परिस्थितियों आदि के बारे में पूर्णतः अनभिज्ञ होते हैं।

अधिकांश आर्थिक अन्वेषणों के अन्तर्गत सार्वजनिक अभिकरण, निजी संगठन तथा अन्य शोधार्थी आंकड़ों का संग्रह अर्थमितिक अध्ययन हेतु करते हैं। इन अभिकरणों अथवा व्यक्तियों के दिमाग में आंकड़े संगृहीत करते समय कुछ उद्देश्य हो सकते हैं जो शोधार्थी के उद्देश्य से पूर्णतः भिन्न हो सकते हैं, जो बाद में चलकर उनकी सूचना का प्रयोग करता है।

एक सांख्यिकीविद् के दृष्टिकोण से इस सम्बन्ध में सर्वथा यह अंतर पाया जाता है कि वह क्या करता है और उसकी कृति का कैसा उपयोग होता है।

आंकड़ों के संग्रह की समस्याएं

अर्थमितिक अध्ययनों में आंकड़े संग्रह से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं की व्याख्या निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत की जा सकती है।

(क) आंकड़ों की उपलब्धता

यह अनुभव किया जाता है कि शोध एवं नियोजन परियोजनाओं के लिए सही तथा विश्वसनीय आंकड़े अपने प्राथमिक स्वभाव के कारण निरंतर कम होते जा रहे हैं और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ऐसे आंकड़ों की उपलब्धता न्यून है, विशेषतः बेरोजगारी, जनसंख्या इत्यादि से सम्बन्धित आंकड़े।

संतोषजनक आंकड़ों की अनुपलब्धता के निम्नलिखित कारण हैं—

(i) प्रशासनिक हस्तक्षेप अथवा राजनीतिक उद्देश्यों से प्रेरित होकर आंकड़ों का हेरफेर करना,

(ii) आंकड़ों का राजकीय संरक्षण,

(iii) आंकड़े उपलब्ध हो सकते हैं मगर उन्हें विभिन्न स्थानों से संगृहीत करना होगा और दयनीय राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय संचार के कारण सम्यक् समन्वय सम्भव नहीं है।

(ख) आंकड़ों का निम्न गुण

अर्थमितिक आंकड़ों में विद्यमान गुण का स्तर सामान्यतः निम्न पाया जाता है। आर्थिक आंकड़े कभी सही और यथार्थ नहीं होते और वे राष्ट्रीय तथा वैज्ञानिक नीति-निर्धारण के आधार नहीं हो सकते।

आंकड़ों के निम्न एवं दयनीय गुण के लिए उत्तरदायी तत्त्व निम्नांकित हो सकते हैं:

(i) साधारणतः आंकड़े संग्रह करने वाले कर्मियों में सांख्यिकीय एवं प्रशासकीय ढांचे की अपर्याप्तता होती है। वे तकनीकी ज्ञान तथा वित्त से सुसज्जित नहीं होते

तथा मुख्यत लम्बे अन्तरालो म आयोजित सर्वेक्षणो पर आश्रित रहते हैं ।

(ii) प्राथमिक तथ्यो का सग्रह करने वाले व्यक्ति अनुसधान के उद्देश्य एव क्षेत्र से परिचित नही होते । यही कारण है कि सूचना आपूर्ति करने वाले व्यक्ति पूर्ण सहयोग प्रदान करने म समर्थ नहीं हो पाते ।

(iii) राजनीतिक ढाचे का अनावश्यक हस्तक्षेप ।

(ग) आंकड़ों की पुरातन प्रकृति

आर्थिक अध्ययनो म समय तत्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है । लोग आर्थिक पर्यावरण के परिवर्तनो के अनुकूल अपने आपको तत्क्षण समायोजित नहीं कर पाते हैं । समय के साथ साथ पूर्व सगृहीत आकडे उसी प्रकार पुराने पडते जाते हैं जिस प्रकार समय परिवर्तन के साथ मानव प्राणी का तापमान, स्वभाव और आचरण बदलता है । पुराने आकडे विश्लेषण पर भयकर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं । अधिकाश राष्ट्रो म जनगणना प्रत्येक दस वर्ष पर होती है । ज्योंही निष्कर्ष प्रकाशित होते हैं, व पुराने पड जाते हैं ।

(घ) समुच्चय की समस्या

व्यष्टिपरक आर्थिक एव वित्तीय सांख्यिकी की गुण-न्यूनता के कारण इकाइयो के एक समूह का पर्यवेक्षण आम तौर पर असतोषप्रद होता है ।

(ङ) आकड़ों की उद्देश्य-सगति

प्राय अनुसधान के उद्देश्य और उपलब्ध आंकडो के बीच कोई सम्बन्ध या सगति नही होती । इसका कारण यह है कि आकडे पूर्णत भिन्न दृष्टिकोण से सगृहीत होते हैं ।

(च) निम्न प्रस्तुतीकरण

अनेक बार ऐसा होता है कि सूचना ऐसी उपेक्षा के साथ प्रकाशित होती है कि सांख्यिकीय उपादानो का मूल्याकन बहुत कठिन हो जाता है । यह क्रम, छपाई की भूलो और उतारने तथा जोडने की भूलो से सम्बन्धित माप की इकाइयो म असगतियो के कारण होता है ।

(छ) माप की समस्या

सामाजिक विज्ञान की माप तकनीक बहुत अयथार्थ है तथा सदैव आकडों में विद्यमान माप सम्बन्धी कुछ भूलें रह जाती हैं ।

(ज) आंकड़ों की उपलब्धता की अवधि

सामान्यत आकडे वार्षिक उपलब्ध होते हैं जबकि अनेक अध्ययनो में न्यूनतर

अंतराल वाले आंकड़ों की आवश्यकता होती है। सामान्य उपचार प्रश्नोत्तर है जो पर्यवेक्षण की वास्तविक प्रकृति परिलक्षित करता है।

(ञ) अभिकरणों में विश्वास तथा आस्था का अभाव

क्या यह उचित है कि आंकड़ों का प्रयोग एक ऐसे उद्देश्य हेतु किया जाय जिससे आपूर्तिकर्ता अनभिज्ञ हो? सूचना की विश्वसनीयता सूचना प्रदान करने वाले व्यक्ति की आस्था से सम्बन्धित है।

समस्या के समाधान हेतु सुझाव

आंकड़ों के संग्रह की सभी तकनीकों का मौलिक उद्देश्य उपयुक्त आंकड़ों की आपूर्ति करना होना चाहिए, जो सांख्यिकीय आवश्यकताओं के अनुकूल हों। इससे सही और विश्वसनीय निष्कर्ष सुनिश्चित होता है।

नीति-निर्धारण और निष्पादन के मूल्यांकन में आंकड़ों के महत्त्व का अनुभव करते हुए विभिन्न ज्ञान-शाखाओं में आवश्यकतानुसार सांख्यिकीय तकनीक को समायोजित करके पर्यवेक्षण संग्रह करने का प्रयास किया जाता है।

कृषि में प्रतिचयन तथा प्रयोग तकनीक के ढांचे का उपयोग अकेले और संयुक्त दोनों प्रकार से किया जाता है। कृषि परियोजना की सांख्यिकीय सम्भाव्यता इसकी स्वीकृति हेतु आवश्यक है। कृषि सांख्यिकी के लिए अलग संगठन स्थापित किये गये हैं और ये संतोषप्रद आंकड़ों के संग्रह तथा उनके विश्लेषण हेतु उत्तरदायी हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष कृषि-प्रयोग-केन्द्रों की स्थापना है जहां सांख्यिकीय प्रविधि की विभिन्न मान्यताओं के अनुसार नियमित प्रयोगों द्वारा पर्यवेक्षण संगृहीत किये जाते हैं।

इसी प्रकार जैवी-सांख्यिकी के अंतर्गत औषधियों के निष्पादन के मूल्यांकन हेतु जानवरों पर पर्यवेक्षण संगृहीत कर विभिन्न सांख्यिकीय परीक्षण किये जाते हैं। नवीन प्रचलित औषधियों के निष्पादन का अध्ययन और विश्लेषण करने के लिए सर्वेक्षण भी आयोजित किये जाते हैं।

अर्थशास्त्र के अंतर्गत इस दिशा में कोई संगठित प्रयास नहीं किया जाता, हालांकि सभी आर्थिक नीतियों का अधिक प्रभाव व्यक्ति के साथ-साथ राष्ट्र पर भी पड़ता है। साधारणतः आर्थिक नीतियां राजनीतिज्ञों तथा प्रशासकों की कृपा पर रहती हैं, जिनमें नियोजन तथा निर्धारित नीतियों के सम्भावित प्रभावों के ठोस आधार पर अध्ययन हेतु कोई स्थान नहीं रह पाता।

विगत उपलब्धियों के सावधानीपूर्वक अध्ययन और विश्लेषण के बाद दीर्घकालिक आर्थिक निर्णय लिया जाना चाहिए, क्योंकि यह समाज की भावी समृद्धि और विकास के लिए महत्त्वपूर्ण है।

मेरे मतानुसार आर्थिक शोधों का महत्त्व केवल सैद्धान्तिक एवं शैक्षिक ही नहीं होना

चाहिए, बल्कि उन्हें व्यवहारोन्मुखी भी होना चाहिए। ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की विद्वत् मंडली के साथ-साथ सुदृढ़ आंकड़ा आधार की आवश्यकता है जो आर्थिक आंकड़ों के संग्रह और विश्लेषण के लिए उत्तरदायी हों।

सामान्य प्रतिचयन तकनीक को आर्थिक आंकड़ों के संग्रह में उपयोगी प्रयोग हेतु कुछ संशोधित करने की आवश्यकता है। इसका कारण यह है कि आर्थिक आंकड़े जटिल परिस्थितियों के अंतर्गत एक विशाल भिन्नतापरक जनसंख्या से संगृहीत किए जाते हैं। सूचना की सत्यता और विश्वसनीयता को सुनिश्चित करने के लिए संगृहीत आंकड़ा की निरंतर यादृच्छिक जांच और सत्यापन होना चाहिए।

कतिपय उपचारात्मक उपाय

(1) नियमित प्रयोग के साथ आवश्यक आंकड़ों के संग्रह करने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक प्रयोग केन्द्रों की स्थापना होनी चाहिए। कुछ परिवारों, बाजारों, उद्योगों इत्यादि को आदर्श इकाइयों के रूप में चुन लिया जाना चाहिए। उन्हें उस अन्वेषण या परियोजना के महत्त्व, क्षेत्र और स्वरूप से पूर्णतः परिचित होना चाहिए, जिनके साथ वे संलग्न हैं।

(2) आंकड़ों के संकलन एवं प्रस्तुतीकरण में वस्तुपरकता और निष्ठा जन-सहयोग प्राप्त करने का सर्वाधिक निश्चित तरीका है। अन्वेषण के महत्त्व और क्षेत्र को समझाकर ऐच्छिक सहयोग प्रेरित किया जा सकता है।

(3) लोगों को आंकड़ा संग्रह, उनके संरक्षण और आर्थिक नीति के साथ सम्बन्ध के लाभों के बारे में समझाना चाहिए।

(4) मॉडल निर्माताओं और आंकड़ा संग्रहकर्ताओं के बीच पारस्परिक अन्तर्क्रिया होनी चाहिए।

(5) सूचना को अनुपूरित करने की संगणना के लिए निरंतर प्रतिस्थापन सर्वेक्षण प्रणाली होनी चाहिए। संगृहीत आंकड़ों के लिए व्यवस्थित गुण सुधार कार्यक्रमों को आयोजित किया जाना चाहिए और उनका समुचित वर्गीकरण कर दिया जाना चाहिए।

(6) आंकड़ा संग्रह करने वाले अभिकरणों को वैधानिक संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए ताकि प्रश्नों के उत्तर देने वाले लोगों की उत्तरहीनता एवं उदासीन दृष्टिकोण को दूर किया जा सके।

(7) द्वितीयक स्रोत से प्राप्त आंकड़ों का प्रयोग करने के पूर्व अन्वेषण की प्रकृति, माप का तरीका, प्रयोगात्मक इकाइयों के प्रकार और अध्ययन के उद्देश्य के साथ उनके सम्बन्ध का उचित तथा सावधानीपूर्वक परीक्षण अवश्य हो जाना चाहिए।

संगणना राष्ट्रीय नियोजन तथा नीति-निर्धारण हेतु सूचना प्रदान करने का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। लेकिन इनमें अत्यधिक समय, श्रम और मुद्रा सन्निहित है। ऐसे स्रोतों का दोहरीकरण नहीं होना चाहिए, यथा जनसंख्या संगणना और कृषि संगणना।

आंकड़े संग्रह करने वाले विभिन्न स्रोतों के बीच समन्वय, सम्बन्ध होना चाहिए ताकि साधनों के बेकार खर्च को दूर किया जा सके।

मेरी दृष्टि में सर्वेक्षण आर्थिक अध्ययनों के आंकड़ा संग्रह हेतु सर्वाधिक उपयुक्त प्रक्रिया है। यही एकमात्र स्रोत है जो सही और मर्यादापूर्ण आंकड़ों की उपलब्धि प्रदान करता है और माडल-निर्माताओं तथा आंकड़ा-जनकों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखता है।

अध्याय 30

भारतीय अधिकोषण के नये क्षितिज

वर्ग-अधिकोषण से जन-अधिकोषण

व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण का मुख्य उद्देश्य ऐसी दशाओं का सृजन था जिनमें अधिकोषण पद्धति आर्थिक विकास में एक महत्वपूर्ण स्थिति के रूप में इस प्रकार कार्यरत रह सके कि वांछित दिशा में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की अधिक विस्तृत प्रक्रिया को सहायता मिले। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीयकरण का उद्देश्य विशिष्ट व्यापारी समुदाय की महाजनी या कठपुतली वाली पुरानी छवि को बैंकों से उठा फेंकना और उन्हें आम आदमी की सेवा में लीन सामाजिक रूप से लाभप्रद आर्थिक संयत्र के रूप में परिवर्तित करना था। राष्ट्रीयकरण के पूर्व बैंकों की क्रियाओं पर लोगों के एक विशिष्ट वर्ग का नियंत्रण था जो अधिकतम वित्तीय लाभ प्राप्त करते थे। बैंकों द्वारा जुटाये गये दुर्लभ सार्वजनिक साधनों का प्रयोग समुदाय के सामान्य लाभ के लिए नहीं होता था। इस प्रकार देश की आम जनता के बजाय एक विशिष्ट वर्ग के आर्थिक हित में काम करते थे। बड़े तथा प्रभावशाली कर्जदारों की अपेक्षाकृत अधिक पहुंच बैंक के साधनों तक थी और प्रायः ये साधन सट्टेबाजी और अनुत्पादक उद्देश्यों में लगा दिये जाते थे। राष्ट्रीयकरण के साथ बैंकों से यह उम्मीद की गयी कि वे कर्जदारों के आकार और सामाजिक सम्मान पर विचार किये बिना विभिन्न प्रकार के उत्पादक एवं विकासात्मक प्रयासों की साख-सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करेंगे। विशेषतः लघु एवं सीमान्त कृषकों, लघु प्रमाप उद्योगों तथा स्व-नियोजित पेशेवर वर्गों की मांगों को बुद्धिमान रूप में पूरा करेंगे ताकि देश के विभिन्न भागों में आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्गों के विकास हेतु नये अवसरों का सृजन हो सके। अब साख को आर्थिक स्वतंत्रता के रूप में स्वीकार करना राष्ट्रीय नीति का विषय बन गया है ताकि कोई भी व्यक्ति बिना किसी भेद-भाव के (अपनी सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति का ख्याल रखे बगैर) साख प्राप्त कर सके। इस प्रकार सम्पूर्ण उद्देश्य उत्पादन तथा विकास कार्य हेतु जीवनक्षम एवं अधिकोषण-योग्य परियोजनाओं के जाल द्वारा अधिकोषण पद्धति के लाभों को जन-जीवन तक विस्तृत करना है। इसका तात्पर्य न केवल बैंकों के ग्राहकों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि है, बल्कि उनके ग्राहकों के चरित्र एवं प्रकार में परिवर्तन भी है। अतः बैंकों को अपने ग्राहकों की संख्या में वृद्धि का प्रभावपूर्ण ढंग से सामना करने के लिए अपनी प्रक्रिया एवं पद्धति में परिवर्तन करना आवश्यक है। बैंकों को

विभिन्न प्रकार के लोगों के साथ व्यवहार करने का तौर-तरीका भी सीखना पड़ेगा और वास्तविक जन-अधिकोषण के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक ज्ञान, अभिरुचि, झुकाव तथा कौशल भी प्राप्त करना होगा।

नगरोन्मुख से ग्रामोन्मुख

राष्ट्रीयकरण के पूर्व भारत में व्यावसायिक अधिकोषण बहुत अधिक नगरोन्मुख था। 30 जून 1969 को व्यावसायिक बैंकों की शाखाएं 8262 थीं, जिनमें मात्र 1832 ही ग्रामीण क्षेत्रों में थीं। मार्च 1982 के अन्त में शाखाओं की कुल संख्या 38,6,614 हो गयी, जिनमें *19,942 अथवा लगभग 52 प्रतिशत शाखाएं ग्रामीण क्षेत्रों में* अवस्थित थीं। प्रतिशाखा औसत ग्रामीण जनसंख्या, जो 30 जून 1969 को 84,000 थी, घटकर 30 जून 1981 को 20,000 और पुनः 30 जून 1982 को 19,000 हो गयी। ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों के विस्तार के साथ कृषि-साख में व्यावसायिक बैंकों का हिस्सा बहुत अधिक बढ़ गया है। प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कृषि को प्राप्त कुल बैंक उधार जून *1969 में 188 42 करोड़ रुपये था जो जून 1981 में बढ़कर 3097 71 करोड़* रुपये हो गया। कृषि को प्राप्त प्रत्यक्ष उधार 30 जून 1969 को *(2 6 लाख खाता सहित) 53 61 करोड़ रुपये था जो बढ़कर (76 8 लाख सहित) 2363 81 करोड़* रुपये हो गया। 31 दिसम्बर 1981 को व्यावसायिक बैंकों द्वारा प्रदत्त कुल कृषि अग्रिम 4507 12 करोड़ रुपये था जो 105 4 लाख उधार लेखा में व्याप्त था। इस प्रकार विगत पांच वर्षों में ग्रामीण शाखा के क्षेत्र में व्यावसायिक बैंकों की भागीदारी कई गुणा बढ़ गयी है। व्यावसायिक बैंकों का ग्रामोन्मुख दृष्टिकोण मुख्यतः उन्हें ग्रामीण *विकास को सक्रिय अभिकरण बनाना है ताकि लोगों को गरीबी रेखा से ऊपर उठाने में* महत्त्वपूर्ण सुधार हो सके।

प्राथमिक क्षेत्रों को अग्रिम

राष्ट्रीयकरण का एक प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के अनुरूप अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में साख के निरन्तर प्रवाह को बनाये रखना था। प्रारम्भ में कृषि एवं सम्बद्ध क्रियाओं, लघु प्रमाप उद्योगों, निर्यात, लघु यातायात कार्यों, खुदरा व्यापार और लघु व्यवसाय, पेशेवर स्वनियोजितों और शिक्षा को प्राथमिक क्षेत्र माना गया। भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा नियुक्त वर्किंग ग्रुप तथा 20-सूत्री आर्थिक कार्यक्रम ने प्राथमिक क्षेत्र को पुनः परिभाषित किया जिसमें निम्नलिखित शामिल हैं : (i) कृषि, (ii) लघु प्रमाप उद्योग, (iii) औद्योगिक पुरियों की स्थापना, (iv) सड़क तथा जल यातायात, (v) खुदरा *व्यापार तथा लघु व्यवसाय, (vi) पेशेवर तथा स्वनियोजित व्यक्ति, (vii) शिक्षा,* (viii) अनुसूचित तथा जनजातियां तथा कमजोर वर्ग और (ix) शुद्ध उपभोग ऋण।

राष्ट्रीय नीति के रूप में यह निर्धारित किया गया कि बैंक 1985 तक प्राथमिक क्षेत्र को अपने अग्रिम का अनुपात बढ़ाकर 40 प्रतिशत कर लेंगे। प्राथमिक क्षेत्र के अग्रिम का कम-से-कम 40 प्रतिशत कृषि क्षेत्र को प्रदान किया जायगा। 1983 तक

कृषि के कुल प्रत्यक्ष उधार का 50 प्रतिशत कृषि कार्य हेतु कमजोर वर्ग को प्रत्यक्ष उधार के रूप में प्रदान किया जायगा। कृषि में कमजोर वर्ग के अन्तर्गत लघु एवं सीमान्त कृषक तथा भूमिहीन मजदूर तथा वैसे लोग भी शामिल हैं जिनकी कर्जक्षमता 10,000 रुपये से अधिक नहीं है। 1985 तक लघु प्रमाप उद्योग में कमजोर वर्ग का अग्रिम लघु-प्रमाप उद्योग को प्राप्त कुल अग्रिम का 12.5 प्रतिशत भाग होगा। इस उद्देश्य से 25,000 रुपये तक साख-क्षमता वाले सभी लघु प्रमाप उद्योगों को कमजोर वर्ग के अन्तर्गत माना गया। प्राथमिक क्षेत्रों को कुछ विशेष लाभ प्रदान किये गये। यथा, रियायती ब्याज दर, न्यूनतर सुरक्षा तथा सीमांत आवश्यकता, साख-सुरक्षा आवरण इत्यादि।

राष्ट्रीयकरण के समय चौदह बड़े बैंकों द्वारा प्राथमिक क्षेत्र को प्रदत्त कुल अग्रिम मात्र 216.67 करोड़ रुपये था। ऐसे अग्रिम बढ़कर दिसम्बर 1980 में 4485.11 करोड़ रुपये हो गये। दिसम्बर 1981 में प्राथमिक क्षेत्र का कुल अग्रिम 10,000 करोड़ रुपये था जो 150 लाख कर्जदारों में व्याप्त था जबकि दिसम्बर 1969 में यह 7 लाख लेखा सहित मात्र 660 करोड़ रुपये था। इस प्रकार प्राथमिक क्षेत्र के अग्रिम में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। फिर भी अब तक की उपलब्धियाँ प्राथमिक क्षेत्रों की साख की आवश्यकताओं से बहुत ही कम हैं।

भेदात्मक ब्याज दर

भेदात्मक ब्याज दर प्रणाली 1972 में 4 प्रतिशत रियायती ब्याज दर पर कमजोरों में अधिक कमजोर को उत्पादक कार्य हेतु ऋण प्रदान करने के लिए लागू की गयी। यह समाज के निम्नतम स्तर के लोगों के साथ बैंकों का एक अनोखा प्रयास था। इस प्रणाली के अन्तर्गत बैंकों के लिए योग्य एवं उपयुक्त कर्जदारों को अपने कुल साख का कम-से-कम एक प्रतिशत अग्रिम देना आवश्यक था। इसके अधीन किसी एक व्यक्ति के ऋण की अधिकतम राशि कार्यशील पूंजी के लिए 1500 रुपये और सावधि ऋण हेतु 5000 रुपये से अधिक नहीं होनी चाहिए। शिल्पियों, ग्रामीण एवं कुटीर उद्योगों के लिए संयुक्त सीमा 6500 रुपये है। पुनः बैंकों को यह सुनिश्चित करना है कि भेदात्मक ब्याज दर अग्रिम का कम-से-कम दो-तिहाई हिस्सा ग्रामीण तथा अर्द्ध शहरी शाखाओं द्वारा दिया जाय और इसका 40 प्रतिशत भाग अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जन-जातियों को मिले। वैसे ही व्यक्ति भेदात्मक ब्याज दर ऋण प्राप्त करने के योग्य हैं जिनकी कुल वार्षिक पारिवारिक आय शहरी क्षेत्रों में 3000 रुपये और ग्रामीण क्षेत्रों में 2000 रुपए से अधिक नहीं है। वैसे व्यक्ति भी इस प्रकार के ऋण प्राप्त करने के योग्य हैं जिनकी भू-जोतों का आकार एक एकड़ सिंचित अथवा 2.5 एकड़ असिंचित भूमि से कम है। भेदात्मक ब्याज दर साख 1972 में 8.73 करोड़ रुपये से बढ़कर जून 1981 में 225 करोड़ रुपये हो गयी। कर्ज लेने वाले व्यक्तियों की लेखा-संख्या इस अवधि में 25,906 से बढ़कर 27 लाख हो गयी। 1981 में

अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों को प्राप्त ऐसे ऋण की राशि 88 करोड़ रुपये थी।

बीस-सूत्री आर्थिक कार्यक्रम

बीस-सूत्री आर्थिक कार्यक्रम के अंतर्गत लाभान्वित होने वाले लोगों को वित्तीय समर्थन प्रदान करने में बैंकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है। यथा, गरीब, भूमिहीन, मिस्त्री, जुलाहे, अनुसूचित जातियां तथा अनुसूचित जन-जातियों तथा अन्य सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग। बैंक राज्य-समर्थित निगमों अथवा ऐसे लोगों को लाभ प्रदान करने के लिए स्थापित अभिकरणों द्वारा उनके पास मात्र पहुंच सकते हैं। 31 दिसम्बर 1981 को इस हेतु ऋण की राशि 2000 करोड़ रुपये थी जिससे 57 लाख व्यक्ति लाभान्वित हो रहे थे। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत अग्रिम बढ़ाने के लिए सरकार को कर्जदारों की उचित पहचान, आर्थिक दृष्टि से जीवनक्षम एवं तकनीकी दृष्टि से सम्भव परियोजना के निर्माण तथा बकाये की वसूली की दिशा में पर्याप्त समर्थन प्रदान करना चाहिए।

अग्रणी बैंक प्रणाली

भारतीय रिज़र्व बैंक ने 1969 में देश के प्रभावपूर्ण अधिकोषण विकास हेतु अग्रणी बैंक प्रणाली को लागू किया। इस प्रणाली ने एक क्षेत्रीय विकास दृष्टिकोण अपनाया जिसमें प्रत्येक जिला को विकास की एक इकाई के रूप माना गया। देश के सभी 338 पिछड़े जिलों को सघन विकास हेतु सभी सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों तथा तीन निजी क्षेत्र वाले बैंकों (आन्ध्र बैंक लिमिटेड, बैंक ऑफ राजस्थान लिमिटेड और पंजाब एण्ड सिंध बैंक लिमिटेड) के बीच आवंटित कर दिया गया। प्रत्येक अग्रणी बैंक अपने आवंटित जिले के आर्थिक विकास के लिए उत्तरदायी है। अन्य विकास अभिकरणों के सहयोग और परामर्श से अधिकोषण सुविधाओं, अधिकोषण व्यापार तथा अन्य साधनों के विकास की उम्मीद की जाती है। जिले का आर्थिक सर्वेक्षण तथा प्राथमिक क्षेत्र को विकासात्मक साख प्रदान करने और नयी शाखाओं को स्थापित करने के लिए विकास केन्द्रों का चयन कर यह कार्य सम्पादित किया जाता है। अग्रणी बैंक से यह उम्मीद की जाती है कि वह सहयोगी नेता के रूप में कार्य करेगा।

अग्रणी बैंक प्रणाली के अन्तर्गत शाखा विस्तार कार्यक्रम के प्रथम चरण की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि व्यावसायिक बैंकों की संख्या 1969 में 8262 से बढ़कर मार्च 1982 में 38,614 हो गयी, इनकी जमा राशि 4646 करोड़ रुपये से बढ़कर 43,750 करोड़ रुपये हो गयी तथा इस अवधि में प्रति बैंक शाखा आबादी 65,000 से घटकर 18,000 हो गयी।

अग्रणी बैंक जिला परामर्शदात्री समिति की सहायता से जिला साख योजना का निर्माण करता है। समाहर्ता जिला परामर्शदात्री समिति का अध्यक्ष होता है और अग्रणी

जिला प्रबंध संयोजक होता है। यह समिति जिला साख योजना के निर्माण में प्रगति तथा वार्षिक साख योजना के क्रियान्वयन की समीक्षा करती है। यह जमाराशि, विशेषत प्राथमिक क्षेत्र के अग्रिम और भेदात्मक ब्याज दर अग्रिम, शाखा विस्तार आदि की प्रगति की भी समीक्षा करती है। समिति बीस-सूत्री आर्थिक कार्यक्रम तथा समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अधीन प्रगति, उपलब्ध संरचना आदान, कर्जदारों की पहचान, बकाये की वसूली आदि के सम्बन्ध में भी समीक्षा करती है।

जिला परामर्शदात्री समिति एक टास्क फोर्स अथवा स्थायी समिति नियुक्त करती है जिसमें भारतीय रिजर्व बैंक के अग्रणी जिला पदाधिकारी जिला ग्रामीण विकास अभिकरण प्रतिनिधि, सम्बद्ध क्षेत्र में कार्यरत भूमि विकास बैंक तथा अन्य बैंकों के प्रतिनिधि शामिल होते हैं।

अग्रणी बैंक प्रणाली का उद्देश्य सभी वित्तीय एवं विकास अभिकरणों को संयुक्त भागीदारी की भावना से सामान्य मंच पर लाकर ग्रामीण जनता को आर्थिक मोक्ष दिलाना है। जिला साख योजना भूमि, श्रम, पूंजी और संगठन के रूप में उपलब्ध साधनों का अनुकूलतम प्रयोग कर उत्पादन एवं उत्पादकता बढ़ाने के लिए जिला के विकास की रूपरेखा है। अग्रणी बैंक तथा जिला परामर्शदात्री समिति के लिए यह आवश्यक है कि वह देखे कि जिला में अधिकतम लोगों को गरीबी रेखा से ऊपर उठाने के लिए समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम तथा बीस-सूत्री कार्यक्रम का क्रियान्वयन किया जाय। यह तभी सम्भव है जबकि बैंक कृषि, बागवानी, पशुपालन, मत्स्य पालन, हस्तशिल्प, ग्रामीण उद्योग, सिंचाई, लघु-व्यवसाय तथा अन्य सेवा क्रियाओं के लिए पर्याप्त और समय पर वित्त प्रदान करें। अग्रणी बैंक प्रणाली सामाजिक एवं आर्थिक पुनर्निर्माण के एक यंत्र तथा विकास के वित्तीय प्रवर्त्तक के रूप में उभर कर सामने आया है।

क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक

क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक कृषि एवं गैर-कृषि क्षेत्रों के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग क्रियाशीलता को विकसित करने के उद्देश्य से सद्यः निर्मित वित्तीय संस्थाओं की एक विशिष्ट कोटि के अन्तर्गत आते हैं। ये स्थानीय तौर पर आधारित ग्रामोन्मुखी और व्यावसायिक दृष्टि से संगठित ग्रामीण बैंक हैं। प्रत्येक ग्रामीण क्षेत्रीय बैंक की अधिकृत पूंजी एक करोड़ रुपये है जिसमें निर्गत एवं प्रदत्त पूंजी (आरम्भिक) 25 लाख रुपये है। निर्गत पूंजी का 50 प्रतिशत केन्द्र सरकार, 35 प्रतिशत सम्पोषण प्रदान करने वाले बैंक और 15 प्रतिशत सम्बद्ध राज्य सरकार द्वारा प्रदत्त अंशदान है। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक का प्रबन्ध एक निदेशक-मण्डल में निहित है, जिसका प्रधान भारत सरकार द्वारा नियुक्त अध्यक्ष होता है। अध्यक्ष को छोड़कर निदेशक मण्डल में भारत सरकार द्वारा मनोनीत तीन सदस्य, राज्य सरकार द्वारा मनोनीत दो और सम्पोषण प्रदान करने वाले बैंक द्वारा मनोनीत तीन सदस्य होते हैं। 31 दिसम्बर 1981 को क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की कुल

संख्या 107 थी जो 19 राज्यों के 182 जिलों में फैले हुए थे। इनमें से 22 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक स्टेट बैंक समूह द्वारा समर्थित थे, 13 सेण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा, बैंक ऑफ इण्डिया, सिंडीकेट बैंक और यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक प्रत्येक द्वारा 6, केनारा बैंक द्वारा 5, इलाहाबाद बैंक तथा यूनियन बैंक ऑफ इण्डिया प्रत्येक द्वारा 4, देना बैंक और इण्डियन ओवरसीज बैंक प्रत्येक द्वारा 3, जम्मू एण्ड काश्मीर बैंक लिमिटेड द्वारा 2 तथा आन्ध्र बैंक, बैंक ऑफ महाराष्ट्र, इण्डियन बैंक तथा उत्तर प्रदेश राज्य सहकारिता बैंक प्रत्येक द्वारा एक-एक। 107 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों में से 56 हर एक जिले पर, 30 प्रत्येक दो जिलों पर, 17 हर तीन जिले पर, 3 हर चार जिले पर तथा एक छह जिले पर है।

31 दिसम्बर 1981 को क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की शाखाओं की कुल संख्या 4795 थी, जिनकी जमा राशि और अग्रिम रकम क्रमशः 336 करोड़ रुपये और 407 करोड़ रुपये थी। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों से सर्वाधिक ऋण लेने वाले लघु एवं सीमान्त कृषक, कृषि मजदूर, शिल्पी तथा ग्रामीण समुदाय के अन्य कमजोर वर्ग के लोग हैं। इन बैंकों द्वारा प्रदत्त साख का अधिक हिस्सा कृषि एवं सम्बद्ध क्रियाओं का है। दिसम्बर 1981 के अन्त में क्षेत्रीय बैंकों ने 85 02 करोड़ रुपये अल्पकालीन फसल ऋण, 77 25 करोड़ रुपये कृषि विनियोग हेतु सावधि ऋण तथा 80 56 करोड़ रुपये सम्बद्ध क्रियाओं के लिए ऋण प्रदान किया। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक बीस-सूत्री आर्थिक कार्यक्रम, समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम तथा अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए अन्य विशेष कार्यक्रमों के अन्तर्गत कमजोर वर्गों को साख समर्थन प्रदान करने के उद्देश्य से निर्मित कार्यक्रमों में सक्रिय भूमिका निभा रहा है। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक एक नये प्रकार की संस्था के रूप में अपनी छवि स्थापित करने में सक्षम रहे हैं जो ऐसे ऋणियों की साख आवश्यकताओं को पूरा करते हैं जिन्हें सम्स्थागत साख उपलब्ध नहीं करायी गयी है।

बिहार में 31 दिसम्बर 1981 को 17 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक थे जिनकी 996 शाखाएं राज्य के 26 जिलों में व्याप्त थी। इनकी कुल जमाराशि तथा अग्रिम क्रमशः 53 38 करोड़ रुपये तथा 44 78 करोड़ रुपये थी।

राष्ट्रीय कृषि तथा ग्रामीण विकास बैंक (NABARD)

अधिकोषण क्षितिज पर नवतम राष्ट्रीय वित्तीय संस्था का प्रादुर्भाव राष्ट्रीय कृषि तथा ग्रामीण विकास बैंक है जिसे विधिवत जुलाई 1982 में स्थापित किया गया और इसने कृषि पुनर्वित्त एवं विकास निगम तथा भारतीय रिजर्व बैंक के कृषि साख-विभाग के कार्यों को अधिग्रहण कर लिया। राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कार्य) कोष तथा राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष भी राष्ट्रीय कृषि तथा ग्रामीण विकास बैंक को स्थानान्तरित कर दिये गए तथा उन्हें क्रमशः राष्ट्रीय ग्रामीण साख (दीर्घकालीन कार्य)

कोष और राष्ट्रीय ग्रामीण साख (स्थिरीकरण) कोष की संज्ञा दी गई। बैंक की स्थापना ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि, लघु-प्रमाप उद्योग, कुटीर एवं ग्रामीण उद्योग, हस्तशिल्प तथा अन्य ग्रामीण शिल्प, व अन्य सम्बद्ध आर्थिक क्रियाओं की प्रोन्नति के लिए साख प्रदान करने हेतु की गयी ताकि समेकित ग्रामीण विकास प्रोत्साहित हो तथा ग्रामीण क्षेत्रों को समृद्धि प्राप्त हो सके।

राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक की पूंजी 100 करोड़ रुपए होगी, जिसे भारतीय रिजर्व बैंक के परामर्श से केन्द्रीय सरकार बढ़ाकर 500 करोड़ रुपए कर सकती है। 100 करोड़ रुपये की प्रारम्भिक पूंजी का अंशदान समान अनुपात में केन्द्र सरकार तथा भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा प्रदान किया जायेगा।

राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण बैंक का प्रबन्ध एक निदेशक मण्डल में निहित है जिसमें—(i) एक अध्यक्ष, (ii) दो निदेशक जो ग्रामीण अर्थशास्त्र और ग्रामीण विकास सम्बन्धी विशेषज्ञ होंगे, (iii) तीन निदेशकों में से दो सहकारिता अधिकोषण में अनुभव प्राप्त व्यक्ति और एक व्यावसायिक अधिकोषण के अनुभव प्राप्त व्यक्ति होंगे, (iv) भारतीय रिजर्व बैंक के निदेशकों से भिन्न तीन निदेशक, (v) केन्द्र सरकार के पदाधिकारियों में से तीन निदेशक, (vi) राज्य-सरकार के पदाधिकारियों में से दो निदेशक, (vii) एक प्रबन्ध निदेशक, तथा (viii) सरकार द्वारा नियुक्त होने पर एक या अधिक पूर्णकालिक निदेशक।

अध्यक्ष और प्रबंध निदेशक अपने पद पर पांच वर्षों तक बने रहेंगे जबकि अन्य निदेशकों का कार्य-काल तीन वर्षों का ही होगा।

राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक को बाण्ड तथा ऋण-पत्रों को निर्गत करने और बेचने का अधिकार प्राप्त होगा, जिसे मूलधन तथा ब्याज के भुगतान हेतु पूर्ण प्रतिभूति केन्द्र सरकार द्वारा प्राप्त होगी। यह रिजर्व बैंक, केन्द्र सरकार या किसी अन्य स्वीकृत संगठन से भी ऋण ले सकता है। यह सरकार, स्थानीय निकाय, बैंक या केन्द्र सरकार द्वारा स्वीकृत किसी व्यक्ति से 12 महीने से कम के लिए नहीं जमा प्राप्त कर सकता। बैंक विदेशी मुद्रा में भी ऋण ले सकता है। ऋणों को केन्द्र सरकार की प्रतिभूति प्राप्त होगी।

भारतीय अधिकोषण के इतिहास में यह पहला मौका है जबकि देश को एक राष्ट्रीय संगठन मिला, जो कृषकों की सभी तरह की साख आवश्यकताओं (अल्पकालीन, मध्यकालीन और दीर्घकालीन) को पूरा करेगा। यह ग्रामीण क्षेत्रों की, विशेषतः कमजोर वर्गों की, गैर-कृषि आबादी की साख आवश्यकताओं को भी पूरा करेगा। व्यावसायिक बैंक, सहकारी बैंक, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक—सभी एक साथ में रहकर राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक से पुनर्वित्त की सुविधाओं से लाभान्वित होंगे।

राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक का भविष्य में वस्तुतः आसान नहीं है। कृषि साख तथा ग्रामीण विकास की समस्याएं असंख्य हैं तथा उनका स्वभाव अत्यधिक जटिल है, हालांकि गत वर्षों में सरकार तथा वित्तीय संस्थाओं ने इनके समाधान हेतु

अनेक उपाय किये। राष्ट्रीय बैंक को इन समस्याओं का समाधान कराने के लिए विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है तथा इसे राष्ट्रीय प्राथमिकताओं और सामाजिक-आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति से सम्बन्धित विभिन्न चुनौतियों का सामना करने के लिए ग्रामीण साख के क्षेत्र में प्रभावपूर्ण तथा शक्तिशाली नेतृत्व प्रदान करना होगा।

ऊपर हमने भारत में अधिकोषण के नये क्षितिज का उल्लेख किया है और इनके द्वारा हमने भारतीय अधिकोषण का बड़ा ही आशावादी चित्र प्रस्तुत किया है। परन्तु इसके कुछ निराशावादी पक्ष भी हैं जिनकी ओर हम संक्षिप्त में ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे।

प्रथम बैंकों की ग्राहक सेवा के स्तर में इधर ह्रास में गिरावट आयी है, हालांकि प्रबंध ने इसे सुधारने के लिए भरसक ईमानदारीपूर्वक प्रयास किया है। प्राय यह देखा जाता है कि अनेक बैंक कर्मचारी स्वयं अपने आप के लिए काम करते हुए प्रतीत होते हैं न कि उस बैंक के लिए जिसमें वे नियुक्त हैं अथवा न समाज के लिए जिसकी सेवा की उनसे उम्मीद की जाती है। ग्राहकों के लिए यह कोई असामान्य अनुभव नहीं कि वे एक काउण्टर से दूसरे काउण्टर तक ठोकर खाते हों। कर्मचारियों में शिष्टाचार और सहायता की भावना का अभाव है तथा श्रमिक संघ प्राय अनुशासनहीनता को प्रोत्साहित करते हैं और सामान्य आचार-संहिता भंग करते हैं। बैंक प्रबन्ध के लिए यह चिन्ता का विषय है। इस ओर उनका ध्यान आकृष्ट है तथा हम यह आशा रखें कि सुधार की दिशा में परिस्थितियां बदलेंगी।

द्वितीय, बैंकों का वसूली निष्पादन संतोषप्रद नहीं है। इसका कारण या तो ऋण के गुणों में गिरावट या समय पर संविदा का अभाव या ऐच्छिक बाकीदारों की संख्या में वृद्धि है। पर्याप्त वसूली नहीं होने पर साख का आपूर्ति-नल जाम हो जायेगा। बकाये की वसूली के लिए बैंकों को अपनी वर्तमान मशीनरी को सरल और कारगर बनाना होगा।

तृतीय, यद्यपि बैंकों की जमा में प्रति वर्ष वृद्धि होती गयी है, फिर भी इसमें कोई महत्त्वपूर्ण वृद्धिमान प्रवृत्ति प्रदर्शित नहीं होती। बैंकों को इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए और बचत जुटाने के लिए प्रमुख अभिकरण के रूप में कार्य करना चाहिए।

अतत, व्यावसायिक बैंकों को ग्रामीण भारत की जटिल आर्थिक दशाओं का खयाल रखते हुए सहज ऋणदाता की परम्परागत भूमिका से ही संतुष्ट नहीं रहना चाहिए, उन्हें ग्रामीण जनता के मित्र, दार्शनिक और पथ प्रदर्शक की हैसियत से अधिक-से-अधिक विस्तृत दायरे में अपनी क्रियाओं को सम्पादित करना चाहिए। संक्षेप में, बैंकों को उत्पादन तथा विकास हेतु साख के अबाध प्रवाह में बाधा पहुंचाने वाले अपने दृष्टिकोण, प्रक्रिया तथा अन्य तौर-तरीकों में परिवर्तन करना होगा।

अध्याय 31

सामाजिक वानिकी । एक प्रस्तावित दृष्टिकोण

परिचय

वन विभिन्न प्रकार के कार्य सम्पादित करते हैं, यथा पर्यावरण-सम्बन्धी, आर्थिक तथा मनोरंजनात्मक । भारत जैसे देश के विभिन्न क्षेत्रों में उनकी जलवायु और स्थलाकृति के आधार पर वनों द्वारा भिन्न-भिन्न भूमिका निभाने का अनुमान है । विभिन्न क्षेत्रों में वनों की आवश्यकता पर विचार क्षेत्रफल, जलवायु तथा उत्पन्न जीव-जन्तुओं की दृष्टि से किया जाना चाहिए । भारत जैसे एक विशाल देश में कुछ क्षेत्रों को भूमि और जलवायु सम्बन्धी कारणों से वनों के अधीन विस्तृत क्षेत्रफल की आवश्यकता है, अन्य क्षेत्रों में पर्यावरण संरक्षण हेतु वनस्पति की आवश्यकता है और कुछ अन्य क्षेत्रों को इमारती लकड़ी, जलावन तथा औद्योगिक आवश्यकताओं हेतु चुने हुए पेड़-पौधों के अधीन न्यूनतम क्षेत्रफल चाहिए । अतः वन प्रबंध का तात्पर्य आर्थिक एवं वैज्ञानिक वन-वर्धन के द्वारा वन क्षेत्र का औचित्यपूर्ण प्रयोग होना चाहिए न कि प्राकृतिक संवृद्धि का मात्र उपयोग ।

भारत में 75 मिलियन हेक्टेयर भूमि में वन है, जो देश के कुल भू-क्षेत्र का लगभग 23 प्रतिशत भाग है । प्रति-व्यक्ति वन-क्षेत्र 0.12 हेक्टेयर है । अगर केवल उत्पादक वन-क्षेत्र को ही लिया जाय, तो प्रति-व्यक्ति वन-क्षेत्र और अधिक घटकर 0.08 हेक्टेयर हो जायेगा । विरोधाभास यह है कि जहां देश की जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ रही है, वहां वन-क्षेत्र क्रमशः घटता जा रहा है । विगत 25 वर्षों के अन्दर 4.4 मिलियन हेक्टेयर वन भू-भाग अन्य प्रकार के भू-उपयोग हेतु निर्वन हो गये हैं । इसके अतिरिक्त प्रतिवर्ष दुरुपयोग के कारण 0.5 मिलियन हेक्टेयर उत्पादक वन अनुत्पादक होते जा रहे हैं, अर्थात् अपने देश में प्रति मिनट लगभग एक हेक्टेयर उत्पादक वन अनुत्पादक होते जा रहे हैं ।

भारत आधुनिक अर्थ में वैज्ञानिक वन-प्रबंध करने वाले अग्रणी राष्ट्रों में एक है और इसे एक सुस्थापित वन प्रबंध एवं प्रशासकीय संगठन उपलब्ध है, जो लगभग 125 वर्ष पुराना है । परन्तु सार रूप में भारत में वन-प्रबंध का प्रारम्भ वृक्षों के काटने और राजस्व हेतु इमारती लकड़ियों की बिक्री के साथ हुआ और यह 1947 तक राजस्व-प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण स्रोत बना रहा । स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी ऐसी स्थिति बनी रही । आज अपने देश के प्राकृतिक वन माग तथा पूर्ति के बीच की खाई को पाटने

के लिए अधिक सामानों की उत्पत्ति और राजस्व दोनों ही कारणों से दबे हुए हैं। इस प्रवृत्ति के बावजूद खाई प्रतिवर्ष और अधिक चौड़ी होती जा रही है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वन-उत्पत्ति की माग जनसंख्या की वृद्धि और प्रति-व्यक्ति आय में क्रमश: वृद्धि के साथ बढ़ती जा रही है। इस सम्बन्ध में वन-उत्पत्ति की वर्तमान और भावी माग के बारे में उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

वन-उत्पत्ति की मांग

जलावन की लकड़ी, घास और औद्योगिक लकड़ी (रेलवे की माग सहित) प्रमुख वन-उत्पत्तियां (अन्य प्रमुख वन-उत्पत्ति को छोड़कर) हैं, जिनकी अधिक माग देश के भीतर और बाहर है। तालिका 31.1 में राष्ट्रीय कृषि आयोग के अंतरिम प्रतिवेदन (1972) के आधार पर विभिन्न वन-उत्पत्तियों की वर्ष 1970 में अनुमानित माग तथा वर्ष 1980 और 1990 के लिए भावी (प्रोजेक्टेड) माग प्रदत्त है।

तालिका 31.1 विभिन्न प्रकार की वन-उत्पत्तियों की अनुमानित माग (1970) और वर्ष 1980 एवं 1990 के लिए भावी (प्रोजेक्टेड) माग (प्रति वर्ष '000 m^3 में)

वन-उत्पत्ति	अनुमानित उपयोग 1970	भावी माग	
		1980	1990
सान काष्ठ हेतु कच्चा माल	9561	12649	17010
पैनल बोर्ड हेतु काष्ठ	372	943	1407
गुद्देदार लकड़ी	746	5033	12732
वन एवं गैर-वन स्रोतों से प्राप्त			
गोलाकार लकड़ी	5232	6927	9559
कुल औद्योगिक लकड़ी	15911	25552	40708
जलावन की लकड़ी	203000	256000	300000
घास '000 टन			
(अ) गुद्देदार एवं कागज हेतु	1191	2199	1954
(ब) गैर-औद्योगिक उपयोग हेतु	1580	2173	2960

स्रोत। राष्ट्रीय कृषि आयोग का 'प्रोडक्शन फॉरेस्ट्री मैन-मेड फॉरेस्ट्स' सम्बन्धी अंतरिम प्रतिवेदन, नयी दिल्ली, 1972

यह उल्लिखित करने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त माग पूर्ति से कम है, जो सापेक्ष अर्थ में नगण्य है। उदाहरणार्थ, वर्ष 1970 में औद्योगिक लकड़ी का उत्पादन मात्र $10m^3$ ही था और यह अन्तराल 1975 में बढ़कर दुगुना हो गया। यह स्पष्ट

जलावन तथा औद्योगिक लकड़ी के उत्पादन हेतु वृक्षारोपन के महत्त्व को प्रदर्शित करता है ताकि वन-उत्पत्तियों की माग और पूर्ति के बीच की खाई को पाटा जा सके। यह एक सर्वविदित सत्य है कि वन क्षीणता की समस्या विश्वव्यापी प्रवृत्ति है। विश्व के अनेक राष्ट्रों ने पर्यावरण सम्बन्धी, आर्थिक तथा सामाजिक विभिन्न कारणों से मानव निर्मित वनों को अपनाया है। भारत में, जैसा कि पूर्व उल्लिखित है, वन-उत्पत्तियों की बहुत माग है और उच्च आय-लोच के कारण प्रति-व्यक्ति आय में वृद्धि के साथ बढ़ती जा रही है। अतः वन-उत्पत्ति की बढ़ी हुई माग की आंशिक तौर पर पूर्ति करने के लिए भारत सरकार 'सामाजिक वानिकी' को लोकप्रिय बनाने की दिशा में प्रयास कर रही है।

सामाजिक वानिकी क्षेत्र एवं अभिप्राय

विस्तृत रूप में 'सामाजिक वानिकी' का अभिप्राय विभिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न चीजें हैं। सामाजिक वानिकी के प्रश्न पर अर्थशास्त्रियों, पर्यावरण विशेषज्ञों, समाजशास्त्रियों तथा वन-वैज्ञानिकों के विभिन्न मत हैं। कुछ लोग समाज की वन उत्पत्ति सम्बन्धी माग पर ध्यान केन्द्रित रखते हैं तो कुछ लोग आदिवासियों या जन-जातियों के लिए वन की आवश्यकता पर जोर देते हैं, जहां तक उनकी अर्थव्यवस्था एवं संस्कृति (जनजाति संस्कृति) का प्रश्न है। सामाजिक वानिकी की धारणा और क्षेत्र के बारे में गम्भीर विवाद रहा है जो महज दस वर्ष पुराना है। जिस प्रदत्त तीव्र गति से वन साधन क्षीण होते जा रहे हैं और वनों में निवास करने वाले आदिवासी पार्श्ववर्ती होते जा रहे हैं, उसे देखते हुए यह विवाद महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यह वन-नीति को नया आयाम प्रदान करता है जो समाज के प्राकृतिक विकास, वनों में संलग्न लोगों की समस्याओं को सही परिप्रेक्ष्य में रख सकें। सामाजिक वानिकी के तात्पर्य, क्षेत्र और परिभाषा के सम्बन्ध में जो भी विवाद हो, इतना तो सत्य है कि अपने देश के वन-क्षेत्र में तीव्र गति से कमी होती जा रही है जिसके फलस्वरूप वन-साधनों की माग और पूर्ति में असतुलन पैदा हो गया है तथा आदिवासियों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति विघटित होती जा रही है। अतः सामाजिक वानिकी का सुझाव वन तथा वानिकी व्यवहारों (अधिकांशतः मानव निर्मित वन) से सम्बन्धित होना चाहिए, जिससे पूरे समाज के साथ साथ व्यक्ति भी प्रत्यक्षतः लाभान्वित हो सकें। इस प्रकार सामाजिक वानिकी का वृद्धिमान महत्त्व है तथा यह शहरी और ग्रामीण दोनों ही क्षेत्रों में उपयुक्त है। इसका क्षेत्र व्यक्तिगत आवश्यकता से लेकर सामाजिक आवश्यकता तक विस्तृत है।

यह शोध-पत्र भारत में वन-साधनों तथा वनों की तीव्र गिरावट के लिए उत्तरदायी कारणों और सामाजिक वानिकी हेतु नियोजन में अन्तर्निहित कुछ प्रविधि मुद्दों की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करता है।

जैसा कि पूर्व उल्लिखित है, वनों तथा वन-साधनों की समस्या उनके क्षेत्रफल और आय में तीव्र गति से कमी के कारण है। वन की तीव्र गिरावट के लिए उत्तरदायी तत्वों

की सूची निम्नांकित है :—

(1) ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों मे जलावन के रूप में घरेलू उपभोग।

(2) ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में आवास तथा निर्माण से उत्पन्न माग।

(3) ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में घरेलू टिकाऊ वस्तुओं की माग।

(4) औद्योगिक उपयोग, यथा कागज-निर्माण और कृषि क्रियाशीलताओं (जैसे बैल-गाड़ी आदि) (रेलवे स्लीपर) आदि से उत्पन्न माग।

(5) वन क्षेत्रों का कृषि-योग्य भूमि में परिवर्तन।

हम वन-अर्थशास्त्र सम्बन्धी अपनी जानकारी की वर्तमान स्थिति में (राष्ट्रीय कृषि आयोग द्वारा प्रदत्त भावी माग को छोड़कर) भूतकाल या भविष्य के लिए माग के उपर्युक्त अवयवों के बीच स्पष्ट अतर स्थापित नहीं कर सकते। राष्ट्रीय कृषि आयोग के अनुसार तालिका 31.1 प्रस्तुत की गयी है।

सामाजिक वानिकी सम्बन्धी दस वर्ष पुराने विवाद पर दृष्टिपात करने से यह पता चलता है कि इसे पारिभाषित करने तथा इसके क्षेत्र को स्पष्टत निर्धारित करने के प्रश्न को लेकर लेखकों मे काफी मतभेद है। कुछ लोग आदिवासियों की आवश्यकताओं पर जोर देते हैं तो कुछ सामान्यत निर्धनों (आदिवासी एव गैर-आदिवासी का ख्याल रखे बगैर) की आवश्यकताओं पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। चन्द लोग सामाजिक वानिकी को आदिवासियों की सामाजिक एव आर्थिक दशाओं से सम्बद्ध मानते हैं तो कुछ इसे पर्यावरण सम्बन्धी दशाओं से। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो व्यावहारिक सक्षमता के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हैं। किन्तु ऐसे शोध-कार्यों की सख्या बहुत ही अल्प है जिनमें सामाजिक वानिकी की परियोजना के अतर्गत वन उत्पत्ति की माग, ऐसी उत्पत्ति की माग सम्बन्धी आय-लोच तथा आदिवासियों के जीवन, अर्थव्यवस्था एव सस्कृति के सदर्भ में सामाजिक वानिकी के सामाजिक और आर्थिक निहितार्थ पर एक ही साथ ध्यान रखा गया हो। परियोजना को सामाजिक एव आर्थिक दृष्टि से सक्षम बनाने के लिए वन उत्पत्ति की न केवल वर्तमान माग बल्कि भावी माग को भी ध्यान में रखना चाहिए।

अत सक्षेप मे सामाजिक वानिकी हेतु नियोजन का निष्पादन वन-साधनों की माग और उनकी पूर्ति तथा आदिवासी सस्कृति और आवश्यकता के अनुरूप होना चाहिए। इसके लिए पूरे देश के सदर्भ में वन उत्पत्ति की भावी माग का अनुमान लगाना है तथा आदिवासी सस्कृति, उनकी आवश्यकता और सबसे बड़ी बात सामाजिक वानिकी परियोजना मे उनकी भागेदारी और स्वीकृति का अध्ययन आवश्यक है। इन दोनों पक्षों में से किसी एक को भी छोड़ देने पर सामाजिक वानिकी सम्बन्धी नियोजन का कोई मतलब नहीं रह जाता और ऐसी स्थिति में यह विकलांग दृष्टिकोण प्रस्तुत करेगा।

अत सामाजिक वानिकी हेतु नियोजन करते समय निम्नांकित बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए :—

(1) वन उत्पत्ति की सही तथा वैज्ञानिक माग-सम्भाव्यता प्रस्तुत करने के लिए उपयुक्त प्रविधि; और

(2) आदिवासियों की सामाजिक एवं आर्थिक दशाओं तथा संस्कृति का समग्र तथा विस्तृत अध्ययन होना चाहिए।

वन-उत्पत्ति की वर्तमान माग और भावी माग सम्बन्धी अनुमान लगाते समय माग उत्पन्न करने वाले तत्वों को ध्यान में रखना चाहिए।

अत भारत मे वन-उत्पत्ति की माग को प्रभावित करने वाले तत्वों पर विचार करते हुए इनकी माग का अनुमान लगाने के लिए सम्भावित प्रविधि को विशिष्टता प्रदान करने का प्रयास किया गया है।

वर्तमान मांग एवं भावी मांग के अनुमान लगाने की प्रविधिया

(1) ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के जलावन के रूप मे घरेलू उपभोग—देश के ग्रामीण और शहरी दोनो ही क्षेत्रो म जलावन का प्रमुख स्रोत लकडी है। ग्रामीण और शहरी दोनो ही क्षेत्रो में जलावन की लकडी की माग का अनुमान लगाना आवश्यक है। जलावन की लकडी की मांग पर विचार उपलब्ध प्रतिस्थापन्न तथा ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रो म लोगो की आय को ध्यान में रखकर किया जा सकता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जलावन लकडी की मांग म अत्यधिक आय-लोच होती है और आर्थिक विकास की प्रक्रिया के साथ तजी से घटती जाती है।

नेशनल सैम्पुल सर्वे के आकडो का प्रयोग ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के लिए अलग-अलग व्यय-लोच सम्बन्धी अनुमानो को प्रस्तुत करने के लिए किया जा सकता है। माग का ढाचा विभिन्न आय तथा सामाजिक वर्गों की वन-साधन सम्बन्धी माग प्रस्तुत करेगा। फिर व्यय लोच के द्वारा हम मदवार (विषय क्रम से) भावी माग का अनुमान लगा सकते हैं ताकि विकेन्द्रित स्तर पर वन-साधनो के हेतु नियोजन पर विचार किया जा सके।

व्यय-लोचो के अनुमान लगाने का तरीका न्यूनतम वर्ग का तरीका है जिसम दोहरा लॉग रूप प्रयुक्त होता है। उदाहरणार्थ,

$$\log y = \alpha + \beta \log x + \varepsilon$$

जबकि

y एक खास मद (यथा कोयला) पर प्रति व्यक्ति खर्च का द्योतक है,

x सभी मदो पर कुल प्रति व्यक्ति खर्च का द्योतक है, और

β गुणक सम्बद्ध मद के लिए व्यय-लोच प्रदर्शित करता है।

नियमित अनुमानो से भिन्न जो वर्गीकृत पर्यवेक्षणो पर आधारित रहते हैं, व्यक्तिगत परिवारो तथा वर्गीकृत आकडा दोनो को ही लिया जा सकता है। इसस विभाजित भावी माग की स्थिति के लिए आसानी होगी। व्यय-लोच के प्रदत्त होने पर भावी वर्ष के लिए माग का अनुमान लगाया जा सकता है बशर्ते आधार वर्ष का कुल खर्च, मदवार विशिष्ट खर्च और कुल व्यय की वृद्धि दर ज्ञात हो।

(2) ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों मे आवास तथा निर्माण से उत्पन्न मांग—जहा

उपर्युक्त वस्तुओं की भावी माग का प्रश्न है, आकड़ा आधार कमजोर है। अग्रिम्कृत अनुमान निर्माण क्रियाओं को सीमेन्ट तथा छत निर्माण वाले सामान जैसे आदानों के साथ सम्बन्धी-कर लगाया जा सकता है। यह कल्पना की जा सकती है कि सीमेंट और छत-निर्माण के सामानों के उत्पादन तथा उपयोग और दरवाजा, खिड़कियों आदि की माग के बीच सम्बन्ध है[1] जो वन उत्पत्तियों पर आधारित है। इसके अतिरिक्त निर्माण क्रियाओं आदि से सम्बन्धित ग्रामीण माग विद्यमान कृषि प्रबन्ध प्रतिवेदन तथा अन्य ग्रामीण सर्वेक्षणों का प्रयोग अग्रिम्कृत अनुमान समूह को प्रस्तुत करने हेतु किया जा सकता है।

(3) **ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों की घरेलू टिकाऊ वस्तुओं से उत्पन्न माग**—उपस्कर आदि टिकाऊ वस्तुओं के लिए लोगों की माग वन-उत्पत्ति की माग का एक प्रमुख अंग है। यहा माग केवल परिवार क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि औद्योगिक क्षेत्र में भी उत्पन्न होती है। माग का अनुमान लगाने के उद्देश्य से जहा घरेलू क्षेत्र के लिए एन०एस०एस० आकड़ों का प्रयोग हो सकता है, वहा औद्योगिक क्षेत्र के लिए ए०एस० आई० आकड़ों का। जहा तक सरकारी क्षेत्र का सवाल है, इसका कोई नियमित आकड़ा आधार नहीं है और इस सम्बन्ध में अनुमान लगाने के लिए सरकार के विभिन्न विभागों से आकड़े सग्रह करने का प्रयास किया जा सकता है।

(4) **औद्योगिक उपयोग और रेलवे से उत्पन्न माग तथा बैलगाड़ी आदि जैसी कृषि सम्बन्धित क्रियाओं से उत्पन्न माग**—औद्योगिक उपयोग और रेलवे से उत्पन्न वन-उत्पत्तियों की माग का अनुमान लगाने के लिए ए०एस० आई० आकड़ों का प्रयोग किया जा सकता है। ग्रामीण माग हेतु सम्भाव्य माग-सम्बन्धी अनुमान लगाने के लिए पशु-सगणना का प्रयोग किया जा सकता है।

5 **वन-क्षेत्र का कृषि-योग्य भूमि में परिवर्तन**—वन भू-भाग का कृषि-योग्य भू-भाग में परिवर्तन की भूमिका का मूल्याकन करने के लिए मुख्यत. राजस्व आलेखों से सम्बन्धित ऐतिहासिक विश्लेषण किया जा सकता है।

अगर माग सम्भाव्यताए तथा वार्षिक वन-साधन आवश्यकता सम्बन्धी अनुमान[2] प्रदत्त हैं, तो सामाजिक वानिकी परियोजना में दो प्रमुख बातें अन्तर्निहित होनी चाहिए :

(1) आदिवासियों के वर्तमान जीवन तथा सास्कृतिक ढाचे का मूल्याकन करना और प्रदत्त सास्कृतिक ढाचे के अन्तर्गत वन-साधनों की बढ़ी हुई माग को पूरा करने की सम्भावना का अनुमान लगाना।

[1]यह सम्बन्ध रैखिक (लिनियर) या क्वाड्रेटिक हो सकता है। विभिन्न मात्रा, तथा, भिन्न भिन्न मात्राओं के साथ ऐडिटिव/मल्टीप्लीकेटिव लिनियर मॉडल तथा क्वाड्रेटिक सम्बन्ध स्थापित किए जा सकते हैं।

[2]माग सम्भाव्यताओं के द्वारा हम वन-उत्पत्ति की भावी वार्षिक माग का पता लगा सकते हैं और उपयुक्त प्रविधि के द्वारा हम विभिन्न प्रकार / जातियों के वृक्षों की सख्या का पता लगाया जा सकता है जो माग को पूरा करने के लिए आवश्यक है।

(ii) द्वितीय चरण में प्रबन्ध का प्रश्न तथा वन में आदिवासियों की संलग्नता निहित है।

इन उद्देश्यों से भारत के संदर्भ में एकरूप (क) आदिवासी लोगों, (ख) वन-जाति एकत्रीकरण, (ग) भौगोलिक एवं भू-तत्त्वों के आधार पर भारतीय संघ के प्रत्येक राज्य के वन-क्षेत्र को विभाजित करना सम्भव है। एम एकरूप क्षेत्रों और इन क्षेत्रों की मांगों के आधार पर उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु आदिवासी प्रथा का सघन सर्वेक्षण करना आवश्यक हो सकता है। सर्वेक्षण में आदिवासियों के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पक्ष समाहित होना चाहिए।

यद्यपि विभिन्न जातियों के वृक्षारोपण, वानिकी का पर्यावरण पर प्रभाव, कृषि वानिकी का कृषि-उत्पादन पर प्रभाव तथा विभिन्न प्रकार की अन्य सम्बन्धित समस्याओं[3] के अनेक गुण-दोष हैं। तथापि निष्कर्षत: सामाजिक वानिकी नियोजन देश के आदिवासियों के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पक्षों तथा वन-उत्पत्ति की मांग को प्राथमिक एवं विशेष संदर्भ में सम्पादित किया जाना चाहिए। सामाजिक वानिकी के क्षेत्र और परिभाषा से सम्बन्धित दस वर्ष का पुराना विवाद इन्हीं दो पक्षों के बीच चक्कर काटते नहीं रहना चाहिए। दोनों का सम्यक् समन्वय सामाजिक वानिकी का एक विस्तृत क्षेत्र और उसकी वैज्ञानिक परिभाषा प्रदान करेगा। इसके अनुकूल अनेक विकल्पों में से एक प्रबंध का सुझाव इस शोध-पत्र में प्रस्तुत किया गया है।

[3] उदाहरणार्थ मोनो-कल्चर की विगत वर्षों में तीव्र आलोचना की गयी है और कृषि उत्पादन पर कृषि वानिकी का प्रभाव विवाद का एक प्रश्न रहा है।

अध्याय 32

हमारे सार्वजनिक क्षेत्र की रुग्णता का क्या कारण है?

भारत में आर्थिक विकास की परियोजना के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि यह आज के सर्वाधिक वाद-विवाद परिचर्चाओं के शीर्षकों में से एक रहा है। एतद् सम्बन्धी लगभग सभी विवादों की प्रकृति अनिवार्यतः सैद्धान्तिक ही है। हाल में हमारे सार्वजनिक क्षेत्र के असंतोषप्रद निष्पादन ने स्वाभाविक रूप से राष्ट्रव्यापी ध्यान आकर्षित किया है। वर्तमान निबंध का उद्देश्य अपनी अर्थव्यवस्था के इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र के न्यून निष्पादन के अंतर्निहित कारणों का पता लगाना है।

प्राय सभी पंचवर्षीय योजनाओं में सार्वजनिक क्षेत्र को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। 1948 का औद्योगिक नीति प्रस्ताव प्रथम अधिकारिक प्रलेख है जिसने सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुख भूमिका पर विचार किया। इसके अनुसार केन्द्रीय महत्त्व वाले उद्योग क्षेत्र तथा लोकोपयोगी सेवाएं सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुख जिम्मेवारी थीं।

1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव ने इसके उत्तरदायित्व को और अधिक विस्तृत कर दिया। प्रस्ताव के अनुसार निम्नलिखित परिस्थितियों के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने की कल्पना की गयी :

(i) मूलभूत एवं सामरिक महत्त्व वाले उद्योग,
(ii) लोकोपयोगी सेवाएं,
(iii) अन्य उद्योग जो आवश्यक हैं और जिनके लिए लिए विनियोग एक ऐसे पैमाने पर आवश्यक है जो केवल राज्य ही कर सकता है।

सार्वजनिक क्षेत्र के विकास और प्रसार पर निरन्तर जोर कुछ आधारभूत उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन था, जो क्रमश समय व्यतीत होने के साथ अपना स्वरूप ग्रहण करता गया। वे हैं :

(क) सामाजिक न्याय के साथ विकास,
(ख) सम्पत्ति एवं आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण पर प्रतिबंध,
(ग) विनियोग पर एक अच्छी प्राप्ति,
(घ) पिछड़े एवं अर्द्ध-विकसित क्षेत्रों का औद्योगिक विकास,
(ङ) सामरिक महत्त्व वाले क्षेत्रों में उत्पादन के साधनों पर सामाजिक नियंत्रण।

सार्वजनिक क्षेत्र के दर्शन के सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं। कोई व्यक्ति हमारी विकासशील अर्थव्यवस्था में इसके महत्त्व पर प्रश्न नहीं कर सकता। लेकिन जहां तक

इस दर्शन के क्रियान्वयन का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से दिशा-निर्देश की कमी है। विगत वर्षों में सार्वजनिक क्षेत्र का विनियोग अव्यवस्थित रहा है, जैसे कोई उपभोक्ता उत्पत्तियों, परामर्श, संविदा व्यापार तथा इस प्रकार की चीजों के क्षेत्रों में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रवेश को औचित्यपूर्ण बता सकता है। यह सार्वजनिक क्षेत्र के विकास और प्रसार में प्रतिबल के अभाव को ही प्रदर्शित करता है।

कुल विनियोग में सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा क्रमशः बढ़ता ही गया है। यह प्रथम पंचवर्षीय योजना में लगभग 46 प्रतिशत से बढ़कर पांचवी योजना में 66 प्रतिशत हो गया है। मार्च 1982 में सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों में कुल विनियोग 25,500 करोड़ रुपये था।

सार्वजनिक क्षेत्र के असन्तोषप्रद निष्पादन का अनुमान इस तथ्य से लगता है कि इस वृहत् विनियोग की प्राप्ति किसी भी प्रमाप के आधार पर न्यून है। विगत वर्ष के 8 प्रतिशत की तुलना में 1982-83 के अन्तर्गत नियुक्त पूंजी पर कुल लाभ के प्रतिशत में मामूली सुधार हुआ था। फिर भी यह सन्तोष से परे है।

उन समस्याओं का पता लगाना सम्भव है जिनका समाधान सरकार की सक्षमता के अंतर्गत है। अगर एक बार इन समस्याओं का सामना नीचे सुझाए गये तरीके के आधार पर किया गया तो सार्वजनिक क्षेत्रों की क्षमतापूर्ण कार्य-पद्धति के मार्ग की बाधाएं दूर हो जायेंगी।

स्वायत्तता बनाम लेखादेयता

सार्वजनिक क्षेत्र से सम्बन्ध में एक ऐसा ही प्रमुख मुद्दा स्वायत्तता एवं लेखादेयता के बीच संघर्ष है। उपर्युक्त संघर्ष-सम्बन्धी अधिकांश विवेचन का कारण इन दोनों धारणाओं की समझदारी का अभाव है। जिस तथ्य की अनुभूति नहीं की जाती वह यह है कि एक के बिना दूसरे की कल्पना करना असम्भव है। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का प्रबंध प्रत्यक्षतः संसद के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए—इसका कारण यह है कि उद्यम की सम्पूर्ण हिस्सा पूंजी सरकार द्वारा अंशदान प्रदत्त है। लेकिन लेखादेयता के क्रियान्वयन के पूर्व उत्तरदायित्व को यथासम्भव स्पष्टतः परिभाषित कर दिया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में सरकार इन उद्यमों के रोजमर्रा के क्रियाकलाप में हस्तक्षेप करने से अपने को अलग रखे। उसे अपने आपको रोजगार तथा अन्य सामाजिक उद्देश्यों से सम्बन्धित विस्तृत नीतियों एवं आदर्शों के निर्धारण तक ही सीमित रखना चाहिए। एक बार ऐसा करने के बाद लोक उद्यम इन नीतियों के अनुसरणार्थ पूर्ण स्वायत्तता के अधिकारी हो जाते हैं। विफलता की स्थिति में ही इन्हें हिसाब देने के लिए कहा जाना चाहिए।

विकीर्ण उत्तरदायित्व के फलस्वरूप वास्तविक चूक या बाकीदारों की स्थिति में कार्यवाई करना कठिन हो जाता है। हस्तक्षेप अथवा अन्य शब्दों में स्वायत्तता के अभाव सम्बन्धी प्रश्न को सार्वजनिक क्षेत्र उद्यमों के मुख्य कार्यपालकों ने इस वर्ष अप्रैल 5 और 6 को आयोजित अपनी बैठक में उठाया था। अनेक मुख्य कार्यपालकों ने

सरकार के विभागों द्वारा इस पृष्ठ-आसन चालन पर खेद प्रकट किया। स्वायत्तता के क्षरण से भयंकर सुरक्षाहीनता सृजित होती है और प्रबन्ध अपने सर्वोत्तम निष्पादन की प्रेरणा से वंचित हो जाता है।

लोक उद्यम ब्यूरो की भूमिका

सार्वजनिक क्षेत्र के क्रियाकलाप में ऐसे हस्तक्षेप को कम करने के लिए राज्य और सार्वजनिक क्षेत्र के बीच एक विशेषज्ञ मध्यवर्ती संगठन की आवश्यकता का अनुभव किया गया। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए लोक उद्यम ब्यूरो की स्थापना की गयी। यह कल्पना की गयी कि यह विशेषज्ञों का एक निकाय होगा जो एक तरफ उद्यमों के मित्र, दार्शनिक तथा निर्देशक के रूप में काम करेगा और दूसरी तरफ उनके निष्पादन का मूल्यांकन करेगा, सरकार को अवगत रखेगा तथा उसे परामर्श देगा।

विकल्प

फिर भी, ज्यों ही इसकी स्थापना सरकार के एक विभाग के रूप में की गयी, इसने अन्य राजकीय निकाय की भूमिका अपना ली और उपरिकल्पित परामर्शदात्री भूमिका के बजाय लोक उद्यमों के प्रबन्ध में अधिकाधिक हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। अब सार्वजनिक क्षेत्र दो सरकारी विभागों के प्रति उत्तरदायी हैं . अपने सम्बद्ध मंत्रालय और लोक उद्यम ब्यूरो। हस्तक्षेप में वृद्धि के साथ लोक उद्यमों के लिए स्वायत्तता एक सुदूर स्वप्न बनकर रह गयी तथा उत्तरदायित्व और अधिक विकीर्ण हो गया। इस प्रकार एतद् सम्बन्धी सुधार अत्यंत आवश्यक है।

संघीय लोक सेवा आयोग के अनुरूप अपने क्षेत्र के प्रख्यात विशेषज्ञों का निकाय लोक उद्यमों के निष्पादन को सुधारने में सहायक हो सकता है। यह एक परामर्शदात्री निकाय होगा जो लोक उद्यम आयोग के नाम से जाना जायेगा। सरकार इसके परामर्श को मानने अथवा न मानने में स्वतंत्र है। यह अपना वार्षिक प्रतिवेदन सीधे संसद को प्रस्तुत करेगा। अपने प्रतिवेदन में यह उल्लिखित कर सकता है कि उसके द्वारा प्रदत्त परामर्शों में किन्हें सरकार ने स्वीकार किया और किन्हें अस्वीकार किया। उक्त निकाय (लोक उद्यम आयोग) लोक उद्यमों को परामर्श देगा और वे ऐसे परामर्श को स्वीकार या अस्वीकार करने में स्वतंत्र हैं।

मानवीय साधन

स्वायत्तता की समस्या के बाद मानवीय साधन का अनुगत प्रश्न है जिससे हमारे लोक क्षेत्र के उद्यम रोगग्रस्त हैं। यह कोई असामान्य बात नहीं है कि एक बहुत बड़ी तादाद में लोक उद्यम मुख्य कार्यपालक के बिना ही कार्यरत हैं। पदारोहण नियोजन अभी भी आसमान की एक चिड़िया है, जिसमें उच्च पद दायित्वों के लिए उत्तराधिकारी का प्रशिक्षण निहित है। इधर हाल ही में दामोदर घाटी निगम के अध्यक्ष,

श्री पी० सी० सूथर को राज्य व्यापार निगम के अध्यक्ष-पद के लिए चयन कर लिया गया। श्री सूथर ने दामोदर घाटी निगम को ऐसे निर्णायक मोड़ पर छोड़ दिया जबकि उसका निष्पादन ऊपर उठना शुरू हो गया था। इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं है।

विगत वर्षों में तीन महीने का वेतन देकर मुख्य कार्यपालकों की तात्कालिक सेवा-समाप्ति की प्रथा ने समस्या को और अधिक संगीन बना दिया है। भारतीय स्टील प्राधिकार लिमिटेड के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री के० सी० खन्ना का निष्कासन ऐसी स्वेच्छापूर्ण कार्रवाई का ज्वलंत उदाहरण है। मुख्य कार्यपालक जिनके मस्तक पर तलवार लटकी है, विरले ही इस स्थिति में रहते हैं कि वे आज के प्रतियोगी औद्योगिक विश्व के अनुकूल कोई साहसिक कदम उठा सकें।

मानव साधन प्रणाली के अन्य अवयव, यथा, वृत्ति नियोजन एवं विकास, प्रशिक्षण, सम्भाव्य समीक्षा सर्वदा उपेक्षित रहे हैं। यह उपेक्षा बहुत ही महंगी साबित हुई है। इसका परिणाम यह है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम सर्वोत्तम तकनीकी एवं प्रबंधकीय प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करने में असमर्थ हैं। नीचे से लेकर शीर्ष स्तर तक वृत्ति-प्रगति या सुविचारित तथा सर्वस्वीकृत प्रणाली के अभाव के कारण कर्मठ एवं ईमानदार कर्मियों के बीच नैतिक ह्रास और निराशा की भावना फैल गयी है। इनके कर्मियों की प्रतिभा-सम्भाव्यता के मूल्यांकन हेतु कोई सुनियोजित प्रयास नहीं किया गया है। उपर्युक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में सार्वजनिक क्षेत्र वाले उद्यमों के कर्मियों के बीच निम्नतम स्तर पर प्रेरणा को देख पाना आश्चर्य की बात है। एच० एम० टी०, बी० ई० एम० एल०, बी० एच० ई० एल० जैसे सार्वजनिक क्षेत्र के कतिपय प्रतिष्ठानों ने विद्यमान स्थिति को सुधारने के लिए पहल की, हालांकि किसी भी तरह से साहसिक कदम उठाये नहीं गये हैं। जैसा कि इस निबंध में पहले ही सुझाव रखा गया है कि लोक उद्यम आयोग इस क्षेत्र में भी सार्वजनिक क्षेत्र की कर्मी नीतियों में अत्यावश्यक क्रमशः परिवर्तन लाने के लिए आदर्श उत्प्रेरक की भूमिका निभा सकता है। सर्वप्रथम यह एक निर्बाध पदारोहण योजना को सुनिश्चित करेगा। इसके अतिरिक्त उद्यमों के मानवीय साधन विकास के सम्पर्क में रहेगा तथा उन्हें निष्पादन मूल्यांकन, सम्भाव्यता मूल्यांकन, वृत्ति नियोजन एवं विकास, प्रशिक्षण इत्यादि के सम्बन्ध में परामर्श प्रदान करेगा।

लोक उद्यम आयोग न केवल उपयुक्त व्यक्तियों को उच्च प्रबंधकीय पदों के लिए अनुशंसित करेगा, बल्कि उच्च पदों के लिए संवर्ग भी गठित करेगा। इसकी पर्षद् में मानव शक्ति विशेषज्ञ होंगे, जो पांच से दस वर्ष की कालावधि में उद्यमों को अपनी शक्ति नियोजन तथा विकास-सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन करने के लिए सहायता करेंगे। हमारे देश में मानवीय साधनों के विकास पर विनियोग बहुत ही निम्न है, हम यह दावा करने में गौरव का अनुभव करते हैं कि विश्व की तकनीकी एवं वैज्ञानिक मानव शक्ति में हमारे देश का स्थान तीसरा है और साथ ही इससे लाभ उठाने में हम बुरी तरह विफल रहे हैं।

पर्षद्

सार्वजनिक क्षेत्र के अस्तित्व के प्रारम्भिक वर्षों में अनेक प्रतिष्ठानों के अध्यक्ष अथवा प्रबंध-निदेशक सरकार के सचिव थे। लेकिन बाद में चलकर इस प्रथा को समाप्त कर दिया गया। दर्जनों कम्पनियों के बोर्डों में सरकारी पदाधिकारियों की सेवा का प्रश्न किसी भी रूप में विलग नहीं माना जा सकता। कोई भी व्यक्ति यह अनुमान लगा सकता है कि वे कहां तक न्याय कर सकते हैं। निदेशक-मण्डल के पुनर्गठन के इस पहलू पर सरकार को पर्षदों में अपना प्रतिनिधि मनोनीत करते समय ध्यान देना चाहिए।

विगत वर्षों में घटित एक अन्य चिन्तनीय विकास कतिपय कम्पनियों के पर्षदों में अशकालिक अध्यक्ष एवं निदेशक के रूप में राजनीतिज्ञों की नियुक्ति है। कोई भी व्यक्ति इसके औचित्य को समझने में असमर्थ है। संसद अथवा विधानमण्डल का सदस्य लोक नियन्त्रण के अंग का एक भाग है। उन सार्वजनिक प्रतिष्ठानों के निदेशक बना देने से स्पष्टतः एक विचित्र स्थिति पैदा हो जाती है जिसमें संसद-सदस्य होते हुए भी वह प्रबंध-मण्डल में रहने के कारण लोक उद्यम के प्रबंध की आलोचना नहीं कर सकता। अतः निदेशक-मण्डल के गठन से सम्बन्धित नीति पर फिर से विचार करने की आवश्यकता है।

विनियोग निर्णय

एक अन्य प्रमुख समस्या, जो सार्वजनिक क्षेत्र की कार्यक्षमता को प्रभावित करती है विनियोग-सम्बन्धी निर्णय लेने में विलम्ब है। इससे समय और लागत में वृद्धि होती है और इसकी परिणति खोये हुए अवसर हैं। यह कोई असामान्य बात नहीं है कि वित्त मंत्रालय के वरीय पदाधिकारियों द्वारा पर्षद् में लिए गये निर्णयों को अंतिम स्वीकृति हेतु पुनः उसी मंत्रालय के पास भेजा जाता है। इससे आसानीपूर्वक छुटकारा पाया जा सकता है। फिर अगर कोई उद्यम इस स्थिति में है कि वह अपने विस्तार तथा/अथवा अपनी क्रियाशीलता से जनित कोषों से भिन्न मद में वित्त प्रदान कर सके तो उसे स्वतंत्रता होनी चाहिए। इससे समय और लागत में कमी होगी तथा विनियोग से अपेक्षाकृत अधिक प्राप्ति होगी। अन्य तत्व जिसने सार्वजनिक क्षेत्र के विकास का दम घोंट दिया है, उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं के सम्बन्ध में सरकार की मूल्य-निर्धारण नीति है।

सार्वजनिक क्षेत्र के संबंध में अनेक लोगों की एक आम धारणा यह है कि मुनाफा इसका उद्देश्य नहीं है और सार्वजनिक क्षेत्र जन-कल्याणार्थ है। जो लोग इस विचार का समर्थन करते हैं वे इस बुनियादी तथ्य से स्पष्टतः अनभिज्ञ हैं कि सामान्य मुनाफा किसी भी व्यावसायिक संगठन के अस्तित्व और विकास के लिए आवश्यक है। मेरे दृष्टिकोण में सामान्य मुनाफा का सर्वोपरि उद्देश्य होना चाहिए, क्योंकि यह स्फीतिकारक दबाव को नष्ट करने के लिए अधिकाधिक कोष सृजित करने में समर्थ होगा। इस उद्देश्य की प्राप्ति से अन्य समान रूप से महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों को पूरा करने का मार्ग

स्वतः प्रशस्त होगा।

परियोजना मूल्यांकन

सार्वजनिक क्षेत्र की एक दूसरी समस्या परियोजना मूल्यांकन में विलम्ब है और कभी-कभी प्रयुक्त औद्योगिकी के गलत मूल्यांकन होने से भी समय और लागत में वृद्धि हो जाती है तथा मितव्ययिता घट जाती है। प्रायः परियोजना के स्थान का चयन तकनीकी एवं आर्थिक तत्त्वों से भिन्न कारणों से निर्देशित होता है। जहाँ सन्तुलित क्षेत्रीय विकास हेतु पिछड़े इलाकों में उद्योगों के लिए सरकारी प्राथमिकता का समर्थन किया जा सकता है, वहीं ऐसे स्थान-चयन का कोई औचित्य नहीं, जो बुनियादी तकनीकी-आर्थिक कारणों के विपरीत हो। एक उदाहरण राजधानी की ऊर्जा माँग को पूरा करने के लिए दिल्ली के निकट मुरादनगर (उत्तर प्रदेश) में एक सुपर ताप विद्युत् परियोजना की स्थापना हेतु मच उद्घोषणा है। सुपर ताप विद्युत् परियोजनाओं की शृंखला प्रारम्भ करने के पूर्व सरकार ने तकनीकी समिति का प्रतिवेदन स्वीकार किया है कि कोयला खान के पास ही वृहत् क्षमता वाले सुपर ताप विद्युत् परियोजना स्थापित करना चाहिए क्योंकि पैदा की गयी बिजली को वहाँ से उपभोग केन्द्रों में भेजना मितव्ययितापूर्ण है। इसके तीन प्रमुख लाभ हैं।

1. भारतीय कोयला में 40 से लेकर 50 प्रतिशत राख का अंश है। अतः दूरस्थ स्थानों में कोयले के साथ राख ढोना अमितव्ययितापूर्ण है।
2. हमारी रेल-व्यवस्था यातायात के भार से दबी हुई है और दूर-दूर तक फैले हुए स्थानों में ताप विद्युत् उत्पादन केन्द्रों को कोयला क्षेत्रों से जोड़ देने पर बिजली उत्पादन के बुनियादी कच्चे माल (कोयला) की उपलब्धता घट जाती है।
3. एच० व्ही० तारों के द्वारा विद्युत् प्रेषण कोयला ढोने के बजाय अधिक मितव्ययितापूर्ण है।

अतः मुरादनगर में सुपर ताप-विद्युत् परियोजना की स्थापना का तय निर्णय सरकार की अपनी उद्घोषित नीति के विपरीत है, क्योंकि करीब 1200 किलोमीटर दूर बिहार के कोयला क्षेत्रों से कोयला मिलेगा। ऐसे निर्णयों को किसी भी तरह ठीक विनियोग निर्णय नहीं कहा जा सकता। यह सम्बद्ध सार्वजनिक क्षेत्र, एन० टी० पी० सी०, के वित्तीय स्वास्थ्य पर आघात पहुँचायेगा। लम्बी दूरी तक रेल कर्षण के कारण विद्युत् उत्पादन विश्वसनीय नहीं हो सकता और इस प्रकार अनेक क्षेत्रों में अधीनस्थ उद्योगों को प्रभावित करेगा।

प्रतिदिन अनेक ऐसे निर्णय लिये जाते हैं, जो स्वभावतः जनप्रिय तथा राजनीतिक होते हैं। अगर सार्वजनिक क्षेत्र लोक उद्यम आयोग के माध्यम से मात्र संसद के प्रति उत्तरदायी होता है तो राजनीतिक दबाव पर आधारित ऐसे निर्णयों से निश्चित ही मुक्ति मिल सकती है और कार्य-पद्धति में बहुत अधिक सुधार हो सकता है।

धारक (होल्डिंग) कम्पनियों के सम्बन्ध में सरकारी नीति के बारे में इतना ही

कहना पर्याप्त होगा कि यह अस्पष्ट है। जीवन बीमा निगम को अनेक इकाइयों मे विभाजन का निर्णय तथा सभी दस प्रमुख भागो के लिए एकल विन्दु विकास प्राधिकार की स्थापना का प्रस्ताव इस तथ्य को बहुत अच्छी तरह स्पष्ट करता है। धन धारक (होल्डिंग) कम्पनी तथा स्वतन्त्र लघु इकाइयो के तुलनात्मक गुण-दोषों पर गहराई से परीक्षण करने का समय आ गया है। इसके लिए एक स्पष्ट नीति का निर्धारण किया जाना चाहिए।

जब तक उपयुक्त सुझावो के आधार पर कार्रवाई नहीं की जाती, तब तक सार्वजनिक क्षेत्र भार-स्वरूप बना रहेगा। अगर वर्तमान स्थिति बनी रही तो 25,000 करोड रुपये से भी अधिक वृहत विनियोग के साथ यह हमारे देश के आर्थिक विकास मे बाधक के रूप मे कार्यरत रहेगा। राष्ट्र के लिए पूजी की अवसर लागत विचलित हो जायेगी। सामाजिक न्याय पर आधारित विकास अभी भी एक स्वप्न हो जायेगा।

अध्याय 33

राज्यस्तरीय योजनाकरण में आकडों की आवश्यकता

विस्तृत बहु-अचलीय तथा बहु स्तरीय योजनाओं का सही निरूपण सम्बन्धित विस्तृत आकडों की उपलब्धि पर ही निर्भर करता है। इन आकडों तथा राजनैतिक उद्देश्यों को ही आयोजक प्रतिमानों (मॉडल्स) के माध्यम से योजनाओं के रूप में व्यक्त करते है। ये आकडे प्रत्यक्ष प्रतिमान निरूपण में सहायक होने के साथ-साथ प्रतिमानों की मान्यताओं का परीक्षण भी कर सकते हैं।

आयोजन-इकाई की आर्थिक क्रियाओं का वर्गीकरण सम्बन्धित अर्थव्यवस्था के विभिन्न अचलों के आधार पर किया जाता है। ऐसा ही वर्गीकरण बहु-अचलीय प्रतिमान-निरूपण के लिये आधार का काम देता है। प्रतिमान में माग एवं पूर्ति के बीच सन्तुलन निरूपित किया जाता है, और इस सन्तुलन में विभिन्न अचलो के बीच अन्योन्याश्रय सम्बन्ध दिखाया जाता है। अर्थात्, प्रत्येक अचल एक तरफ उपभोक्ता-माग, निर्यात, स्थिर एवं कार्यकारी पूजी, तथा अन्य घटकों के रूप में दूसरे अचलों को मध्यकालीन-निवेश (इनपुट) की आपूर्ति करता है, वहा दूसरी तरफ (और साथ-साथ) स्थिर एवं कार्यकारी पूजी, आयात तथा अन्य घटकों के रूप में स्वय अपने लिए दूसरे अचलों से निवेश की प्राप्ति करता है। अब यह स्पष्ट होता है कि ऐसे प्रतिमान-निरूपण में किस प्रकार के आकडो की आवश्यकता पड़ती है। आगामी खंडों में ऐसे ही आकडो की आवश्यकताओं तथा उनके चयन सम्बन्धी न्यूनताओं एवं समस्याओं पर प्रकाश डाला जायेगा। इसमें राज्यस्तरीय आकडों पर ही विशेष बल होगा। स्थानीय आयोजन के लिए आवश्यक व्यष्टिगत आकडों का अध्ययन प्रस्तुत प्रसग की परिधि से बाहर है।

आधार-वर्ष में सम्बन्धित विभिन्न अचलो के उत्पादन-स्तर, उनके द्वारा उपभुक्त निवेश-स्तर, तथा अन्तिम माग के विभिन्न अचलीय घटकों के मान ही निवेश प्रतिफल-प्रतिमानों के निरूपण में मूल आकडों का काम करते हैं। इन स्तरों, मानों, तथा घटकों को प्रकट करने वाले आकडों के स्रोत भिन्न-भिन्न हैं।

सगठित उद्योगों में सम्बन्धित राज्यस्तरीय विस्तृत आकडे 'उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण' (ऐनुअल सर्वे ऑफ इन्डस्ट्रीज) में मिल जाते हैं जिसमें प्रत्येक उद्योग के उत्पादन-स्तर तथा उसके द्वारा उपभुक्त निवेश स्तर की जानकारी रहती है। जहां तक सम्भव होता है, ये आकडे मात्रात्मक और मौद्रिक दोनों इकाइयों में विभुक्त रहते हैं।

असगठित उद्योगों से सम्बन्धित विश्वसनीय आकडो का अपने देश म अभी भी अभाव है। पारिवारिक या घरेलू उद्योगो के बारे मे 'राष्ट्रीय नमूना-सर्वेक्षण' (नेशनल सैम्पुल सर्वे) प्रत्येक पाच वर्ष के अन्तर पर आकडे जुटाता रहा है। इसमे इन उद्योगो के उत्पादन मूल्य, वर्द्धित मूल्य (वैल्यू ऐडेड) तथा मुख्य निवेश-समूहों के मूल्य मिल जाते हैं, हालांकि इनकी वस्तुगत मात्राए अलभ्य रहती हैं। यह आशा है कि अपने तेतीसवें दौर (राउन्ड) म और इसके अगले दौरा म एन०एम०एस० अपने सर्वेक्षणों मे पूरे असगठित उद्योग-क्षेत्र के बारे में आकडे इकट्ठा करेगा। दो आर्थिक गणनाओ के सम्पन्न होने से यह सम्भव हो सका है। इन आकडों के उपलब्ध होने पर असगठित क्षेत्र का ढाचात्मक विश्लेषण सम्भव हो सकेगा। एन०एम०एस० के सर्वेक्षणो मे गैर-निर्माण क्षेत्र के असगठित भाग तथा गैर-कृषि उद्यम शामिल रहते हैं।

सगठित निर्माण-क्षेत्र मे भी जहा निवेशो के मान क्रय-मूल्य पर उपलब्ध हैं, वहा उत्पादनो के मान विक्रय-मूल्य पर उपलब्ध हैं। इसमे एक समस्या उठ खडी होती है। श्रेयस्कर यह होगा कि निवेश और उत्पादन दोनो के मान एक ही प्रकार के मूल्यों—विक्रय मूल्यो—मे ही व्यक्त हो। इसके लिए दोनो प्रकार के मूल्यो के अन्तर को ध्यान मे रखकर निवेशो के मान में कमी की जाय। यह अन्तर व्यापार व ढुलाई की सीमा तथा अप्रत्यक्ष करो के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। राष्ट्रीय स्तर पर गणना-आकडो (सेन्सस डेटा) मे दोनों प्रकार (क्रय एव विक्रय) के मूल्य उपलब्ध हो जाते हैं। इससे वितरण-सीमाओं का परिकलन हो सकता है, हालांकि वस्तुओं की विभिन्नता यहा भी कुछ समस्या खडी कर देती है।

राष्ट्रीय स्तर पर अधिकाश अवस्थाओं मे आयात का स्थान उत्पादन-मात्राओं में बहुत न्यून होता है। जिन अवस्थाओ मे आयात का स्थान पूर्ण आपूर्ति में अधिक रहता है, वहा आयातित भाग और देश मे उत्पादित भाग के मूल्यों का भारित औसत मूल्य निकल सकता है। इससे वितरण-सीमा का ज्ञान होगा, जिससे विक्रय-मूल्य जाना जा सकता है। मात्राओ तथा मूल्यों से सम्बन्धित जो आकडे उपलब्ध हैं, उनकी सहायता से आयात-मूल्यों का परिकलन सम्भव हो सकता है।

राज्य-स्तर पर अनेक अवस्थाओं में निवेशो का एक काफी बडा भाग दूसरे राज्यों से आ सकता है। उदाहरणत उत्तर प्रदेश मे पेट्रोलियम-वस्तुए और कोयला दूसरे राज्यों से आते हैं। ऐसे आयातों के मूल्य का चयन लगभग असम्भव है। तथ्य यह है कि किसी राज्य के आयातों तथा निर्यातो के आकडे उपलब्ध ही नहीं हैं। रेलमार्ग से आने-जाने वाली कुछ वस्तुओं के बारे मे अवश्य आकडे मिल जाते हैं। किन्तु यहा भी इन वस्तुओ की मात्राओ के आकडे मिलते हैं। इस कारण और अनेक अवस्थाओं मे वस्तु-विभिन्नता के कारण इस अवस्था मे भी मौद्रिक मूल्यगत आकडे अलभ्य रह जाते हैं।

इसके लिये दो बातें आवश्यक हो जाती हैं। प्रथमत यह कि हम सडक-मार्ग से प्रयुक्त वस्तुओ के आवागमन का विस्तृत सर्वेक्षण करें, ताकि किसी राज्य की

अन्तर्प्रवाहित तथा बहिर्प्रवाहित वस्तुओं की मात्राओं और मूल्यों के बारे में विस्तृत आंकड़े मिल सकें। कुछ राज्यों ने वस्तु-व्यापार के सर्वेक्षण कराये हैं। किन्तु इनमें वस्तुओं के चुनाव इतने अपर्याप्त हैं कि प्राप्त आंकड़े असन्तोषजनक रह गये हैं। दूसरी आवश्यकता यह है कि रेलवे प्रशासन द्वारा चयनित आंकड़ों को हम और वाणिज्य और क्रमबद्ध करें। ट्रकों के माध्यम से उपार्जित आमदनियों तथा निवेशों पर लगे उद्व्ययों के भी आंकड़े उपयोगी सिद्ध होंगे। मोटर-यातायात-क्षेत्र के उत्पादन तथा निवेशों के आंकड़े बड़े आवश्यक हैं।

व्यापार-प्रतिष्ठानों के नमूना-सर्वेक्षण के द्वारा हमें वितरण-सीमाओं के भी आंकड़े मिल सकते हैं।

राज्य की सीमाओं पर आयातित वस्तुओं का औसत मूल्य हो उनके उत्पादनकर्ता-मूल्य के बराबर होता है (ठीक उसी प्रकार जैसे सामान्य आयात-मूल्य-मह-उत्पाद-मूल्य की अवस्था में लागू होता है)। राज्य की सीमाओं पर स्थित जिलों में प्रचलित क्रय मूल्यों से भी एक अन्दाज लग सकता है, और यह आवश्यक भी है। राज्य के सन्दर्भ में आयात-मूल्य सम्बन्धी समयावधि में टिकाऊ न रह पायेंगे, भले ही मूल्य-स्तर इस अवधि में अपरिवर्तनशील रहे। कारण यह है कि दूसरे राज्यों से आयातित विभिन्न वस्तुओं के अनुपात में अन्तर आने की सम्भावना अधिक रहती है।

निर्माण

सम्पूर्ण देश के सन्दर्भ में उत्पादन का कामचलाऊ अनुमान वस्तु-प्रवाह प्रणाली के आधार पर किया जा सकता है। किन्तु राज्यों के सम्बन्ध में यह प्रणाली कारगर नहीं हो सकती, जब तक की आयात-निर्यात की वस्तुओं के लिये अलग-अलग निश्चित आंकड़े न उपलब्ध हों। कठिनाई यह है कि राज्यों के उत्पादन-मूल्य सम्बन्धी आंकड़ों के भी निश्चित अनुमान अनुपलब्ध हैं। भवनों के निर्माण तथा दूसरे प्रकार के निर्माण के बारे में अलग-अलग उपाय अपनाये जा सकते हैं। भवन निर्माण क्षेत्र में या तो गणना (सेन्सस) की जाय, या नमूना-सर्वेक्षण किया जाय। वर्ष में निर्मित, तथा निर्माण-प्रक्रिया में रत भवनों का मूल्य लगाया जा सकता है। इस तरह व्यय सम्बन्धी आंकड़े प्राप्त किये जा सकते हैं।

सार्वजनिक अधिकरणों द्वारा किये गये निर्माण तथा निर्मित भवनों के आंकड़े प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त किये जा सकते हैं। गैर-सरकारी क्षेत्र के निर्माण सम्बन्धी आंकड़ों के लिये ग्रामीण विनियोजन सर्वेक्षण उपयोगी होंगे, क्योंकि यहां अधिक स्थान भूमि-सुधार आदि का ही रहता है।

कृषि

फसलों के उत्पादन-सम्बन्धी आंकड़े काफी विश्वसनीय आधार पर उपलब्ध हैं। सम्पूर्ण कृषि क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण निवेशों के उपयोग पर ध्यान आकर्षित रखना होगा। इसमें या

तो किसी निवेश (जैसे उर्वरक) की सम्पूर्ण आपूर्ति को आधार माना जाय या कुछ मशीनों में उपयुक्त होने वाले (जैसे ट्रैक्टर के लिये डीज़ल) निवेश के प्रति इकाई उपयोग की विशिष्ट मान्यताओं का आधार माना जाय। परन्तु सम्पूर्ण कृषि-क्षेत्र को एक अकेला अचल मानना ठीक न होगा। इस समस्या का एकमात्र समाधान यही है कि हम प्रत्येक फसल के उत्पादन व्यय का विस्तृत सर्वेक्षण करें। कुछ प्रमुख फसलों के उत्पादन-व्यय सम्बन्धी अध्ययन हुए हैं। किन्तु उनसे मन्तव्य की पूर्ण सिद्धि नहीं होती। विस्तृत रूप से आंकड़ों का चयन वांछनीय है ताकि कृषिगत क्षेत्र के प्रति एकड़ एवं उत्पादन मात्रा की प्रति इकाई दोनों आधारों पर उपर्युक्त विभिन्न निवेशों की मात्राएं तथा मौद्रिक मूल्य उपलब्ध हो सकें। जब प्रत्येक फसल व निवेश प्राप्त हो जायेंगे, तो चारा-खर्च जैसे बाकी निवेशों को मवेशी पालन अचल में रखा जाना सम्भव होगा।

यातायात

राज्य स्तर पर यातायात-क्षेत्र की उत्पादन मात्रा की माप में गम्भीर कठिनाइयां आती हैं। रेलमार्ग और मोटर यातायात विभिन्न राज्यों में होकर गुजरते हैं। अतः उत्पादन का अनुमान लगाने के लिए कोई तरीका निकालना होगा। बाद में निवेश-रचना की जानकारी कुछ समीचीन मान्यताओं के आधार पर की जा सकती है। गैर-यंत्रीकृत यातायात-क्षेत्र की उत्पादन-माप के लिए नमूना-सर्वेक्षण कराना होगा। इस क्षेत्र में वर्द्धित मूल्यों के अनुमान के लिए केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन (सी०एस०ओ०) ने कुछ सूचकों का निर्देशन दिया है, किन्तु ये पर्याप्त विश्वसनीय नहीं हैं।

अन्तिम भाग—गैर-सरकारी उपभोग व्यय

राष्ट्रीय लेखा से संगत वस्तु-प्रवाह-प्रणाली के माध्यम से पूरे देश के लिए उपभोग व्यय वाहकों का पता लग सकता है। राज्य स्तर पर इस प्रणाली के अपनाने में काफी कठिनाइयां हैं। प्रमुख कठिनाई है राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का खुलापन। वस्तु प्रवाह सम्बन्धी अनुमान तो अप्राप्य हैं ही। राज्यस्तर पर ऐसे आंकड़ों का एकमात्र स्रोत एन० एस०एस० है। यह विदित है कि वस्तुगत प्रवाह पर आधारित आंकड़ों और एन०एस० एस० के अनुमानों में काफी अन्तर होता है। फिर भी एन०एस०एस० के अनुमानों की जांच के लिये वस्तु प्रवाह से पर्याप्त विश्वसनीय वाहकों का ज्ञान उपयोगी सिद्ध होगा। चूंकि हम लोगों का जोर व्यय के पुनर्वितरण पर है, इसलिए विपन्नताओं की माप तथा आगामी व्यय ढांचा के अनुमानित ज्ञान के लिये एन०एस०एस० के आधार पर प्राप्त वर्गगत व्यय के आंकड़े बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे। ग्रामीण और शहरी आबादी के लिए, तथा निर्धनता रेखा से ऊपर और इससे नीचे की जनता के लिए अलग-अलग उपभोग-वाहकों की जानकारी होनी चाहिये।

कुल स्थिर पूंजी निर्माण

स्थिर पूंजी निर्माण दो मोटी श्रेणियों से होता है: निर्माण, तथा यंत्र एवं अभिकरण।

यन्त्र एवं अभिकरण को पुनः विद्युत यन्त्र, गैर-विद्युत यन्त्र तथा यातायात अभिकरण में बांटा जा सकता है। निर्माण और यन्त्र दोनों के अनुमान के लिये अलग-अलग तरीकों की आवश्यकता है। यदि हमें उत्पादनों के मूल्य ज्ञात हो जाए, तो निर्माण क्षेत्र में पूंजी-निर्माण के अनुमान लगाये जा सकते हैं। किन्तु व्यापार के सटीक अनुमानों की अनुपस्थिति में यन्त्रों की अनुमान तालिका नहीं बन सकती। ऐसी अवस्था में लाचार होकर हमें व्यय प्रणाली के सहारे अनुमान लगाने होंगे जिससे विभिन्न उपयोगी अवस्था के सम्बन्धित अनुमान मिल सकें। यही दूसरा विकल्प है।

सार्वजनिक व्यय

इस सन्दर्भ में राज्य सरकार एवं स्थानीय निकायों के चालू व्यय तथा राज्यों के अन्दर केन्द्र सरकार द्वारा किये गये व्यय की विस्तृत वस्तुगत जानकारी आवश्यक है। प्रत्येक अंचल के सार्वजनिक व्यय पर पहुंचने के लिये बजट का विस्तृत विश्लेषण करना होगा।

आयात तथा निर्यात

जैसा पहले कहा गया है, यद्यपि यहां सम्बन्धित आंकड़े अनुपलब्ध हैं, किन्तु हैं वे बड़े महत्वपूर्ण। आयात निर्यात-सम्बन्धी आंकड़ों के चयन के लिये विस्तृत वस्तु-व्यापार-सर्वेक्षण अनिवार्य हो जाते हैं। तथा व्यापार शर्तों का अध्ययन वांछनीय हो जाता है। अन्तरिम तथा अंतिम मांग से सम्बन्धित आंकड़ों की आवश्यकता का महत्व आंकने के बाद, जिस दूसरी समस्या से हमें जूझना है, उसका सम्बन्ध है गैर सरकारी हस्तान्तरण से क्योंकि राज्य स्तर पर केवल आरम्भिक स्रोत अर्जित आमदनियों के ही आंकड़े उपलब्ध हैं। प्राप्य आमदनियों के अनुमान भी आवश्यक हैं। दूसरे शब्दों में, गैर सरकारी हस्तान्तरण के अनुमान आवश्यक हैं। ऐसे हस्तान्तरण का व्यवस्थित करने वाले आंकड़ों की समस्या अत्यन्त कठिन है, किन्तु इससे भी अधिक कठिन समस्या है आगामी हस्तान्तरणों का अनुमान।

श्रम प्रतिफल-अनुपात

बेकारी-उन्मूलन की आत्मा से प्राणशील आयोजन में श्रम-प्रतिफल-अनुपात का विशेष महत्व होता है। उद्योग क्षेत्र के संगठित तथा असंगठित भागों के लिए अलग-अलग ऐसे अनुपातों की आवश्यकता है। संगठित उद्योग-क्षेत्र के लिये पर्याप्त विश्वसनीय अनुपात मिल सकते हैं। असंगठित क्षेत्र के अनुपात प्रायः अपर्याप्त आंकड़ों पर आधारित हैं। पारिवारिक घरेलू उद्योगों के साथ अपने अलग स्वभाव के कारण कार्यरत श्रम के अनुमानों के साथ धारणात्मक कठिनाइयों का भी प्रश्न है। इन उद्योगों में कार्यरत लोग कृषि में भी कार्यरत हैं। गणना में प्राप्त आंकड़ों से समस्त कार्यरत श्रम का जाना जा सकता है, और समस्त कृषि-क्षेत्र के लिये श्रम-प्रतिफल अनुपात निकाले जा सकते हैं।

योजना-निरूपण में अलग-अलग फसलों के लिये अलग-अलग ऐसे अनुपातों की आवश्यकता होती है। कृषि में उत्पादन-व्यय-सम्बन्धी अध्ययनों में हम प्रति उत्पादन-इकाई मानव-दिवसों का परिकलन कर सकते हैं, और इसके आधार पर आवश्यक अनुपातों का परिकलन हो सकता है।

पूंजी-प्रतिफल अनुपात

उत्पादन-स्तरों में सकल विनियोजन-मात्राओं के अनुमान लगाने के लिये पूंजी-प्रतिफल-अनुपात आवश्यक हो जाते हैं। विनियोजन दो प्रकार के होते हैं: अन्तर्जात तथा बहिर्जात। बहिर्जात विनियोजनों का परिकलन सामाजिक सेवाओं की न्यूनतम आवश्यकताओं के आधार पर होता है। उत्पादन-स्तरों से इनका सम्बन्ध-स्थापन नहीं हो सकता। अर्थव्यवस्था के अन्य अचलों के लिए पूंजी-प्रतिफल-अनुपात आवश्यक है। राष्ट्रीय विभागगत आंकड़ों की उपलब्धि के तहत, राष्ट्रीय स्तर पर भी कुछ विस्तृत अचलों के लिये ही हम पूंजी-प्रतिफल-अनुपातों का परिकलन करते हैं। फिर भी कुछ राज्यों के विभिन्न निर्माण अचलों के लिये ऐसे अनुपात उपलब्ध हैं। इन अनुपातों के संकलन के लिए एक विशिष्ट समयावधि में वर्धित विनियोजन-मूल्य का उपयोग होता है, तथा इस सम्बन्धित अवधि के लिए उत्पादन मात्राओं के परिवर्तन (एक समय-विलम्ब के साथ) 'उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण' से प्राप्त होते हैं। किन्तु इस तरीके की कुछ समस्याए हैं। चूंकि उत्पादन-क्षमता-अनुपात किन्हीं दो वर्षों में अलग-अलग हो सकते हैं, उचित यह होगा कि हम पूंजी के साथ क्षमता-परिवर्तनों का सम्बन्ध-स्थापन करें। फिर भी क्षमताओं की माप के दौरान कुछ समस्याए उठती हैं, विशेषकर जब हम इस माप के लिए गणनागत आंकड़ों (सेन्सस डेटा) की शरण लेते हैं। चूंकि पूंजी का खाता-मूल्य ही उपलब्ध है, क्षमता-उत्पादन के औसत अनुपात पर्याप्त उपयोगी नहीं सिद्ध होते। क्षमता-उत्पादन-अनुपात गहरे अध्ययन की अपेक्षा रखते हैं।

इस लेख में राज्यस्तरीय आयोजन रूप-निर्धार के लिए आवश्यक प्रमुख आंकड़ों का ही संक्षिप्त विवरण है। ये न तो सुविस्तृत हैं और न ही इनमें स्थानीय आयोजन की व्यष्टिगत आंकड़ा आवश्यकताओं की चर्चा है। साथ ही इनका सम्बन्ध राज्यस्तरीय सादे बहु-अचलीय प्रतिमानों से है। आयोजित विकास की जिस वर्तमान अवस्था में हम हैं, और राज्यों के सन्दर्भ में जो सामग्री उपलब्ध है, इस प्रकार के सादे बहु-अचलीय प्रतिमानों से ऊपर उठना व्यावहारिक भी नहीं है।

अध्याय 34

जीवनयापन-स्तर के सूचक

इस लेख में जीवनयापन-स्तर के कुछ चुने हुए पहलुओं की दृष्टि से भारतीय राज्यों के तुलनात्मक अध्ययन का प्रयास किया गया है। इस अध्ययन में 1960 61 से आरम्भ होने वाले दो दशकों की अवधि शामिल है। किसी राज्य के घरेलू उत्पादन का कल्याण की माप मानने में कई समस्याएं सामने आ जाती है। उदाहरणत उत्पादन-साधनों के जन्मगत स्वामीत्व के कारण या किसी समय में बाजार में प्रचलित सापेक्ष मूल्यों के रूप में व्यापार शर्तों की प्रतिकूलता के कारण यह सम्भव है कि किसी राज्य के उत्पादन के लाभ इसे पूरी तरह न मिल सकें। इसके अतिरिक्त, राज्यीय घरेलू उत्पादन के अनुमानों में वितरण पक्ष का ध्यान नहीं के बराबर होता है, क्योंकि अनेक स्थितियों में बाजार-मूल्यों में लोगों की वास्तविक आवश्यकताएं प्रतिबिम्बित नहीं हो पाती। वस्तुत वे एक समय बिन्दु पर अधिकांश रूप में क्रय शक्ति के वितरण के द्योतक होते हैं। साथ ही राज्यों के प्रति-व्यक्ति उपभोग-सम्बन्धी सरकारी आंकड़े भी उपलब्ध नहीं हैं।

एक विकल्प के रूप में हमें उचित ढंग से चुने गये कुछ ऐसे भौतिक सूचकों के समूह पर भरोसा करना होगा, जिनमें जीवनयापन-स्तर के विभिन्न पहलुओं में निहित कल्याण प्रतिबिम्बित हो। इन सूचकों में (चाहे व्यष्टिगत रूप में या समष्टिगत रूप में) पौष्टिक आहार, स्वास्थ्य, आवास, शिक्षा, यातायात-संवहन आदि जैसी मदों को शामिल करने से जीवनयापन-स्तर की अच्छी सकलित माप मिल सकती है। एक सामूहिक अथवा सम्मिलित निर्देशांक बनाने के लिये इन सूचकों को जोड़ना होगा, जिसके लिये एक सांख्यिकी उपाय का सहारा लिया गया है। इसमें प्रत्येक सूचक के व्यतिक्रम के प्रामाणिक मान के व्युत्क्रम के अनुपात में इसका भार निकाला गया है। इसका अर्थ यह है कि सामूहिक कल्याण के लिए जीवनयापन-स्तर के उन पहलुओं का कम महत्व है जिनकी क्षेत्रीय विभिन्नताएं अधिक हैं, और उन पहलुओं का महत्व अपेक्षाकृत अधिक है जिनकी ये विभिन्नताएं कम हैं। किन्हीं खास पहलुओं के अतिशय प्रतिनिधित्व की समस्या को सीमित करने के लिए भारांकन दो स्तरों पर किया गया है।

विश्लेषण से यह अनुमान लगता है कि सम्बन्धित अवधि में जीवनयापन-स्तर की अन्तर्राज्यीय विषमताओं में कमी आयी है। पौष्टिक आहार, आवास, एवं स्वास्थ्य जैसे जीवनयापन-स्तर के पहलुओं के सम्बन्ध में भी अन्तर्राज्यीय तुलनाएं प्रस्तुत की गयी हैं।

भूमिका

आर्थिक विकास के लाभों की माप के लिए एक उपयुक्त कल्याण-सूचक की आवश्यकता हमेशा महसूस की गयी है। इस अभिप्राय के लिये बड़े पैमाने पर प्रमुख प्रतिव्यक्ति समग्र राष्ट्रीय उत्पादन के औचित्य पर आजकल बड़ी शंकाएं व्यक्त की जा रही हैं। प्रतिव्यक्ति समग्र राष्ट्रीय उत्पादन के प्रयोग की प्रमुख कमी यह मानी जाती है कि इसमें व्यक्तिगत तथा सामाजिक कल्याण के अनेक गैर-आर्थिक या सामाजिक संकेतकों की अवहेलना हो जाती है। इसके अतिरिक्त इसमें कई ऐसी उत्पादन-मदें शामिल रहती हैं जिनका समाज के उपभोग-निवेश या कल्याण-निवेश से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता। इन कारणों से इसमें जब सामान्य कल्याण-सूचक का निरूपण किया जाता है तो प्रतिबिम्बात्मक सापेक्ष कल्याण-भाग के लिये सापेक्ष बाजार-मूल्यों का प्रयोग किया जाना है। उपयुक्त कल्याण-सूचक की आवश्यकता अन्तरावधिक एवं अन्तर्क्षेत्रीय दोनों प्रकार की तुलनाओं के लिये पड़ती है। जनसंख्या, भूमि, तथा सम्पत्ति की निहित विभिन्नताओं से संयुक्त भारत जैसे देश में मात्र प्रतिव्यक्ति राज्यीय घरेलू उत्पादन या पारिवारिक उपभोग-व्यय पर आधारित तुलनाओं से इसके निवासियों का कल्याण-स्तर पूरी तरह नहीं आ पाता। उदाहरणतः, पारिवारिक व्यय-सर्वेक्षणों में सार्वजनिक वस्तुओं के उपभोग को कोई स्थान नहीं रहता। इससे सरकारी प्रयास सारहीन रह जाते हैं। भारत के संघात्मक घरेलू ढांचे में वित्तीय साधनों के आवंटन और कभी-कभी सन्तुलित क्षेत्रीय प्रगति की धारणा के प्रबोधन के लिये विकास के क्षेत्रीय पहलुओं की माप की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है। उपयुक्त सूचक की सहज अनुपलब्धि की अवस्था में वर्तमान में सब लोग प्रति व्यक्ति समग्र घरेलू उत्पादन का सहारा ले रहे हैं, और कहा जा रहा है कि समय-प्रवाह के साथ क्षेत्रीय विषमताएं बढ़ रही हैं, या घट रही हैं। ऐसे ही सन्दर्भ में यह अध्ययन 1960 से आरम्भ होने वाली अवधि में विभिन्न राज्यों की जीवनयापन-स्तर-सम्बन्धी प्रगति पर प्रकाश डालने का प्रयास करता है।

अध्ययन-विधि

जीवनयापन-स्तर की समष्टिगत माप की जानकारी के अभिप्राय बहुत से शोधकर्ता एक ऐसे सामान्य या विस्तृत सूचक का निर्माण करते आ रहे हैं जिसका आधार एक खास ढंग से भारित प्रासंगिक सामाजिक-सह-आर्थिक संकेतकों का समूह होता है। किसी क्षेत्र की सामान्य प्रगति के मूल्यांकन के लिये यह सम्मिलित सूचक संक्षिप्त मापदंड का काम करता है। यदि कुछ वित्तीय हस्तान्तरण करना हो तो कई सूचकों की अपेक्षा अकेले एक सूचक का सहारा बेहतर होगा।

जीवनयापन-स्तर के सम्मिलित सूचक के निर्माण की निम्नलिखित विभिन्न अवस्थाएं हैं :

(i) जीवनयापन-स्तर के सम्मिलित होने वाले पहलुओं का चुनाव

(ii) प्रत्येक पहलू के लिये संकेतक का चुनाव

(iii) तुलनात्मकता के लिये परिवर्तनशील तत्वों का रूपान्तरण

(iv) सकेतकों का भार प्रदान।

सम्मिलित होने वाले जीवन-पहलुओं का अन्तिम चुनाव निश्चित ही आदर्शात्मक होगा। उदाहरण के लिये, जहां पश्चिमी देशों के सन्दर्भ में प्रदूषण-स्तर अधिक महत्वपूर्ण होगा, वहां भारत में पोषण स्वास्थ्य, आवास पेय जलापूर्ति शिक्षा एवं संरचनात्मक सुविधाओं की न्यूनतम आवश्यकताओं को प्राथमिकता मिलेगी।

किन्तु अन्ततोगत्वा सकेतकों का चुनाव अधिकांश रूप में उनकी प्रासंगिकता तथा शीघ्र उपलब्धता पर निर्भर करेगा। इस अध्ययन में जीवनयापन-स्तर के विभिन्न पहलुओं के द्योतक 38 सकेतकों को चुना गया है। यह चुनाव व्यक्ति और समाज के उपभोग मदों तक ही मुख्यतया सीमित है। चयनित सकेतकों की सूची परिशिष्ट I में दी गयी है। यह ध्यान देने की बात है कि अध्ययनगत क्षेत्रों के भिन्न आकारों को प्रतिबिम्बित करने हेतु सभी परिवर्तनशील तत्वों का सामान्यीकरण किया गया है। चूंकि ये तत्व अलग-अलग इकाइयों में व्यक्त होते हैं, उनकी तुलनात्मकता के लिये उनका रूपान्तर किया गया है। ऐसा करना कई ढंग से सम्भव था। चयन में विचाराधीन तत्वों द्वारा प्रदर्शित फैलाव है, चाहे यह उनका औसत मूल्य हो अथवा कोई बहिर्गत दत्त प्रतिमान हो। यह कहा जा चुका है कि जब रूपान्तर नियम विचाराधीन परिवर्तनशील तत्वों के वितरण पर निर्भर होते हैं, तो अन्तिम नतीजा में कोई अन्तर नहीं आता। हमने परिवर्तनशील तत्वों के फैलाव को भाजक रखा है और सकेतकों के धनात्मक/ऋणात्मक मूल्यों के न्यूनतम/अधिकतम अन्तर को भाज्य माना है। इसका अर्थ यह हुआ कि अधिकतम कुशल राज्य तथा न्यूनतम कुशल राज्य के बीच का अन्तर हमारे लिये वह प्रामाणिक निर्देश का काम देगा, जिससे आलोच्य में प्रत्येक राज्य के सापेक्ष स्थान का मूल्यांकन होगा।

भारांकन-ढांचे की रूपरेखा कैसी हो इसे लेकर काफी माथापच्ची हुआ है। निराशा भी हाथ लगी है। विभिन्न सकेतकों को कैसे मिलाया जाय इसके लिए कई विकल्प सामने आये हैं। 'मुख्य घटक' सिद्धान्त के प्रतिपादक चुन गये परिवर्तनशील तत्वों के बीच परस्पर अन्तर्सम्बन्धों की सीमा में विश्वास करते हैं। 'महत्वपूर्ण मूल्यों' में जो दूरियां हैं, उनका मूल्यांकन वर्गीकी दृष्टिकोण के लोग करते हैं। एक नितान्त सांख्यिकी युक्ति की भी कोशिश की गयी है, जिसमें प्रामाणिक व्यतिक्रम अंक विषमता भार की विपरीतता के आधार पर भारांकन किया जाता है। मुख्य घटक सिद्धान्त पर टिप्पणी करते हुए नारमन हिक्स तथा पॉल स्ट्रीटन[1] कहते हैं कि यह सम्भव है कि उन परिवर्तनशील तत्वों को अधिक भार दे दिया जाय, जो अत्यधिक मात्रा में अन्तर्सम्बन्धित न हों। उन दृष्टिकोणों में जिनमें अन्तरों की विपरीतता पर भरोसा किया जाता है, उनमें विपरीतताओं को दबा देने का पक्षपात आ जाता है। सम्भव है कि अधिक अन्तर वाले

[1]एम० मुखर्जी, जनरल ऑफ इनकम एंड वेल्थ, 1978

परिवर्तनशील तत्वो को अधिक भार मिल जाय। सम्मिलित सकेतको के माध्यम मे राज्यों के सापेक्ष स्थान-निर्धारण के लिय 'गुच्छा-विश्लेषण' (क्लस्टर-एनलिसिस) के अर्थ म जोडागत सिद्धियों की दूरियों के मूल्याकन का भी प्रयोग किया गया है।[2] उनके दृष्टिकोण मे यह निहित है कि इन दूरियों को समान भार मिले। इसम विश्वास नहीं भी किया जा सकता ताकि सम्मिलित सूचक के विभिन्न परिवर्तनशील तत्वों को विभिन्न मात्रा म भार दिय जा सके। हमने श्री एन० एस० आयगर एव पी० सुदर्शन द्वारा प्रयुक्त भारावन के उस तरीके को अपनाया है जिसमें प्रामाणिक व्यतिक्रम की विपरीतता को आधार माना गया है। किन्तु हमन इसमें थोडा-सा अन्तर करके भारावन को द्विस्तरीय कर दिया है। प्रथम स्तर म भार के रूप म प्रामाणिक व्यतिक्रम की विपरीतता के द्वारा रूपान्तर के बाद समूहगत सकेतकों का योग निकाला गया है। इसके पश्चात समूहगत सूचको तथा उनकी समूहस्तरीय माप के प्रामाणिक व्यतिक्रम के आधार पर एक सम्मिलित सूचक निकाला गया है। आगे चलकर परिशिष्ट II मे इस तरीके पर और अधिक प्रकाश डाला गया है। यह तरीका एक लाभ है। किसी समूह-विशेष म सकेतको की बहुलता के फलस्वरूप यौगिक सूचक-निर्माण मे उस समूह को अत्यधिक भार न मिल सकेगा। साथ ही विश्लेषणात्मक अभिप्राय से उन्हें आसानी में अलग किया जा सकता है।

प्रत्येक वर्ष के लिय उपरिलिखित विनिर्देशना के आलोक मे सम्मिलित एव समूहगत सकेतको का मान निकाला गया है। 'प्रामाणिक विषमता-परिधियों' (स्टैन्डर्ड इनिक्वैलिटी पैरामीटर) के आधार पर अन्तरावधिक तुलनाए की गयी हैं।

परिणाम विश्लेषण

1961, 1971 तथा 1978 इन तीन समय बिन्दुओ के लिये देश के प्रत्येक राज्य के जीवनयापन-स्तर की माप की गयी है। जहा इनमे से किसी भी वर्ष के सम्बन्ध मे सूचना उपलब्ध नहीं रही, सम्बन्धित निकटतम वर्ष की सूचना का उपयोग किया गया। जीवनयापन-स्तर के जो 38 सकेतक चुने गये हैं। उन्हें दो भागो मे बाटा गया है प्रथम भाग मे सात एकरूपी समूह हैं, दूसरे भाग मे फुटकर किस्म के सकेतक शामिल हैं। हम लोगो न भारावन की जो द्विस्तरीय युक्ति अपनायी है, उसमे जीवनयापन-स्तर की माप प्रत्येक समूह के लिये, और फिर पूरे सम्मिलित रूप से सभी समूहों के लिये की गयी है। परिणामो के विश्लेषण मे जीवनयापन-स्तर के सकेतको के प्रत्येक विशिष्ट समूह पर विचार करेंगे, और तब सम्मिलित समूह पर विचार करेंगे।

पौष्टिक आहार

पौष्टिक आहार-सम्बन्धी सकेतक केवल दो वर्षों यानी 1972-73 तथा 1977-78

[2]एन० आयगर एण्ड पी० सुदर्शन 'ऑन ए मथड आफ क्लासीफाइग रीजन्स फ्राम मल्टीवैरियबुल डेटा,' 1982

से ही मिल सके हैं। प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन कैलरी खपत पर उपलब्ध सामग्री से यह नहीं जाहिर होता है कि प्रामाणिक व्यतिक्रम के रूप में अन्तर्क्षेत्रीय विषमताएं बढ़ी हैं। पंजाब, हरियाणा, जम्मू-कश्मीर तथा हिमाचल प्रदेश उन कुछ प्रथम श्रेणी के राज्यों में आते हैं, जहां पौष्टिक आहार में वृद्धि हुई है। पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, तथा केरल का स्थान सबसे नीचे है। 1978 में हालांकि उच्चतम स्थान वाले राज्यों की स्थिति लगभग पूर्ववत रही। निम्न स्थान वाले राज्यों की स्थिति 1972-73 की तुलना में बदल गयी। 1978 में तमिलनाडु निम्नतम स्तर पर आ गया। केरल की स्थिति 1972-73 में निम्नतम थी, किन्तु 1977-78 में इसकी स्थिति में सुधार आया और इसका स्थान सोलहवें पर आ गया। सामान्य रूप में स्थिति यों कही जा सकती है—आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, केरल जैसे राज्यों की पौष्टिक आहार सम्बन्धी स्थान में तरक्की हुई है, किन्तु मध्यप्रदेश तथा मेघालय की स्थिति इस दृष्टि से और बदतर हो गयी है।

स्वास्थ्य

हमारा निष्कर्ष यह है कि प्रमगात्मक दो दशकों के दौरान स्वास्थ्य-सम्बन्धी अन्तर्राज्यीय विषमता में कमी आयी है। 1961 में उच्चतम चार राज्यों में हम पंजाब (हरियाणा), गुजरात महाराष्ट्र को शामिल कर सकते हैं। 20 वर्ष बाद हमें यह देखने को मिला कि उच्चतम चार राज्यों में हरियाणा को हटाकर गुजरात नये सिरे से शामिल हो गया। अधिक अंशों में इसका कारण यह हो सकता है कि पंजाब और हरियाणा के लिये 1961 में अलग-अलग आंकड़ों की उपलब्धि में काफी कठिनाई रही। बिहार, गुजरात, तथा केरल की स्थिति 1961 में नीची थी। पश्चिम बंगाल ऐसा राज्य है, जिसका स्थान 1961 में ऊंचा था, किन्तु दो दशक बाद यह निम्न स्थान वाले राज्यों की श्रेणी का सदस्य हो गया। उत्तरकालीन अवधि में गुजरात, हरियाणा, तथा केरल ने स्वास्थ्य-सकेतकों की दृष्टि से विशिष्ट सुधार दिखाया है।

आवास

आवास-संकेतक 1961 तथा 1971 के 'गणना-आंकड़ों' में उपलब्ध हैं। इन दो समय बिन्दुओं के दरमियान आवास-गुण सम्बन्धी विशेषताएं घटी हैं। गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश तथा केरल के लोगों को इन दोनों वर्षों (1961 एवं 1971) में आवास की अच्छी सुविधाएं प्राप्त थीं। मणिपुर तथा मेघालय जैसे पहाड़ी राज्यों में आवास-सुविधाएं बड़ी खराब हैं। मगर इस निष्कर्ष का अर्थ सावधानी से लगाना होगा, क्योंकि पर्वतीय प्रदेशों में आवास निर्माण के विशेष स्वभाव के कारण अधिक घरों के कच्चा होने की सम्भावना है। हरियाणा तथा पंजाब की आवास-दशाओं में विशिष्ट सुधार आये हैं। जम्मू-कश्मीर, केरल, नागालैंड तथा उत्तर प्रदेश में आवास-दशाएं अपेक्षाकृत बदतर हुईं।

शिक्षा

विश्लेषण की अवधि में शिक्षा-स्तर-सम्बन्धी असमानताओं की प्रवृत्ति लगातार नीचे की ओर रही। केरल, महाराष्ट्र, मणिपुर तथा पंजाब के शिक्षा-स्तर समस्त अवधि में सदैव ऊँचे रहे। जम्मू-कश्मीर, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के शिक्षा-स्तर 1961 में अपेक्षाकृत नीचे रहे। इनमें से राजस्थान तथा जम्मू-कश्मीर के स्थान शिक्षा-स्तर की दृष्टि से पूरे दो दशकों में लगभग ज्यों-के-त्यों बने रहे। हिमाचल प्रदेश, नागालैण्ड, उत्तर प्रदेश तथा तमिलनाडु ने शिक्षा-स्तर में सुधार लाये हैं। असम, जम्मू-कश्मीर, मध्य प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल के सापेक्ष स्थान गम्भीर रूप से नीचे गिरे हैं।

यातायात

इन दो दशकों में यातायात-सम्बन्धी अन्तर्राज्यीय विषमताएँ सामान्य रूप से घटी हैं। यातायात-सुविधाओं की दृष्टि से पश्चिम बंगाल, पंजाब तथा केरल के स्थान इस पूरी अवधि में क्रमशः सर्वोच्च रहे। पहाड़ी राज्यों को छोड़कर, मध्य प्रदेश, राजस्थान और महाराष्ट्र के स्थान इस दृष्टि से नीचे रहे।

शक्ति

विश्लेषण की अवधि में बिजली-उपभोग-सम्बन्धी विषमताएँ विभिन्न राज्यों के बीच बढ़ी हैं। इस दृष्टि से इस अवधि के आरम्भ में तमिलनाडु, केरल, महाराष्ट्र तथा पश्चिम बंगाल के स्थान सर्वोच्च थे। किन्तु इस अवधि के अन्त में सर्वोच्च स्थान पंजाब, हरियाणा, तमिलनाडु तथा महाराष्ट्र के हो गये। तात्पर्य यह कि 1978 तक केरल तथा पश्चिम बंगाल अपने उच्चतम स्थान से अपदस्थ हो गये। त्रिपुरा, मणिपुर, असम, तथा हिमाचल प्रदेश जैसे मुख्यतः पहाड़ी राज्यों के स्थान पूरी अवधि में लगातार नीचे ही रहे हैं। गुजरात, पंजाब, हरियाणा तथा राजस्थान के सापेक्ष स्थान में सुधार आये हैं। केरल की स्थिति में गिरावट आयी है।

संवहन

संवहन-संकेतक केवल 1971 तथा 1978 के ही उपलब्ध थे। इस अवधि में भी अलग-अलग स्पष्ट राज्यगत आँकड़ों का अभाव जैसा रहा, क्योंकि 'दूरभाष-सर्किल', 'दूरभाष-जिले' या 'डाक-क्षेत्र' अक्सर विभिन्न राज्यों में मिले-जुले हैं। फिर भी उपलब्ध सामग्री को राज्यवार तोड़ने की कोशिश की गयी है। संवहन-जाल की अन्तर्क्षेत्रीय विषमताओं की ह्रासमान प्रवृत्ति स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। पूरी सत्तरवियों के दौरान हिमाचल प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात में संवहन की ऊँची सुविधाएँ रहीं। मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, नागालैंड हमेशा निम्नतम राज्यों में रहे हैं। गुजरात, कर्नाटक, केरल तथा मणिपुर तथा पंजाब में संवहन-सुविधाएँ बढ़ी हैं। हरियाणा,

जम्मू-कश्मीर तथा पश्चिम बंगाल के मापेक्ष स्थानों में गिरावट आयी है।

फुटकर

फुटकर संकेतकों का समूह एक तरह से भानुमती का पिटारा है जिसमें बैंकिंग सुविधाएं, पेयजल साधन, उचित मूल्य की दुकानें, रोजगार-स्तर तथा चलचित्र घर वगैरह शामिल हैं। इन फुटकर संकेतकों से सम्बन्धित असमानताएं 1961 और 1971 के बीच घटी है। उत्तरकालीन वर्षों में जरूर ये असमानताएं कुछ बढ़ी हैं। संकेतकों के इस मिले जुले समूह के आधार पर यह पता चलता है कि इस पूरी अवधि में लगभग हमेशा असम का स्थान बीच में और पश्चिम बंगाल का स्थान सबसे नीचे रहा है। शेष राज्यों में ऐसी प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर हुई कि सामान्यीकरण कठिन है।

सम्मिलित सूचक

उपर्युक्त सभी आठों संकेतक-समूहों को शामिल करते हुए सम्मिलित सूचक के परिकलन में दो प्रणालियों का उपयोग किया गया है। प्रथम प्रणाली में, सभी यानी 38 संकेतकों में से प्रत्येक के अलग अलग प्रामाणिक व्यतिक्रम (स्टैन्डर्ड डीवियेशन) के विपरीतगामी अनुपात के आधार पर भारांकन किया गया है। आगे से इसे सादा भारांकन (सिम्पुल वेटिंग) कहा जायगा। दूसरी प्रणाली में प्रत्येक समूह के अन्दर प्रामाणिक व्यतिक्रम (स्टैन्डर्ड डीवियेशन) के विपरीतगामी अनुपात के आधार पर भारांकन किया गया है। इस तरह प्रत्येक समूह के लिए संकेतक मिले। इसे समूह-संकेतक कहेंगे। फिर प्रत्येक समूह-संकेतक का प्रामाणिक व्यतिक्रम (स्टैन्डर्ड डीवियेशन) निकाला गया। इसके बाद प्रत्येक प्रामाणिक व्यतिक्रम के विपरीतगामी अनुपातवाले भार का परिकलन किया गया। और सब समूह-संकेतक और इस भार को जोड़ दिया गया (इसे अब स्तरीय भारांकन कहेंगे)।

जैसा परिशिष्ट III से स्पष्ट है—सादा और स्तरीय भारांकन प्रणालियों में स्पष्ट अन्तर है। 'सादा भारांकन' (सिम्पुल वेटिंग) की तुलना में, 'स्तरीय भारांकन' (टायर्ड वेटिंग) के फलस्वरूप 1978 में पौष्टिक आहार, स्वास्थ्य, शिक्षा तथा यातायात समूहों के भार बढ़ गए हैं और बाकी के भार घट गए हैं। मूलतः हम यह देख रहे हैं कि जिन समूहों में संकेतकों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है (स्वास्थ्य—11 संकेतक, शिक्षा—7 संकेतक) उनके भारों (वेट्स) का स्तरीय प्रणाली में नियमन हुआ है।

जो भी हो भारांकन की दोनों प्रणालियों के अनुसार जीवनयापन स्तर की अन्तर्राज्यीय विषमताओं में प्रासंगिक अवधि के दौरान कमी आयी है। यह बात परिशिष्ट IV तथा परिशिष्ट V में स्पष्ट है। विभिन्न संकेतकों के आधार पर किया गया अन्तर्राज्यीय स्थान-निर्धारण भी 'भारांकन' की दोनों प्रणालियों में से प्रत्येक के द्वारा किये गए स्थान-निर्धारण के लगभग समान है। यह परिशिष्ट VI से स्पष्ट है। यह ध्यान देने की बात है कि राज्यों के बीच मापनीय दूरियों में भिन्नता है, और यदि मापनीय स्थान निर्धारण के

अनुसार वित्तीय साधनों के आवंटन होंगे, तो परिणाम भी भिन्न होंगे।

जो उपर्युक्त अभ्यास हमने किया है, उसका अभिप्राय उदाहरणात्मक है; और इसलिए है कि ऐसे सूचकों के निर्माण की समस्याओं का ज्ञान हो सके। विशेष ध्यान इस बात पर देना है कि अलग-अलग संकेतकों को भार-प्रदान के लिये विभिन्न प्रणालियों में से उपयुक्ततम का चुनाव कल्याणोत्तर सैद्धान्तिक विचारों के आधार पर नहीं किया जा सकता। अगर यह मान लिया जाय कि भारांकन-प्रणाली उपयुक्त है, तो जो तरीका हम लोगों ने जीवनयापन-स्तर के सूचकों के परिकलन के लिये चुना है, वह वर्ष-विशेष में अन्तर्राज्यीय प्रगति-तुलना के लिये विश्वसनीय है। इस तरीके के द्वारा अन्तरावधिक तुलना विभिन्न राज्यों की सापेक्ष सिद्धियों की ही दशा में सम्भव है। यदि कोई एक अवधि के अन्दर अकेले किसी राज्य की सिद्धियों का अध्ययन करना चाहता है, तो ये सूचक विशेष उपयोगी न होंगे।

पौष्टिक आहारों के प्रतिमानों के रूप में प्रस्तुत अभ्यास के अन्दर केवल कैलरी-उपभोग का ही प्रयोग सम्भव था। पौष्टिक आहार-स्तर के सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य के उचित प्रतिनिधित्व के लिए, प्रोटीन-उपभोग को भी शामिल करना होगा। किन्तु प्रोटीन-उपभोग सम्बन्धी कैलरी के बारे में पौष्टिक आहार विषयक सूचना केवल सत्तरवियों की अवधि से ही उपलब्ध है। आवास-सम्बन्धी हमारे संकेतक 1971 से आगे नहीं बढ़ सके, क्योंकि प्रासंगिक आंकड़े न मिल सके। भौतिक इकाइयों में कपड़े की अन्तर्क्षेत्रीय खपत राष्ट्रीय नमूना सर्वे (नेशनल सैम्पल सर्वे) जैसे प्रामाणिक स्रोतों से अनुपलब्ध है। इनके सम्बन्ध में संकेतकों का परिकलन आवश्यक है। सड़क जैसे कुछ अन्य संकेतक समूहों की दशा में जो आंकड़े कई राज्यों के संयुक्त क्षेत्र के लिए उपलब्ध हैं, उन्हें सम्बन्धित अलग-अलग राज्य के लिये परिकलित करना होगा। विश्लेषण की अवधि में राज्यों का पुनर्गठन हुआ। इस कारण भी सामूहिक आंकड़ों के राज्यगत वितरण में समस्याएं उठीं। एक सीधी-सादी युक्ति अपनायी गयी। सामूहिक क्षेत्र की सूचना को घटक राज्यों के बीच क्षेत्रफल या जनसंख्या के अनुसार वितरित कर दिया गया। इस युक्ति की एक कमजोरी है कि राज्यों के पुनर्गठन के पहले क्षेत्र की जनसंख्या अथवा क्षेत्रफल पर परिवर्तनशील तत्वों का समान वितरण था।

परिशिष्ट I

जीवनयापन-स्तर-संकेतकों की सूची

समूह	संकेतकों का विवरण
1. पौष्टिक आहार	प्रतिदिन प्रति व्यक्ति कैलरी-उपभोग
	1. प्रति अस्पताली शय्या आबादी
	2. प्रति औषधालय आबादी (हजार में)

	3 प्रति पंजीकृत डाक्टर आबादी
	4 प्रति मिडवाइफ (दाई) आबादी
	5 प्रति स्वास्थ्य निरीक्षक आबादी (हजार में)
	6 प्रति सहायक दाई आबादी (हजार में)
	7 कुल मृत्यु में 5 वर्ष से नीचे बच्चों की मृत्यु-संख्या का प्रतिशत
	8 अशोधित (कूड) मृत्यु दर
	9 अशोधित जन्म दर
	10 शिशु-मृत्यु दर
III आवास	1 प्रति कमरा व्यक्तियों की औसत संख्या
	2 पक्के तथा अर्द्ध पक्के घरों का प्रतिशत
IV शिक्षा	1 प्राथमिक अवस्थाओं में शिक्षक विद्यार्थी अनुपात
	2 प्रासंगिक वर्ग की कुल लड़कियों में प्राथमिक अवस्था में नामांकित लड़कियों का प्रतिशत
	3 वयस्क शिक्षा दर
	4 आबादी के प्रति लाख में तकनीकी व्यक्तियों की संख्या
	5 साक्षरता दर
	6 प्रासंगिक वर्ग के कुल लड़कों में मिडिल स्कूलों में नामांकित लड़कों का प्रतिशत
	7 प्रासंगिक वर्ग की कुल लड़कियों में मिडिल स्कूलों में नामांकित लड़कियों का प्रतिशत
V यातायात	1 रेलमार्ग लम्बाई प्रति हजार वर्ग किलोमीटर
	2 सड़क लम्बाई प्रति हजार वर्ग कीलोमीटर
VI शक्ति	1 बिजली प्राप्त गाँवों का प्रतिशत
	2 प्रति व्यक्ति बिजली खपत (के० डब्लू० एच०)
	3 कुल बिजली खपत में औद्योगिक बिजली खपत का प्रतिशत
	4 कुल बिजली खपत में कृषिगत बिजली खपत का प्रतिशत
	5 प्रति परिवार बिजली खपत (के० डब्लू० एच०)
VII संचार	1 आबादी के प्रति लाख पर दूरभाष संख्या
	2 आबादी के प्रति लाख पर डाकघरों की संख्या
VIII फुटकर	1 पेय जल आपूर्ति की दृष्टि से समस्या गाँवों का प्रतिशत
	2 कुल आबादी में रोजगार तलाशने लोगों का प्रतिशत
	3 प्रति सिनेमा गृह आबादी (हजार में)
	4 प्रति करोड़ (आबादी) पर व्यावसायिक बैंक शाखाओं की संख्या
	5 प्रति हजार (आबादी) पर मोटरगाड़ियों की संख्या
	6 औसतन हर उचित मूल्य दूकान द्वारा सेवित आबादी (हजार में)
	7 प्रति व्यक्ति स्वास्थ्य विषयक योजना व्यय (रुपया में)
	8 प्रति व्यक्ति शिक्षा विषयक योजना व्यय (रुपया में)

परिशिष्ट II

सादा तथा द्विस्तरीय भारांकन-प्रणालियों के विनिर्देशन
(स्पेसिफिकेशन्स आफ सिम्पुल एण्ड टू-स्टेज वेटिंग मेथड्स)

(1) सादा भारांकन-प्रणाली

jth परिवर्तनशील तत्त्व का भारांकन

$$W_j = \frac{K}{\sqrt{\text{परिवर्तनशील तत्त्व}\,(Z_j)}}$$

जहां $K = \left(\sum_{j=1}^{m} \frac{1}{\sqrt{\text{परिवर्तनशील तत्त्व}\,(Z_j)}} \right)^{-1}$

$$Z_j = \frac{X_{js} - X_j\,(\text{न्यूनतम})}{X_j\,(\text{अधिकतम}) - X_j\,(\text{न्यूनतम})} \quad \text{धनात्मक संकेतकों के लिए}$$

$$Z_{js} = \frac{X_j\,(\text{अधिकतम}) - X_{js}}{X_j\,(\text{अधिकतम}) - X_j\,(\text{न्यूनतम})} \quad \text{ऋणात्मक संकेतकों के लिए}$$

क्षेत्र S के जीवन-यापन-स्तर का सम्मिलित सूचक है

$$Y_s = \sum_{j=1}^{m} W_j Z_{js}$$

(2) द्विस्तरीय भारांकन-प्रणाली

m परिवर्तनशील तत्त्वों का वर्गीकरण समूह-उपवर्गों (सब ग्रुपिंग्ज) r ($r = 1 \ldots n$) सहित, n-समूहों में करें

समूह के jth परिवर्तनशील तत्त्व का भारांकन है

$$W_j^r = \frac{K^r}{\sqrt{\text{परिवर्तनशील तत्त्व}\,(Z_j^r)}}$$

जहां $K^r = \left(\sum_{j=1}^{q} \frac{1}{\sqrt{\text{परिवर्तनशील तत्त्व}\,(Z_j)}} \right)^{-1}$

Z_{js} जैसे पूर्वपरिभाषित

rth समूह तथा 'S' क्षेत्र के लिए जीवन-यापन-स्तर की माप है

$$Y_s^r = \sum_j W_j^r Z_{js}$$

इसी अवस्था में जीवन-यापन-स्तर की n समूहस्तरीय मापों को भारों के साथ लिया गया है

$$W_r = \frac{\bar{K}}{\sqrt{\text{परिवर्तनशील तत्व } (y^r)}}$$

जहाँ $$\bar{K} = \left[\sum_{r=1}^{n} \frac{1}{\sqrt{\text{परिवर्तनशील तत्व } (y^r)}} \right]^{-1}$$

'S' क्षेत्र के जीवन यापन स्तर की सम्मिलित माप है

$$Y_S^T = \sum_{r=1}^{n} W_r \, Y^r$$

परिशिष्ट III

सादा तथा द्विस्तरीय भारांकन प्रणालियों से प्राप्त भारों (वेटस अण्डर सिम्पुल एण्ड टू टायर्ड वेटिंग मेथड्स) की पारस्परिक तुलना

(प्रतिशत में)

विवरण	1961		1971		1978	
	सादा	द्विस्तरीय	सादा	द्विस्तरीय	सादा	द्विस्तरीय
1. पौष्टिक आहार	0 00	0 00	2 84	12 58	3 03	13 56
2 स्वास्थ्य	22 14	13 81	27 44	10 55	35.44	12 72
3 आवास	8 05	15 89	6 73	11 43	0 00	0 00
4 शिक्षा	27 89	21 53	21 72	16 85	16 59	14 92
5 यातायात	5 85	16 14	5 61	12 95	6 41	14 95
6 [illegible]	15 00	14 84	11 41	9 82	13 21	13 46
7 संवहन	0 00	0 00	6 10	10 72	6 10	13 06
8 [illegible]	14 67	17 78	15 15	15 20	19 13	17 31

परिशिष्ट IV

सादा भारांकन द्वारा जीवनयापन-स्तर-सूचक की माप

राज्य	1961	1971	1978
1 आन्ध्र प्रदेश	0 34900	0 43669	0 43545
2 असम	0 32762	0 30747	0 36786
3. बिहार	0 28494	0 33956	0 28589
4 गुजरात	0 35597	0 48930	0 49563
5 हरियाणा	0 40134	0 43067	0 46263
6 हिमाचल प्रदेश	0 32018	0 46187	0 47175
7 जम्मू-कश्मीर	0 31555	0 39752	0 41133
8 कर्नाटक	0 39718	0-48660	0 51338
9 केरल	0 51742	0 58713	0 63368
10 मध्य प्रदेश	0 32350	0 38025	0 36714
11 महाराष्ट्र	0 44564	0 55437	0 57213
12 मणिपुर	0 29045	0 37213	0 37165
13 मेघालय	0 00684	0 29118	0 34891
14 नागालैंड	0 11813	0 28882	0 36667
15 उड़ीसा	0 31870	0 37838	0 39786
16 पंजाब	0 46725	0 60425	0 63903
17 राजस्थान	0 30782	0 39838	0 40715
18 सिक्किम	0 01333	0 07713	0 12754
19 तमिलनाडु	0 46348	0 51461	0 51940
20 त्रिपुरा	0 23062	0 30885	0 31905
21 उत्तर प्रदेश	0 34086	0 34463	0 35873
22 पश्चिम बंगाल	0 45233	0 42851	0 38573
औसत	0 32014	0 40630	0 42085
प्रामाणिक व्यतिक्रम	0 13021	0 11314	0 11301

परिशिष्ट V

स्तरीय भारांकन (टायर्ड वेटिंग) द्वारा जीवनयापन-स्तर सूचक की माप

राज्य	1961	1971	1978
1 आन्ध्र प्रदेश	0 50809	0 5495	0 64420
2 असम	0 46462	0 45502	0 43269

3 बिहार	0 48904	0 44894	0 38296
4 गुजरात	0 57073	0 67588	0 67258
5 हरियाणा	0 55524	0 61400	0 63599
6 हिमाचल प्रदेश	0 37361	0 64386	0 64553
7 जम्मू-कश्मीर	0 42935	0 51390	0 58202
8 कर्नाटक	0 59498	0 63216	0 61240
9 केरल	0 71814	0 31376	0 72250
10 मध्य प्रदेश	0 58866	0 48204	0 45999
11 महाराष्ट्र	0 65407	0 68615	0 64187
12 मणिपुर	0 37344	0 43933	0 45302
13 मेघालय	0 000[illegible]0	0 34456	0 42626
14 नागालैंड	0 19698	0 29900	0 37230
15 उड़ीसा	0 44920	0 43731	0 46350
16 पंजाब	0 64031	0 75998	0 81386
17 राजस्थान	0 48021	0 32784	0 55385
18 सिक्किम	0 02173	0 08600	0 10670
19 तमिलनाडु	0 67355	0 70968	0 71342
20 त्रिपुरा	0 32144	0 45398	0 42728
21 उत्तर प्रदेश	0 54347	0 48130	0 53961
22 प० बंगाल	0 74499	0 60421	0 54511
औसत	0 47289	0 52628	0 53176
प्रामाणिक व्यतिक्रम	0 19513	0 15350	0 15257

परिशिष्ट VI

सादा तथा स्तरीय भारांकन प्रणालियों के द्वारा प्राप्त जीवनयापन-स्तर के सूचकों के आलोक विभिन्न राज्यों के तुलनात्मक स्थान

राज्य	1961		1971		1978	
	सादा	टायर्ड	सादा	टायर्ड	सादा	टायर्ड
1 आन्ध्र प्रदेश	9	11	18	10	9	11
2 असम	11	14	16	15	15	17
3 बिहार	18	12	18	17	21	20
4 गुजरात	8	8	5	8	6	4
5 हरियाणा	6	9	8	9	8	7
6 हिमाचल प्रदेश	13	17	7	6	7	5

7. जम्मू-कश्मीर	15	16	12	12	10	13
8. कर्नाटक	7	7	6	7	5	8
9. केरल	1	2	2	2	2	2
10. मध्य प्रदेश	12	6	13	13	16	15
11. महाराष्ट्र	5	4	3	4	3	6
12. मणिपुर	17	18	15	18	14	16
13. मेघालय	22	22	20	20	19	19
14. नागालैंड	20	20	21	21	17	21
15. उड़ीसा	14	15	14	19	12	14
16. पंजाब	2	5	1	1	1	1
17. राजस्थान	16	10	11	11	11	9
18 सिक्किम	21	21	22	22	22	22
19. तमिलनाडु	3	3	4	3	4	3
20 त्रिपुरा	15	19	19	16	20	18
21. उत्तर प्रदेश	10	20	17	14	18	12
22 पश्चिम बंगाल	4	1	10	9	13	10

परिशिष्ट VII (क)
मौलिक आंकड़े

राज्य	प्रतिदिन प्रति व्यक्ति कैलरी खपत			प्रति औषधालय जनसंख्या-आबादी		
	1961[1]	1971[2] अ	1978	1961	1971[3]	1978[4]
1. आन्ध्र प्रदेश		2121	2369	1799	1430	1366
2. असम		2090	2237	4070	1920	2957
3. बिहार		2219	2354	5162	3588	2645
4 गुजरात		2151	2225	2579	1365	1401
5. हरियाणा		3065	2768	1441	1467	1454
6. हिमा॰ प्रदेश		2955	2586	2810	883	780
7. जम्मू-कश्मीर		3021	2724	1187	1183	1078
8. कर्नाटक		2132	2462	1573	1069	1078
9 केरल		1586	2135	1409	943	493
10. मध्य प्रदेश		2390	2304	2312	2501	2506
11 महाराष्ट्र		1919	2120	1465	1390	809
12. मणिपुर		2332	2342	1605	1100	1280

13	मेघालय	2165	2150	अप्रा०	1040	1190
14	नागालैंड	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	540	600
15	उड़ीसा	2020	2161	3510	20"0	2036
16	पंजाब	3319	2787	1441	1381	1179
17	राजस्थान	2662	2715	1833	1469	1603
10	सिक्किम	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	440	540
19	तमिलनाडु	1920	2071	1529	1493	985
20	त्रिपुरा	2170	2339	2375	1600	1840
21	उत्तर प्रदेश	2514	2534	2836	2256	1984
22	प० बंगाल	1961	2337	1204	1050	904

[1]अनुपलब्ध
अप्रा०=अप्राप्य
[3]1972-73 के आंकड़े

म आसानिक वर्षो को माप । का जनसंख्या से परिवर्तित
[3]1972 के आंकड़े
[4]1977 के आंकड़े

परिशिष्ट VII (ख)
मौलिक आंकड़े

राज्य		प्रति औषधालय आबादी (हजार में)			प्रति पंजीकृत डाक्टर आबादी		
		1961	1971[2]	1978[2]	1961[3]	1971	1978[4]
1	आंध्र प्रदेश	76 23	64 17	67 63		4343	3010
2	असम	[illegible] 76	35 80	42 64		3730	2872
3	बिहार	63 30	60 34	135 66		4626	4787
4	गुजरात	अप्रा०	61 74	54 65		3806	2735
5	हरियाणा	37 46	64 19	40 28		अप्रा०	अप्रा०
6	हिमा० प्रदेश	10 34	23 07	21 91		3450	अप्रा०
7	जम्मू कश्मीर	21 23	7 84	8 32		610	2625
8	कर्नाटक	31 54	29 32	30 55		36*6	2351
9	केरल	35 35	50 07	31 91		4*62	2908
10	मध्य प्रदेश	अप्रा०	[illegible] 82	31 12		8314	5819
11	महाराष्ट्र	51 03	51 33	31 46		2287	1812
12	मणिपुर	14 44	18 03	21 33		अप्रा०	अप्रा०
13	मेघालय	अप्रा०	18.25	20 85		अप्रा०	अप्रा०
14	नागालैंड	अप्रा०	6 84	8 25		अप्रा०	अप्रा०
15	उड़ीसा	80 80	68 64	75 47		5480	4000
16	पंजाब	37 46	40 86	32 64		427	936
17	राजस्थान	61 09	41 46	41 11			

18	सिक्किम	अप्रा०	अप्रा०	9 64	अप्रा०	अप्रा०
19	तमिलनाडु	65 05	77 97	50 30	2285	1857
20	त्रिपुरा	11 18	15 09	15 73	अप्रा०	अप्रा०
21	उत्तर प्रदेश	68 79	113 37	88 59	73[illegible]0	5204
22	प० बंगाल	59 03	103 [illegible]	115 22	1769	1693

[1]1972 से सम्बन्धित
[2]1977 से सम्बन्धित
[3]अनुपलब्ध
[4]1975 से सम्बन्धित

परिशिष्ट VII (ग)

राज्य		एक दाई द्वारा सेवित औसत आबादी		
		1961	1971	1978*
1	आन्ध्र प्रदेश	11993	6204	5242
2	असम	12210	7460	8370
3	बिहार	46460	14065	12190
4	गुजरात	अप्रा०	8820	9787
5	हरियाणा	6243	अप्रा०	11060
6	हिमाचल प्रदेश	अप्रा०	अप्रा०	33133
7	जम्मू-कश्मीर	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
8	कर्नाटक	अप्रा०	14625	16075
9	केरल	अप्रा०	5328	3266
10	मध्य प्रदेश	16185	10393	9102
11	महाराष्ट्र	4394	2516	2113
12	मणिपुर	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
13	मेघालय	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
14	नागालैण्ड	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
15	उड़ीसा	17550	10960	11780
16	पंजाब	6243	1[illegible]03	1226
17	राजस्थान	अप्रा०	85[illegible]0	7198
18	सिक्किम	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
19	तमिलनाडु	8583	2083	2437
20	त्रिपुरा	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
21	उत्तर प्रदेश	24580	29400	19330
22	प० बंगाल	6986	8844	8012

*1975 के आंकड़े

परिशिष्ट VII (घ)

राज्य	एक मिडवाइफ द्वारा सेवित आबादी			एक स्वास्थ्य निरीक्षक द्वारा सेवित आबादी		
	1961	1971	1978	1961	1971	1978*
1 आंध्र प्रदेश	7196	5429	4718	2116	131	96
2 असम	12210	14920	8370	509	514	364
3 बिहार	46400	28130	20327	2581	590	422
4 गुजरात	अप्रा०	13320	9787	अप्रा०	100	90
5 हरियाणा	9365	अप्रा०	36990	43	अप्रा०	116
6 हिमाचल प्रदेश	अप्रा०	अप्रा०	31513	अप्रा०	अप्रा०	134
7 जम्मू-कश्मीर	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
8 कर्नाटक	अप्रा०	9750	8038	अप्रा०	93	49
9 केरल	अप्रा०	5328	3266	अप्रा०	अप्रा०	172
10 मध्य प्रदेश	16185	10393	9102	161	99	[illegible]
11 महाराष्ट्र	3994	3594	2497	92	96	103
12 मणिपुर	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
13 मेघालय	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
14 नागालैण्ड	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
15 उड़ीसा	अप्रा०	21920	11780	316	264	277
16 पंजाब	9365	2255	1634	43	12	12
17. राजस्थान	अप्रा०	25710	14935	अप्रा०	214	191
18 सिक्किम	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
19 तमिलनाडु	2822	2057	1828	अप्रा०	392	225
20 त्रिपुरा	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
21 उत्तरप्रदेश	24580	14700	12081	222	[illegible]	60
[illegible] प० बंगाल	6985	8884	6867	191	250	582

*1975 के आंकड़े
अप्रा०—अप्राप्त

परिशिष्ट VII (ङ)

	एक सहायक मिडवाइफ-द्वारा सेवित जनसंख्या (हजार में)			कुल बच्चों की मृत्यु में 5 वर्ष के नीचे के बच्चों की मृत्यु का प्रतिशत			अशोधित मृत्यु-दर		
	1961	1971	1978[1]	1961[2]	1971[2]	1978[3]	1961	1971	1978
1. आन्ध्र प्रदेश	अप्रा०	22	16			42 86	20 4	14 0	13 2
2. असम	अप्रा०	15	3	.		38 52	19 0	17.8	31.1
3. बिहार	अप्रा०	121	61	..		अप्रा०	23 3	14 2	अप्रा०
4 गुजरात	अप्रा०	113	15	.	..	54 56	16 8	16 4	12.7
5. हरियाणा	अप्रा०	अप्रा०	11	..	.	51 17	16 8	9 9	13.4
6 हिमाचल प्रदेश	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	...	.	44 66	17 6	13 1	11 .
7 जम्मू कश्मीर	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	..		39 67	17 0	10 5	11 6
8. कर्नाटक	अप्रा०	7	5	...	.	29.07	17 6	12 1	11.7
9 केरल	अप्रा०	अप्रा०	11		...	48 32	13 7	9 0	7.0
10 मध्य प्रदेश	अप्रा०	14	11	..	...	38 68	21.5	15 6	15.1
11. महाराष्ट्र	40	13	9	...	..	अप्रा०	16 9	12.3	10 3

12	मणिपुर	अप्रा॰	अप्रा॰	अप्रा॰	अप्रा॰	अप्रा॰	6 9	7 0
13	मेघालय	अप्रा॰	अप्रा॰	अप्रा॰	अप्रा॰	अप्रा॰	अप्रा॰	10 2
14	नागालैंड	अप्रा॰	अप्रा॰	अप्रा॰	40 74	अप्रा॰	अप्रा॰	6 0
15	उड़ीसा	अप्रा॰	अप्रा॰	अप्रा॰	44 24	17 4	10 6	11 6
16	पंजाब	अप्रा॰	3	3	53 02	18 7	15 6	11 6
17	राजस्थान	अप्रा॰	20	7	अप्रा॰	अप्रा॰	अप्रा॰	अप्रा॰
18	सिक्किम	अप्रा॰	अप्रा॰	अप्रा॰	39 57	अप्रा॰	अप्रा॰	अप्रा॰
19	तमिलनाडु	अप्रा॰	21	15	अप्रा॰	10 4	14 4	12 8
20	त्रिपुरा	अप्रा॰	अप्रा॰	अप्रा॰	अप्रा॰	अप्रा॰	15 3	11 6
21	उत्तर प्रदेश	अप्रा॰	44	24	56 26	[24 2	20 1	20 2
22	प॰ बंगाल	35	11	10	अप्रा॰	18 5	अप्रा॰	अप्रा॰

[1]1975 के आंकड़े

[2]अनुपलब्ध

[3]1976 के आंकड़े

परिशिष्ट VII (च)

राज्य	अशोधित जन्म दर			शिशु मृत्यु दर		
	1961	1971	1978	1961*	1971	1978
1 आन्ध्र प्रदेश	39 2	33 8	34 8		109	117
2 असम	48 4	35 5	30 6		137	118
3 बिहार	41 9	32 8	अप्रा०		अप्रा०	अप्रा०
4 गुजरात	41 6	40 0	35 8		144	122
5 हरियाणा	44 5	42 1	33 4		90	109
6 हिमाचल प्रदेश	37 6	37 3	27 8		105	101
7 जम्मू कश्मीर	41 5	32 9	32 7		70	73
8 कर्नाटक	39 9	31 7	29 2		92	82
9 केरल	37 5	31 1	25 2		60	42
10 मध्य प्रदेश	46 6	39 1	37 2		145	143
11 महाराष्ट्र	41 0	32 2	26 9		107	81
12 मणिपुर	अप्रा०	33 3	32 2		अप्रा०	25
13 मेघालय	अप्रा०	अप्रा०	32 0		अप्रा०	अप्रा०
14 नागालैंड	अप्रा०	अप्रा०	22 9		अप्रा०	अप्रा०
15 उड़ीसा	41 3	34 6	32 9		134	133
16 पंजाब	36 9	34 2	29 4		112	117
17 राजस्थान	42 7	42 4	35 5		127	140
18 सिक्किम	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०		अप्रा०	अप्रा०
19 तमिलनाडु	36 8	31 4	28 8		114	105
20 त्रिपुरा	अप्रा०	35 5	28 8		78	114
21 उत्तर प्रदेश	42 5	44 9	40 4		183	177
22 पश्चिम बंगाल	44 3	अप्रा०	अप्रा०		अप्रा०	अप्रा०

*अनुपलब्ध

अप्रा० = अप्राप्त

परिशिष्ट VII (छ)

राज्य	प्रतिहम व्यक्तियों की औसत संख्या			कुल घरों में पक्के व अर्द्ध पक्के घरों का प्रतिशत			प्राथमिक अवस्था में विद्यार्थी शिक्षक अनुपात		
	1961	1971	1978*	1961	1971	1978*	1961	1971	1978
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
1 आन्ध्र प्रदेश	2.95	2.95		41	48		36	3[illegible]	49
2 असम	2.43	3.30		20	20		40	42	34
3 बिहार	2.30	2.50		59	62		45	39	42
4 गुजरात	3.27	3.53		90	94		37	37	43
5 हरियाणा	अप्रा०	2.58		35	64		38	41	40
6 हिमाचल प्रदेश	1.78	2.37		70	80		23	28	32
7 जम्मू कश्मीर	2.09	2.56		54	55		34	32	26
8 कर्नाटक	3.13	3.97		73	74		33	42	46
9 केरल	2.47	2.19		36	40		39	39	35
10 मध्य प्रदेश	2.68	2.70		88	91		29	33	36
11 महाराष्ट्र	3.45	3.64		75	[illegible]		34	33	[illegible]
12 मणिपुर	1.97	2.51		8	11		25	22	16

1	[redacted]	3	4	5	6	7	8	9	10
13 मेघालय	अप्रा०	2 00	***	28	30		अप्रा०	36	35
14 नागालैंड	2 97	2 70	*	14	21		10	42	21
15 उड़ीसा	2 08	2 28		19	30		36	33	34
16 पंजाब	2 47	2 72	***	19	60		38	38	40
17 राजस्थान	2 60	2 55	**	64	75		31	30	39
18 सिक्किम	अप्रा०	अप्रा०	**	47	65		अप्रा०	अप्रा०	26
19 तमिलनाडु	3 13	3 03	*	42	48		34	34	38
20 त्रिपुरा	3 61	4 18	***	8	9		28	36	31
21 उत्तर प्रदेश	2 02	2 24	*	56	11		40	52	49
22 प० बंगाल	3 34	3 70	*	45	53		31	36	36

*अनुपलब्ध,
अप्रा० = अप्राप्य

परिशिष्ट VII (ज)

राज्य	प्राथमिक अवस्था में नामांकित लड़कियों का प्रतिशत			वयस्क साक्षरता का अनुपात		
	1961	1971	1978	1961	1971	1978•
1 आं प्र प्रदेश	52 2	53 4	64 8	28	35	
2 असम	50 4	53 7	60 3	14	43	
3 बिहार	24 1	59 6	43 6	24	29	
4 गुजरात	52 9	62 9	82 3	27	50	
8 हरियाणा	34 7	37 8	69 5	33	40	
6 हिमाचल प्रदेश	20 9	60 5	82 0	22	43	
7 जम्मू कश्मीर	22 7	37 9	48 1	15	29	
8 कर्नाटक	55 3	71 6	78 9	34	43	
9 केरल	98 8	113 3	102 1	66	81	
10 मध्य प्रदेश	22 4	31 6	40 3	33	31	
11 महाराष्ट्र	58 4	70 3	93 7	41	56	
12 मणिपुर	74 7	104 7	102 5	37	50	
13 मेघालय	अप्रा•	93 2	111 3	अप्रा•	45	
14 नागालैंड	68 4	117 7	114 9	28	46	
15 उड़ीसा	39 0	45 3	66 3	28	37	
16 पंजाब	34 7	67 3	105 8	33	48	
17 राजस्थान	16 3	21 6	28 3	20	28	
18 सिक्किम	अप्रा•	अप्रा•	95 4	अप्रा•	अप्रा•	
19 तमिलनाडु	65 9	83 7	102 0	39	51	
20 त्रिपुरा	38 1	61 0	64 8	31	50	
21 उत्तर प्रदेश	19 5	73 5	69 7	24	32	
22. प० बंगाल	45 9	59 8	68 0	10	47	

*अनुमानित अप्रा• = अप्राप्य

परिशिष्ट VII (झ)

राज्य	साक्षरता दर			प्रासंगिक समूह में सभी लड़कों में मिडिल स्कूल में नामांकित लड़कों का प्रतिशत		
	1961	1971	19 8•	1961	1971	1978
1 आं प्र प्रदेश	21 2	24 6	29 9	26 0	31 6	34 5
2 असम	27 4	28 7	अप्रा•	36 4	43 4	42.6

3 बिहार	18.4	19.9	26.0	29.3	35.2	39.9
4 गुजरात	30.5	35.8	43.8	36.3	45.7	53.6
5 हरियाणा	19.9	26.9	35.8	44.3	61.2	60.5
6. हिमाचल प्रदेश	17.1	32.0	41.9	37.2	69.8	75.9
7 जम्मू-कश्मीर	11.0	18.6	अप्रा०	37.7	46.9	55.5
8 कर्नाटक	25.4	31.5	38.4	32.4	42.8	50.2
9 केरल	45.8	60.4	69.2	67.8	69.2	91.9
10. मध्य प्रदेश	17.1	22.1	27.8	25.5	37.3	41.1
11 महाराष्ट्र	29.8	39.2	47.4	39.3	54.0	57.5
12. मणिपुर	अप्रा०	23.5	42.0	65.0	59.8	70.8
13 मेघालय	17.9	27.4	72.2	अप्रा०	29.3	48.6
14 नागालैंड	21.7	26.2	42.2	33.2	61.7	81.6
15 उड़ीसा	24.2	33.7	34.1	16.2	31.0	25.0
16 पंजाब	15.2	19.1	40.7	44.3	57.0	65.2
17 राजस्थान	अप्रा०	अप्रा०	24.1	24.0	25.8	40.4
18 सिक्किम	अप्रा०	39.5	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	31.4
19 तमिलनाडु	20.2	31.0	45.8	44.4	58.7	61.1
20 त्रिपुरा	30.4	32.9	41.6	28.5	43.2	42.7
21 उत्तर प्रदेश	17.6	21.7	27.4	27.1	53.6	52.2
22 प० बंगाल	39.3	33.2	40.9	31.3	42.8	43.6

*1981 के आंकड़े, अप्रा० = अप्राप्य

परिशिष्ट VII (अ)

राज्य	मिडिल स्कूलों में नामांकित लड़कियों का प्रतिशत			प्रति हजार वर्ग किलोमीटर पर रेल लम्बाई (कि० मी०) में		
	1961	1971	1978	1961	1971	1978
1. आन्ध्र प्रदेश	7.6	13.5	16.8	16	17	17
2. असम	14.6	25.7	24.8	17	28	28
3 बिहार	3.8	7.8	13.4	28	30	30
4 गुजरात	15.2	24.5	31.3	28	29	29
5 हरियाणा	अप्रा०	20.0	21.6	30	32	32
5 हिमाचल प्रदेश	7.6	23.5	30.8	9	5	5
7. जम्मू-कश्मीर	10.1	20.6	22.8	0	0	0
8 कर्नाटक	13.5	21.2	[illegible]	14	15	15
9 केरल	49.1	57.7	63.1	21	23	23

10	मध्य प्रदेश	5 0	12 3	14 3	12	12	14
11	महाराष्ट्र	15 3	26 7	32 2	16	17	15
12	मणिपुर	20 1	31 4	33 4	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
13	मेघालय	अप्रा०	19 2	34 9	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
14	नागालैंड	16 2	42 6	60 4	अप्रा०	7	1
15	उड़ीसा	2 1	9 1	16 0	12	12	13
16	पंजाब	12 6	34 4	44 4	40	42	42
17.	राजस्थान	4 0	7 6	10 4	15	16	16
18	सिक्किम	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
19	तमिलनाडु	19 6	32 0	37 7	27	29	29
20	त्रिपुरा	11 7	26 2	26 2	1	1	1
21	उत्तर प्रदेश	5 2	14 6	18 4	27	29	30
22	प० बंगाल	11 3	25 1	21 8	40	43	42

परिशिष्ट VII'(ट)

राज्य	प्रति हजार वर्ग किलोमीटर पर सड़क मार्ग (कि० मी०) में			बिजली प्राप्त गांवों [redacted] प्रतिशत			प्रति व्यक्ति बिजली खपत (सैकड़े कि० वाट घंटों मे)		
	1961	1971	1978	1961	1971	1978	1961	1971	1978
1 आन्ध्र प्रदेश	160	263	339	8 98	29 68	53 7	1895	5440	अप्रा०
2 असम	357	386	328	0 05	2 08	9 79	0341	2097	अप्रा०
3 बिहार	262	670	917	34 01	11 46	26 94	3741	6387	अप्रा०
4 गुजरात	128	221	303	36 50	21 38	41 44	5119	1 3460	1 9690
5 हरियाणा	343	306	420	10 73	[illegible] 86	100 00	3050	9525	1 6045
6 हिमाचल प्रदेश	78	216	297	6 42	17 40	39 52	अप्रा०	3373	5208
7 जम्मू कश्मीर	41	40	54	0 40	10 53	61 73	1421	3633	6209
8 कर्नाटक	373	516	707	11 07	31 04	56 51	.4357	1 0177	1 2635
9 केरल	767	3114	4260	55 44	94 32	96 33	.2837	7382	9646
10 मध्य प्रदेश	107	190	260	0 53	9 74	23 07	1933	5288	9144
11 महाराष्ट्र	176	316	432	2 13	34 09	60 01	7162	1 5454	2 0018
12 मणिपुर	54	385	523	1 55	9 62	12 00	अप्रा०	0491	0130

परिशिष्ट VII (ठ)

राज्य	औद्योगिक बिजली खपत कुल का प्रतिशत			कृषिगत बिजली खपत कुल का प्रतिशत		
	1961	1971	1978	1961	1971	1978
1 आंध्र प्रदेश	74 14	62 12	57 26	7 96	17 65	20 03
2. असम	59 13	59 31	74 01	अप्रा०	09	57
3 बिहार	93 50	81 14	79 96	1 04	1 90	5 34
4 गुजरात	83 [illegible]4	74 [illegible]0	66 [illegible]6	1 83	11 14	15 78
5 हरियाणा	61 34	57 35	51 45	12 90	30 [illegible]	33 65
6 हिमाचल प्रदेश	अप्रा०	16 86	29 54	अप्रा०	64	2.54
7 जम्मू-कश्मीर	43 14	38 82	29 63	1 37	5 88	8.46
8 कर्नाटक	80 [illegible]0	76 41	73 71	2.76	[illegible] 96	8 14
9 केरल	81 41	83 29	77 10	3 76	2.57	3.29
10 मध्य प्रदेश	83 55	81 40	79 98	61	2 92	5 48
11 महाराष्ट्र	69 84	70 31	62.52	51	4 53	8 67
12. मणिपुर	अप्रा०	20 26	13 80	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
13 मेघालय	अप्रा०	अप्रा०	34 66	अप्रा०	अप्रा०	3 77
14 नागालैण्ड	अप्रा०	11 69	49 04	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
15 उड़ीसा	95 91	90 91	89 06	0 10	.51	0 77
16. पंजाब	61.34	65.52	52.11	12 90	21 90	31 65
17 राजस्थान	72 07	73 46	64 19	1.56	8 92	17 31
18 सिक्किम	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
19 तमिलनाडु	55 44	57 85	56 22	22.56	24.26	24 25
20 त्रिपुरा	अप्रा०	24 15	16 50	अप्रा०	0.27	7 87
21 उत्तर प्रदेश	57 14	70 62	58.55	17 96	13 67	25 60
22 प० बंगाल	76 61	72.82	68 74	02	41	1.04

परिशिष्ट VII (ङ)

राज्य	प्रति व्यक्ति पारिवारिक बिजली खपत (सैकड़ा कि० वाल्यू० एच०)			प्रति लाख आबादी पर टेलीफोन-संख्या			प्रति लाख आबादी पर डाकघर-संख्या		
	1961	1971	1978	1961	1971	1978	1961	1971	1978
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
आन्ध्र प्रदेश	0195	0406	0716		143	206		26	29
2 असम	0080	0255	0285		102	170		9	13
3 बिहार	0094	0161	0257		61	17		12	14
4 गुजरात	0342	0900	1583		234	497		17	23
5 हरियाणा	0367	0584	1267		184	231		15	19
6 हिमाचल प्रदेश	अप्रा०	0509	1283		186	190		37	50
7 जम्मू कश्मीर	0623	1357	1366		166	216		18	21
8 कर्नाटक	0315	0774	1298		170	204		17	25
9 केरल	0298	0466	.1046		178	322		15	17
10 मध्य प्रदेश	0138	0352	0484		84	128		6	14
11 महाराष्ट्र	0486	1352	.2144		370	581		12	14
12 मणिपुर	अप्रा०	0354	0346		102	170		18	27

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
13 मेघालय	अप्रा०	अप्रा०	0563		102	177		17	25
14 नागालैंड	अप्रा०	0476	0729		102	170		12	17
15 उड़ीसा	0103	0169	0327		58	88		15	25
16 पंजाब	0367	1006	2046		218	469		17	22
17 राजस्थान	0101	0281	0484		112	174		13	23
18 सिक्किम	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०		अप्रा०	अप्रा०		47	49
19 तमिलनाडु	0450	0809	1250		256	379		20	24
20 त्रिपुरा	अप्रा०	0311	0465		102	170		15	23
21 उत्तर प्रदेश	0104	0441	0657		84	122		12	15
22 प० बंगाल	0997	1450	1287		289	350		10	13

परिशिष्ट VII (ढ)

राज्य	पेयजल दृष्टि से समस्या गावों का प्रतिशत			कुल आबादी में रोजगार तलाशकों का प्रतिशत		
	1961	1971	1978	1961	1971	1978
1 आन्ध्र प्रदेश	अप्रा०	22.53	20 14	0 30	0 64	1 66
2 असम	अप्रा०	34 28	69 40	0 25	0 44	1 27
3 बिहार	अप्रा०	31 80	33 70	0 28	0 60	1 71
4 गुजरात	अप्रा०	16 42	36 76	0 31	0 59	1 26
5 हरियाणा	अप्रा०	62 26	49 61	0 36	0 86	2 42
6 हिमाचल प्रदेश	अप्रा०	55 57	60 56	0 21	1 25	2.48
7 जम्मू-कश्मीर	अप्रा०	61 51	73 55	0 14	अप्रा०	83
8 कर्नाटक	अप्रा०	30 76	30 57	0 35	0 82	1 49
9 केरल	अप्रा०	114 40	46 53	0 83	1 40	3 68
10 मध्य प्रदेश	अप्रा०	19 78	39 62	0 23	0.61	1 48
11 महाराष्ट्र	अप्रा०	14 63	14 67	0 43	0 72	1 62
12 मणिपुर	अप्रा०	56 58	54 63	1 28	2 80	4 81
13 मेघालय	अप्रा०	72 14	69 50	अप्रा०	अप्रा०	0 90
14 नागालैंड	अप्रा०	84 70	72 29	अप्रा०	अप्रा०	0 44
15 उड़ीसा	अप्रा०	9 83	24 02	0 39	0.75	2.37
16 पंजाब	अप्रा०	19 20	11 89	0 36	0 75	1 73
17 राजस्थान	अप्रा०	12 84	60 15	0.22	0 53	0 92
18 सिक्किम	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
19 तमिलनाडु	अप्रा०	16 43	113 40	41	96	2 03
20 त्रिपुरा	अप्रा०	71 84	67 95	35	1 81	3 17
21 उत्तर प्रदेश	अप्रा०	13 75	27 31	[illegible]	.48	1 32
22 प० बंगाल	अप्रा०	32 70	71 72	92	1 45	2 82

परिशिष्ट VII (ण)

राज्य	प्रति सिनेमा-घर आबादी (हजार में)			प्रति करोड़ आबादी पर व्यवसायिक बैंक शाखा			प्रति हजार आबादी पर मवेशी संख्या		
	1961	1971	1978	1961	1971	1978	1961	1971	1978
1. आन्ध्र प्रदेश	46	37	31	93	211	461	907	761	627
2. असम	11	89	96	39	96	239	716	536	525
3. बिहार	294	235	193	38	90	231	658	497	483
4. गुजरात	83	71	65	190	477	679	652	567	456
5. हरियाणा	138	119	110	176	280	583	707	628	579
6. हिमाचल प्रदेश	176	150	129	36	416	797	958	1363	1202
7. जम्मू-कश्मीर	198	163	135	76	230	614	147	930	812
9. कर्नाटक	52	42	39	200	400	719	876	751	632
9. केरल	40	33	27	311	428	954	279	232	221
10. मध्य प्रदेश	142	120	178	59	153	324	1161	962	328
11. महाराष्ट्र	77	64	59	148	319	522	659	521	505
12. मणिपुर	200	214	218	26	38	252	635	471	387

13. मेघालय	अप्रा०	202	174	अप्रा०	149	434	अप्रा०	752	667
14. नागालैंड	93	87	113	अप्रा०	96	471	अप्रा०	631	551
15. उड़ीसा	297	246	197	30	85	281	828	801	749
16. पंजाब	149	120	102	176	451	933	707	639	572
17. राजस्थान	190	161	139	88	215	408	1662	1512	1320
18. सिक्किम	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
19. तमिलनाडु	47	34	31	215	350	573	670	572	525
20. त्रिपुरा	190	172	172	35	77	365	645	471	451
21. उत्तर प्रदेश	231	183	156	60	144	314	670	558	506
22. प० बंगाल	93	78	75	70	166	315	506	432	373

परिशिष्ट VII (त)

राज्य	एक उचित मूल्य-दूकान द्वारा सेवित औसत आबादी (हजार में)		
	1961	1971	1978
1. आंध्र प्रदेश	40 79	4.26	2.27
2 असम	13 70	1 39	1.46
3 बिहार	5 02	2.58	2.39
4 गुजरात	5.92	3 52	3.46
5 हरियाणा	अप्रा०	3.48	2.75
6. हिमाचल प्रदेश	20.36	1 33	1.52
7 जम्मू-कश्मीर	6 20	532	4.74
8 कर्नाटक	15 76	2.73	2.45
9 केरल	2 70	1 90	2 05
10. मध्य प्रदेश	62.50	4 14	4 76
11 महाराष्ट्र	6 04	1 97	2.13
12. मणिपुर	55 71	3 60	3 01
13 मेघालय	अप्रा०	1 12	0 83
14 नागालैंड	अप्रा०	3.69	10 43
15. उड़ीसा	43 33	7 34	2.48
16 पंजाब	56.55	3 13	1.31
17. राजस्थान	110 16	6.30	3.42
18 सिक्किम	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
19 तमिलनाडु	26 19	19 10	4 52
20 त्रिपुरा	17 81	3 98	2.73
21 उत्तर प्रदेश	14 62	6 52	4 15
22 प० बंगाल	3 26	2.73	2.87

परिशिष्ट VII (ख)

राज्य	प्रति व्यक्ति स्वास्थ्यगत योजना व्यय (रुपयों में)			प्रति व्यक्ति शिक्षागत योजना व्यय (रुपयों में)		
	1961	1971	1978	1961	1971	1978
1 आंध्र प्रदेश	2 08	2 29	13 16	2 03	15.02	29 67
2 असम	2 40	5 74	10 40	5 72	17 98	39 01
3 बिहार	1 39	3 75	6 18	2 82	8 78	20 11
4 गुजरात	1 52	8 82	15 15	5 01	18 28	39 97
5 हरियाणा	2 21	8 82	18 15	5 92	19 73	35 17
6 हिमाचल प्रदेश	अप्रा०	12 20	20 80	अप्रा०	38 11	62 79
7 जम्मू-कश्मीर	2 90	11 47	20 50	5 26	20 92	42 00
8 कर्नाटक	1 95	5 79	13 33	5 22	18 28	33 39
9 केरल	2 60	8 69	16 81	9 43	30 70	59 24
10 मध्य प्रदेश	1 69	5 59	11.47	4 36	13 06	24 18
11 महाराष्ट्र	2 26	8 47	35 [illegible]	5 79	20 04	36 56
12 मणिपुर	अप्रा०	10 14	[illegible]	अप्रा०	47 16	50.42
13 मेघालय	अप्रा०	13 88	30 00	अप्रा०	17 80	50 39
14 नागालैंड	अप्रा०	37 74	71 23	अप्रा०	39 81	94 52
15 उड़ीसा	1 46	5 78	11 74	2 44	12 35	[illegible] 25
16 पंजाब	2 21	8 30	19 85	5 92	22 99	49 35
17 राजस्थान	2 20	9 65	16 25	5 13	17 19	30 94
18 सिक्किम	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०	अप्रा०
19 तमिलनाडु	2 44	8 20	15 29	5 41	20 81	35 31
20 त्रिपुरा	अप्रा०	2 91	[illegible] 64	अप्रा०	9.43	57 66
21 उत्तर प्रदेश	0 99	2 97	8 76	2 38	11 38	22 77
22 प० बंगाल	2 49	6 69	15 85	4 73	16 95	29 29

अध्याय 35

क्षेत्रीय आर्थिक विकास : समस्याएं तथा विधियां

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति तक तथाकथित अर्द्धविकसित देशों की अर्थव्यवस्थाएं लगभग जड़वत थी। और तब तक अर्थशास्त्री समाज का ध्यान इनके आर्थिक विकास की ओर पर्याप्त आकृष्ट नहीं था। किन्तु यह युद्ध एक महान विभाजक रेखा सिद्ध हुई। तब से नये स्वतन्त्र देशों में आर्थिक विकास की समस्याओं के प्रति जागरूकता आयी। दीर्घकालीन पारस्परिक शान्ति एवं प्रगति को ध्यान में रखकर विकसित देशों ने भी इन समस्याओं के प्रति गहरी रुचि दिखानी आरम्भ की। यह बात बरबस अपनी ओर ध्यान आकृष्ट कर लेती है कि हाल के वर्षों में इन अर्द्धविकसित देशों के आर्थिक पिछड़ेपन पर साहित्य का भण्डार बढ़ता गया है। कई दृष्टिकोणों से इनकी समस्याओं का विश्लेषण हुआ है। किन्तु यह अधिकांशतया समष्टिगत स्तर पर ही सीमित रहा है। विकसित देशों की तुलना में ये देश पीछे हैं। और स्वयं इन अर्द्धविकसित देशों में ही कुछ क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से उन्नत, तथा कुछ पिछड़े हो सकते हैं। ऐसे पिछड़े क्षेत्रों की समस्याओं के प्रति लोगों का ध्यान अपेक्षाकृत नहीं के बराबर रहा है। यह बात माननी होगी कि कुछ ऐसे तत्त्व अवश्य रहे हैं, जो लगातार इन पिछड़े क्षेत्रों के हित के विपरीत कार्यशील होंगे। हो सकता है कि आर्थिक विकास की दौड़ में विलम्बित प्रारम्भ ही उनकी कमजोरी रही हो। इन कमजोरियों के मूल स्रोत शिक्षा अनुभव तथा तकनीकी कौशल की अपेक्षाकृत कमियां हो सकती हैं। किसी देश के अन्तर्क्षेत्रीय आर्थिक सम्बन्धों या पारस्परिक निर्भरता से पिछड़े प्रदेश लाभान्वित हो सकते हैं, बशर्ते कि ये प्रदेश प्रेरित विनियोजन तथा रोजगार, तकनीकी ज्ञान एवं बाह्य बचतों के आनुषंगिक दौर-जनित गत्यात्मक स्फुरण को आत्मसात कर सकें।

साथ ही जिस देश के कुछ भाग विकसित और अधिकतर भाग पिछड़े हों, वहां समग्र एवं प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय, कुल निर्यात-मात्रा, तथा विनियोजन की समस्त एवं औसत मात्रा आदि जैसे समष्टिगत सूचकों के आधार पर सभी क्षेत्रों की आर्थिक प्रगति का निश्चित अनुमान नहीं लगाया जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि ऐसे सूचकों का अनुसरण प्रगति के बारे में गलत निष्कर्ष दे सकता है क्योंकि समूचे देश और इसके विभिन्न भू-भागों की प्रगति में भिन्नताएं हो सकती हैं।

इससे भी बढ़कर, हम आर्थिक विकास के समष्टिगत प्रतिमानों को अर्द्धविकसित देशों के सन्दर्भ में अपना भी नहीं सकते। कारण स्पष्ट है। जहां विकसित देश तकनीकी नवीनताओं तथा वर्द्धमान उत्पादकताओं की टिकाऊ दर के साथ स्वचालित आर्थिक

विकास-प्रक्रिया के मध्य से गुजर रहे हैं, वहां अर्द्धविकसित देशों में विकास-प्रक्रिया का श्रीगणेश भी बाकी है। अस्तु, "जब हमें विकास-प्रक्रिया का आरम्भ करना है, तब हमारी समस्याओं का विशिष्ट स्वभाव हमसे यह आशा रखता है कि हम समष्टिगत इकाइयों से ऊपर उठें, तथा अपनी पिछड़ी अर्थव्यवस्था के वास्तविक ढांचे की छानबीन करें, और इसमें प्रगति बिन्दुओं की तलाश करें।"[1]

मिरडाल ने भी किसी देश की क्षेत्रीय विषमताओं के कारक तत्वों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। ये तत्व दुधारी हैं। ये अन्तर्क्षेत्रीय प्रगति-विषमताओं को गहन तो करते ही हैं, साथ ही उन्नत क्षेत्रों की प्रगति दर को, और पिछड़े क्षेत्रों की अधोगति-दर को गति प्रदान करते हैं। विषमतावर्द्धक इन तत्वों में जनसंख्या-सम्बन्धी तत्व प्रमुख है। निर्धन भूभागों में सम्पन्न भूभागों की अपेक्षा प्रजनन-दरें ऊंची होती हैं। साथ ही योग्य, कुशल तथा प्रशिक्षित लोग रोजगार की तलाश में पिछड़े भूभागों से विकसित भूभागों में प्रवाहित होते रहते हैं। इससे पिछड़ी जगहों में पराश्रयता-भार बढ़ता है, और क्षेत्रीय विषमताओं की प्रवृत्ति बलवती होती है। श्री मिरडाल[2] स्पष्ट करते हैं, "पूर्वस्थापित विकास केन्द्रों में स्थित उद्योगों को (जहां सामान्यतया वर्द्धमान प्रतिफल नियम कार्यशील रहता है) बाजार की स्वतन्त्रता तथा विस्तृतता के कारण जो प्रतियोगी लाभ प्राप्त होते हैं, उनके फलस्वरूप दूसरे क्षेत्रों में पूर्वस्थित दस्तकारियां एवं उद्योगों की प्रगति में बाधा उत्पन्न हो जाती है। जो क्षेत्र विकास-लहर से अछूते रह गये, उनमें एक अच्छी सड़क-प्रणाली न व्यवस्थित हो सकी, उनकी तो समस्त सार्वजनिक उपयोगिताएं अकुशल हो जायेंगी।"

बाजारों की सीमितता के कारण पूंजी-प्रवाह की भी प्रवृत्ति पिछड़े इलाकों से उन्नत इलाकों की ओर होगी।

पुन. पिछड़े क्षेत्रों से सम्पन्न क्षेत्रों में प्राथमिक उपजों का निर्यात-विस्तार हो सकता है। किन्तु इस विस्तार के फलस्वरूप द्वितीयक तथा तृतीयक अवलों के विकास-जनित स्फुरण-प्रभावों से पिछड़े क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था अछूती रह जायेगी। व्यवहार में यह देखने को मिला है कि वित्तीयकरण, यातायात-विस्तार, भण्डारण, बीमा, एवं पिछड़े क्षेत्रों में आये कच्चे माल के परिष्करण आदि जैसे द्वितीयक एवं त्रितीयक अवलों का विस्तार स्वयं विकसित क्षेत्रों में ही होता है।

एक और बात है। हालांकि किसी क्षेत्र के एकान्ती विकास के दो प्रभाव होते हैं : विस्तारक तथा अवरोधक। किन्तु पिछड़े क्षेत्रों के विकास की अवस्था में अवरोधक प्रभावों का बाहुल्य होता है, जैसा कि व्यवहार में देखा गया है। "सामान्यतया, जब न्यून विकास के साथ विस्तारक प्रभाव भी न्यून होते हैं तो चक्रीय कार्य-कारण-सम्बन्ध के

[1] एच० सिंह, 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टू इकानामिक डेवलपमेन्ट' इन इकानामिक्स ऑफ अण्डर-डेवलपमेन्ट', एडिटेड, अग्रवाला एण्ड सिंह न्यूयार्क 1963 पृ० 113

[2] जी० मिरडाल, इकानामिक डेवलपमेन्ट एण्ड अण्डरडेवलप्ड रीजन्स, लन्दन 1957, पृष्ठ 27

फलस्वरूप बाजार की प्रतियोगी प्रक्रिया उन प्रवृत्तियों का पोषण करती हैं जो क्षेत्रीय विषमताओं में वृद्धि लाती हैं। साथ ही ये विषमताएं स्वयं विकास-गति को शिथिल करती हैं, और समता-वर्द्धक नीतियों के शक्तिपरक आधार को कमजोर कर देती हैं। ऊंचा विकास-स्तर विस्तारक प्रभावों को बलशाली बनाता है, तथा क्षेत्रीय विषमताओं की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाता है। इससे आर्थिक विकास का पोषण तो होता ही है, साथ-साथ क्षेत्रीय विषमताओं के न्यूनीकरण से प्रेरित नीतियों के लिये अनुकूल दशाओं का सृजन होता है।"[3]

अधिकतम आय बनाम अधिकतम क्षेत्रीय सन्तुलन

सामाजिक न्याय का तकाजा सिर्फ इतना ही नहीं है कि समाज के विभिन्न वर्गों के बीच आय एवं दौलत का समान वितरण हो, बल्कि यह भी कि देश के विभिन्न क्षेत्रों के बीच सन्तुलित विकास हो। यह इसलिए आवश्यक है कि आर्थिक विकास का लाभ देश के विभिन्न क्षेत्रों को पर्याप्त समान रूप से प्राप्त हो सके। आय के अधिकतम उत्पादन तथा इसके समान क्षेत्रीय वितरण, इन दोनों के बीच विरोध हो सकता है। इसलिये इनके बीच सामंजस्य लाया जा सकता है। तकनीक, उत्पादकता, तथा कुशलता की दृष्टि से औद्योगिक इकाइयों की स्थापना कई इलाकों में करने की अपेक्षा उन्हीं कुछ इलाकों में लाभदायक होगी जहां अनुकूल परिस्थितियां हों। इससे आय का उत्पादन तीव्र गति से होगा, और तज्जनित विस्तारक प्रभावों के फलस्वरूप पूर्वकालीन पिछड़े क्षेत्रों के विकास को गति मिलेगी। तात्पर्य यह है कि भौगोलिक दृष्टि से असन्तुलित विकास-पद्धति को अपनाने से विकास-प्रक्रिया बलवती होगी। इसका आशय यह हुआ कि उद्योगों तथा सम्बन्धित अंचलों में भारी विनियोजन के लिये कुछ चुने हुए अनुकूल क्षेत्रों का ही चुनाव होना चाहिये। ये ही क्षेत्र विकास-बिन्दु का काम करेंगे। इन विकास-बिन्दुओं से जो विस्तारक प्रभाव उत्पन्न होंगे, उनसे अन्य क्षेत्र भी विकसित होंगे। इस तरह विकास की अतर्क्षेत्रीय विषमताएं एक ही साथ स्वयं विकास की अनिवार्य सहगामिनी तथा पूर्व शर्तें बन जाती हैं।[4] मुई लेफेबर का भी यही मत है कि पिछड़े क्षेत्रों के आगामी विकास के लिये अधिक उन्नत उद्योग-क्षेत्रों का विकास आवश्यक है। अगर इन उन्नत क्षेत्रों में विनियोजन अवरोधित होगा, तो सामान्य बचत-क्षमता कुण्ठित होगी, तथा पिछड़े क्षेत्रों की विकास-प्रक्रिया और भी अधिक कुण्ठित होगी।[5]

विपरीत इस मत के, कुछ अर्थशास्त्री आरम्भ से ही क्षेत्रीय विकास पर जोर देते हैं। उनकी राय में क्षेत्रीय विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया पर तभी भरोसा करना

[3]बी० हिगिन्स, इकानामिक डेवलपमेंट, लन्दन, 1959, पृष्ठ 352

[4]के० एन० प्रसाद, द इकानामिक्स ऑफ बैकवर्ड रीजन्स इन ए बैकवर्ड इकानामी, वाल्यूम वन, कलकत्ता, 1967, पृष्ठ 21

उचित होगा, जबकि प्रत्येक क्षेत्र विकास का एक न्यूनतम स्तर हासिल कर ले। कहा जाता है कि "यह समस्या परिपक्व औद्योगिक देशों में विशेष महत्त्व नहीं रखती, क्योंकि वहां मूल क्षेत्रों के विस्तारक प्रभाव बलवती होते हैं, और स्थान-व्यय तथा कल्याण के अन्तर्क्षेत्रीय अन्तर न्यून हो जाते हैं।"[6]

श्री मिरडाल[7] का कहना है कि यदि सरकार प्रभावक नीतियों का सम्पादन नहीं करती और क्षेत्रीय विषमताओं को घटाने के लिये सुनिश्चित परियोजनाओं को कार्यान्वित नहीं करती, तो आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देशों में स्थानीय विकास-जनित विस्तारक प्रभाव कमजोर हो जाते हैं, तथा विकसित एवं पिछड़े क्षेत्रों के बीच खुला व्यापार होने से क्षेत्रीय विषमताएं उग्रतर हो जाती हैं।

अस्तु यह सोचना कि आर्थिक परिपक्वता की प्राप्ति के साथ क्षेत्रीय विषमताएं घटती जायेंगी, गलत होगा। "समस्या अल्पकालीन है, तथा आर्थिक परिपक्वता के साथ इसका हल निकलता जायेगा, यह मत लाभदायक नहीं। यह विशेषकर भारत-जैसे देशों में सही उतरता है, जहां विकास तथा प्रगति-दर की क्षेत्रीय विषमताओं के कारण तनाव उत्पन्न हो गये हैं; और आकार, सामाजिक-सह-सांस्कृतिक विभिन्नता, एवं क्षेत्रीयता की उग्र भावना के कारण यह तनाव बढ़ता जा रहा है।"[8]

इससे यह स्पष्ट होता है कि किसी देश के आर्थिक विकास के उद्देश्य में दो परस्पर-विरोधी तत्त्व उठ खड़े होते हैं। प्रथम का सम्बन्ध है देश की तीव्र आर्थिक विकास-दर से, जिसकी माप राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति आय एवं सम्पूर्ण विनियोग जैसे समष्टिगत सूचकों के द्वारा की जाती है, और दूसरे का सम्बन्ध है क्षेत्रीय विकास के आदर्श से, जिसकी प्राप्ति के लिये आरम्भ से ही उद्योगों के फैलाव की आवश्यकता है। किन्तु लिफेबर-जैसे अर्थशास्त्रियों ने इन दोनों मतों में सामंजस्य लाने की कोशिश की है। उनकी राय में दो बातें साथ साथ करनी होंगी। तीव्र आर्थिक विकास के लिये विकसित क्षेत्रों में वृहत् औद्योगिक परियोजनाओं को चलाया जाय, तथा पिछड़े क्षेत्रों में संरचना-विकास, ग्रामीण एवं लघु उद्योगों, एवं ग्रामीण कार्यक्रमों पर जोर दिया जाय। साथ-ही उचित मूल्य-नीति तथा यातायात-नीति के द्वारा इन पिछड़े क्षेत्रों के औद्योगीकरण को बढ़ावा दिया जाय।

इसके विपरीत मार्गलिन[9] जैसे अर्थशास्त्री क्षेत्रीय विकास के उद्देश्य को अधिक महत्त्व देते हैं। इसके लिये वे पिछड़े क्षेत्रों में वृहत् विकास-परियोजनाओं की स्थापना पर

[6] फ्रीडमन एण्ड अलान्सो, रीजनल डेवलपमेंट एण्ड प्लानिंग—ए रीडर, एम० आई० टी० प्रेस, कैम्ब्रिज एण्ड लन्दन, 1965, पृष्ठ 3-6

[7] जी० मिरडाल, पूर्वोद्धृत

[8] वी० नाथ, रीजनल डेवलपमेंट इन इण्डियन प्लानिंग, इकानामिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, एनुअल नम्बर, जनवरी 1970, पृष्ठ 253

[9] एम० ए० मार्गलिन, पब्लिक इन्वेस्टमेंट क्राइटेरिया, एम० आई० टी० प्रेस, कैम्ब्रिज एण्ड लन्दन, 1967, पृ० 23-29

जोर देते हैं। ऐसी बृहत् परियोजनाओं से उत्पन्न अग्रिम प्रभावों तथा अग्रगामी एवं पृष्ठगामी सम्बन्धों के फलस्वरूप समस्त अर्थव्यवस्था लगातार ऊँचे स्तरों को प्राप्त करती जायेगी।

आदर्श नीति वह होगी जिसमें आर्थिक विकास के विभिन्न स्तर वाले क्षेत्रों को समस्त अर्थव्यवस्था के परस्पर निर्भर अंगों के रूप में देखा जाय, तथा आयोजक विभिन्न क्षेत्रों के ऐसे विकास का प्रयत्न करें कि समूचे देश में एक समेकित तथा अन्तर्सम्बन्धित अर्थव्यवस्था की प्राप्ति हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये विभिन्न क्षेत्रों की विकास-सम्भावनाओं का लेखा-जोखा प्राथमिक आवश्यकता होगी। तत्पश्चात् आयोजकों को इन सम्भावनाओं के दोहनार्थ क्षेत्रीय योजनाएं इस प्रकार बनानी होंगी कि पूरे देश का आर्थिक समेकन सम्भव हो।[10] क्षेत्रीय विकास का अर्थ क्षेत्रीय आत्मनिर्भरता नहीं होती। न ही ऐसे विकास से क्षेत्रीयता को बल मिलना चाहिए। इसका अर्थ ऐसी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था है, जिसमें विभिन्न क्षेत्र विकसित और परस्पर निर्भर हों। विकास की आरम्भिक अवस्था में कुशलता तथा राष्ट्रीय आय के अधिकतम उत्पादन को ध्यान में रखना होगा। किन्तु इन पर अनावश्यक जोर नहीं होना चाहिए। पिछड़े क्षेत्रों में सामाजिक-सह-आर्थिक उपरिगत सुविधाओं के विकास पर ध्यान वाञ्छनीय होगा। इससे आर्थिक विकास की गति ऊँची और द्रुत होगी। आशा है कि जब समूचे देश की उत्पादकता का स्तर काफी ऊँचा उठ जायेगा, तो यातायात-संवहन, विद्युत, तथा अन्य आर्थिक-सह-सामाजिक उपरिगत सुविधाओं के विस्तृत जाल बिछाने पर आर्थिक विकास की क्षेत्रीय विषमताओं को दूर करना आसान होगा। सीमित क्षेत्रों में आर्थिक क्रियाओं के केन्द्रीकरण से उत्पन्न खतरों के ख्याल से भी सन्तुलित क्षेत्रीय विकास आवश्यक हो जाता है। जब प्राकृतिक साधनों की क्रमिक निःशेषण-प्रक्रिया कार्यशील है तो एक समय के बाद ऐसे साधनों पर आधारित उद्योगों को बन्द कर देना होगा। या कहीं अगर इन उद्योगों से उत्पन्न वस्तुओं की मांग में एकाएक गिरावट आती, तो राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था खतरों से छटपटा-कीर्ण हो जायेगी। किन्तु अगर हम उद्योगों की स्थापना में क्षेत्रीय विकेन्द्रीकरण पर जोर दें तो इन खतरे से दूर रह सकेंगे, पहले जब कोयला चालक-शक्ति का एकमात्र साधन था, और यातायात का एकमात्र साधन रेलमार्ग था, तो उद्योगों की स्थापना कोयला-खदानों तथा रेल-केन्द्रों के समीप केन्द्रित हुआ करती थी। किन्तु अब भीमकाय पनविद्युत-शक्ति-भवनों की स्थापना, लम्बी दूरियों पर विद्युत-दौड़ की व्यवस्था तथा मोटर-यातायात की लोकप्रियता के फलस्वरूप उद्योगों का भौगोलिक छितराव सम्भव हो रहा है। अस्तु पिछड़े क्षेत्रों के औद्योगीकरण में प्रगति लाने के लिये ऐसी संरचना सह सुविधाओं की उपलब्धि पर जोर अनिवार्य है।

[10]फिर भी तत्कालीन साधनरहित क्षेत्रों से सम्भावित साधन-सम्पन्न क्षेत्रों में जनसंख्या के अन्तर्क्षेत्रीय बहिर्गमन की बात कभी-कभी सोची जा सकती है।

क्षेत्रीय विकास का एक और लाभ है। जब कुछ सीमित शहरों और औद्योगिक इलाकों में जनसंख्या का जमाव घना हो जाता है, तो मौलिक नागरिक सुविधाओं के अभाव में भीड़भाड़ की नाना बुराइयां फैल जाती हैं। क्षेत्रीय विकास इन बुराइयों के पनपने पर प्रतिबन्ध लगाता है।

पश्चिम में क्षेत्रीय विकास

पश्चिम के विकसित देशों में भी सन्तुलित क्षेत्रीय विकास की आवश्यकता महसूस की गयी। प्रथम विश्वयुद्ध की पूर्वकालीन अवधि में ही फ्रांस, जर्मनी तथा स्वीडेन जैसे देशों ने सन्तुलित क्षेत्रीय विकास हेतु विभिन्न उपाय अपनाए। उसके बाद जब फ्रांस में आर्थिक योजनाकरण का सम्पादन आरम्भ हुआ, तो क्षेत्रीय आयोजन इसका एक अंग माना गया। 1962 की फ्रांसीसी योजना में पूरे देश को 21 योजना-क्षेत्रों में बांटा गया। प्रत्येक क्षेत्र के लिये अलग-अलग योजनाएं बनीं और इन सभी योजनाओं को राष्ट्रीय योजना में समन्वित किया गया।

1933 में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के 'टैनेसी नदी घाटी अधिकरण' (टी०वी०ए०) की स्थापना का उद्देश्य विभिन्न राज्यों के सम्बन्धित पिछड़े क्षेत्रों का विकास ही था। "अनायोजित राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में क्षेत्रीय आयोजन का यह अनोखा उदाहरण था। यह परियोजना, राष्ट्रीय योजना का अंग नहीं, क्योंकि राष्ट्रीय योजना का यहां नामो-निशान नहीं था। यह स्वयं अपने में एक पूर्ण इकाई है। वस्तुतः यह आयोजित अर्थव्यवस्था एवं वृहत सार्वजनिक कार्यक्रम का सम्मिश्रण है। सम्पूर्ण क्षेत्र पर वृहत सार्वजनिक कार्यक्रम विभाग का नियंत्रण मात्र आंशिक है। यह नियंत्रण निश्चित ही कुछ कठिन है, क्योंकि जहां राज्य भूभाग उन्मुक्त है, वहां यह क्षेत्र अवरुद्ध नहीं।"[11]

इंग्लैंड में भी देश के विभिन्न भूभागों में उद्योगों के संतुलित विकास के लिए क्षेत्रीय आयोजन की आवश्यकता महसूस हुई, जब 'ग्रेट ब्रिटेन की औद्योगिक जनसंख्या के वितरण पर गठित शाही आयोग' (रायल कमीशन ऑन द डिस्ट्रीब्यूशन आफ द इन्डस्ट्रियल पापुलेशन ऑफ ग्रेट ब्रिटेन) तथा 'राजनीतिक एवं आर्थिक आयोजन' (पी० ई० पी०) के 'क्षेत्रीय विकास' तथा 'औद्योगिक स्थान निर्धारण'—सम्बन्धी अध्ययन-दलों की पैनी दृष्टि इस आवश्यकता की ओर आकर्षित हुई। बाद में अपेक्षाकृत पिछड़े क्षेत्रों की आर्थिक प्रगति के लिए कई महत्त्वपूर्ण कदम उठाए गए।

साम्यवादी देशों में क्षेत्रीय आयोजन

साम्यवादी देशों की केन्द्रीय योजनाओं में भी क्षेत्रीय आयोजन को काफी महत्त्व दिया जाता है। सोवियत रूस के प्रत्येक गणतन्त्र को अपने क्षेत्र के सघन विकास के लिए अपनी-अपनी योजना बनाने का अधिकार प्राप्त है। 1962 से इन गणतन्त्रीय

[11]ग्रोवेंदर ऑविन, द प्लानिंग आफ मी सोमाइटीज पृष्ठ 104

योजनाओं के विषय और महत्त्व में एकाएक पर्याप्त वृद्धि हुई है। 'सोवनार्खाज' अर्थात् 'क्षेत्रीय आर्थिक परिषदों' की स्थापना से योजनाकरण में क्षेत्रीय विकेन्द्रीकरण का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।[12]

यूगोस्लाविया में भी क्षेत्रीय आयोजन को राष्ट्रीय योजना का एक महत्त्वपूर्ण पूरक मानकर अपनाया गया। यहां तक कि 1959 में देश के सम्पूर्ण बजटीय एवं योजनागत साधन का 16 9 प्रतिशत भाग गणतंत्रीय योजनाओं के मद में प्रयुक्त हुआ।[13]

भारत में क्षेत्रीय आयोजन

भारत ने बहुत पहले से ही सन्तुलित क्षेत्रीय विकास को आर्थिक आयोजन के एक प्रमुख उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से ही सरकार क्षेत्रीय विकास के प्रश्न में रुचि रखती आयी है। 1948 के औद्योगिक नीति-प्रस्ताव तथा 1951 के उद्योग विकास-नियन्त्रण-अधिनियम के विभिन्न उद्देश्यों में एक यह भी था कि पूर्वस्थापित उद्योगों को लाइसेंस प्रदान हेतु जो विस्तृत व्यवस्था अपनायी जाय, उससे उद्योगों के छितराव को प्रोत्साहन मिले। पुन देश के विभिन्न भूभागों का सन्तुलित विकास भारत की पंचवर्षीय योजनाओं का एक उद्देश्य रखा गया। इस तरह प्रथम पंचवर्षीय योजना में यह स्पष्टत लिखित है कि "भौतिक, आर्थिक तथा प्रशासनिक तत्त्वों पर ध्यान रखते हुए क्षेत्रीय विकास के कार्यक्रमों का निरूपण बहुधा वाछनीय है। ऐसे कार्यक्रमों के निरूपण तथा उनके सतत् मूल्यांकन में क्षेत्रगत आवश्यकताओं, प्राथमिकताओं, तथा उनकी अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन सम्भावनाओं को ध्यान में रखना उचित होगा।"[14]

किन्तु, आर्थिक विकास में क्षेत्रीय विषमताओं को घटाने की दिशा में प्रथम पंचवर्षीय योजना के दौरान लगभग नहीं के बराबर प्रगति हो सकी। इसलिए द्वितीय उद्योग-नीति प्रस्ताव तथा परवर्ती योजनाओं के निर्धारण में सन्तुलित क्षेत्रीय विकास को ध्यान में रखा गया। 1956 अप्रैल में पारित द्वितीय उद्योग-नीति का एक उद्देश्य यह था कि उद्योगों का स्थानगत विकेन्द्रीकरण हो। इस नीति में यह स्पष्टत उल्लिखित है कि भले ही समूचा देश औद्योगीकरण से लाभान्वित हो, किन्तु विभिन्न क्षेत्रों की विकास-विषमताओं का निरन्तर घटाव महत्त्वपूर्ण है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना ने भी क्षेत्रीय विषमताओं की समस्या पर चिन्ता व्यक्त की, और सन्तुलित क्षेत्रगत विकास के लिये विभिन्न उपाय सुझाया।[15]

[12] यू० एन०, प्लानिंग फॉर इकानामिक डेवलपमेन्ट, वाल्यूम II, स्टडीज आफ नेशनल प्लानिंग एक्सपीरियन्स, पार्ट 2, सेन्ट्रल प्लैन्ड इकानामीज, न्यूयार्क, 1965, पृष्ठ 176-83

[13] जी मसीश, यूगोस्लाविया—द थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस आफ डवलपमेंट प्लानिंग, वर्जीनिया, 1964, पृ० 14

[14] फर्स्ट फाइव इयर प्लान, गवर्नमेंट आफ इण्डिया, प्लानिंग कमीशन

[15] जी० आइ०, पी० सी०, सेकण्ड फाइव इयर प्लान

तृतीय पंचवर्षीय योजना में सन्तुलित क्षेत्रीय विकास को अधिक महत्त्व मिला। योजना का सामान्य दृष्टिकोण इस समस्या के प्रति बड़ा स्पष्ट रहा। तृतीय योजना के ही शब्दों में, "देश के विभिन्न भू-भागों का सन्तुलित विकास, न्यून विकसित क्षेत्रों में आर्थिक प्रगति के लाभों का फैलाव, तथा उद्योगों का विस्तृत छितराव आयोजित विकास के उद्देश्यों में प्रमुख स्थान रखते हैं।"[16]

किन्तु कई क्षेत्रों में आवश्यक साधनों तथा शिरोपरि सामाजिक-सह-आर्थिक सुविधाओं के कारण देश के सभी प्रदेशों में औद्योगीकरण के कार्यक्रम नहीं चल सके। औद्योगीकरण की पहली अवस्था में उद्योगों का सघन विकास कुछ सीमित क्षेत्रों में केन्द्रित हो ही जाता है। फिर भी दूसरे क्षेत्रों में कृषि, सिंचाई, लघु उद्योग, शक्ति तथा अन्य शिरोपरि सुविधाओं के विकास का बहुविधिकरण वांछनीय है। अगर आधारभूत एवं पूंजीगत उद्योगों का विकास कुछ सीमित क्षेत्रों में ही सम्भव हो पाता है, तो न्यून साधन सम्पन्न क्षेत्रों में परम्परागत श्रमबहुल उद्योगों आधुनिक लघु उद्योगों, कृषिगत परिष्करण उद्योगों, तथा वनपरक उद्योगों की विकास-सम्भावनाओं पर खोज होनी चाहिए।

तृतीय पंचवर्षीय योजना याद दिलाती है कि "सम्पूर्ण राष्ट्र और विभिन्न क्षेत्रों के उत्थान-प्रयास एक ही विकास-प्रक्रिया के अभिन्न अंग हैं। जब समूचा राष्ट्र विकसित होगा तो इसका प्रभाव विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिबिम्बित होगा। फलस्वरूप इन क्षेत्रों के साधनों में वृद्धि होगी, और इन वर्द्धित साधनों का प्रभाव समूचे देश के विकास में प्रतिबिम्बित होगा। जब पूरे देश में दीर्घकालीन विकास की पृष्ठभूमि बनेगी, अर्थव्यवस्था द्रुतगति से आत्मनिर्भर प्रगति प्रक्रिया में अग्रसर होगी, नागरिकों के जीवनयापन-स्तर में निरन्तर वृद्धि होती जायेगी तो राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय विकास एक ही सामान्य उद्देश्य के दो पहलू हो जायेंगे।"[17]

क्षेत्रीय विकास विकास की विषमताओं को कम करने की दिशा में राष्ट्रीय योजनाएं महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। इन योजनाओं में पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिये विशिष्ट कार्यक्रमों का प्रावधान किया जाता है। साथ-साथ तृतीय योजना में आर्थिक दृष्टि से अधिक पिछड़े क्षेत्रों के द्रुत विकास के लिए ऐसे कई कार्यक्रमों का प्रावधान किया गया जो विकास के मौलिक आधार प्रस्तुत करते हैं। इनमें कृषि का सघन विकास, सिंचाई-विस्तार, लघु एवं घरेलू उद्योगों का उत्थान, शक्ति साधनों का प्रसार, यातायात-संवहन साधनों का विस्तार, तथा शिक्षा एवं प्रशिक्षण की सुविधाओं का प्रसार आदि सुविधायें शामिल थी। फिर भी आर्थिक तथा तकनीकी सीमाओं के अन्दर नये उद्योगों का स्थापना-सम्बन्धी निर्णय पिछड़े क्षेत्रों का ध्यान में रखकर ही करना चाहिए। विशेषकर सरकारी परियोजनाओं की स्थापना यथासम्भव औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों में ही होनी चाहिये।

[16]जी० आई०, पी० सी० थर्ड प्लान, इबर प्लान

[17]वही, पृ० 133

चौथी एवं पांचवीं पंचवर्षीय योजनाओं में सन्तुलित क्षेत्रीय विकास की ओर अधिक ध्यान देना पड़ा। इसका कारण देश में राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना की अभिवृद्धि था। इसलिये इन योजनाओं में आर्थिक विकास के असन्तुलन को घटाने के लिये ठोस उपायों के सुझाव आये। केन्द्र, राज्य, तथा जिला के विभिन्न स्तरों पर इस समस्या को सुलझाने के प्रयास होने लगे। इन प्रयासों में आर्थिक दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों के लिए केन्द्रीय सहायता का उदार आवंटन, पिछड़े जिलों की परियोजना, पिछड़े क्षेत्रों में सरकारी परियोजनाओं की स्थापना, पिछड़े इलाकों के लिए सस्ता वित्त-प्रबन्ध, तथा ग्रामीण परियोजना-कार्यक्रम, वन-जातियों के विकासार्थ पथप्रदर्शी परियोजना, एवं सूखी कृषि आदि जैसे कार्यक्रमों का सहारा लिया जाने लगा।

[1]वही, पृ० 149

अध्याय 36

ग्रामीण जीवन में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन--ग्रामीण जीवन कितना जुड़ा, कितना टूटा

गांधी के सपनों में भारत की आत्मा इसके लगभग 6 लाख गांवों में बसी हुई है। भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार गांव ही है। अंग्रेजों के आने से पूर्व हमारे गांव आत्म-निर्भर एवं सम्पन्न थे और बाहरी जीवन में व्यापार तथा दस्तकारियां जीविकोपार्जन के प्रमुख साधन थे। संक्षेप में भारतीय अर्थव्यवस्था विकसित थी और यहां का आर्थिक जीवन ऊंचे दर्जे का था।

अंग्रेजों के भारत आने के साथ ही स्थिति ने पलटा खाया। 200 वर्ष, जिस दौरान अंग्रेजी शासन स्थापित रहा, भारतीय अर्थव्यवस्था में शोषण और लूटमार का इतिहास प्रस्तुत करते हैं। इस अवधि में गांव की बड़ी उपेक्षा हुई, कृषि की दशा बिगड़ गई, ग्रामीण उद्योग धंधे नष्ट हो गये और गरीबी व्यापक स्तर पर फैल गई। आर्थिक गतिहीनता और दुर्दशा भारतीय अर्थव्यवस्था की विशेषताएं बन गईं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के तत्काल बाद से गरीबी हटाने के लिए व्यापक कार्यक्रमों का शुभारम्भ हुआ। एक अप्रैल 1951 को देश में पहली योजना का श्रीगणेश हुआ और तब से अब तक 5 योजनायें पूरी हो चुकी हैं। अब हम छठी योजना के प्रांगण में हैं। सभी योजनाओं के समक्ष एक ही लक्ष्य रखा गया है और वह है गरीबी को मिटाना तथा सामाजिक जीवन-स्तर में सुधार लाना। राष्ट्र नेताओं, समाज सुधारकों व अर्थशास्त्रियों का ध्यान इस ओर गया। उन लोगों ने यह अनुभव किया कि गांव की समृद्धि के बिना देश सम्पन्न नहीं हो सकता और यहां की गरीबी दूर नहीं हो सकती है। योजना शुभारम्भ के 32 वर्षों में ग्रामीण जीवन में महत्त्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन हुए हैं जिनका संक्षिप्त चित्रकल्प प्रस्तुत करने का प्रयास हम करेंगे।

सामाजिक परिवर्तन

ग्रामीण जीवन में विगत वर्षों में सामाजिक परिवर्तन स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहे हैं।

भारतीय परिवार अति प्राचीन काल से संयुक्त रहा है और आज भी वह बहुत अंशों में संयुक्त है। इसके स्थापना का उद्देश्य परिवार के मानसिक एवं शारीरिक निर्बल सदस्यों के लिए बीमा, आपत्ति के समय प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा, बीमारी के समय एक दूसरे

सदस्यों मे सेवा-सुश्रुषा का भाव जागृत करना एव न कार्य करने वाले सदस्यों को आश्रय आदि देना था। परन्तु आधुनिक समय मे सयुक्त परिवारों के स्थान पर व्यक्तिगत परिवार में वृद्धि होती जा रही है। आज नई पीढी की अधिकाश स्त्रिया अपने को सयुक्त परिवारो मे समायोजित करने म कठिनाई अनुभव कर रही हैं। उनकी प्रकट या अप्रकट इच्छा होती है कि वे सयुक्त परिवार से टूट कर अपने बाल-बच्चो के साथ अलग रहें। फलत नई पीढी के पारिवारिक सदस्यों मे सयुक्त परिवार मे रहने की प्रवृत्ति का ह्रास एव अलगाव की भावना प्रबल होती जा रही है। आज परिवार का कोई भी सदस्य सामान्य हित के लिये त्याग करने को तत्पर नही है। उनके अन्दर व्यक्तिवादी मनोवृत्तियो का प्रसार होता जा रहा है और वह 'परिवारवाद' के नाम पर अपने व्यक्तित्व के विकास का समर्पण करने को तत्पर नही है। सक्षप में पारिवारिक सामूहिकवाद का परम्परागत रूप बदल रहा है और उनके स्थान पर छोटी पारिवारिक इकाइया निर्मित होने की प्रवृत्ति बढ रही है। सीमित स्वार्थ और केवल अपनी पत्नी और बच्चों तक आस्थावान होने की प्रवृत्ति बढ रही है।

परिवार के बाद विवाह समाज की दूसरी महत्वपूर्ण सस्था है। ग्रामीण सरचना मे यह अभी तक बहुत रूढिग्रस्त है परन्तु इस सस्था मे सशोधन प्रस्फुटित होने लगे हैं। विवाह मे जो परम्परात्मक और रूढिवादी परम्पराएं थी वे अब धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही हैं। उसी प्रकार बाल-विवाह की प्रथा समाप्त होती जा रही है। वैवाहिक आयु में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। विधवा विवाह के सबध में भी ग्रामीण जनता के दृष्टिकोण मे परिवर्तन होता जा रहा है। विवाह तय करने में अब लडके और लडकियो की इच्छा को भी ध्यान मे रखा जाता है। प्रेम-विवाहों की सख्या मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। हमारे समाज में लोगों की आम धारणा के अनुसार जहा वैवाहिक जीवन अविच्छेदनीय समझा जाता था वहीं आज कुछ लोग वैवाहिक सबध को विच्छेदनीय समझने लगे हैं। यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण परिवर्तन है।

जाति व्यवस्था भारतीय सामाजिक सरचना की रीढ में है। स्वाधीनता के पश्चात सरकार ने धर्म निरपेक्ष शासन की व्यवस्था कर इस दिशा मे जनसाधारण को समान मौलिक अधिकारो को देने की घोषणा की जिससे प्रत्येक जाति के लोगों में उत्थान का विश्वास हुआ। यद्यपि सरकारी स्तर पर जातिगत भेदभाव को पूर्णतया समाप्त कर दिया गया है फिर भी भारतीय सरचना मे व्याप्त जातिगत भेदभाव अब भी विद्यमान है।

परपरागत ग्रामीण समुदाय के सदस्यो को जातिप्रथा की आवश्यकता पर बल देने के अनेक कारण हैं, जैसे—जातीय एकता, जातीय पेशा मे उन्नति, धर्म समूह परिपाटी व सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षा। रक्त शुद्धता को बनाये रखने के लिये जातिप्रथा की नितान्त आवश्यकता है। ग्रामीण समुदाय मे जातिप्रथा की कार्यात्मक भूमिका अभी तक विद्यमान है। अधिकाश लोग केवल अस्पृश्यता के सदर्भ में जातिप्रथा को अनावश्यक समझते हैं।

जातिप्रथा की जड़ें गहरी मनोवैज्ञानिक होती हैं। एक मराठी कवि ने हिंदू समाज के संबंध में लिखा है कि 'हिंदू लोग ऊपर से लात खाकर अपने शीश नवाते हैं और साथ ही साथ अपने से निम्नवर्ग के लोगों को लात मार देते हैं और वे कभी नहीं सोचते कि उन्हें ऊपर से लात मारने वालों का प्रतिरोध करना है अथवा दूसरों से बचना है।' पदानुक्रम जाति पद्धति में विद्यमान यह मनोवैज्ञानिक प्रतिकार सन्तुलन के कारण ही अभी तक बना हुआ है।

ग्रामीण समुदाय के सदस्यों में पेशा चुनाव की स्वतन्त्रता बढ़ रही है। आज अपने पैतृक व्यवसाय को करने के संबंध में लोगों की प्रवृत्तियां बदल रही हैं। लोगों में जातीय व्यवसाय के संबंध में अभिरुचि कम होती जा रही है। यह प्रवृत्ति श्रम की कार्य-कुशलता की दृष्टि से विकासमान समाज के लिए हितकर है। इसमें सामाजिक और व्यावसायिक गतिशीलता बढ़ रही है। ग्रामीण समुदाय के कुछ सदस्य पुराने व्यवसाय को हीनता की भावना तथा उनसे आमदनी की कमी के कारण छोड़ते जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त मशीनीकरण, शिक्षा का प्रसार तथा नौकरी के प्रति आकर्षण की भावना भी ग्रामीण समुदाय के सदस्यों को पुराना व्यवसाय छोड़ने के लिए प्रेरित कर रही है। आज की परिवर्तित परिस्थितियों में ग्रामीण समुदाय के सदस्य व्यवहारतः नौकरी को उत्तम समझने लगे हैं। इस प्रकार कृषि व्यवसाय की उत्तमता के व्यावहारिक पक्ष में ह्रास हुआ है।

हमारे गांव से बड़ी तेजी से लोक-साहित्य का लोप होता जा रहा है। महिलाओं द्वारा त्योहारों और अनुष्ठानों पर गाए जाने वाले मांगलिक गीत, पुरुषों द्वारा होली के अवसर पर गाये जाने वाले संगीतयुक्त होली गीत, पुरोहित अथवा सन्यासियों के धार्मिक उपदेश तथा सामुदायिक जीवन व संस्कृति के अन्य चिन्हों का दिन प्रति-दिन लोप होता जा रहा है। रामलीला और कुश्ती जैसे उपयोगी प्रथाओं को अतीत की रूढ़ियां मानकर नीची निगाह से देखा जाने लगा है। वर्तमान परिवेश में इन सभी कार्यक्रमों या मनोरंजन के कार्यक्रमों की जगह सिनेमा का प्रचलन होता जा रहा है जिसका आत्मीयता-युक्त ग्रामीण समाज पर अत्यन्त कुप्रभाव पड़ रहा है।

आर्थिक परिवर्तन

ग्रामीण समुदाय की प्रमुख विशेषता आत्मनिर्भरता मानी जाती रही है किन्तु विकास के साथ-साथ ग्रामीण संगठन जटिल होता जा रहा है और गांव में नये-नये संगठन—जैसे सहकारी समिति, ऋण सहकारी समिति, उपभोक्ता सहकारी समिति, खादी भण्डार व विकास समिति आदि—के कार्यरत रहने के कारण गांवों का सम्बन्ध गांवों की सीमा से बाहर अनेक गांवों और क्षेत्रों से स्थापित हो गया है। उपभोग की वस्तुओं के सम्बन्ध में ग्रामीण जीवन अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं का उपभोग करने लगा है परन्तु अधिकांश गांवों में अभी इन संगठनों का अभाव है।

भारतीय कृषि ने गतिहीनता का लिबास उतार दिया है। उसके स्थान पर आधुनिकता बड़े स्तर पर अपनायी जा रही है। आधुनिकता का यह स्वरूप निम्न तीन बातों पर परिलक्षित होता है (1) बहु उपज किस्म के बीजों का प्रयोग (2) रसायन और उर्वरकों का बढ़ता हुआ प्रयोग तथा (3) ट्रैक्टर हार्वेस्टर, थ्रेसर आदि मशीनों का प्रयोग। इन सब के अलावा सिचाई के साधनों तथा आधुनिक कृषि के अन्य उन्नत आदानों की ओर भी क्रमश अधिक ध्यान दिया जा रहा है। इन सब परिवर्तनों के परिणामस्वरूप पिछले वर्षों के दौरान कृषि उत्पादन में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। इस स्थिति को हरित क्रान्ति की सज्ञा दी गई है।

ग्रामीण समुदाय में कृषि सम्बन्धी मशीनों की प्रवृत्ति काफी बढ़ रही है जो विकास का सूचक है। यही नहीं, ग्रामीण समुदायों में आधुनिक चिकित्सा का महत्व भी बढ़ता जा रहा है। विकास की योजनाओं से ग्रामीण समुदाय की जीवन शैली प्रभावित है। वर्तमान यातायात के साधनों का विकास अब ग्रामीण क्षेत्रों में पर्याप्त रूप से हो गया है। परन्तु अधिकाश गाव अब भी अलग-अलग हैं। स्वतन्त्रता के तीस वर्षों के बाद भी बाहरी दुनिया से सम्पर्क नही कर पाते। जहा तक गावों में टेलीफोन की व्यवस्था का प्रश्न है यह बात एक स्वप्न ही है।

कृषि श्रमिकों की दशा में सुधार के लिए कई कार्यक्रम आरम्भ किए गये हैं। जैसे (क) छोटे किसानों के विकास की एजेन्सी, (ख) सीमान्त किसान एव कृषि श्रमिकों के विकास की एजेन्सी, (ग) समन्वित शुष्क भूमि कृषि विकास योजना। इन सभी कार्यक्रमों का उद्देश्य कृषि श्रमिकों की आर्थिक दशा में सुधार लाना है जिससे कि वे अपने आपको ग्रामीण समुदाय के सुरक्षित अग महसूस करें।

ग्रामीण जीवन में सहकारिता का महत्व बढ़ता जा रहा है। सन् 1954 से सहकारी साख समितिया किसानों की आवश्यकताओं को अधिकाधिक पूर्ण करती जा रही है। इस समय सहकारी साख समितिया किसानों की लगभग एक चौथाई से एक तिहाई तक आवश्यकताए पूरा कर रही हैं। गावों मे साहूकारों का एकाधिकार भग होता जा रहा है।

सहकारी साख समितियों ने खेती के उन्नत तरीकों के प्रयोग में भी सहायता दी है। विपणन और विधायन समितियों ने किसानों को अपनी आवश्यकता की वस्तुए सस्ते भावों पर खरीदने और कृषि उपज को अच्छे भावों पर बेचने में सहायता दी है। इनसे किसानों को भण्डार सुविधाए मिली हैं।

आवास सहकारी समितिया, उपभोक्ता सहकारी समितिया आदि ने अपने सदस्यों की आर्थिक दशा सुधारने में सहायता दी हैं और इन्हें शक्ति प्राप्त वर्गों के शोषण से बचाया है।

सशोधित 20-सूत्री कार्यक्रम में ऐसी कई विकास योजनाओं में दृढ़ता लाने और इनके विकास के लिए कहा गया है जिसका सीधा प्रभाव ग्रामीण जीवन को विकसित करने मे पड़ेगा। समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम 1976-77 में शुरू किया गया। यह

योजना उन ग्रामीण परिवारों की आय बढ़ाने के उद्देश्य से बनायी गयी है जो गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे हैं।

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम, जिसे पहले "काम के बदले अनाज कार्यक्रम" कहते थे, ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों को—खासकर उन दिनों में जबकि उनके पास काम कम रहता है—पूरक रोजगार दिलाने के उद्देश्य से शुरू किया गया है।

नये 20-सूत्री कार्यक्रम में इन दो कार्यक्रमों को काफी अधिक महत्त्व दिया गया है। इन कार्यक्रमों को कारगर ढंग से लागू करने से गांव की गरीबी कम करने में काफी सफलता मिलेगी। ऐसे उपाय किये जा रहे हैं कि समाज के कमजोर वर्गों के लोगों को उन कार्यक्रमों के पूरे लाभ मिलें जो उनकी सहायता के लिये शुरू किये गये हैं। स्वयं-सेवा कार्यक्रमों को प्रोत्साहन दिया जायेगा और ऐसी कोशिश की जाएगी कि महिलाओं को अपने काम-धन्धों के लिए समुचित ऋण दिये जाएं।

राजनैतिक परिवर्तन

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का अभिप्राय यह है कि लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर विभिन्न संस्थाओं का निर्माण किया जाय और उनमें प्रशासनिक सत्ता का इस प्रकार से वितरण किया जाय कि जनता को पग-पग पर उसकी सहानुभूति प्राप्त हो सके। आशा यह की गई कि नवीन प्रकार का नेतृत्व ग्रामीण समाज में विकास कार्यों को गति प्रदान करने और उसे आधुनिकीकरण की दिशा में आगे बढ़ाने में सक्रिय योग दे सकेगा। पंचायती राज के अन्तर्गत सत्ता को ग्रामीण खण्ड और जिला स्तर पर विभिन्न जन प्रतिनिधियों को सौंपने और उन्हें ही विकास कार्यों का दायित्व सम्भालने की दृष्टि से ग्राम पंचायतों, पंचायत समितियों और जिला परिषदों का गठन किया गया। पंचायती राज के अन्तर्गत इसी तीन स्तरीय व्यवस्था के माध्यम से सत्ता को निचले स्तरों पर वितरण किया गया। इसी को लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के नाम से पुकारा गया। पंचायती राज ने ग्रामीण सामाजिक संरचना के परिवर्तन में सहयोग प्रदान किया है। अब लोग विकास कार्यों में भाग लेने लगे हैं व विकास कार्यक्रमों के क्रियान्वयन से सम्बन्धित असफलताओं को उजागर करने तथा आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाने लगे हैं। कुछ अध्ययनों से यह भी पता चलता है कि पंचायती राज संस्थाओं ने ग्रामीणों में उत्तरदायित्व की भावना जागृत करने में योग दिया है।

साथ ही यह पाया गया है कि ग्रामीण शक्ति संरचना में परिवर्तन आया है। ग्रामीण राजनीतिक चुनाव सामन्तवादी, सामाजिक संरचनात्मक चुनाव का विकृत रूप सामने लाता है। चुनाव के अवसर पर प्रचार में वे हथकण्डे अपनाये जाते हैं जिनमें सामुदायिक जीवन के विरोधात्मक तत्त्व गहरे और चुनाव का वातावरण विवेकपूर्ण न होकर उत्तेजनापूर्ण हो जाता है। दूषित प्रचार और निम्न कोटि के सामाजिक मूल्यों को उभारा जाता है। फलतः ग्रामीण सामुदायिक जीवन में चुनाव के पश्चात भी कटुता बनी रहती

है। गावों की एकता और एकरसता बदल कर गुट संघर्ष, जाति संघर्ष, क्षेत्र संघर्ष का रूप लेने लगी है।

ग्रामीण समुदाय के नेताओं के कथनी और करनी में काफी अन्तर पाया जाने लगा है। ग्रामीण समुदाय के सदस्य स्थानीय क्षेत्रीय नेताओं से ग्रामोत्थान, क्षेत्र का विकास, यातायात व कृषि की सुविधाएं, नहर, अस्पताल तथा स्कूल की सुविधाएं आदि चाहते हैं परन्तु ग्रामीण समुदाय के लोगों को अपने नेताओं से निराशा मिली है।

गाव में योग्यता के अनुसार चुनाव जीतने की सम्भावनाएं कम होती जा रही हैं। यदि दूसरों का वैयक्तिक और सामूहिक सहयोग न हो तो वोट पाना कठिन है। चुने हुए व्यक्ति पर असर रखने के लिए मतदाता उसका सहयोग करते हैं। इस प्रकार परम्परागत ग्रामीण समुदाय में जहां गुट निरपेक्षता का वातावरण था आज गुटबाजी का प्रभाव बढ़ गया है। अब ग्रामीण स्तर में ऐसे गुटों का निर्माण हो चुका है जो अपने घृणित स्वार्थों के वशीभूत हो, गाव की संकटकालीन स्थितियों में भी एकता नहीं रखते।

ग्रामीण जीवन : कितना जुड़ा, कितना टूटा

ग्रामीण जीवन में हो रहे व्यापक परिवर्तनों के अध्ययन से आभास होता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों के रहन-सहन, आर्थिक स्थिति, आवास-व्यवस्था, खान-पान, वेशभूषा, आदि पर पुनर्निर्माण कार्यक्रमों का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा है।

लोगों में कुछ चेतना आई है। अब वे अपने जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने के लिए उत्सुक और प्रयत्नशील हैं। विवाह में जो परम्परात्मक और रूढ़िवादी परम्पराएं थीं, वे अब शनैः-शनैः समाप्त होती जा रही हैं। बाल-विवाह की प्रथा समाप्त हो रही है। वैवाहिक आयु में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। प्रेम-विवाह व अन्तर्जातीय विवाह बढ़ रहे हैं। ग्रामीण मनोरंजन का स्वभाव बदल रहा है। लोगों में जातीय-व्यवस्था के सम्बन्ध में अभिरुचि खत्म होती जा रही है। इससे सामाजिक और व्यावसायिक गतिशीलता बढ़ रही है।

आज कृषि को लाभकारी पेशा समझा जाने लगा है। अनेक भूमि-सुधार कार्यक्रमों का लाभ ग्रामीण जनता को मिल रहा है। इन कार्यक्रमों ने कृषि उपज का बढ़ाने और ग्रामों में हरित क्रान्ति लाने में योग दिया है। कृषि से अनेक ग्रामीणों की आय में वृद्धि हुई है। संचार व परिवहन के साधनों के व्यापक प्रसार से ग्रामों का नगरों के साथ निकट का सम्पर्क हो गया है। ग्रामों में कुटीर एवं लघु उद्योगों की स्थापना हो रही है। ग्रामीण जीवन में सहकारिता का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। गरीबों के कल्याणार्थ बहुत से कार्यक्रम जैसे वनिताश्रम, महिला कल्याण, बाल कल्याण, मजदूर कल्याण, अन्य व कमजोर वर्ग हेतु कार्यक्रम, हरिजन कल्याण, अन्त्योदय कार्यक्रम, सीमान्त एवं लघु सीमान्त कृषकों के लिये कार्यक्रम, काम के बदले अनाज योजना, रोजगार योजना, डेरी योजना, छोटी सिंचाई योजना तथा बैंकों से ऋण प्रदान करने की सुविधायें आदि

सम्मलित है। पुनर्निर्माण की इन योजनाओं के फलस्वरूप ग्रामीणों की आय में वृद्धि हुई है और ग्रामीण बेरोजगारी में कुछ कमी आई है।

पचायती राज ने ग्रामीण सामाजिक संरचना के परिवर्तन में सहयोग प्रदान किया है। अब ये लोग भी विकास के कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में भाग लेने लगे हैं और उनमें उत्तरदायित्व की भावना जागृत हुई है।

जहां ग्रामीण पुनर्निर्माण से सम्बन्धित विभिन्न कार्यक्रमों ने देश के 6 लाख से अधिक ग्रामों में नवीन प्रेरणा का सचार किया है, उनमें जागृति उत्पन्न की है वहीं इन सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तन का ग्रामीण जीवन पर विघटनकारी प्रभाव भी पड़ा है। गावों में व्यक्तिवादिता का विकास हो रहा है। अब सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिकता को महत्त्व नहीं दिया जा रहा है।

यद्यपि सरकारी स्तर पर जातिगत भेदभाव पूर्णतया समाप्त कर दिया गया है परन्तु गावों में यह अभी भी अत्यन्त विकृत रूप में विद्यमान है।

यह अशुभ घटना ही है कि ग्रामीण स्वयं शहरी जीवन को अपने भविष्य का आदर्श मानने लगे हैं। वे शहर को इस प्रकार देखते हैं मानो शहर उन्हें अपेक्षाकृत अधिक अच्छा जीवन दे सकता है। वस्तुतः शहरी पक्षपात से आविर्भूत हमारी नीतियों और प्रशासन से प्रोत्साहित शिक्षा-पद्धति ने लोगों को गाव से शहर जाने के लिये प्रोत्साहित किया है जिसके कारण असमानता में वृद्धि होने लगी है। शिक्षित और उद्यमी युवक ग्रामीण नेतृत्व संभाल सकते थे तथा सामाजिक परिवर्तन ला सकते थे किन्तु वे गावों को छोड़कर शहरों की ओर जा रहे हैं। इसके विपरीत शहरी तथा कथित श्रेष्ठ व्यक्ति गावों को गदा तथा रहने योग्य न मानकर उसकी निन्दा करते हैं। सभी शिक्षित व्यक्ति गावों में तैनात किये जाने से डरते हैं। यहां तक कि जो लोग गावों में पैदा हुए और उनका लालन-पालन भी गावों में ही हुआ वे भी शहरों में अपनी शिक्षा अथवा सेवा प्रतियोगिता में सफलता के बाद अपने घरों को वापस नहीं जाना चाहते। अधिकांशतः एक ओर से ही लोगों का स्थानान्तरण होता है। परिणामस्वरूप शहरी शक्ति की वृद्धि होती है क्योंकि शिक्षित और कुशल व्यक्ति शहरों में आकर बस जाते हैं तथा ग्रामीण जीवन की शक्ति क्षीण होती जाती है क्योंकि वहां से बुद्धिजीवी लोग अपना घर छोड़कर शहरों में बस जाते हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों में अज्ञानता और अन्धविश्वास अभी भी विद्यमान है और अधिकांश ग्रामीण परम्परावादी हैं। यही कारण है कि ग्रामीण क्षेत्रों में जनसंख्या वृद्धि को रोकने के प्रयत्न विफल होते जा रहे हैं।

ग्रामों में पुनर्निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रम इतने लम्बे समय से चलने के उपरान्त भी गावों में बेरोजगारी, ऋणग्रस्तता, अशिक्षा, निम्न स्वास्थ्य या जीवन स्तर तथा निर्धनता की समस्यायें विद्यमान हैं। विकास कार्यक्रमों का लाभ अधिकांशतः ग्रामों के सम्पन्न लोगों अथवा राजनीतिक दृष्टि से प्रभुत्व सम्पन्न लोगों को ही मिल गया है।

कृषि क्रान्ति के कारण ग्रामीण जीवन में 3 प्रकार के द्वन्द्व पैदा हो गये हैं। अर्थात्

बड़े और छोटे किसानों के बीच, भूस्वामी और काश्तकारों के बीच और कृषि फार्म के नियोजकों और नियोजितों के बीच। बड़े फार्मों के स्वामी उर्वरक, पम्पिंग सेट, कृषि मशीनरी के रूप में भारी विनियोग कर सकते हैं। इस प्रकार बड़े किसानों को कृषि आदानों के पूर्वक्रय का अधिकार प्राप्त है जबकि छोटे किसान धनाभाव के कारण कृषि आदान प्राप्त करने से वंचित रहते हैं। फलतः पूंजीवादी कृषि के विकास को प्रोत्साहन मिला है और आय की असमानताएं बढ़ी हैं।

भारत में अधिकांश किसानों के खेत छोटे हैं और उन्हें बड़े भूस्वामियों से भूमि किराये पर लेनी पड़ती है चूंकि भूस्वामि नये कृषि आदानों को उपलब्ध कराते हैं। ऐसे फार्मों पर कृषि उत्पादन तकनीक में द्वैतवाद विद्यमान हो गया है। भूस्वामी से किराये पर लिये गये खेतों पर तो आधुनिक तकनीक से खेती होती है और काश्तकारों के अपने छोटे-छोटे भूमि के टुकड़ों पर पारम्परिक तकनीक का ही प्रयोग होता है। यह द्वैतवाद सामाजिक तनाव का कारण बनता है।

बड़े फार्मों पर नयी तकनीक के प्रयोग के कारण श्रम बेरोजगार हो गया है। अतः जब तक ग्रामीण जनता के सबसे अधिक निर्बल वर्ग को रोजगार के अवसर उपलब्ध नहीं कराये जायें, कृषि-क्रान्ति देश के लाखों भूमिहीन किसानों के लिए अर्थहीन ही रहेगी।

इस प्रकार भारतीय ग्रामीण जीवन में गम्भीर विषमताएं व्याप्त हैं। कृषि क्षेत्र में व्याप्त विषमताओं का अनुमान कृषि जोतों के आधार पर लगाया जा सकता है। कृषि क्षेत्र का पहला सर्वेक्षण वर्ष 1970-71 में किया गया था तथा इसके परिणाम सन् 1975 में प्रकाशित किये गये थे। इस सर्वेक्षण से अनेक महत्त्वपूर्ण आंकड़े तथा तथ्य सामने आये हैं जो इस प्रकार हैं: देश में कुल 70.5 लाख जोतों की इकाइयां हैं। ये 1620 हेक्टेयर भूमि पर फैली हैं। इनमें से मध्य आकार (4 से 10 हेक्टेयर) और बड़े आकार (10 हेक्टेयर से अधिक) के 1057 लाख जोतें हैं जो 1080 लाख हेक्टेयर भूमि पर फैले हुए हैं। इस प्रकार 15 प्रतिशत जोतों में भूमि का कुल 66 प्रतिशत भाग लगा जाता है जबकि 85 प्रतिशत जोतों के पास केवल 34 प्रतिशत भूमि ही बच जाती है।

गरीबों के नाम पर कम ब्याज पर ऋण, सरकार द्वारा छूट पर रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग, अन्त्योदय कार्यक्रमों में गायों, भैंसों, सिलाई मशीनों, रिक्शा आदि सामानों का उपयोग, मध्यम वर्ग ही कर रहा है। जहां तक सरकारी कर्मचारियों का सम्बन्ध है यह अपने में अटिलतम है। काम के बदले अनाज की योजना से प्राप्त अनाज ट्रकों के द्वारा बड़ी-बड़ी मण्डियों में भेज दिए जाते हैं। जहां उनका समुचित मूल्य मिल जाता है और उसमें से मजदूर वर्ग के नेता को मिलाकर गरीब मजदूर को मजदूरी भी नहीं दी जाती है। इस कार्य में क्षेत्र विकास अधिकारियों का विशेष हाथ रहा है। इस प्रकार की भ्रष्टता से कल्याण की सभी योजनाएं लगभग असफल ही बना दी गयी हैं। सरकारी बैंक किसी भी ऋण की स्वीकृति या आवंटन को निर्धारित करने के लिए सर्वेक्षण

अपने कमीशन की बात कर लेते है। आर्थिक सर्वेक्षण से पता चलता है कि जितनी भी सहायता आज भूमिहीन किसानों, सीमान्त व लघु सीमान्त कृषकों, मजदूरों एवं हरिजनों को प्रदान की जा रही है इसमें इस वर्ग का कमीशन पहले से ही निर्धारित हो जाता है। ऐसे भ्रष्ट कर्मचारियों को सरकार के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से प्रश्रय प्राप्त होता है। इसी कारण इन अधिकारियों का मनोबल ऊंचा रहता है।

शिक्षा के मोर्चे पर भी देश बुरी तरह से असफल रहा है। यह माना गया था कि शिक्षा लोगों को स्वयं आगे बढ़ाने का कार्य करेगी पर आज भी वह लोगों की जरूरतों से बिलकुल अलग-अलग रास्ते पर चली जा रही है। हजारों लड़के और लड़कियों को तरह-तरह की डिग्रियां, डिप्लोमा थमा दिया जाता है परन्तु उनके हाथ यह सूत्र नहीं आता कि जीवन की असलियत और चुनौतियों का सामना भला वे कैसे करेंगे। गांव के शिक्षक आज भी बिना विद्यालय मे उपस्थित हुए ही तनख्वाह का पूर्णरूपेण फायदा उठा रहे हैं। इस प्रकार से शिक्षा एवं शिक्षार्थी का क्या हाल होगा।

यद्यपि योजनाओं मे गरीबों के नाम पर क्रेडिट कोआपरेटिव का आयोजन किया गया जिसमें उन्हें कम ब्याज की दर पर ऋण प्रदान करने की योजना बनायी गयी किन्तु उसका लाभ मजदूर मालिकों को हुआ। यह स्थायी वर्ग इन मजदूरों के नाम पर ऋण लेकर अपनी योजनाओं या कार्यक्रमों को सफल बनाते रहे और उस गरीब के नाम पर कर्ज भी बढ़ता गया। अन्त में उस कर्ज का भुगतान करते जीवन भर के लिए उन गरीबों को अपने यहां बन्धुआ मजदूर के रूप मे रख लिया करते थे। यह काम आज भी हो रहा है और इसके मुख्य दोषी सरकारी नौकर हैं जो कि थोड़े से घूस के लालच में गरीबों पर कुठाराघात करते हैं। आर्थिक सर्वेक्षण से पता चला है कि इस प्रकार लगभग 95 प्रतिशत से 98 प्रतिशत धन समृद्ध वर्ग ही अपने प्रयोग में लाते है और मात्र 2 प्रतिशत ही गरीबों तक पहुंच पाता है। ऐसी अवस्था में विकास तो हुआ ही है किन्तु गरीबों पर उसका प्रभाव नहीं के बराबर है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आज का ग्रामीण जीवन का चित्रफलक बदल गया है। ग्रामीण जन भविष्य की ओर आशान्वित होकर दत्तचित्त है। परम्परागत सामुदायिक संरचना यद्यपि दृढ़ और सुरक्षित थी परन्तु वर्तमान बदलते हुए संरचना द्वन्द्वग्रस्त, अशान्तिपूर्ण, अनिश्चित होते हुए भी भविष्य में सम्भावनाओं का दृष्टि प्रारूप प्रस्तुत करती है। लोगों का सामुदायिक जीवन सम्बंध चित्रफलक भविष्योन्मुख और आशा पूर्ण हो चुका है। परन्तु आज ग्रामीण पुनर्निर्माण की दृष्टि से आवश्यकता है कि नेतृत्व दृढ़ संकल्प के साथ आगे बढ़े प्रशासन से भ्रष्टाचार को समाप्त करे तथा इस बात में सावधानी बरते कि ग्रामीण पुनर्निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रमों का लाभ उन्हीं लोगों को मिले जिनके लिये ये प्रस्तावित किये गये हैं। हमें राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण को पूर्ण महत्व देना चाहिए जिसकी आज तक अवहेलना की गई है। वस्तुतः चारित्रिक संकट के कारण ही हमारी अधिकांश योजनायें असफल रही हैं।

सर्वाधिक महत्व की बात यह है कि ग्रामीण गरीब स्वयं संगठित हों। ऐसा होने से

उनमें आत्म विश्वास उत्पन्न होगा, अन्याय के खिलाफ लड़ने में उन्हें बल मिलेगा और वे अपने आर्थिक उत्थान के लिये रचनात्मक कार्यक्रम चलायेंगे। सगठित हो जाने पर गरीब से गरीब व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की गरिमा का अनुभव करेगा कि वह समाज में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है तथा भविष्य में भी ऐसा करता रहेगा। कमजोर वर्गों के लोगों के सगठन से ससदीय प्रणाली के प्रजातन्त्र के आधार को और बल मिलेगा। तब सगठित लोग विधान मण्डलों और बाह्य राजनीति में वार्ता के मंच को भी प्रभावित कर सकेंगे।

अध्याय 37

सप्तम योजना की विकास-विधि

'गरीबी तथा बेकारी की समस्याओं के त्वरित निवारण-हेतु अब परोक्ष विधियों पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं। इनके लिये प्रत्यक्ष कारगर उपायों को अपनाना होगा।"

—इन्दिरा गांधी

विगत 13-14 जुलाई को हुई राष्ट्रीय विकास परिषद, नयी दिल्ली, की बैठक में तत्कालीन प्रधान मंत्री ने अपने अध्यक्षीय भाषण में इस आशय का बयान दिया था। यह बैठक सप्तम पंचवर्षीय योजना के सामान्य उद्देश्य-पत्र पर विचार-विमर्श के लिए बुलाई गयी थी। प्रधान मंत्री के ये वाक्यांश सप्तम योजना के सामान्य उद्देश्य को सूक्ष्मतम सूत्ररूप में प्रस्तुत करते हैं। साथ ही ये हमारी अब तक की अपनायी गयी विकास-विधि, तथा आगामी वर्षों के लिए उपयुक्त विधि पर प्रकाश डालते हैं—राष्ट्र के मौलिक एवं अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए।

यह समूचे देश की जनता के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उद्देश्यों के सर्वथा अनुकूल है। इसके मूल में हमारी कांग्रेस के पूरे 100 वर्षों (1885 से, जब इस संस्था का औपचारिक जन्म हुआ था, लेकर 1985 जब सप्तम योजना का व्यावहारिक श्रीगणेश होगा, तक) के ऐतिहासिक मूल्यों का प्राण है, पिछले लगभग 33 वर्षों में आयोजित विकास की समीक्षा है तथा आगामी विकास विधि की रूपरेखा का निर्देश है।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म को देश की दुर्दान्त निर्धनता, व्यापक बेरोजगारी, एवं दर्दनाक सामाजिक-सह-आर्थिक अधोगति से ही प्रेरणा मिली थी। विदेशी सरकार के विरुद्ध हमारे सतत संघर्ष को ये समस्याएं ही प्राणशील करती रहीं। "स्वराज्य" स्वयं अपने में एक निरपेक्ष नियामत है। साथ ही यह 'सुराज' के सपनों को साकार करने में सहायक होता है। अस्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के तुरन्त बाद ही हमने इन समस्याओं के निराकरण के लिये विकास की पंचवर्षीय योजनाओं की शृंखला आरम्भ की। प्रथम पंचवर्षीय योजना एक तरह से द्वितीय विश्वयुद्ध-जनित तथा देश विभाजन-जनित तत्कालीन कठिन समस्याओं के समाधान से प्रेरित परियोजनाओं का समूह था, ताकि राष्ट्र सामान्य स्थिति की प्राप्ति कर सके। यह मूलतः विकास-योजना नहीं,

[1]सेवन्थ प्लान एप्रोच पेपर

बल्कि एक पुनर्स्थापन-योजना थी। स्वभावत ही इसमें एक निश्चित विकास विधि का निर्देशन नहीं था।

आयोजित विकास-विधि का ठोस निश्चयन 1956 में आरम्भित द्वितीय पंचवर्षीय योजना में हुआ। और इसके लगभग दो वर्ष पूर्व 1954 में हमारे विकास-प्रयत्नों के अन्तिम उद्देश्य का निश्चयन हुआ, जब स्वर्गीय राजनीति-मनीषी प० जवाहरलाल नेहरू ने देश के लिये प्राप्तव्य समाजवादी समाज-रचना (सोशलिस्टिक पैटर्न ऑफ सोसाइटी) की रूपरेखा को स्पष्ट शब्दों में निखार दिया। उसी महान भविष्य-द्रष्टा के शब्दों में, यह ऐसा समाज होगा, जिसमें उस विकास-प्रक्रिया का पल्लवन एवं पोषण होता रहे, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय का निरन्तर वर्द्धन हो, आर्थिक शक्तियों के केन्द्रीयकरण पर प्रतिबन्ध हो, वृहत विषमताओं का शमन हो, और सबसे बढ़कर "एक ऐसे सामाजिक-सह-आर्थिक वातावरण का सृजन हो, जिसमें लघु व्यक्ति को निरन्तर विकास-कार्यों में रत रहने के लिये अवसर प्रशस्त होते रहें, ताकि वह एक सफल, स्वस्थ, उत्पादक नागरिक होकर स्वयं आगे बढ़ता रहे, और इस क्रम में समूचे राष्ट्र को उन्नति की नित नयी ऊंचाइयों की ओर अग्रसर करता रहे।"[2]

लघु व्यक्ति का अर्थ होता है गरीब व्यक्ति, जिसकी संख्या देश में अधिकतम है। गरीबी-निवारण अथवा गरीबी-उन्मूलन इस दृष्टि से हमारे आयोजित आर्थिक विकास कार्यक्रम का अन्तिम सामान्य उद्देश्य हो जाता है। नीति-निर्धारण तथा धरातलीय कार्य-सम्पादन दोनों दृष्टियों से यह आवश्यक हो जाता है कि हम गरीबी के कारणों का विश्लेषण करें। गरीबी का मौलिक कारण है बेरोजगारी यानी अधिकांश जनता के लिए उत्पादक रोजगार-अवसरों की सीमित अनुपयुक्त एवं अपर्याप्त उपलब्धि, और कई अवस्थाओं में नितान्त अनुपलब्धि। ऊंचे मूल्य-तल निर्धनता के दूसरे प्रमुख कारण हैं। निरन्तर वृद्धिशील मूल्य-तल सामान्य व्यक्तियों के उपभोग के स्तर, कार्य-क्षमता, तथा मानसिक उत्साह पर तो कठोर आघात करते ही हैं, इनसे भी बढ़कर भयानक कुपरिणाम यह होता है कि उनकी साधनशीलता सतत सीमित एवं संकुचित होती जाती है, जिससे विकास-संबंधी उत्पादन-कार्यों में उनकी भागीदारी अधोगामी होकर सिमटती जाती है। निर्धन निर्धनतर होता जाता है। तीसरा प्रमुख कारण गरीबी का है आय-वितरण-विषमता। ऐसी विषमता के दो पक्ष हैं—भौतिक एवं मानसिक। अत्यधिक आय वितरण विषमता की स्थिति में जब धनेरों के पास आय एवं परिसम्पत्ति के साधन अत्यन्त सीमित होते हैं, तो स्वभावत ही विकास कार्यों में उनकी योगदान की क्षमता भी सीमित हो जाती है, और फलस्वरूप वे विकास प्रवाह के अक्षम दर्शक मात्र रह जाते हैं। विषमता का यह भौतिक पक्ष है। किन्तु इसका मानसिक पक्ष भयावह होता है। जब समाज के मुट्ठी भर धनकुबेर वर्षों से विरासत में प्राप्त, असामाजिक तरीके से हस्तगत, या सामान्य अनियंत्रित विकास धारा में अर्जित दौलत और

[2]द्वितीय पंचवर्षीय योजना, पृ॰ 56

नगा प्रदर्शन करते हैं, तो निर्धन की अपनी अधोगति का तुलनात्मक आभास चुभीले काटों मे बदल जाता है, हीनता की भावना उग्रतर हो जाती है, और उनमे तुच्छत्व घर कर जाता है। स्थूल निर्धनता कण्टकाकीर्ण हो उठती है। विषमता का यह मानसिक पक्ष स्वय निर्धन और समूचे राष्ट्र के लिए घातक होता है आर्थिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक सभी दृष्टियो से। अस्तु हमारे आर्थिक विकास की अन्तिम लक्ष्य-प्राप्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि हम रोजगार-साधन-वर्द्धन, मूल्य-स्तर-नियत्रण एव विषमता निवारण पर साथ-साथ अधिकाधिक बल दें।

जब देश ने आज से लगभग33 वर्ष पूर्व आयोजित विकास की प्रक्रिया आरभ की, तो ये प्राथमिकताए उसके समक्ष स्पष्ट थी। प्रश्न प्रमुख यह था कि हम आपूर्ति-पक्ष निर्देशित विकास की अप्रत्यक्ष विधि को अपनाए—जो आरम्भिक दशको मे राष्ट्र को स्वावलम्बन और प्रतियोगी शक्ति प्रदान करती है, विश्व-शक्तियो की तुलनात्मक दौड मे हमे प्रतिष्ठित स्थान सुलभ कराती है, देश की आधारभूत सरचना को गहरी, विस्तृत, ठोस और बहुविधिकृत करती है, और फलस्वरूप उन दीर्घकालीन क्षमताओ का सृजन करती है जिनसे लघु व्यक्ति के उत्थान की समस्या का समाधान आगे चलकर द्रुत गति और विस्तृत रूप से होता है, या माग-पक्ष निर्देशित उस प्रत्यक्ष विकास-विधि को अपनाए, जिसमे समस्या का अल्पकालीन समाधान हो। हमारे सामने सोवियत रूस तथा जापान के ऐतिहासिक उदाहरण थे, जो अप्रत्यक्ष विकास विधि का समर्थन है, और पश्चिमी विकसित देशो का अनुभव था, जो प्रत्यक्ष विधि का प्रमाण है।

विश्व मे विभिन्न राष्ट्रो के शक्ति-सन्तुलन मानचित्र, स्वय अपने ही देश के अपार किन्तु अप्रयुक्त साधनो की विशाल क्षमताओ, विकास प्रक्रिया के पल्लवन एव पुष्टिकरण तथा अपने अन्तिम उद्देश्य प्राप्ति को दृढकालीन सभावनाओ को ध्यान मे रखकर भारत ने अप्रत्यक्ष विधि का सहारा लिया, जो द्वितीय पचवर्षीय योजना के कार्यशील महालानोबीस-मॉडेल पर आधारित नीतियो से स्पष्ट है। अप्रत्यक्ष विकास-विधि को अपनाते समय हम अपनी तत्कालीन समस्याओ की ओर उदासीन नही रहे। इसीलिए जब हमने इस विधि मे आधारभूत सरचना तथा भारी औद्योगीकरण के विस्तार और पुष्टिकरण पर जोर दिया, तो साथ-साथ हमने कृषि, सामुदायिक विकास, लघु एव घरेलू उद्योगो के विकास तथा निर्धनवर्ग-आधारित उन विशिष्ट परियोजनाओ के कार्य-सपादन पर भी बल दिया जो गरीबी और बेरोजगारी पर प्रत्यक्ष रूप से प्रहार करती हैं। अप्रत्यक्ष विधि मे हमने इन पूरक परियोजनाओ का समावेश किया, ताकि दीर्घकालीन सभावनाओ की सिद्धि के लोभ मे तत्कालीन समस्याओ का प्रबल प्रकोप न हो जाय। साथ ही हमारा यह विश्वास था कि अप्रत्यक्ष विधि स्वय ऐसी प्रवृत्तियो का सृजन करेगी, जिनमे उत्पादन-वृद्धि के साथ रोजगार-वर्द्धन होगा, निर्धनता का शमन होगा, तथा आर्थिक-सह-सामाजिक विषमताओ की प्रवृत्ति पर नियत्रण होगा।

इन्ही विशेष विश्व-परिस्थितियो, दीर्घकालीन द्रुत एव विस्तृत सभावनाओ, तथा विकास-प्रतिफल सबंधी अपनी विश्वास-धारणाओं के फलस्वरूप हमने (तत्कालीन पूरक

परियोजनाओं का प्रावधान करते हुए) अप्रत्यक्ष विधि को अपनाया, जिसमें आधारभूत संरचना एवं भारी उद्योगों के विकास पर विशेष बल देने की प्रवृत्ति हुई, जिसे स्वयं योजना-आयोग[3] ने भी माना है। इस दृष्टि से नीचे की तालिका ध्यान देने योग्य है :—

तालिका 37.1. पंचवर्षीय योजनाओं में आधारभूत संरचना तथा वृहत् औद्योगीकरण पर सरकारी व्यय[4] (करोड़ रुपया)

1 योजनाएं	2 आधारभूत संरचना तथा वृहत् उद्योग-व्यय	3 योजना व्यय	प्रतिशत (स्तम्भ 2 का 3 में)
(i) प्रथम योजना	1167	1960	60%
(ii) द्वितीय योजना	3065	4600	67%
(iii) तृतीय योजना	5754	8577	67%
(iv) वार्षिक योजना (1966–69)	4419	6626	67%
(v) चतुर्थ योजना	10230	15775	65%
(vi) पंचम योजना	27796	39322	73%
(vii) छठी योजना (प्रस्तावित)	68345	97500	79%
कुल योग :— (1950-51—1984-85)	121776	174364	69 8%

(आधारभूत संरचना विकास तथा वृहत् औद्योगीकरण में शामिल मदें हैं—वृहत् माध्यम सिंचाई, वृहत् उद्योग, शक्ति, विज्ञान-टेक्नोलॉजी, तथा यातायात एवं संचार)

इस प्रकार 1950-51 से लेकर 1984-85 तक के आयोजित विकास-काल में कुल सरकारी व्यय की मात्रा होती है 174364 करोड़ रुपया, जिसका 69 8% यानी लगभग 70% यानी कुल करीब 11776 करोड़ रुपया हमने आधारभूत संरचना और वृहत् औद्योगीकरण पर खर्च किया है। फलस्वरूप देश का आधार विस्तृत, गहन एवं ठोस हुआ है। कृषि, उद्योग, सामान्य विकास, आर्थिक स्वावलम्बन आदि सभी क्षेत्रों में काफी प्रगति हुई है।

तालिका 37 2 से स्पष्ट है कि योजनाकरण के माध्यम से राष्ट्र ने विकास की लम्बी

[3]सिवेन्थ प्लान एप्रोच पेपर

[4]स्वयं आकलित

तालिका 37 2 भारतीय आयोजित विकास[5] के प्रमुख सूचक

मदें	समयावधि I		समयावधि II	
1 कृषि उत्पादन (वार्षिक वृद्धि दर)	पूर्वायोजन-काल—	0 3%	आयोजन काल—	2 6%
2 औद्योगिक उत्पादन (वार्षिक वृद्धि दर)	पूर्वायोजन-काल—	2 0%	आयोजन काल—	6 0%
3 राष्ट्रीय आय (वार्षिक वृद्धि दर)	पूर्वायोजन-काल—	1 2%	आयोजन काल—	3 5%
4 विदेशी सहायता-निर्भरता (योजना व्यय मे भाग)	1956-61—	28%	1977-78—	8 9%
5 आयात प्रतिस्थापन (राष्ट्रीय आपूर्ति में आयात की भाग)	1955 56—	26 9%	1977 78—	20 1%

डगें भरी हैं। आर्थिक स्वावलम्बन की वृद्धिशील प्रगति के साथ हमारी आर्थिक विकास दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति 3 5% के आसपास रही हैं। वर्तमान छठी योजना के प्रथम चार वर्षों यानी 1980 81 से 1983-84 के बीच यह 5 4% प्रति वर्ष रही है। यह विकास दर देश के पूर्वायोजन काल की 1 2% प्रतिवर्ष की अपेक्षा काफी ऊंची तो है ही, आज के पूर्वविकसित पश्चिमी देशो की तुलनात्मक विकास दर के ही आसपास है। उन देशो की यह दर 3-4% के बीच रही।[6] अपनी आधारभूत संरचना, वृहत औद्योगीकरण शक्ति-स्रोत, कृषिगत गत्यात्मकता, विज्ञान एव तकनीक, तथा तकनीकी मानव-कौशल के विकास के बल पर देश औद्योगीकरण-क्रान्ति की प्रथम अवस्था को पार कर द्वितीय अवस्था मे है। उन्नयन-अर्थशास्त्री रोस्टोव की यह निश्चित धारणा है।

किन्तु हमारे आयोजको का यह आरम्भिक विश्वास की इस विकास क्रम मे निर्धनता एव बेरोजगारी की समस्याओं पर भी काबू होगा, सत्य नहीं निकला। इस विश्वास के मूल मे पूर्व विकसित पश्चिमी देशो का अनुभव था। किन्तु भारत जैसे लगभग सभी विकासमान राष्ट्रो की विशेष परिस्थितियो—विशेषकर आबादी-वृद्धि की द्रुतगति, विकास-प्रशासन के अयथेष्ठ अनुभव निहित स्वार्थ की करामात, तथा ढाचागत परिवर्तनो के अभाव के कारण विकास का प्रतिफल निर्धन एव प्रताड़ित व्यक्तियो को पर्याप्त मात्रा मे प्रभावित न कर सका। विश्व-संघ की एक अनिनिष्ट-भूत की समीक्षा[7]

[5]छठी योजना : 1980-85 पृ० 11, 14, 15

[6]यू० एन० रिपोर्ट, प्राइसेज आफ इन्डस्ट्रियलाइजेशन, 1951, पृ० 8

[7]यू० एन० इकानामिक एण्ड सोशल काउन्सिल ऑफ अर्बनियन पोटार्नेस एण्ड रूरल डवलपमेंट, 1984

इसे समर्थन देती है। 22 विकासमान देशों में 20 ऐसे हैं जिनका प्रतिव्यक्ति सकल घरेलू उत्पादन $ 400 से कम हैं, 14 देशों में 12 ऐसे हैं जिनका यह प्रतिव्यक्ति उत्पादन $ 400 से $ 1000 के बीच हैं, और इन 22 देशों में से 17 ऐसे हैं जिनका यह उत्पादन $ 1000 से भी अधिक है। किन्तु इन सब में ग्रामीण आबादी के 30% से अधिक व्यक्ति निर्धनता के शिकार हैं। एशिया एव अफ्रीका तथा लैटीन अमेरिका के कई देश हैं जिनकी प्रति व्यक्ति आय डालर 400 के आसपास हैं, और उनकी वार्षिक विकास दर 7-8% के बीच रही है। किन्तु वे सभी विकराल निर्धनता तथा बेरोजगारी से ग्रस्त हैं। ये तथ्य इस बात के समर्थक हैं कि सामान्य विकास-दर वृद्धि के बावजूद निर्धनता और बेकारी की स्थिति बनी रहती है।

भारत इसका अपवाद नहीं रहा है। 1880 की एक सामान्य समीक्षा के अनुसार 30% भारतीय निर्धनता-रेखा से नीचे रहते थे। डा० आर्कयार्ड ने 1933 में इसे इसी सीमा यानी 30% पर ही रखा। योजनारंभ काल में भी यही सीमा 30% की थी। किन्तु इस बात को मान लेने पर भी कि पूर्वायोजन काल के आकडे अधूरे थे, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आयोजन काल के दौरान निर्धनता का प्रतिशत काफी ऊंचा रहा है, और उसमें कोई विशेष अधोगामी अन्तर नहीं आया है। दृष्टिपात कीजिये इन आकडों पर .

तालिका 37 3 भारत में निर्धनता-रेखा से नीचे[8] रहने वाले व्यक्तियों का प्रतिशत

मदें	1972-73	1977-78
ग्रामीण क्षेत्र	54.02%	50-42%
शहरी क्षेत्र	41.22%	38.19%
समस्त भारत	57.49%	48.13%

और अद्यतन अनुमान है कि देश में लगभग 50% व्यक्ति निर्धनता रेखा से नीचे रह रहे हैं। 1977-78 में ऐसे निर्धनों की संख्या देश में 306 मिलियन थी, 1980-81 में बढ़कर 339 मीलियन पर पहुच गयी, और (यह मानकर कि इस समय देश की आबादी लगभग 75 करोड़ है) इनकी संख्या 1984-85 में 375 मीलियन हैं। बेरोजगारी की बाढ़ भी योजनाक्रम के साथ बढ़ती गयी है (तालिका 37-4)।

इस तरह जहा आज से करीब 33 वर्ष पहले यानी योजनारंभ वर्ष 1951 में बेकारों की संख्या 33 लाख थी, ऐसी आशका है कि वह 1984-85 में बढ़कर उसकी सात गुनी से लगभग यानी 241 लाख पर पहुंचेगी। योजना के दौरान आय वितरण की विषमताएं भी विकराल होती गयी हैं। एक अनुमान के अनुसार देश के उच्चतम केवल

[8]छठी योजना 1980-85, पृ० 16

तालिका 37.4- भारत में बेकारी की स्थिति[9]

समय	कुल बेकारों की संख्या
1 प्रथम योजनारम्भ	33 लाख
2 प्रथम योजनान्त	53 „
3 द्वितीय योजनान्त	71 „
4 तृतीय योजनान्त	96 „
5 चतुर्थ योजनान्त	171 „
6 पंचम योजनान्त	221 „
7 षष्ठम योजनान्त (अनुमानित)	241 „

10% व्यक्ति राष्ट्र की 60% से अधिक आय को प्राप्त करते हैं, और 10% परिवार देश की समूची औद्योगिक उपभोक्ता-वस्तुओं के 67% का उपभोग करते हैं। एक और अनुमान है कि जहां देश के केवल 5% उच्चतम परिवारों की आमदनी तथा परि-सम्पत्तियों में बेतहाशा वृद्धि हुई है, वहां लगभग 50% व्यक्ति आज निर्धनता रेखा से नीचे रह रहा है। इस परिस्थिति को ऊंचे मूल्यतलों ने और विकट बना दिया है, जो योजनाओं के दौरान हुई थोक मूल्यों की वृद्धि से पता चलता है।

तालिका 37.5 आयोजन काल में थोक मूल्य वृद्धि[10]

योजना काल	थोक मूल्य-वृद्धि
1 प्रथम योजना	22% गिरावट
2 द्वितीय योजना	35% वृद्धि
3 तृतीय योजना	36% „
4 वार्षिक योजनाएं (1966-69)	25% „
5 चतुर्थ योजना	54% „
6 पंचम योजना	30% „
7 षष्ठ योजना (प्रथम चार वर्ष)	35% „

[9](अ) आर० बी० आई० बुलेटीन, दिसम्बर 1969

(ब) ड्राफ्ट फार्थ प्लान, पृ० 106 108

(स) स्टेटसमैन, 2-4-81

[10]नागेश्वर दास, स्टेट्समैन, 22-9-79

यह तो थोक मूल्यों की हवाई घुड़दौड़ है। उपभोक्ता मूल्य तो और ऊपर उठे। गरीबी-रेखा का निर्धारण करते समय 1960-61 के मूल्यतलों पर न्यूनतम प्रति व्यक्ति उपभोक्ता की आय 20 रुपया पर रखी थी, ताकि वह व्यक्ति गरीबी रेखा से ठीक ऊपर हो। 1978-79 के मूल्यतलों पर इसे न्यूनतम 200 रुपया होना चाहिये। तब से मूल्यतलों में करीब 55% की वृद्धि हुई है। अस्तु 1984-85 में इस रकम को करीब 310 रु० होना चाहिए। निश्चित ही निर्धनों की आय में इतनी वृद्धि नहीं हुई है। और तब स्पष्टत आज निर्धनों की संख्या में ही नहीं वृद्धि हुई है, बल्कि उनकी हालत पहले से काफी खराब है।

यह स्थिति है बावजूद इन तथ्यों के, कि पूरे आयोजन काल में विकास के लिये हमने 174364 करोड़ रुपयों का सरकारी व्यय किया है, 3 5% प्रतिवर्ष की विकास-दर हासिल की है, और निर्धनों की विशिष्ट पूरक परियोजनाओं[11] पर लगभग 20,000 करोड़ रुपयों का सार्वजनिक व्यय किया है। यह व्यय मुख्यतया निर्धनता निवारण पर किया गया है।

पर आज हम ऐसी स्थिति में हैं कि इस समस्या पर प्रत्यक्ष प्रहार कर सकें और ऐसी नीतियों का सम्पादन कर सकें कि विकास प्रतिफल लघुतम व्यक्ति तक पहुंचे, जैसा प्रधान मंत्री श्रीमती गांधी ने स्पष्ट कहा था[12]। इस दृष्टि से सप्तम योजना एक महान विभाजक रेखा है, क्योंकि हम इसके साथ उस प्रत्यक्ष विकास-विधि का अनुसरण करेंगे जिसमें रोजगार-वृद्धि पर और निर्धनता-निवारण पर तथा मूल्यतल वृद्धि नियंत्रण पर विशेष जोर होगा। रोजगार, भोजन और उत्पादकता पर हम इस योजना में जो केन्द्रीय बल देने जा रहे हैं, उसका यही अर्थ है।[13]

यह निर्विवाद है कि हमें विकास-दर यानी समूची अर्थव्यवस्था की उत्पादन-वृद्धि-दर हर हालत में बढ़ानी होगी। किन्तु इस क्रम में पूंजी विनियोग ढांचा में ऐसा परिवर्तन लाना होगा जो अब तक अपनाये गये ढांचे से भिन्न हो। अर्थात् ऐसे आर्थिक अचलों के विकास पर विशेष जोर देना होगा जिनमें अपेक्षाकृत कम पूंजी-विनियोग पर उत्पादन-वृद्धि के साथ रोजगार-अवसर बढ़ें, जिसमें बेकारी का निदान निकले, उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन बढ़े, जिसमें मूल्य-तल वृद्धि पर नियन्त्रण हो, और इस उत्पादन-सह रोजगार-वृद्धि का क्रम ऐसा हो कि सामान्य जनता और निर्धनों को कार्यरत रहने के अवसर निरन्तर प्रशस्त होते रहें। उत्पादक रोजगार-साधन-वृद्धि के तीन प्रमुख गुण[14] होने चाहिए

1 परिसम्पत्ति-सृजन/अभिवर्द्धन।
2. मानवीय कौशल-निर्माण।

[11] ट्रिब्यून, इकानामिक सीन, 26-7 85
[12] छठी योजना—1980-85, पृ० 4
[13] सेवेन्थ प्लान एप्रोच पेपर
[14] पूर्वोद्धृत

3 उत्पादक रोजगार-निरन्तरता।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि हमें उन क्षेत्रों पर अधिक बल देना होगा जहाँ निर्धनता तथा बेकारी अधिक व्यापक और विकराल है। अद्यतन आकड़ों के अनुसार इन दोनों की विकरालता ग्रामीण क्षेत्र में अधिक है। 1984-85 में कुल निर्धनों की संख्या 375 मीलियन आकी जा रही है जिसमें से लगभग 90 प्रतिशत यानी करीब 337.5 मीलियन देहातों में हैं। और इस वर्ष के अनुमानित 241 लाख बेकार व्यक्तियों में लगभग 216 लाख व्यक्ति इन्हीं देहातों में हैं। अस्तु कृषि-उत्पादन की वृद्धि अत्यावश्यक है जहाँ उत्पादन और रोजगार दोनों बढ़ने की अधिकतम गुंजाइश है। किन्तु कृषि के मात्र उत्पादन-वृद्धि से रोजगार बढ़ेंगे, और निर्धनता नीचे आयेगी, यह अनिवार्य नहीं। पिछले अनुभव इस बात के प्रमाण हैं। बावजूद इसके कि योजनाओं के दौरान कृषि-उत्पादन-वृद्धि-दर प्रतिवर्ष 2.6 प्रतिशत रही। हरित क्रान्ति आयी, तथा खाद्यान्न-उत्पादन जो 1950-51 में 50 मीलियन टन था 1983-84 में लगभग तीन गुना होकर 153 मीलियन टन पर पहुंचा। ग्रामीण गरीबों पर इसका कोई स्पष्ट प्रभाव नहीं पड़ा है। कारण यह है कि इन गरीबों के पास न तो भू-परिसम्पत्ति है, और न ही पर्याप्त आय कि इस कृषि-क्रान्ति का फायदा उठा सकें। वस्तुतः योजनाओं के दौरान ग्रामीण परिसम्पत्ति-वितरण का ढांचा और बदतर यानी गरीबों के विपक्ष में गया है। देहातों का सबसे गरीब तबका भूमिहीन खेतिहर मजदूर है, और इसके बाद सीमान्त किसान हैं। परिसम्पत्ति-वितरण के ख्याल से दोनों की हालत बदतर हुई है। जैसा कि ज्ञात है 1964-65 तथा 1974-65 के बीच भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की परिवार संख्या 153 लाख से बढ़कर 208 लाख हो गयी, यानी 37 प्रतिशत की वृद्धि हुई।[15] 1970-71 तथा 1975-76 के बीच एक हेक्टर से कम यानी सीमान्त जोतों की संख्या 362 लाख से बढ़कर 445 लाख पर पहुंच गयी, यानी 23 प्रतिशत की वृद्धि हुई।[16] हालांकि ये जोतें कुल कार्यशील जोतों का 54.6 प्रतिशत हैं, किन्तु कुल जोत-भूमि में उनका हिस्सा मात्र 10.7 प्रतिशत है। एक से दो एकड़ के बीच की जोतें छोटे किसानों के पास हैं, जिनकी संख्या कुल कार्यशील जोतों में 18 प्रतिशत है, किन्तु कुल जोत-भूमि में उनका हिस्सा मात्र 12.8 प्रतिशत है। तात्पर्य यह है कि लघु एवं सीमान्त किसान (जो निर्धन हैं) हालांकि कुल जोतों के 72.6 प्रतिशत के मालिक हैं, कुल कृषित भूमि के मात्र 23.5 प्रतिशत के ही मालिक हैं। इसी अत्यधिक परिसम्पत्ति-वितरण-विषमता के कारण कृषि और खाद्यान्न-उत्पादन की वृद्धि के बावजूद लघु और सीमान्त किसान निर्धन एवं बेरोजगार रह गये हैं। डा० अमर्त्य सेन[17] का कहना है कि निर्धनता का मुख्य कारण है परिसम्पत्ति-स्वामीत्व का अभाव। चूंकि अधिकांश ग्रामीणों

[15] एग्रीकल्चरल लेबर इन्क्वायरी रिपोर्ट्स 1964-1965 एण्ड 1974-75
[16] एग्रीकल्चरल सेन्सेज, 1970-71, 1975-76
[17] इकोनामिक टाइम्स, 23-7-84

के पास ऐसी सम्पत्ति का अभाव या अयथेष्टता रही, कृषि-विकास का उन्हें कोई लाभ न हो सका।

अस्तु यह अत्यावश्यक है कि भूमि सुधार की योजनाएं कार्यान्वित कर हम देहातों में भू-स्वामीत्व का वितरण करें, ताकि अधिकतम किसानों के पास लाभदायक (वायबल) छोटी-छोटी जोतें हों। इससे फसल-गहनता बढ़ेगी, उत्पादन-वृद्धि होगी, उत्पादक रोजगार के अवसर बढ़ेंगे, तथा निर्धनता का निवारण होगा। अनेकों फार्म-मैनेजमेंट-अध्ययनों का यह निर्विवाद उपसंहार है कि छोटी जोतों पर उत्पादन और रोजगार दोनों बढ़ते हैं, क्योंकि इन जोतों पर फसल-गहनता अधिक होती है। तालिका 37 6 में प्रदर्शित अध्ययन[18] इस पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

तालिका 37 6 जोतों का आकार तथा फसल-गहनता

आकार	फसल-गहनता
छोटी जोतें	1.68
मध्यम जोतें	1.57
बृहत जोतें	1 54
सामान्य जोतें	1.56

एक विशेषज्ञ का मत है कि यदि भारतीय कृषि की फसल-गहनता प्रतिवर्ष एक प्रतिशत बढ़े, तो 2000 ए० डी० तक केवल कृषि में 214 मीलियन व्यक्तियों को स्थायी रूप से पूर्ण रोजगार मिल सकता है, और इस क्रम में यदि कृषिगत उत्पादन 50 प्रतिशत बढ़े, और रोजगार 15 प्रतिशत बढ़े तो निर्धनता पर कारगर रूप से काबू पाया जा सकता है।[19]

फसल-गहनता की इस वृद्धि के लिये अधिकांशतया जिस तरह की वस्तों (इनपुट्स) की आवश्यकता होती है, वे उद्योगों से आती हैं। यह कृषि-उद्योगों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। किन्तु आरम्भिक स्फुरण कृषि से ही आता है। विकसित देशों का अनुभव यही बताता है। इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति के लिये "स्पिनिंग जेनी" को उतना श्रेय प्राप्त नहीं जितना खेत में उगे "टर्निप" को है। इसीलिये प्रोफेसर कैल्डर का कथन है कि औद्योगीकरण का मुख्य रहस्य कृषि-विकास में है। चूंकि कृषि विकास में प्रमुख उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन होता है, इसलिये कृषि-विकास का उत्पादक रोजगार-वर्द्धन

[18] एन० टी० पटेल, इकानामिक टाइम्स, 3 11 75
[19] स्टेट्समैन, 1-9-75

अपस्फीतिकारक (नान-इन्फ्लेशनरी) होता है, जिस पर सप्तम योजना का अत्यधिक जोर होना चाहिए।[20]

रोजगार-प्रसार तथा निर्धनता-निवारण की समस्या इतनी व्यापक, विकराल तथा दर्दनाक है कि इसके शमन के लिये पूरक योजनाएं अत्यन्त आवश्यक हैं। आरम्भ से ही हमने ऐसी योजनाओं का कार्यान्वयन किया है। किन्तु चौथी पंचवर्षीय योजना के आरम्भ से जब प्रधान मंत्री श्रीमती गांधी ने 'गरीबी हटाओ" का परम पुनीत नारा लगाया, बीस-सूत्री कार्यक्रम का संपादन आरम्भ हुआ, तब से देश में रोजगार तथा निर्धनता-निवारण की विशिष्ट परियोजनाएं चालू हुईं, जिनमें मुख्य हैं आई० आर० डी० पी०, एन० आर० ई० पी०, एन० आर० ई० जी० पी०, ट्राइसम। परिसम्पत्ति-सृजन, कौशल-निर्माण तथा निरन्तरता की दृष्टि से इनमें आई० आर० डी० पी० प्रमुख है। इन परियोजनाओं के फलस्वरूप छठी योजना के दौरान लगभग 150 लाख व्यक्ति निर्धनता-रेखा से ऊपर लाये गए हैं। किन्तु समस्या की विकटता की दृष्टि से यह प्रगति न्यून है। अस्तु सप्तम योजना में हमें इन परियोजनाओं की व्यय-राशि बढानी होगी, सम्पादन में रत प्रशासन को चुस्त करना होगा तथा मूल्यांकन एवं मानीटरिंग की व्यवस्था पर विशेष जोर देना होगा।

मानव-साधन-विकास

निर्धनता-निवारण तथा रोजगार-वर्द्धन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम सामान्य—विशेषकर निम्नवर्गीय लोगों की क्षमता बढायें—उनके उपभोग-सुधार, शिक्षा-विस्तार, पेयजल-पूर्ति, आदि की सुविधाएं बढा कर। थोड़े में इसे हम मानव साधन-विकास की संज्ञा देते हैं। विशेषज्ञों का मत है कि राष्ट्रीय विकास में विकसित मानव-साधन का योगदान किसी भी अकेले साधन से बहुत अधिक है। श्री ब्रैडफोर्ड मोर्स इस योगदान की सीमा को 80 प्रतिशत पर रखते हैं और भारत जैसे विकासमान देशों के लिए इसका विशेष महत्व बताते हैं। किन्तु इस दशा में हमारे प्रयत्न अब तक अत्यन्त न्यून रहे हैं (तालिका 37.7)।

पूरे आयोजन-काल (1950-51 से 1984-85) में हमारा सरकारी व्यय 174364 करोड़ रुपया हुआ है, जिसका मात्र 2 4 प्रतिशत यानी 4184 करोड़ रुपया ही इस मद में व्यय हुआ है। निश्चित ही यह अत्यल्प है, यदि हम इस बात पर ध्यान दें कि मानव-साधन-विकास स्वयं अपने में तो हमारा अन्तिम उद्देश्य है ही, साथ-साथ समूची अर्थव्यवस्था के विकास में इसका अधिकतम योगदान होना है। निश्चित ही सप्तम योजना में इस पर अधिक जोर देना होगा। 180,000 करोड़ रुपया के सप्तम योजना के

[20]सेवेंथ प्लान एप्रोच पेपर

[21]ब्रैडफोर्ड मोर्स, यू० एन० डी० पी० ऐडमिनिस्ट्रेटर, इकोनामिक टाइम्स, 22-2-84

प्रस्तावित व्यय में मानव-साधन के लिए कम-से-कम 10 प्रतिशत का प्रावधान होना चाहिए।

तालिका 37.7. भारतीय आयोजन में मानव-साधन-विकास-व्यय (करोड़ रुपया)

योजनाएं	व्यय	कुल योजना-व्यय का प्रतिशत
प्रथम योजना	33	1.7%
द्वितीय योजना	85	1.8%
तृतीय योजना	127	1.5%
वार्षिक योजनाएं (1966-69)	74	1.1%
चतुर्थ योजना	270	1.7%
पंचम योजना	1107	2.8%
षष्ठम योजना (प्रस्तावित)	2488	2.6%
कुल	4184	2.4%

परिवार-नियोजन

और सबसे बढ़कर ध्यान देना होगा परिवार-नियोजन पर। अपने सीमित साधनों (वित्तीय तथा प्रशासकीय) के अन्दर जनतन्त्रात्मक ढंग से भारत ने आयोजन-काल में निर्धनता-शमन तथा रोजगार-वर्द्धन में कम सिद्धियां नहीं प्राप्त की हैं। किन्तु द्रुत आबादी-वृद्धि-दर के फलस्वरूप समस्याएं सुरसा की भांति मुंह बाये खड़ी रहती हैं (तालिका 37.8)।

इस प्रकार पूरे आयोजन-काल में हमने 1124 लाख व्यक्तियों के लिए अतिरिक्त रोजगार साधन जुटाये हैं। किन्तु तीव्र आबादी-वृद्धि के फलस्वरूप श्रम शक्ति में स्थूल रूप से इतनी वृद्धि होती है कि हम समस्या पर काबू पाने में असफल होते हैं। तीव्र आबादी-वृद्धि के कारण देश में प्रतिवर्ष लगभग 60-65 लाख व्यक्ति बेकारी बाजार में नये सिरे से प्रवेश कर जाते हैं, और करीब 67-68 लाख व्यक्ति नये सिरे से निर्धनता-रेखा से नीचे रहने वालों की जमात में जुड़ जाते हैं। भारत उन देशों में अग्रणी है जिन्होंने जनतांत्रिक ढंग से बड़े पैमाने पर परिवार-नियोजन का शुभारम्भ किया। परन्तु कई

[22]स्वयं आकलित

तालिका 37.8 आयोजनकाल में रोजगार-वृद्धि[23]

योजनाएं	अतिरिक्त रोजगार प्राप्त व्यक्ति
प्रथम योजना	70 लाख
द्वितीय योजना	100 ,,
तृतीय योजना	145 ,,
वार्षिक योजनाएं	114 ,,
चतुर्थ योजना	180 ,,
पंचम योजना	185 ,,
षष्टम योजना (अनुमानित)	330 ,,
कुल जोड़	1124 लाख

एशियायी देशों के मुकाबले में हमारा परिवार नियोजन व्यय प्रतिव्यक्ति अत्यन्त न्यून है। अस्तु सप्तम योजना से इस मार्ग पर बड़े पैमाने पर अग्रसर होना होगा। भारत जैसे देश में विकास के लिये विशेषकर अपनी निर्धनता निवारण तथा रोजगार-साधन-विस्तार की दृष्टि से परिवार नियोजन पर जनतान्त्रिक ढंग से जितना भी व्यय करें, जितनी भी सतर्कता दिखायें, वह कम ही है। किसी भी पूंजी का प्रतिफल इतना विशाल और प्रभावक नहीं हो सकता।

[23]पूर्व आकलित

अध्याय 38

विकासशील देशों में आय-वितरण

आय-वितरण के अनुमानों का उपयोग अर्थशास्त्री लोग योजनाकरण तथा नीति-निर्धारण से सम्बन्धित कई सन्दर्भों में करते हैं। अध्याय के दृष्टिकोण से इन अनुमानों के उपयोग द्वारा एक ही देश की विभिन्न समयावधियों में, और विभिन्न देशों के बीच विषमताओं की प्रवृत्ति का विश्लेषण किया जाता है। आय-वितरण की विषमताएं विकसित देशों में अधिक हैं, अथवा विकासशील देशों में? योजनाकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप आय वितरण की विषमताएं घटी हैं या बढ़ी हैं? ये कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं, जिनका समाधान आय तथा उपभोग की मात्रात्मक-वितरण-सम्बन्धी जानकारी की उपलब्धि पर ही सम्भव है।

आय-वितरण-सम्बन्धी आंकड़ों की स्थिति राष्ट्रीय गणना-सम्बन्धी आंकड़ों से भिन्न है। विकास की अपेक्षाकृत आरम्भिक अवस्था में ही आय-वितरण से सम्बन्धित आंकड़ों का महत्त्व होता है; और विकासशील देशों में बहुत कम देश ऐसे हैं जो आय-वितरण-सम्बन्धी आंकड़ों का आकलन वैज्ञानिक ढंग से लगातार करते हैं। फलस्वरूप ये आंकड़े अपूर्ण होते हैं, और इनकी तुलनात्मक उपयोगिता सीमित होती है। ऐसी अवस्था में यदि इन आंकड़ों की उपलब्धि वांछनीय हो, जिनसे विभिन्न समयावधियों और विभिन्न देशों का तुलनात्मक अध्ययन हो सके, तो हमें आय-वितरण-सम्बन्धी आंकड़ों की एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की प्रतिष्ठा करनी होगी। और इसके लिए प्रामाणिक अवधारणाओं को निश्चित करना होगा। ठीक उसी तरह जैसे राष्ट्रीय गणनाओं के बारे में यू० एन० एस० ओ० ने किया था। बहुत लोग इस विचार से सहमत हैं। किन्तु ऐसी अवधारणाओं के निश्चयन में दो बातें आती हैं। प्रथमतः यह कि ये अवधारणाएं सभी देशों को मान्य हों और दूसरी यह कि सम्बन्धित आंकड़ों के जुटाव के लिए सर्वेक्षण किए जाएं। इन दोनों में काफी समय लग जायेगा। जब तक यह काम पूरा होगा, उसके पहले ही यह आवश्यक हो गया है कि वर्तमान में उपलब्ध सर्वेक्षण-आंकड़ों का मूल्यांकन किया जाए, और उसके आधार पर जितने भी विकासशील देशों के लिए सम्भव हो, आय-वितरण-सम्बन्धी तुलनात्मक आंकड़ों की प्राप्ति की जाए।

इसी स्थिति को ध्यान में रखकर विश्व-बैंक ने एक शोध-कार्यक्रम चलाया। इसमें उपलब्ध सर्वेक्षण-आंकड़ों के मूल्यांकन एवं सुधार के प्रयत्न किये गये, और लगभग 20 विकासमान देशों के लिए आय-वितरण-सम्बन्धी अनुमान लगाये गए। इस प्रयत्न में यह विशेष ध्यान रखा गया कि ये आंकड़े यथासम्भव विश्वसनीय हों, और साथ-साथ

उनमें अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से तुलनात्मकता का भरपूर समावेश हो। कौन देश इस शोध-कार्य-क्रम की परिधि में आए, यह एक प्रश्न था। अन्ततः उन्हीं देशों को शामिल किया गया जिन्होंने अपने यहां राष्ट्रीय स्तर पर परिवारगत आय से सम्बन्धित सर्वेक्षण कराया हो, और इन सर्वेक्षणों में प्रयुक्त परिभाषाएं एवं अवधारणाएं प्रामाणिक हों।

अवधारणाएं एवं परिभाषाएं

इस शोध-कार्य में पारिवारिक आय की परिभाषा निश्चित करते समय दो मुख्य घटकों पर ध्यान रखा गया। प्रथम घटक वह, जिसके लिए आमदनी के कुछ तत्त्व जोड़े गये, और दूसरा वह, जिसे प्रथम घटक में से घटाया गया।

प्रथम घटक में समाविष्ट तत्त्व निम्नलिखित थे

(i) कुल चालू उपभोग्य आमदनी (किस्म और नकद दोनों रूप में),

(ii) शुद्ध स्व-नियोजन आमदनी (जिसमें स्वयं अपने द्वारा उत्पादित सामग्री का उपभोग भी शामिल था),

(iii) निजी परिसम्पत्ति तथा विनियोग से प्राप्त आय (जिसमें तथाकथित लगान की रकम भी शामिल थी) तथा

(iv) अन्य चालू हस्तान्तरण-प्राप्तियां।

दूसरे घटक में निम्नलिखित तत्त्व शामिल थे

(i) व्यक्तिगत आमदनी, तथा

(ii) व्यक्तिगत परिसम्पत्ति-कर-मात्राएं।

प्रथम घटक में से दूसरा घटक घटा दिया गया, और शेष रकम को पारिवारिक आय की परिभाषा दी गयी। किन्तु इस परिभाषा में समग्र कल्याण का कुछ ही भाग आता है; क्योंकि इसमें सरकार द्वारा दी गयी निःशुल्क तथा सस्ती सेवाओं से प्राप्त कल्याण का समावेश नहीं होता है। इस परिभाषा की यह एक अपूर्णता है। बावजूद इस कमी के, आय की इसी अवधारणा को आर्थिक कल्याण का सामान्यतया सर्वोत्तम माप माना जाता है। कारण इसका यह है कि इसमें अवधारणात्मक उपयुक्तता एवं आंकड़ों की उपलब्धता का सुमेल समन्वयन है।

आय की इसी अवधारणा को परिभाषित कर आय की इकाई के रूप में परिवार को माना गया। चाहे एक-व्यक्तीय परिवार हो, या बहु-व्यक्तीय परिवार हो, उसे एक परिवार माना गया। बहु-व्यक्तीय परिवार में एक से अधिक व्यक्ति रहें, किन्तु यदि वे सभी साथ-साथ भोजन तथा अन्य आवश्यकताओं की व्यवस्था करते हैं, तो उन्हें एक ही परिवार माना गया। परिवार अवश्य एक केन्द्रीय इकाई है, जिसमें उपभोग एवं उत्पादन के निर्णय एक जगह लिये जाते हैं। फिर भी चूंकि कल्याण पर परिवारों की आकार-विभिन्नता का प्रभाव पड़ता है, इसलिये परिवार को कल्याण की भी इकाई मानना युक्ति-संगत नहीं माना जा सकता। उदाहरणत, दो परिवारों की आमदनियां समान हों, किन्तु अगर उनके सदस्यों की संख्या में अन्तर होगा, तो दोनों परिवारों के

कल्याण मे अन्तर आ जायेगा। इसलिये कल्याण के विभिन्न स्तरो के तुलनात्मक ज्ञान के लिये अधिक उचित यह होगा कि हम प्रत्येक परिवार के प्रत्येक सदस्य की आय पर ध्यान केन्द्रित करें। सम्बन्धित उपलब्ध आकडे परिवारगत ही हैं। वर्तमान वर्गीकृत सर्वेक्षण आकडो की कमजोरियों, और साथ-साथ विकासमान देशों के लिये तुलनात्मक आय-वितरण-सम्बन्धी अनुमानो की आवश्यकता को ध्यान मे रखते हुए परिवार को ही आय की इकाई माना गया। जहा उपयुक्त आकडे उपलब्ध हो सके, वहा परिवार के सदस्य को ही आय की इकाई मानकर वितरण-सम्बन्धी अनुमान लगाये गये।

विषमताओं के अनुमान

पारिवारिक आमदनी की दृष्टि मे परिवारों को ऊर्ध्वगामी क्रम मे रखा गया। आय भागो को परिवारो के दशमाशों के आधार पर निकाला गया, और विषमताओं की माप "गिनी-अनुपात" द्वारा निकाली गयी। चूंकि सामान्य विश्वास यह है कि "गिनी-अनुपात" बहुत सवेदनशील नहीं होता, हम लोगों ने 'परिवर्तनों' का 'गुणाक' भी निकाला। तालिका 38 1 मे चुने हुए विकासमान देशो में प्रचलित विषमताओं की माप का सक्षिप्तीकरण है। तुलनात्मक मन्तव्य से इसम कुछ चुने हुए विकसित देशों में प्रचलित विषमताओ की भी माप दी गयी है।

प्रति व्यक्ति आय के अनुसार परिवार के सदस्यों का सापेक्ष स्थान निकालने पर उनके बीच जो विषमताए परिलक्षित होती हैं, उनकी माप तालिका 38 2 मे दी गयी है।

इन सारणियो से यह स्पष्ट है कि आय की विषमताए विकसित देशो की अपेक्षा विकासमान देशों में अधिक हैं। स्वय विकासमान देशों के क्षेत्र में ये विषमताए सामान्यतया एशियन भूभाग मे कम हैं, और अफ्रीका तथा दक्षिणी अमेरिका के देशों में अधिक हैं।

सम्भव है कि आय वितरण के नये अनुमान प्रस्तुत अनुमानों की अपेक्षा अधिक युक्तिसगत हों। फिर भी ये अनुमान पूर्णता से कोसों दूर है। उनमें सुधार लाने का एक ही उपाय है। और वह यह कि हम प्रथमत, आय तथा आय-इकाई की समान अवधारणाए निश्चित करें, और तब यानी इन समान अवधारणाओ के आधार पर पारिवारिक आमदनियो का सर्वेक्षण करें। यदि आय-वितरण-सम्बन्धी तुलनात्मक आकडों के दूरतम स्रोत की तलाश है, तो हमें "विश्व सघ के राष्ट्रीय परिवार-सर्वेक्षण-क्षमता-कार्यक्रम" (यूनाइटेट नेशन्स नेशनल हाउसहोल्ड सर्वे कैपबिलिटी प्रोग्राम) की शरण लेनी होगी। यदि निहित परिवारगत आकडों की किस्म कुछ सुधरी होगी, तो विश्वसनीय राष्ट्रीय गणना एव जनसख्या के आकडो में सगति लाने की बहुत ही कम आवश्यकता होगी।

तालिका 38 1 चुने हुए देशों में विषमताओं की माप

देश	वर्ष	पारिवारिक आय का भाग प्रतिशत में निम्नतम 10%	निम्नतम 20%	उच्चतम 20%	उच्चतम 10%	गिनी-अनुपात	परिवर्तन-गुणांक
1	2	3	4	5	6	7	8
डोमिनिकन रिपब्लिक	1976-77	3 1	6 3	54 0	37 9	0 47	1 01
एल साल्वेडार	1976-77	1 7	5 0	53 2	36 9	0 48	0 99
मेक्सिको	1968	0 7	2 7	62 6	46 7	0 56	1 31
पनामा	1976	0 7	2 0	61 3	43 5	0 57	1 24
ट्रिनीडाड टोबागो	1975 76	1 6	4 2	50 0	31 8	0 45	0 87
बंगला देश	1973 74	2 7	6 8	42 2	27 4	0 36	0 69
भारत	1975-76	2 5	6 0	49 4	33 6	0 42	0.87
इण्डोनेशिया	1976	3 2	6 5	49 4	34 0	0 44	0 90
नेपाल	1976-77	1 8	4 6	59 2	46 5	0 53	1 25
फिलीपीन्स	1970-71	1 9	5 1	54 0	38 7	0 47	1 03
थाईलैंड	1975 76	2 2	5 6	49 8	34 1	0 42	0 89
कीनिया	1976	0 9	2.7	60 3	45 7	0 59	1 26

1	2	3	4	5	6	7	8
मसालाई	1967-68	5.0	10.4	50.6	40.1	0 39	1.01
सियरालियोन	1967-69	2.0	5.6	52.5	37 8	0.44	0.99
सूडान	1967-68	1.4	4.0	49.8	34.6	0.44	0 92
तन्जानिया	1969	2.1	5.8	50.4	35.6	0.42	0.92
डेनमार्क	1976	2.9	7.4	37.5	22.4	0.30	0.55
स्वीडेन	1979	2.6	7.2	37.2	21.2	0.30	0.54
ब्रिटेन	1979	2 8	7.3	39.2	23.7	0.32	0.58
यूगोस्लाविया	1978	2.4	6.6	38.7	22.9	0.33	0 70

तालिका 38 2 पारिवारिक सदस्यों की विषमता माप (जनसंख्या)

देश	परिवार-सदस्यों के वर्तमान की प्रतिशत आय—भाग				गिनी अनुपात	परिवर्तन गुणांक
	निम्नतम 10%	निम्नतम 20%	उच्चतम 20%	उच्चतम 10%		
डोमिनिकन रिपब्लिक	2 4	5 8	54 1	38 4	0 47	1 02
एल साल्वेडार	2 1	5 8	47 7	31 3	0 40	0 82
मेक्सिको	0 7	2 6	64 0	48 5	0 58	1 35
बंगला देश	3 6	3 9	37 7	23 4	0 28	0 53
भारत	3 4	7 5	46 5	31 4	0 38	0 76
थाईलैंड	2 0	5 3	52 0	36 4	0 44	0 96
कीनिया	0 8	2 5	61 4	45 0	0 59	1 25
डेनमार्क	4 0	9 5	34 0	22 3	0 27	0 51
स्वीडेन	3 5	9 5	32 0	18 5	0 22	0 40
ब्रिटेन	3 9	9 5	37 4	22 6	0 27	0 52

अध्याय 39

बिहार की विकास-विधि

देश के पूर्वी क्षेत्र की विकास-समस्या ने सरकार का उच्चस्तरीय ध्यान आकर्षित किया है। इस क्षेत्र की सम्भावनाएं और भविष्य आशाजनक हैं। न्यून उत्पादकता इसकी प्रमुख समस्या है, जिसके अध्ययन के लिये रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया तथा 'नाबार्ड' के अधीन यी० एम० आर० की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया है। पूर्वी क्षेत्र के कृषि विकास के लिए एक कारगर विधि का पता लगाने के लिये योजना आयोग ने एक अन्य कार्यकारी दल का गठन किया है। इस क्षेत्र में मुख्यतया पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल तथा उड़ीसा शामिल हैं। इनमें बिहार का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि बिहार के लिये उपयुक्त विकास विधि के आधार पर समस्त पूर्वी क्षेत्र की आगामी विकास विधि का निर्धारण हो सकता है।

आबादी की दृष्टि से बिहार पूरे देश में दूसरा स्थान रखता है। पहला स्थान उत्तर प्रदेश का है। बिहार में पूरे देश की आबादी का 10 3 प्रतिशत, किन्तु समस्त भूभाग का 5 6 प्रतिशत पड़ता है। प्रस्तुत लेख में बिहार के विकास का विश्लेषण किया गया है। इससे देश के शेष भागों के साथ इस राज्य की प्रगति का तुलनात्मक विश्लेषण सम्भव होगा।

इस क्षेत्र की सम्भावित एवं वास्तविक उत्पादकता में अधिकतम खाई है। निर्धन आबादी का एक बहुत बड़ा भाग इसी क्षेत्र में पड़ता है। इस क्षेत्र के पर्याप्त कृषि विकास के फलस्वरूप उत्पादन-स्तर पर आत्मनिर्भरता तो बढ़ेगी ही, साथ-साथ जनता के निर्धनतम वर्ग की रोजगार और आमदनी में यथेष्ठ वृद्धि होगी।

इस लेख में निम्नलिखित दो बिन्दुओं पर प्रकाश डाले जा रहे हैं :

(अ) जीवनयापन स्तर तथा विकास प्रयासों को शामिल करते हुए कुछ आर्थिक-सह-सामाजिक सूचकों को प्रस्तुत किया जायेगा, जिससे देश के अन्य बड़े राज्यों में बिहार के तुलनात्मक स्थान का ज्ञान होगा।

(ब) पिछले तीन दशकों में बिहार ने जो कुछ हासिल किया है, उसमें प्रगति लाने के लिये कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर प्रकाश डाला जायेगा।

इसके लिये चुने गये विभिन्न सूचकों को तालिकाओं में दर्शाया गया है, जिनमें राज्यों के सापेक्ष स्थान एवं अन्य उचित विवरण भी हैं।

आर्थिक विकास का सापेक्ष स्तर

कुछ सामान्य सूचकों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि पिछले दो दशकों में बिहार का सापेक्ष विकास-स्तर लगातार नीचा रहा है। बावजूद इसके कि राज्यीय घरेलू उत्पादन की माप में कई त्रुटियाँ हैं, इस उत्पादन के वृद्धि स्तर को ही सामान्यतया विकास का सूचक माना गया है। प्रति व्यक्ति घरेलू उत्पादन की दृष्टि से बिहार का स्थान 1960-61 से 1979-80 की पूरी अवधि के दौरान देश के 18 बड़े राज्यों में सबसे नीचा यानी अठारहवाँ रहा है। इसका प्रमुख कारण यह रहा है कि इस सम्पूर्ण अवधि में इस राज्य में प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि बहुत नीची रही। सबसे दुखदायी बात तो यह है कि 1970-79 के बीच भी प्रति व्यक्ति आय वृद्धि की दृष्टि से बिहार का स्थान अन्य राज्यों की तुलना में सबसे नीचा रहा। इस बीच यह आय बिहार में ऋणात्मक दर अर्थात् (—) 1 5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर पर बढ़ी। राज्य की अर्थ-व्यवस्था की इस अधोगति के कारणों की छानबीन हमारे लिये आवश्यक हो जाती है। ध्यान देने की पहली बात तो यह है कि (जैसा 1981 की जनगणना से स्पष्ट होता है) 1971-81 के दशक में समूचे देश और बिहार राज्य की आबादी-वृद्धि दरों में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। समूचे देश की यह दर इस दौरान 2 24 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही, और बिहार में यह सम्बन्धित दर लगभग उतनी ही यानी 2 18 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही।

बिहार में मुख्यतया एक खेतिहर अर्थव्यवस्था है। इस राज्य की कृषि भूमि के 92 प्रतिशत पर खाद्यान्न फसलें उगायी जाती हैं, और इसकी कुल कार्यकारी आबादी के 76 8 प्रतिशत लोग खाद्यान्न उत्पादन में ही संलग्न हैं। खाद्यान्न उत्पादन की वृद्धि-दर मात्र 1 3 प्रतिशत प्रतिवर्ष है। स्वभावतः ही इसके फलस्वरूप 1961-62 तथा 1980-81 के दौरान समूचे राज्य की अर्थव्यवस्था की विकास दर में कमी आयी होगी। हालांकि यह राज्य अधिकांशतया एक खाद्यान्न—अर्थव्यवस्था का है, इसे भोजन की कमी का सामना करना पड़ता है। माँग की वर्तमान स्थिति के आलोक में इस राज्य में प्रतिवर्ष 8 5 लाख टन खाद्यान्न की कमी रहती है।

कृषि-क्षेत्र की इस न्यून विकास दर का दूसरा कारण है राज्य का प्रति हेक्टर न्यून खाद्यान्न उत्पादन। देश के 15 बड़े राज्यों में इस दृष्टि से बिहार का स्थान नौवां है। इसका प्रति हेक्टर खाद्यान्न-उत्पादन समस्त राष्ट्र की औसत से भी न्यून है। कुल जोत-भूमि के प्रति हेक्टर की औसत खाद-खपत 1968-69 में 7 3 किलोग्राम थी, जो 1980 81 में बढ़कर 17 7 किलोग्राम पहुँच गयी। खाद-खपत की यह वृद्धि-दर 1968-81 के बीच औसतन 7 7 प्रतिशत प्रतिवर्ष के बराबर होती है। किन्तु समूचे राष्ट्र की सम्बन्धित औसत वृद्धि-दर यानी 9 7 प्रतिशत प्रतिवर्ष से यह कम ही है। प्रति-व्यक्ति खाद-खपत की दृष्टि से तो राज्य की हालत और बदतर है। यह खपत समूचे राष्ट्र में औसतन 8 2 किलोग्राम पड़ती है, जबकि बिहार में इसकी लगभग एक-चौथाई के बराबर यानी मात्र 2 9 किलोग्राम है। 1972-77 की अवधि में बिहार

में ट्रैक्टरों की संख्या क्रमश 5600 से बढ़कर 10,000 पर पहुंच गयी। किन्तु कृषित क्षेत्रफल के प्रति 1000 हेक्टर पर यह संख्या मात्र 0 52 से बढ़कर 0 86 पर ही पहुंची, जबकि 14 बड़े राज्यों के आधार पर राष्ट्रीय औसत की सम्बन्धित वृद्धि 1.4 थी।

बिहार की न्यून कृषि-प्रगति के और भी दूसरे कारण हैं जैसे सीमित सिंचाई-क्षमता, सृजित सिंचाई-क्षमता का न्यून उपयोग, न्यून खाद-खपत, तथा उन्नतिशील बीज आदि का न्यून प्रयोग।

कल-कारखानों में सृजित राष्ट्रीय आय (अर्थात् मूल्यवर्द्धन) औद्योगीकरण के स्तर का सूचक है। इस मूल्यवर्द्धन में बिहार का योगदान 1960-61 में [illegible] 5 प्रतिशत था, और 1977-78 में यह गिरकर 4 9 प्रतिशत पर आ गया। इस दृष्टि से बिहार का स्थान इन दो समयावधियों में क्रमश पांचवां तथा सातवां था। यह स्थिति देश के 15 बड़े राज्यों के सन्दर्भ में थी। चूंकि इन दो दशकों में बिहार का स्थान औद्योगीकरण की दृष्टि से नीचे गिरता गया, इसलिये यह कहा जा सकता है कि बिहार की गिरती अर्थव्यवस्था का यह एक प्रमुख कारण है।

प्रति व्यक्ति मूल्यवर्द्धन की दृष्टि से भी बिहार का सापेक्ष स्थान नीचे गिरता गया है। 1960-61 में 14 राज्यों के सन्दर्भ में इसका स्थान आठवां था, किन्तु 1977-78 में 15 राज्यों के सन्दर्भ में यह गिरकर तेरहवां हो गया।

1960-61 में कल-कारखानों का मूल्यवर्द्धन-सूचक जब उड़ीसा में न्यूनतम यानी 22 था, तो बिहार में यह 61 था। किन्तु 1977-78 में यह सूचक जब उत्तर प्रदेश का न्यूनतम यानी 40 था, तो बिहार में यह 48 था। तात्पर्य यह कि इन दो अवधियों में इस दृष्टि से भी बिहार की अर्थव्यवस्था नीचे गिरती गयी।

विकास-योगदान का स्तर

गुप्ता तथा अहलूवालिया ने अपने एक अध्ययन में कुछेक 44 महत्त्वपूर्ण सूचकों को चुना और फिर इन्हें भाजित कर 3 सम्मिलित समूहों में रखा।[1] ये सूचक राज्यों के सापेक्ष स्तरों की माप दर्शाते हैं। ये सूचक विभिन्न राज्यों के विकास-स्तर को तो दर्शाते ही हैं, साथ-साथ विकास के उत्तरदायी तत्त्वों के रूप में भी प्रयुक्त किये गए हैं। इस भांति चयनित दो सूचक निम्नलिखित हैं:

(अ) सार्वजनिक क्षेत्र-सुविधा-सूचक

(ब) कुशलता-सूचक

देखने में यह आता है कि देश के 22 राज्यों के साथ देखने पर सार्वजनिक क्षेत्र-सुविधा-सूचक की दृष्टि से बिहार का सापेक्ष स्थान जो 1961 में ग्यारहवां था, वह

[1] गुप्ता, अहलूवालिया एवं सिंह (1982) "द लेवेल्स ऑफ इकनॉमिक डेवलपमेंट, प्रायोरिटीज आफ द गवर्नमेंट आन सोशल डेवलपमेंट इंडिकेटर्स एण्ड स्टेट डेवलपमेंट", से उद्धृत।

गिरकर 1978 में अठारहवें पर आ गया। कुशलता-सूचक की दृष्टि से भी यह राज्य नीचे-ही गिरता गया। 1961 में इसका स्थान आठवां था, अगले दो दशकों में यह नीचे गिरता रहा, और 1978 में यह गिरकर सोलहवें पर पहुंच गया।

अब नजर डालिये 'आधारभूत संरचना-सूचक' पर जो किसी राज्य की विकासमान अर्थव्यवस्था की प्रगति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कारक है। इस सूचक की दृष्टि से 1966-67 और 1977-1980 के बीच बिहार का स्थान जहां का तहां ही बना रहा। 1979-80 के संरचना-सूचक-परिकलन में बिजली, सड़क, रेलमार्ग, डाकघर, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा बैंकिंग आदि 16 सूचकों को सम्मिलित किया गया था। यह सूचक बिहार और सम्पूर्ण देश के लिये समान यानी 100 था। यह सूचक पंजाब में अधिकतम यानी 217 और त्रिपुरा में न्यूनतम यानी 56 था।

जीवनयापन स्तर

विकास के सामान्य सूचक एवं प्रगति के सामान्य कारक जीवनयापन-स्तर के सूचकों में प्रतिबिम्बित होते हैं। ये सूचक पोषण, शिक्षा, स्वास्थ्य, शक्ति, यातायात, संचार नामक वर्गों में विभाजित किये गये हैं—श्री गुप्ता, श्री निवासन, एवं सिंह द्वारा।[2] स्वास्थ्य एवं साक्षरता के आलोक में बिहार का स्तर अति न्यून है। किन्तु अकेले साक्षरता के सूचक बड़ी उत्साहवर्द्धक तस्वीर खींचते हैं। हालांकि 1981 की जनगणना के अनुसार देश के 15 बड़े राज्यों में साक्षरता के प्रतिशत की दृष्टि से बिहार का स्थान तेरहवां यानी काफी नीचा है किन्तु 1971-1981 की अवधि के दौरान साक्षर आबादी की प्रतिशत-वृद्धि की दृष्टि से बिहार का स्थान 15 राज्यों में तृतीय-उच्चतम है, यानी 55.5 प्रतिशत है। साक्षरता-वृद्धि की इस ऊंची वृद्धि-दर का कायम रहना राज्य के आर्थिक-सह-सामाजिक विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

जीवनयापन-स्तर के सापेक्ष स्तर का दूसरा महत्वपूर्ण सूचक है भारत सरकार के योजना-आयोग द्वारा परिकल्पित निर्धनता-रेखा से नीचे रहने वाली आबादी का अनुमान। यदि इन अनुमानों के प्रतिशत 21 राज्यों के सन्दर्भ में अधोगामी क्रम में रखे जाएं, तो बिहार का स्थान तीसरा आता है। 1977-78 में समस्त देश की निर्धनता-रेखा से नीचे रहने वाली आबादी का प्रतिशत 48 था, जबकि बिहार का यह सम्बन्धित प्रतिशत 57.5 था।

बिहार की कृषि-निर्भर आबादी की प्रति व्यक्ति आय जो 1950-51 में 197.80 रुपये थी, गिरकर 1976-77 में 195.50 रुपये पर आ गयी। 1960-61 में यह अपनी उच्चतम शिखर पर यानी 219.20 रुपये थी, इसके बाद यह गिरने लगी। विपरीत इसके शेष शहरों एवं गैर-कृषि-निर्भर 28 प्रतिशत आबादी की प्रति व्यक्ति आय ने निरन्तर वृद्धि की प्रवृत्ति दिखायी है। यह आय 1950-51 में 399.40 रुपये

[2] गुप्ता, श्रीनिवासन एवं सिंह (1982), 'द पैटर्न्स और स्टैन्डर्ड ऑफ लिविंग', 'प्रोसीडिंग ऑफ कान्फरेन्स ऑन रीजनल डेवलपमेंट इन्डिकेटर्स एण्ड प्लान कोआर्डिनेशन', नैनीताल में आयोजित।

जो बढ़कर 1976-77 में 813 रुपये पर पहुच गयी। इससे एक बात स्पष्ट होती है. जहा ग्राम निवासी धनी वर्ग ने विकास-लाभों का फायदा उठाया है वहाँ विनियोग एव विपणन जैसी बाधाओ का शिकार निर्धन मध्यम वर्गीय किसान अभावग्रस्त रह गया है, और आपदाओं की जजीर में जकड़ा रह गया है।

विनियोग

यद्यपि उपर्युक्त विभिन्न सूचकों में से कुछ बिहार के न्यून विकास के कारणों पर प्रकाश डालते हैं, इन कारणों का विशद विवेचन इस लेख की परिधि के बाहर है। प्रति व्यक्ति विकास व्यय, एव गैर-विकास बजट-व्यय के आकड़ों से पता चलता है कि देश के पन्द्रह बड़े राज्यों में बिहार के ये प्रति व्यक्ति विकास एव गैर विकास व्यय (क्रमश: 109 रु० तथा 35 रुपये) न्यूनतम हैं। पजाब एव हरियाणा देश के अधिक विकसित राज्य हैं। इनके प्रति-व्यक्ति विकास-व्यय बिहार जैसे कम विकसित राज्यों की तुलना में ढाई-गुना है।

गैर-सरकारी क्षेत्र के राज्यवार विनियोग-आकड़े उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु अखिल भारतीय गैर-सरकारी अ-बैंकीय वित्तीय सस्थाओं द्वारा दी गयी वित्तीय सहायता के आकड़ों से विभिन्न राज्यों में गैर-सरकारी विनियोग का अन्दाज लगाया जा सकता है। ऐसी वित्तीय सहायता के आकड़े मार्च 1980 तक उपलब्ध हैं। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि 15 बड़े राज्यों में बिहार का स्थान चौदहवा है। बिहार के इस कुल सहायता का 3 5 प्रतिशत प्राप्त हुआ। इस प्रकार की प्रति व्यक्ति सहायता की दृष्टि से बिहार का स्थान 15 बड़े राज्यों में सबसे नीचे है। यह प्रति व्यक्ति वित्तीय सहायता बिहार में मात्र 33 रुपये है, जबकि अधिक विकसित राज्य गुजरात में यह 250 रुपये, और समस्त भारत का औसत 97 रुपये है।

छठी योजना के लिए वित्तीय साधनों की कमी

उपर्युक्त राज्यीय योजनागत प्रगति तथा विनियोग-स्तर की पृष्ठभूमि में यह बात बड़ी चिन्ताजनक है कि बिहार को अपनी छठी योजना के लिए साधन जुटाने में बड़ी कठिनाइया झेलनी पड़ी हैं। यद्यपि इस योजना का आकार 3225 करोड रुपयों के बराबर है, बिहार का प्रति व्यक्ति योजना-व्यय जो 456 रु० है, 15 बड़े राज्यों की तुलना में न्यूनतम है। इसकी मुख्य वजह यह है कि राज्य के साधनों पर अत्यधिक आबादी का दबाव है। 22 राज्यों में बिहार द्वितीय-अधिकतम आबादी का राज्य है।

तालिका 39 1 बिहार की छठी योजना के प्रथम तीन वर्षों की तसवीर देती है। इससे स्पष्ट है कि 3225 करोड रुपयों की छठी योजना में केन्द्रीय सहायता की मात्रा 1261 करोड रुपये और स्वय राज्य के अपने साधनों की मात्रा 1964 करोड रुपये हैं; यानी दोनों के बीच 39 61 का अनुपात है। यह भी पता चलता है कि केन्द्रीय सहायता का अश 1980 81, 1981-82 तथा 1982-83 में क्रमश 51%, 45% तथा 41%

रहा। तात्पर्य यह कि हर अगले वर्ष में केन्द्रीय सहायता का अनुपात घटता गया है।

सीमित एवं घटती केन्द्रीय सहायता के कारण राज्य को अनेक वित्तीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। पूर्वनिर्धारित अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए राज्य को अपने निजी साधनों की वृद्धि के प्रयत्न करने पड़ रहे हैं।

प्रस्तावित आगामी विधियां

बिहार में विनियोग एवं विकास-दर की वृद्धि के लिए कुछ सामान्य उपायों पर विचार करना होगा और व्यावहारिक संपादन के लिए उनका विस्तृत विवरण तैयार करना होगा। ये उपाय निम्नलिखित हैं —

1. समाज के ढांचे में मौलिक परिवर्तन लाना होगा, और उत्पादन-परिसम्पत्तियों का न्यायपूर्ण वितरण करना होगा। यदि ऐसा नहीं होगा तो विकास-प्रतिफल का लाभ कुछ धनी एवं शक्तिशाली व्यक्ति ही पा सकेंगे और सामान्य जनता उनसे वंचित रह जायेगी।

2. राज्य में उचित भूमि-सुधारों का प्रतिपादन आवश्यक है।

3. समाज को उचित एवं वांछित नेतृत्व की उपलब्धि होनी चाहिए।

4. विकास-योजनाओं का निरूपण एवं संपादन लक्ष्य-वर्गों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होना चाहिए।

5. कार्यक्रम-सेवाओं के बीच समानान्तर एवं लम्बवत दोनों प्रकार का कड़ा संबंध स्थापित करना चाहिए।

6. कार्यक्रम निर्धारण तथा संपादन में सभी स्तरों पर अधिकतम जन-भागीदारी की प्राप्ति का प्रयत्न होना चाहिए।

7. रेलमार्ग, सड़क-यातायात एवं अन्य आधारभूत संरचनात्मक सुविधाओं के प्रसार के लिए अल्पकाल में ही केन्द्रीय सहायता में वृद्धि वांछनीय है। इन सुविधाओं का गठन एवं प्रसार बड़े खर्चीले होते हैं। इनके अभाव में एक दुर्भाग्यपूर्ण चक्र कार्यशील हो जाता है। चूंकि कोई राज्य इन सुविधाओं के अभाव से ग्रस्त है, वह निर्धनता का शिकार हो जाता है और चूंकि वह निर्धन है, आधारभूत संरचनाओं की वृद्धि के लिए उसके पास समाधान नहीं होते। ऐसी सुविधाओं के अभाव के कई कारणों में से यह एक प्रमुख है कि लोगों के मन में यह भावना बैठ जाती है कि इन सुविधाओं का आयोजन मात्र सरकार का ही उत्तरदायित्व है। और दूसरी ओर समय-प्रवाह के साथ सरकार के साधन सिमटते जा रहे होते हैं। इसके फलस्वरूप देश में एक अभूतपूर्व नाजुक हालत पैदा हो गयी है और दुर्भाग्य यह है कि इसके भयानक कुपरिणामों का लोगों को पूरा अहसास नहीं हो रहा है। कम-से-कम अभी इस नाजुक हालत पर काबू पाया जा सकता है, बशर्ते कि सरकार पर ही जनता निर्भर न रहे, और इन सुविधाओं के सृजन में स्वयं आगे बढ़कर योगदान करे। यथासंभव अपने बलबूते पर भरोसा रखे। अन्तु जनता की सरकार-निर्भरता की प्रवृत्ति में व्यापक परिवर्तन अनिवार्य है।

8. यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम कुछ परियोजनाओं का इस प्रकार निरूपण और निष्पादन करें कि वित्तीय प्रबन्ध आई० बी० आर० डी०, आई० डी० ए० तथा ए० डी० बी० जैसी संस्थाओं की बाहरी सहायता से सम्पन्न हो सके।

9 चूंकि विकास-योजनाओं के वित्तीय प्रबन्ध का भार अधिक अंश में स्वयं राज्य के ऊपर पड़ता है, इसलिए यह आवश्यक है कि राज्य सरकार ऐसी नीतियों का प्रतिपादन करे जो वित्तीय अनुशासन को व्यापक स्तर पर सख्ती से अनुपालित करें, फिजूलखर्ची पर प्रतिबन्ध लगायें, तथा राज्य के निजी समाधनों की अधिकतम वृद्धि करें।

10 न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम जैसी सामान्य जनता की स्थिति-सुधार से संबंधित विभिन्न परियोजनाओं एवं प्रोजेक्ट्स के सपादन में साधनों की सीमितता का कोई बुरा प्रभाव न पड़ना चाहिए।

साराश

पूर्वी क्षेत्र में बिहार का स्थान अधिकतम महत्त्वपूर्ण है। यहां देश की गरीब जनता का एक बहुत बड़ा भाग निवास करता है, और इस राज्य के संभावित उत्पादन तथा वास्तविक प्राप्त उत्पादन के बीच बहुत बड़ी खाई है। जिस विकास-विधि के अनुसरण से बिहार की प्रगति सम्भव होगी, उससे समस्त पूर्वी क्षेत्र की प्रगति की सफल प्राप्ति होगी, और निर्धनतम वर्ग को रोजगार और आमदनी की वृद्धि में व्यापक सहायता मिलेगी।

प्रति व्यक्ति राज्यीय घरेलू उत्पादन की ही दृष्टि से बिहार 18 बड़े राज्यों की तुलना में सबसे पिछड़ा ही नहीं है बल्कि इसकी प्रतिव्यक्ति आय वृद्धि-दर भी (—) 1.5 प्रतिवर्ष होने के कारण सबसे कम है। बिहार की कृषि-व्यवस्था की न्यून विकास-दर के कुछ स्पष्ट कारण हैं, जैसे अनियंत्रित आबादी-वृद्धि, शिक्षा एवं स्वास्थ्य-सम्बन्धी जनता का न्यून स्तर, विभिन्न कृषि-उपादानों की न्यून खपत, वाछनीय अंश में उन्नत कृषि के तरीकों के अपनाने में कमी, सम्बन्धित सम्भावनाओं एवं क्षमताओं का न्यून उपयोग, और फलस्वरूप न्यून उत्पादकता। बिहार कोई अपवाद नहीं। इन्हीं सब कारणों से इसकी कृषि-व्यवस्था की जीवनी शक्ति घटती गयी है और इसके फलस्वरूप विभिन्न दृष्टियों से दूसरे राज्यों में बिहार का सापेक्ष स्थान सबसे नीचा होता जा रहा है।

कल-कारखानों में सृजित राष्ट्रीय आय तथा प्रतिव्यक्ति मूल्यवर्द्धन के सूचकों पर गौर करने से यह स्पष्ट होता है कि 15 बड़े राज्यों के बीच इसका सापेक्ष स्थान लगातार नीचा होता गया है, पांचवें से सातवां राष्ट्रीय आय की दृष्टि से, और आठवें से चौदहवां प्रति व्यक्ति मूल्यवर्द्धन की दृष्टि से। इन आकड़ों से औद्योगिक क्षेत्र में भी बिहार की दर्दनाक हालत का अन्दाज लग सकता है। कृषि एवं उद्योग जैसे दो व्यापक क्षेत्रों की न्यून विकासगति के कारण स्वभावतः ही राज्य की प्रति व्यक्ति आय न्यून है, कुशलता-सूचक नीचा है, और अन्ततः इसका जीवनयापन-स्तर नीचा है जैसा कि

निर्धनता-रेखा से नीचे रहने वाली जनता के सांख्यिकी अनुमानों से स्पष्ट होता है। देश के 21 राज्यों में दो को छोड़कर बिहार में ऐसी निर्धन जनता के प्रतिशत अनुमान अधिकतम हैं।

विनियोग-क्षेत्र में बिहार का प्रति व्यक्ति विकास तथा गैर-विकास-व्यय न्यूनतम है। राज्य की वित्तीय तसवीर बड़ी उदास है। छठी योजना में केन्द्रीय सहायता हर अगले वर्ष में घटती गयी है।

राज्य की इस वर्तमान स्थिति पर काबू पाने के लिए निम्न-वर्णित विधि प्रस्तावित है।

विकास-कार्यक्रमों में जनता की अधिकतम भागीदारी वांछित है। इन कार्यक्रमों का निरूपण ऐसा रहे जिससे लोगों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव हो। उचित नेतृत्व के अन्दर इन कार्यक्रमों के बीच समानान्तर एवं सम्भवतः दोनों प्रकार का कड़ी-संबंध स्थापित करना आवश्यक है। यथेष्ठ सीमा तक उचित भूमि-सुधार-उपायों को अपनाना होगा। ऐसा प्रयत्न करना होगा कि उत्पादक परिसम्पत्तियों तथा विकास-लाभों का न्यायपूर्ण वितरण हो सके। लोगों की मनोवृत्ति को इस भांति शिक्षित एवं प्रेरित करना होगा कि वे आधारभूत सरंचनात्मक सुविधाओं के लिए हर हालत में सरकार पर ही न निर्भर रहें, बल्कि स्वयं इनका विनिर्माण करें। जन-मनोवृत्ति का ऐसा परिवर्तन नितान्त आवश्यक है।

जिन परियोजनाओं का वित्तीयन बाहरी सहायता से सम्भव हो, उन पर भरपूर जोर देना चाहिए। साधन-सीमितता के कारण सामान्य जनता के लाभार्थ चलायी गयी न्यूनतम आवश्यकता-कार्यक्रम जैसी परियोजनाओं के संपादन में किसी प्रकार की ढील न आनी चाहिए।

तालिका 39 1 क्षेत्रफल एवं आबादी

क्रम सं०	सूचक	इकाई	अवधि	सभी बड़े राज्य, भारतीय औसत (भा० औ०)	बिहार	सापेक्ष स्थान/ राज्य संख्या	अधिकतम	न्यूनतम
1	क्षेत्रफल	1000 वर्ग कि० मी०	—	3287 8 भा० औ०	173 9 (5 3%)	9/22	मध्य प्रदेश 442 8 (13 5%)	सिक्किम 7 3 (0 2%)
2	आबादी	मीलियन	1981	683 8 भा० औ०	69 9 (10 2%)	2/22	उत्तर प्रदेश 110 9 (16 2%)	सिक्किम 0 3
3	घनत्व प्रति वर्ग कि० मी०	संख्या	1981	221 (जम्मू-कश्मीर छोड़कर) भा० औ०	402 04	3/21	केरल 654	सिक्किम 44
4.	आबादी वृद्धि-दर	प्रतिशत	1971 81	24 8 भा० औ०	23 9	15/22	सिक्किम 50 4	तमिलनाडु (17.2)

स्रोत : सेंसस ऑफ इण्डिया, 1981, सीरीज 1, पेपर 1, इण्डिया, प्रोविजनल पापुलेशन टोटल्स, नई दिल्ली, मार्च 1981

तालिका 39.2. राज्यीय घरेलू उत्पादन

क्रम स०	सूचक	इकाई	अवधि	सभी बड़े राज्य भारतीय औसत (भा० औ०)	बिहार	सापेक्ष स्थान/राज्य संख्या	अधिकतम	न्यूनतम
1.	वर्तमान मूल्यों पर प्रति व्यक्ति राज्यीय घरेलू उत्पादन	रुपये	1960-61	307 भा० औ०	215	18/18	महाराष्ट्र (409)	बिहार (215)
			1970-71	638 भा० औ०	402	18/18	पंजाब (1030)	बिहार (402)
			1979-80	1287 भा० औ०	795	18/18	पंजाब (264)	बिहार (795)
2.	स्थिर मूल्यों पर प्रति व्यक्ति घरेलू उत्पादन-वृद्धि-दर	प्रतिशत प्रतिवर्ष	1960-61 / 1950-51	1 24 भा० औ०	(2 09)		मद्रास (3 ·6)	प० बंगाल (—0 20)
			1969-70 / 1960-61	0 94 भा० औ०	(—1 15)		पंजाब (3 50)	बिहार (—1 15)
			1977-78 / 1970-71	1 60 भा० औ०	(1 05)		पंजाब (28)	मध्य प्रदेश (—3 1)

स्रोत सेन्ट्रल स्टैटिस्टिकल आर्गनाइजेशन, मंथली एब्स्ट्रैक्ट आफ स्टैटिस्टिक्स जून 1979, नयी दिल्ली सितम्बर 1977, एण्ड नेशनल अकाउंट्स स्टैटिस्टिक्स 1970-71—1978-79, नयी दिल्ली, 1981

तालिका 39.3 सामान्य सूचक

क्रम सं०	सूचक	इकाई	अवधि	सभी बड़े राज्य भारतीय औसत (भा ओ०)	बिहार	सापेक्ष स्थान/ राज्य संख्या	अधिकतम	न्यूनतम
(क)	सरकारी क्षेत्र सुविधा सूचक	सापेक्ष स्थान	1961			11/22	पंजाब	मेघालय
			1971			12/22	केरल	सिक्किम
			1978			18/22	नागालैंड	सिक्किम
(ख)	कुशलता-सूचक	सापेक्ष	1961			8/22	केरल	मेघालय
			1971			10/22	केरल	सिक्किम
			1978			16/22	पंजाब	राजस्थान
(ग)	आधारभूत संरचना-विकास-सूचक	सूचक	1966 67	100 भा० ओ०	98	8/16	पंजाब (201)	मध्य प्रदेश(53)
			1972-73	100 भा० ओ०	106	8/21	पंजाब (206)	त्रिपुरा (43)
			1978-79	100 भा० ओ०	100	9/21	पंजाब (107)	मध्य प्रदेश(61)
			1979-89	100 भा० ओ०	100	9/21	पंजाब (217)	त्रिपुरा (56)

स्रोत : गुप्ता, अहलूवालिया एवं सिंह, 'इण्डिकेटर्स ऑफ इकानामिक डवलपमेंट', प्रोसीडिंग्स ऑफ सेमिनार ऑन रीजनल डेवलपमेंट इण्डिकेटर्स एण्ड प्लान कोआपरेशन, 1982, नैनीताल में आयोजित। बेसिक स्टेटिस्टिक्स रीलेटिंग टू इण्डिया 1982, सी० एम० आई० ई०

तालिका 39 4 कृषि एवं निर्धनता

क्रम स०	सूचक	इकाई	अवधि	सभी बड़े राज्य भारतीय औसत (भा० औ०)	बिहार	सापेक्ष स्थान/ राज्य सख्या	अधिकतम	न्यूनतम
1	खाद्यान्न उत्पादन-वृद्धि दर	प्रतिवर्ष प्रतिशत वृद्धि दर	1961 62 एव 1980-81 के अन्त होने वाली त्रिवर्षीय अवधियाँ	2 4 भा० औ०	1 3	18/21	पजाब 6 5	मध्य प्रदेश 0 3
2	प्रति हेक्टर खाद्यान्न उत्पादन	किलोग्राम प्रति हेक्टर	1978 79	1025 भा० औ०	981	9/15	पजाब 2447	पजाब 629
3	निर्धनता-रेखा से नीचे की आबादी	प्रतिशत	1977-78	48 13 भा० औ०	57 5	3/21	उडीसा 64 4	राजस्थान 15 13

स्रोत बेसिक स्टैटिस्टिक्स रिलेटिंग टू इंडियन इकानामी, वाल्यूम II अक्टूबर 1981, सी० एम० आई० ई०

तालिका 39.5. उद्योग

क्रम सं०	सूचक	इकाई	अवधि	सभी बड़े राज्य भारतीय औसत (भा० औ०)	बिहार	सापेक्षस्थान/ राज्य संख्या	अधिकतम	न्यूनतम
1.	फैक्ट्रीज में सृजित राष्ट्रीय आय में योगदान	करोड़ रुपये (भारतीय औसत का प्रतिशत)	1960-61	1022 (100)	66 (6.5%)	5/15	महाराष्ट्र 273 (26.8%)	उड़ीसा 10 रु० (0.9%)
			1977-78	812 (100)	395 (4.9%)	7/15	महाराष्ट्र 2030 करोड़ रु० (25%)	उड़ीसा 163 करोड़ रु० (2.0%)
2.	फैक्ट्रीज-क्षेत्र के प्रति-व्यक्ति मूल्यवर्द्धन का सूचक	सूचक	1960-61	100 (भा० औ०)	61	8/14	महाराष्ट्र 296	उड़ीसा 22
			1977-78	100 (भा० औ०)	48	13/15	महाराष्ट्र	उत्तर प्रदेश 40

स्रोत : सेन्टर फॉर मानीटरिंग इण्डियन इकानामी, ए प्रोफाइल आफ इण्डियन इण्डस्ट्रीज 1976-77, अगस्त 1979 एवं ऐनुअल सर्वे आफ इण्डस्ट्रीज की स्टैटिस्टिकल डेटा, नवम्बर 1980

तालिका 39 6. स्वास्थ्य

क्रम स०	सूचक	इकाई	अवधि	सभी बड़े राज्य भारतीय औसत (भा० औ०)	बिहार	सापेक्ष स्थान/राज्य-संख्या	अधिकतम	न्यूनतम
1.	अस्पताल	संख्या	जनवरी 1980	6596 (भा० औ०)	226	12/15	महाराष्ट्र 966	हरियाणा [redacted]
2.	प्रति 1000 वर्ग की० मी० पर अस्पताल	"	"	2 0 (भा० औ०)	1.3	11/15	केरल 19.5	मध्य प्रदेश 0.6
3.	प्रति लाख की आबादी पर शय्या (अस्पतालों)	"	"	70 0 (भा० औ०)	33.7	13/15	केरल 168.9	मध्य प्रदेश 29.3
4	प्रति लाख की आबादी पर पंजीकृत डाक्टर	"	1979	37.3 (भा० औ०)	23.8	10/15	पंजाब 129.1	मध्यप्रदेश 5 8

स्रोत डाइरेक्टर जनरल आफ हेल्थ-सर्विसेज, मिनिस्ट्री ऑफ हेल्थ एण्ड फैमिली प्लैनिंग, पाकेट बुक ऑफ हेल्थ स्टैटिस्टिक्स ऑफ इण्डिया, नयी दिल्ली, फरवरी, 1981

तालिका 39.7. शिक्षा

क्रम सं०	सूचक	इकाई	अवधि	सभी बड़े राज्य, भारतीय औसत (भा० औ०)	बिहार	सापेक्ष स्थान/ राज्य संख्या	अधिकतम	न्यूनतम
1.	साक्षर आबादी का प्रतिशत	प्रतिशत	1981	36.17 (भा० औ०)	26 01	13/15	केरल 69.17	असम (अप्राप्य)
2	साक्षर आबादी की वृद्धि	प्रतिशत	1971-81	47 4 (भा० औ०)	61 6	3/15	हरियाणा 70.7	तमिलनाडु 3.60
3.	6-11 आयु वाले I-V वर्गों के बच्चों का नामांकन	प्रतिशत	1979-80	बच्चे 100 2 (भा० औ०)	104 2	11/22	सिक्किम	राजस्थान
				बच्चियां 65 9 (भा० औ०)	47.4	18/22	नागालैंड	राजस्थान
				कुल 83 4 (भा० औ०)	76.7	16/22	नागालैंड	राजस्थान

स्रोत रजिस्ट्रार जनरल एण्ड सेंसस कमिश्नर, सेन्सस आफ इण्डिया 1981, पेपर 1, प्रोविजनल पापुलेशन टोटल्स, नयी दिल्ली, मार्च 1981

तालिका 39 8. योजना उद्व्यय

क्रम सं०	सूचक	इकाई	अवधि	सभी बड़े राज्य, भारतीय औसत (भा० औ०)	बिहार	सापेक्ष स्थान/राज्य संख्या	अधिकतम	न्यूनतम
1	प्रति व्यक्ति योजना० उद्व्यय	रुपये	प्रथम योजना	38 भा० औ०	25	13/14	पंजाब 176	केरल 26
			द्वितीय	50 ,, ,,	40	13/14	पंजाब 146	यू०पी० 32
			तृतीय ,,	92 ,, ,,	67	14/15	पंजाब 212	बिहार 67
			चतुर्थ ,,	142 ,, ,,	85	13/15	पंजाब 316	प०बंगाल 82
			पंचम ,,	267 ,, ,,	155	14/15	जम्मू कश्मीर 603	बिहार 155
			छठी ,,	637 ,, ,,	456	14/15	जम्मू-कश्मीर 1429	बिहार 456

स्रोत 1 धनशाला स्थान बिना सेज इन से फेडरल इकानामी, डी० बी० कृष्णा मेमोरियल लेक्चर, विशाखापट्टनम, मार्च 1979
2 प्लैनिंग कमीशन, छठी योजना 1980–85, नयी दिल्ली 1981

तालिका 39 9. बिहार राज्य की छठी योजना का उद्व्यय (करोड़ रुपये)

मदें	छठी योजना का उद्व्यय	1980-81 (वास्तविक)	1981-82 (वास्तविक)	1982-83 (योजना)
1. राज्यीय योजना उद्व्यय/खर्च	3225	477	560	670
वित्तीयन के स्रोत				
(अ) केन्द्रीय सहायता	1261	243	252	276
(i) सामान्य	1136	213	245	270
(ii) विशेष समस्याएं	93	—	—	—
(iii) बाह्य सहायता प्राप्त परियोजनाएं	33	30	7	6
(ब) राज्य के निजी स्रोत	1964	234	308	394
(i) आधारवर्ष-टैक्स-स्तर पर	1000	46	191	356
(ii) अतिरिक्त साधन-निकासी	600	39	55	18
(iii) अतिरिक्त बाजार-ऋण	222	—	35	—
(iv) अतिरिक्त एल० आई० सी० ऋण	14	2	2	1
(v) साधनों की सहायता	128	—	22	18
(vi) केन्द्रीय करों का अतिरिक्त भाग	—	19	—	—
(vii) मकर-अभार से निकासी	—	126	—	4
(स) साधनों का घाटा	—	—	—	3

अध्याय 40

भारतीय नियोजन । सातवीं योजना के परिप्रेक्ष्य में

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में लोकतंत्र की स्थापना के साथ देश के सर्वांगीण विकास के लिए प्रयास शुरू हुए। इस दिशा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रयास नियोजित विकास हेतु पंचवर्षीय योजनाओं का श्रीगणेश है। अब तक हमने पांच पंचवर्षीय योजनाएं और तीन वार्षिक योजनाएं कार्यान्वित की हैं तथा छठी पंचवर्षीय (1980-85) का अंतिम वर्ष चल रहा है। चूंकि योजना वांछित लक्ष्यों की दिशा में सतत प्रयास है, अत किसी भी योजना का अंतिम वर्ष विगत कार्य निष्पादन की समीक्षा तथा नये प्रस्तावों की भूमिका का समय है।

आज से लगभग 33 वर्ष पूर्व प्रथम पंचवर्षीय योजना तैयार करते समय हमारे योजना निर्माताओं ने भावी भारत के स्वरूप की कल्पना करते हुए कहा था कि राष्ट्रीय आय 20 वर्ष में दुगुनी हो जायेगी और प्रति व्यक्ति आय 27 वर्ष में दुगुनी हो जायेगी। निस्सदेह 1951 से 1971 की अवधि में हमारी राष्ट्रीय आय दुगुनी हुई, किन्तु प्रति व्यक्ति आय 27 वर्ष में दुगुनी न होकर केवल 50 प्रतिशत ही बढ़ पायी। छठी पंचवर्षीय योजना की मध्यावधि समीक्षा के आधार पर यह दावा किया जाता है कि प्रथम तीन वर्षों (1980-83) में अर्थव्यवस्था की औसत विकास दर में 5 प्रतिशत तक की वृद्धि हुई है, जो 5 2 प्रतिशत के योजना-लक्ष्य से थोड़ा ही कम है। लेकिन छठी योजना के प्रथम तीन वर्षों में 5 प्रतिशत की औसत वृद्धि दर तथा सम्पूर्ण योजनावधि के लिए 4 9 प्रतिशत की वृद्धि-दर ऊपर से देखने पर तो आकर्षक लगती है मगर वास्तव में यह भ्रामक है। सच तो यह है कि 1980 81 का वर्ष किसी तरह बड़ी मुश्किल से 1979-80 वर्ष की कमी को पूरा कर सका था। यदि 1980-81 वर्ष में कुछ प्रगति हुई, तो बाद के वर्ष (1982-83) म इस वृद्धि म तेजी से गिरावट आयी। फलत छठी योजना की अवधि में अब तक वृद्धि-दर 3 से 3 5 प्रतिशत के आसपास ही रही है और पूरी योजनावधि के लिए इसमें सुधार की आशा निराधार है।

अब छठी योजना में निर्धारित लक्ष्य से अधिक सफलता तभी मिल सकती है, जबकि 1983-84 वर्ष की ही तरह प्रकृति की अनुकम्पा बनी रहे। 33 वर्षों के बाद भी भारतीय योजना में यह एक प्रमुख कमी बनी रही है। 3 5 प्रतिशत की लगातार वृद्धि की प्रवृत्ति के बावजूद व्यापक उतार-चढ़ाव के साथ सामान्यत अनिश्चितता व्याप्त रही तथा भारतीय अर्थव्यवस्था में वृद्धि की प्रवृत्ति-दर में बहुत कम परिवर्तन

हुआ है। आज भी हमारी कृषि 'वर्षा के साथ एक जुआ' है और मौनसून की इस अनिश्चितता से न केवल कृषि ही प्रभावित है बल्कि हमारे उद्योग धंधे भी प्रभावित हैं। इस तथ्य का साक्ष्य तालिका 40 1 है।

उद्योगों में अपेक्षाकृत कम वृद्धि के साथ अधिक व्यय की समस्या पांचवीं पंचवर्षीय योजना के बाद वृद्धिमान पूंजी-उत्पत्ति अनुपात में उल्लेखनीय वृद्धि में स्पष्ट की जा सकती है। कुल पूंजी उत्पत्ति अनुपात, जो पहली योजना में 2 63 था, तीसरी योजना में बढ़कर 6 7 तक पहुंचा गया। इसके बाद ऐसा प्रतीत होता है कि यह अनुपात 5 के ऊपर रुक गया है। इस प्रवृत्ति को तालिका 40 2 में देखा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त आम जनता की गरीबी, व्यापक बेरोजगारी तथा अल्प-रोजगारी और आर्थिक विषमता जैसी बुनियादी समस्याओं का समाधान नहीं हो सका है। यदि ये समस्याएं और अधिक नहीं बढ़ी हैं तो उनकी तीव्रता भी निश्चित रूप से कम नहीं हुई है। इधर हाल में केन्द्रीय योजना मंत्री श्री एस॰बी॰ चह्वाण ने संसद के समक्ष गरीबी रेखा स नीचे वाले लोगों की संख्या में कमी होने का दावा प्रस्तुत किया।[1] उनके मुताबिक 1977-78 में ऐसे लोगों की संख्या 306 मिलियन थी जो 1979-80 में बढ़कर 339 मिलियन हो गयी, किन्तु 1981-82 में यह संख्या घटकर 282 मिलियन हो गयी। लेकिन, यह सर्वविदित है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद गरीबी रेखा के नीचे जीवन व्यतीत करने वाले लोगों की संख्या निरंतर बढ़ती गयी। यथा, स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय 1947-48 में गरीबी रेखा के नीचे वाले लोग देश की कुल जनसंख्या के 40 प्रतिशत थे, जो 1979-80 में बढ़कर 50 प्रतिशत से भी अधिक हो गये। यह तो कुल जनसंख्या का अनुपात हुआ। मगर निरपेक्ष संख्या की दृष्टि से देखा जाय तो आज गरीबी रेखा के नीचे वाले लोगों की कुल संख्या लगभग उतनी है जितनी आजादी के वक्त पूरे देश की जनसंख्या थी।

तालिका 40 3 से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि कम-से-कम घरेलू उपभोक्ता व्यय की दृष्टि से भारत की आर्थिक प्रगति ने कहीं भी विषमता में कमी की बात दिखाई पड़ती।

तालिका 40 3 में प्रदत्त आंकड़ों से यह पता चलता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में 1958-59 और 1977-78 की अवधि में निम्न 30 प्रतिशत लोगों ने 15 प्रतिशत व्यय किया और लगभग यही राशि वर्ष 1961-62 में भी रही। शहरी क्षेत्रों में प्रारम्भ में मामूली सुधार हुआ, परन्तु 1965 66 के बाद कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ऊंचे तबके के 30 प्रतिशत लोगों ने अपने कुल उपभोक्ता व्यय के प्रतिशत में कोई सुधार नहीं किया। वस्तुतः इस अवधि में उन्होंने निम्न 30 प्रतिशत से अपने जीवन-स्तर के किसी भाग का हिस्सा नहीं घटाया। 1977-78 में मध्य 40 प्रतिशत की श्रेणी में शामिल लोगों की स्थिति में मामूली सुधार आया और वह भी ग्रामीण क्षेत्रों में नहीं।

[1] देखें 'दि इकानामिक टाइम्स', कलकत्ता, 16 मार्च, 1984 का सम्पादकीय, पृ॰ 5

तालिका 40 1 भारतीय (सगठित) औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि-पद्धति 1951-1983
(संकेतित आधार सहित सामान्य सूचकांक)

वर्ष	सूचकांक 1956-100	पिछले वर्ष की तुलना में परिवर्तन प्रतिशत में	वर्ष	सूचकांक 1960-100	पिछले वर्ष की तुलना में परिवर्तन प्रतिशत मे	वर्ष	सूचकांक 1970 100	पिछले वर्ष की तुलना मे परिवर्तन प्रतिशत मे
—	—	—	1960	100 2	—	1970	100 0	—
1951	73 4	—	1961	109 2	9 2	1971	104 4	4 4
1952	75 6	3 0	1962	119 8	9 8	1972	110 6	5 9
1953	77 7	2 8	1963	129 7	8 3	1973	111 1	0 5
1954	83 0	6 8	1964	140 8	8 6	1974	113 2	1 9
1955	191 9	10 7	1965	153 8	9 2	1975	119 2	5.3
1956	100 0	8 8	1966	153 2	(—)0 4	1976	133 7	12 2
1957	104 1	4 1	1967	152 6	(—)0 4	1977	138 3	3 4
1958	107 5	3 3	1968	163 0	6 8	1978	147 7	6 8
1859	116 8	8 7	1969	175 3	7 5	1979	149 5	1 2
1960	|130 2	11 5	1970	184 3	5 1	1980	150 6	0 7
						1981	164 6	9 3
						1982	172 0	4 5
						जनवरी-जुलाई 1982	171 4	—
						जनवरी-जुलाई 1983*	177 8	3 8

स्रोत योजना 26 जनवरी 1984 पृ० 44

*अस्थायी (नया संशोधन की सम्भावना)

तालिका 40.2. भारतीय अर्थव्यवस्था में वृद्धिमान पूंजी : उत्पादन अनुपात (योजनावार)
(भारत में योजना के प्रारम्भ काल से) (1970-71 के मूल्याधार पर)

योजना/अवधि	वर्ष	घरेलू पूंजी निर्माण (करोड़ रुपयों में)		बढ़ते हुए घरेलू उत्पाद (करोड़ रुपयों में)		वृद्धि पूंजी उत्पादन अनुपात	
		सकल	शुद्ध	कुल	शुद्ध	कुल घरेलू पूंजी निर्माण वृद्धि	राष्ट्रीय घरेलू भोक्ता निर्माण/ वृद्धि-राष्ट्रीय निकास उत्पादन
प्रथम योजना	1951-56	12,455	8,347	3,334	3,171	3.74	2.63
द्वितीय योजना	1956-61	20 005	14,673	4,664	4,391	4.29	3.31
तृतीय योजना	1961-66	25,779	18,362	3,489	2,975	7.39	6.17
वार्षिक योजना	1966-69	18,572	12,967	3,702	3,413	5.02	3.77
चतुर्थ योजना	1969-74	37,540	26,085	5,921	5,425	6.34	4.81
पंचम योजना	1974-79	47,722	34,466	10,800	10,243	4.22	3.36
छठी योजना का आधार वर्ष	1979-80	10,814	7,731 (—)	2,486 (—)	2,566	—	

स्रोत : राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी, 1970-71 से 1980 81 (फरवरी, 1983) परिशिष्ट अ-1, पृ० 152
केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन, सांख्यिकी विभाग, योजना मन्त्रालय, भारत सरकार

तालिका 40 3

क्रम सं०	श्रेणी	1958-59	1961-1962	1965-66	1970-71	1972-73	1977 78
	ग्रामीण						
1.	निम्न 30 प्रतिशत	13 1	14 7	15 1	15.4	15 4	15 0
2	मध्य 40 प्रतिशत	34 3	33 2	34 3	35 1	33 7	33 1
3	उच्च 30 प्रतिशत	52 6	52 1	50 6	49 5	50 9	51 9
	शहर						
1	निम्न 30 प्रतिशत	13 2	12 9	13 6	13 7	13 8	13 6
2	मध्य 40 प्रतिशत	31 7	31 4	31 9	31 8	38 9	32.4
3	उच्च 30 प्रतिशत	55 1	55 7	54 5	54 5	54 3	54 0

स्रोत छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85), परिशिष्ट 1 एवं 2, पृ० 16

सामाजिक न्याय की दिशा में आनुपातिक गतिहीनता की यह तसवीर है जो 1964 65 से 1982-83 के बीच वास्तविक विकास दरों में गतिहीनता की अपेक्षा अधिक निरुत्साहित करने वाली है। यह इस बात का भी द्योतक है कि अभी भी हमारे योजना-निर्माता गरीब और शोषित तथा समाज के कमजोर वर्ग के लिए उपयुक्त विकास-पद्धति विकसित नहीं कर सके हैं।

हमारी योजना की एक महत्त्वपूर्ण त्रुटि विदेशी सहायता पर निर्भरता है। योजना के प्रारम्भिक दिनों में जब अर्थव्यवस्था में बचत दर कुल राष्ट्रीय उत्पादन का लगभग 6 प्रतिशत था तब देश के मामूली पूंजीगत साधनों को विदेशी सहायता से मजबूत करना एक आवश्यकता थी। लेकिन पिछले अनेक वर्षों से अर्थव्यवस्था में बचत दर औसतन 20 प्रतिशत या इससे भी अधिक है। यह उम्मीद की जा सकती थी कि इस बचत दर से अर्थव्यवस्था का विकास होगा और यह आत्मनिर्भर होगी। लेकिन तथ्य कुछ और ही हैं। हम विदेशी सहायता पर पहले से अधिक निर्भर करने लगे हैं। पांचवीं योजना में उद्देश्य यह था कि योजना के अंत तक विदेशी सहायता शून्य हो जाएगी। छठी योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के लिए 97,500 करोड़ रुपए की राशि जुटाने के लिए यह व्यवस्था की गई कि 9,929 करोड़ रुपये अथवा कुल निर्धारित राशि की 12 प्रतिशत रकम विदेशी सहायता से आयेगी। साथ ही हमने भुगतान संतुलन के वर्तमान घाटे को चुकाने के लिए अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से 5 2 अरब एस०डी०आर० (लगभग 5,400 करोड़ रुपये) का छोटी अवधि ऋण भी उठाया है। आत्मनिर्भरता के लक्ष्य पर हम इतना अधिक बल देते रहे, अब वह बहुत पीछे छूट गया है। निकट भविष्य में भी यह उम्मीद कम ही है कि हम विदेशी सहायता के बिना काम चलाने योग्य हो पाएंगे।

हमने पचवर्षीय योजना प्रणाली अपनाई है। यह प्रणाली हमें इतनी गुंजाइश देती है कि हम हर पांच वर्ष पर जब भी नई योजना तैयार करें तो अर्थव्यवस्था की परिस्थितियों में परिवर्तन के अनुसार अपनी विकास-नीति तथा योजना की दिशाओं को भी समायोजित कर सकें। सातवीं पचवर्षीय योजना के निर्माण के सिलसिले में हमें यह अवसर मिला है कि हम अपना रास्ता बदलें तथा योजना को नई दिशा दें ताकि हम इसे और अधिक प्रभावकारी तथा फलदायक बना सकें।

समय-समय पर योजना नीति पर बहस के दौरान यह प्रश्न उठाया गया है कि विकास के संदर्भ में स्थिरता पर कितना बल दिया जाय। हर बार निष्कर्ष यह रहा है—चूंकि विकास की गति को तीव्र करना है, अतः कीमतों की स्थिरता के मामले में कुछ जोखिम अवश्य स्वीकार की जानी चाहिए। लेकिन व्यवहार में ऐसी नीतियां अपनाई गईं जिनसे विकास और स्थिरता दोनों ही क्षेत्रों को धक्का लगा। घाटे की वित्त व्यवस्था योजना निर्धारण का एक सामान्य अंग बन गई है और इस आसान विकल्प ने सार्वजनिक व्यय के मामले में संयम बरतने की आवश्यकता को समाप्त ही कर दिया है। योजनाओं की गुणात्मकता और विषय-सूची, धन के कारगर प्रयोग पर नहीं, बल्कि सार्वजनिक क्षेत्र के लिए निर्धारित राशि के आकार के अनुसार निश्चित की जाती है। हर बार निर्धारित राशि के लक्ष्य पूरे प्राप्त कर लिए जाते हैं। लेकिन यह राशि खर्च करने की प्रक्रिया में आई मुद्रास्फीति तथा बजट के बड़े घाटों के कारण, सही अर्थों में पूंजीनिवेश केवल उतना ही हो पाता है जितना कि घाटों से बचते हुए या कम से कम उन्हें न्यायोचित सीमा तक रखते हुए, उचित अथवा वांछित मात्रा में राशि निर्धारण किया जाता। स्थिरता की यह अवहेलना ही योजना के प्रति जनता के मोहभंग का एक प्रमुख कारण है।

योजना आयोग की अक्षमता एवं अदक्षता का प्रमाण यह है कि वह इन अनेक आर्थिक शक्तियों को प्रभावित नहीं कर पाता, जिनसे हमारी योजना की कार्यकुशलता, उनके क्रियान्वयन एवं निष्पादन पर प्रभाव पड़ता है। योजना-भवन विदेशी व्यापार और विदेशी सहायता की सम्भावित सीमा के संबंध में कुछ अनुमान लगा सकता है, किन्तु मुद्रा-नीति पर इसका कोई नियंत्रण नहीं है। निजी पूंजी-विनियोग के लिए सूद की दरों का बहुत अधिक महत्त्व है। इन्हें मुद्रास्फीति विरोधी नीति की आवश्यकताओं के अनुरूप नियमित किया जाना चाहिए। ब्याज दरों को प्राथमिकता वाले नये क्षेत्रों के प्रति बैंकों के दायित्व को ध्यान में रखते हुए उनके (बैंकों के) मुनाफे के अनुरूप भी नियमित किया जाना चाहिए, भले ही सूद की ऊंची दरों के कारण पूंजी विनियोग में कमी आ जाय। काला धन तथा समानांतर अर्थव्यवस्था का भी प्रतिकूल प्रभाव मूल्य एवं आपूर्ति पर पड़ता है। फलतः हमारी योजना के समाजवादी उद्देश्य विफल हो जाते हैं। योजना आयोग यह सुनिश्चित करने में भी विफल रहा है कि अतीत में लगायी गयी पूंजी से समुचित लाभ मिले ताकि भविष्य में भी पूंजी लगायी जा सके।

इस प्रकार लगभग तीन दशाब्दो से भी अधिक अवधि के दौरान भारत के नियोजित आर्थिक विकास के मूल्यांकन से यह स्पष्ट पता चलता है कि (1) हमारी योजनाओं का मुख्य उद्देश्य अर्थात् आम लोगो की निर्धनता का निवारण, व्यापक बेरोजगारी तथा अल्परोजगारी की समस्या के समाधान का लक्ष्य पूरा नही हो पा रहा है, (2) मौद्रिक लक्ष्य तो प्राप्त किये जा रहे हैं, किन्तु भौतिक लक्ष्यों का एक बहुत बड़ा हिस्सा अप्राप्य है, (3) योजना के सामाजिक उद्देश्य एव प्राथमिकताओ के अनुरूप अपनायी गयी नियत्रण-पद्धति के फलस्वरूप काला धन और समानान्तर अर्थव्यवस्था का विकास हुआ है, तथा (4) आर्थिक विषमता मे कमी नही आयी है और विकास का फायदा अधिकाश गरीबो के बजाय अल्पसख्यक सम्पन्न व्यक्तियो को ही प्राप्त हुआ है।

इन त्रुटियो और मौलिक विफलताओ की पृष्ठभूमि मे अब हमें इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना है कि सातवी योजनावधि मे हम किसके लिए और किस प्रकार के साधनो से किन लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए प्रयास करना चाहते हैं। 1970 मे हमने 'सामाजिक न्याय के साथ विकास' की नीति अपनायी और 1977 में इसमें परिवर्तन करके 'सामाजिक न्याय के लिए विकास' की नीति अपनायी गयी। किन्तु सामाजिक न्याय के लिए विकास की नीति मे केवल कमजोर वर्ग के लोगो के विकास पर ही जोर दिया गया और सामान्य विकास की बात भुला दी गयी। 'गरीबी हटाओ के नारे' का उद्देश्य भी समाज के कमजोर वर्ग के लोगो को ही लाभ पहुचाना था। गरीबी निवारण कार्यक्रम पर बहुत अधिक जोर दिये जाने से लोग यह भूल गये कि इन प्रयासो को प्रोत्साहित करने के लिए सामान्य विकास भी बहुत जरूरी है।

सातवी योजना बनाते समय भारत की सबसे बडी समस्या जहा एक तरफ लोगो के लिए रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने की है, वही दूसरी तरफ जनसख्या की तीव्र वृद्धि को नियन्त्रित करने की है। आजादी के पहले देश के सामने आबादी की कोई समस्या नही थी। 1901 से लेकर 1951 के बीच पूरे पचास वर्षों की अवधि मे कुल जनसख्या-वृद्धि 1[illegible] करोड 27 लाख थी जबकि 1971 से 1981 के बीच एक दशक मे ही 13 करोड 70 लाख 25 हजार की जनसख्या-वृद्धि हुई और इस प्रकार 1951 से लेकर 1981 तक तीन दशको मे जनसख्या की वास्तविक वृद्धि दुगुनी हो गयी। फलत प्रति व्यक्ति आय वृद्धि 1951 से 1961 के बीच के 1.8 प्रतिशत से घटकर 1971-81 मे एक प्रतिशत से भी निम्न हो गयी। इन आकडो से यह स्पष्ट होता है कि जनसख्या-वृद्धि विस्फोटक स्थिति मे है जिससे लोगो के जीवन-स्तर सुधारने के मार्ग मे बाधा पड रही है तथा विकास-दर मे कमी हो रही है। देश की इस भयानक स्थिति को ध्यान मे रखते हुए सातवी योजना तैयार करते समय हमे केवल दो ही लक्ष्य प्राथमिकता के आधार पर निर्धारित करना चाहिए (अ) पूर्ण रोजगार प्राप्ति, क्योकि लोगो के लिए रोजगार के अवसर उपलब्ध कराकर ही निर्धनता का निवारण किया जा

सकता है, और (ब) जनसंख्या की वार्षिक वृद्धि में कमी लाना। सातवीं योजनावधि के आगामी पांच वर्षों (1985-90) में हमारे सारे नियोजित आर्थिक विकास के प्रयास इन्हीं दोनों लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में केन्द्रित होने चाहिए। सच तो यह है कि उद्देश्यों तथा लक्ष्यों की बहुलता एवं विविधता ने हमारी पंचवर्षीय योजनाओं को दिग्भ्रमित कर दिया है।

अध्याय 41

भारत के पूर्वी राज्यों के सन्दर्भ में निर्धनता विकास तथा राजकोषीय समानीकरण के अंतर्सम्बन्ध

आरम्भिकी

निर्धनता-निवारण सदैव से भारत की पचवर्षीय योजनाओ का एक निश्चित उद्देश्य रहा है। हमारे आयोजित विकास-प्रयत्न के लगभग तीन दशक पूरे हो रहे है। फिर भी देश मे निर्धनता काफी गहरी और व्यापक है। 1977-78 मे देश के 48 प्रतिशत व्यक्ति निर्धनता रेखा से नीचे रह रहे थे। देहातो मे यह प्रतिशत और भी ऊचा यानी 51 था। इस वर्ष कुल गरीबो की सख्या 303 मिलियन थी, जिसमे 252 मीलियन देहातो[1] मे थी। एक वर्ष बाद यानी 1978-79 में यह बढकर 260 मीलियन हो गयी[2]। विभिन्न राज्यो मे निर्धनता की सीमाए भिन्न-भिन्न है। बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु, पश्चिमी बगाल, असम तथा उत्तर प्रदेश ऐसे राज्य हैं जहा निर्धनता-रेखा से नीचे रहने वाले व्यक्तियो के प्रतिशत समूचे भारत के सम्बन्धित औसत प्रतिशत से अधिक हैं। इन्ही राज्यो मे समस्त देश के निर्धनो की कुल आबादी का 72 प्रतिशत निवास करता है।

निर्धनता-माप के तरीको को लेकर लोगो मे बडे मतभेद है। निर्धनता-माप की समस्या को दो दृष्टिकोणों से देखा जाता है। प्रथम दृष्टिकोण का आधार है सम्बन्धित मूल्य तलों पर उपभोक्ता-वस्तु समूह का व्यय, और दूसरे का आधार है खाद्यान्न-उपभोग की अपर्याप्तता। निर्धनता के जो भी अनुमान लगाये जाय, इतना तो निर्विवाद है कि निर्धन कहे जाने वाले लोगो मे अधिकाशतया वे व्यक्ति है जिनका उपभोग स्तर अति न्यून है, और जिनके पास उत्पादन के भौतिक साधनो का या तो नितान्त अभाव है या है भी कुछ तो वह नही के बराबर। बहुधा ये निर्धन जलवायु की दृष्टि से उन खराब इलाको मे रहते हैं जहा उत्पादन अति न्यून और उतार-चढाव का शिकार है, तथा जहा रोजगार के अवसर अत्यन्त सीमित हैं।

इण्डियन काउन्सिल ऑफ मेडिकल रिसर्च की पोषण परामर्शी समिति की अनुशसाओ

[1]योजना आयोग, भारत सरकार, रिपोर्ट ऑफ दी वकिंग ग्रुप ऑन प्रोग्राम्स फॉर एलिमिनेशन ऑफ पोवर्टी', फरवरी 1982, पृ० 1

[2]वही, पृ० [illegible]

को ध्यान मे रखते हुए योजना आयोग के कार्यकारी दल ने सुझाव दिया कि 1960-61 के मूल्य स्तर पर न्यूनतम उपभोग-स्तर की प्राप्ति के लिये प्रति व्यक्ति मासिक उपभोक्ता व्यय 20 रुपया होना चाहिये। क्षेत्रीय अन्तर का ध्यान कर दल ने इस न्यूनतम आवश्यक उपभोक्ता व्यय की मात्रा को देहातों मे 18 90 रु०, और शहरों में 25 रुपया प्रति व्यक्ति प्रतिमास रखा।[3] इस आधार को मानने पर यह पता चला कि निर्धनता रेखा से नीचे रहने वालो के प्रतिशत मे वृद्धि हुई है। 1977 मे नियुक्त कार्य-दल की अनुशसाओं को आधार मानकर योजना आयोग ने निर्धनता-रेखा को पुनर्परिभाषित किया। इस पुनर्परिभाषा मे देहातो मे निर्धनता-रेखा की सीमा को प्रति व्यक्ति प्रतिदिन 2400 कैलरीज और शहरो म 2100 कैलरीज के प्रति व्यक्ति प्रतिदिन के न्यूनतम वाछनीय उपभोग स्तर पर रखा गया। रुपये-पैसो म व्यक्त होने पर य न्यूनतम वाछनीय उपभोग व्यय 1977-78 के मूल्य-स्तर पर देहातों मे 65 रुपये और शहरों मे 75 रुपये प्रति व्यक्ति प्रति माम आते हैं।

इस तथ्य से इन्कार करना असम्भव है कि हमारी पुनीत इच्छाओ और अधिकतम प्रयत्नों के बावजूद जनता की निर्धनता मे वृद्धि होती गयी। गरीबी की समस्या हमेशा हमारे दामन से सटी रही। उन्नीसवी शताब्दी की अपरवर्ती बीसियो मे यह जानने के लिये कि निर्धनता की सीमा क्या है और इसके कारण क्या हैं, स्वर्गीय महात्मा गाधी ने तत्कालीन ख्याति प्राप्त समाजशास्त्रियों के बीच प्रश्नो की एक शृखला वितरित की। ये प्रश्न निम्नलिखित थे[4] —

(i) निर्धनता की पहचान क्या है?
(ii) आज से 25 वर्ष पूर्व या इससे भी लम्बी अवधि के पूर्व की अपेक्षा भारत धनी हुआ है या निर्धनतर हुआ है?
(iii) भारत की गरीबी सामान्य है, अथवा किन्हीं वर्गों तक सीमित है?
(iv) इस निर्धनता के क्या कारण हैं? क्या उपचार हैं?

प्रोफेसर सी० एन० वकील ने यह मत व्यक्त किया कि भारत निर्धनतर होता गया है; और इस प्रश्न शृखला का उत्तर देते हुए उन्होंने निरन्तर वृद्धिशील निर्धनता के के निम्नलिखित छ कारण बताया[5].

(i) बे-फसली मौसम मे खेतिहर आबादी के बहुत बड़े प्रतिशत को पर्याप्त रोजगार-अवसरो की अनुपलब्धि।
(ii) ऐसी समाज-व्यवस्था जिसमे एक अर्जनकर्ता को समूचे विशाल परिवार के जीवन-भार उठाने का दायित्व उठाना पड़ता है।

[3]नारायण दत्त तिवारी 'उद्घाटन भाषण', समाज विज्ञान शास्त्रियों का प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन, जनवरी 19-20 1981, नई दिल्ली, पृ० 1

[4]महात्मा गाधी 'यॉन पावर्टी यग इंडिया, अगस्त, 9 1928

[5]आर० के० सिन्हा, 'बैकवार्ड एरिया डेवलपमेंट' प्रोब्लम्स एण्ड प्रास्पक्ट्स, स्टरलिंग पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1983, पृ० 1983

(iii) समाज मे शरीर से स्वस्थ भिक्षुकों की जमात का ऊंचा प्रतिशत।
(iv) कार्य-हतोत्साहक जलवायु।
(v) भाग्य निर्भरता तथा तदजनित निर्धनता से लोहा लेने के प्रभावक सकल्प का अभाव।
(vi) दोषपूर्ण शिक्षा व्यवस्था।

प्रोफेसर वकील द्वारा उपस्थित निर्धनता-वृद्धि की कारण-सारणी के प्रति क्षोभ प्रकट करते हुए महात्मा गाधी ने कहा था

"न्यून या अधिक महत्व रखते हुए ये कारण परस्पर विरोधी है। साथ ही, मेरी राय मे प्रथम कारण को छोडकर कोई ऐसा नही जो समस्या की मूल तह तक जाता हो। इसमें कोई शक नही कि भारत की गरीबी का एक मौलिक कारण देश का विदेशियो द्वारा शोषण है। यह शोषण पुनर्जीवनशील बहुमस्तकी जलीय राक्षस की भाति छिन्न मस्तक नही होता, और किसी भी दत्त परिस्थिति म अपनी आवश्यकतानुसार नित नया रूप धारण कर लेता है।'[6]

महात्मा गाधी ने पुन दोहराया कि "जब तक यह शोषण अबाध चलता रहेगा, भारत की निर्धनता का अन्त न हो पायेगा। अपने करोडो किसानो को यदि हम चर्खा को उपलब्ध करायें, अथवा उन्हे किसी अन्य आनुषगिक पेशा की प्राप्ति करावे, तब भी मात्र आशिक ही सुधार हो सकेगा। अस्तु जो भारत मे निर्धनता-निवारण के लिये उपाय की खोज से चिन्तित है, उसे सर्वप्रथम इस निरन्तर जातिशील शोषण की समस्या के उन्मूलन के उपाय को सोचना होगा।"[7]

औपनिवेशिक काल म भारत के ससाधन अबाध गति मे इग्लैंड को जात रहे और कुफलस्वरूप भारतीय जनता की निर्धनता-वृद्धि का षडयन्त्र करते रहे। इस तथ्य से कोई मुह नही मोड सकता। अस्तु स्वतत्रता प्राप्ति देश की निर्धनता निवारण-यात्रा का प्रथमतम ठोस अवस्था थी, क्योकि तब से उस अवधि का श्रीगणेश हुआ जिसम हम उन अवसरो की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ, जिसम हम स्वय अपना भाग्य निर्माण करें, और अपनी मुक्ति के लिये स्वय प्रयत्न करें। अपने स्वतत्रता सग्राम की समूची अवधि में हम यह सकल्प लेते रहे कि विदेशी शासन से मुक्ति मिलते ही हम सामाजिक अन्याय का उन्मूलन करेंगे। अस्तु यह स्वाभाविक था कि ज्योही देश मे विकासात्मक योजनाओ की शृखला का श्रीगणेश हुआ, तो निर्धनता का अन्त हमारी आर्थिक नीति का सर्वमान्य एव वाछनीय उद्देश्य बन गया।

किन्तु जिनके लिए यह नीति अपनायी गयी, जिनके लिए आयोजन का क्रम चला, और जिस क्रम के लगभग तीस वर्ष पूरे हो रहे हैं, उनकी जिन्दगी के रहन सहन मे कोई खास फर्क नही आया है। स्वय योजना के आलख इसे स्वीकार करते है कि इन वर्षों के

[6]महात्मा गाधी, ऑन पोवर्टी, यग इंडिया अगस्त 9 1928
[7]वही

दौरान निर्धनता की गहनता और व्यापकता ज्यों-की-त्यों रह गयी।[8] निर्धनों की बहुत बड़ी जमात देहातों में बसती है, और इस जमात में अधिकांशतया भूमिहीन खेतिहर मजदूर, सीमान्त कृषक, लघु कृषक, दस्तकार आते हैं, जिनमें मल्लाह, पिछड़े वर्ग के लोग तथा पिछड़ी जनजातियाँ शामिल हैं।[9]

गरीबी आज भी उतनी ही व्यापक है, जितनी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय थी। देश के कतिपय क्षेत्रों में तो हालत और बदतर हो गयी है। यह भारत के पूर्वी क्षेत्रों के लिए, जिनमें बिहार, उड़ीसा, पूर्वी उत्तर प्रदेश पड़ते हैं, अधिक सत्य है। यहाँ गरीबी अधिक व्यापक और गहन है। प्रस्तुत लेख में उन्हीं क्षेत्रों की गरीबी की सीमा, इसके कारणों तथा समाधान के उपायों पर प्रकाश डाला गया है।

पूर्वी प्रदेश में निर्धनता एवं विकास

निर्धनता तथा कुपोषण आज भारत की व्यापक महामारियाँ हैं। जैसा पहले कहा गया है, देश में आर्थिक विकास की दर तो ऊंची रही किन्तु अतिरिक्त आय का इतना विषम वितरण हुआ कि निम्न वर्ग को इसका नगण्य भाग मिला और फलस्वरूप उनके जीवन-यापन-स्तर में कोई खास परिवर्तन नहीं आया। निर्धनता तथा मौलिक आवश्यकताओं के कई यानी एक-से-अधिक पक्ष हैं मौलिक, सांस्कृतिक तथा मनोवैज्ञानिक। मौलिक पक्ष में न्यूनतम आवश्यकताएं मौलिक हैं; जिनके अन्दर पर्याप्त भोजन, कपड़ा तथा आवास जैसी आवश्यकताएं शामिल हैं। वस्तुतः मात्र शरीर में प्राण को रखने के लिए ही ये न्यूनतम अनिवार्यताएं हैं। दूसरे पक्षों में मौलिक सामाजिक आवश्यकताएं आती हैं, जिनका सम्बन्ध मानवीय प्रतिष्ठा की भावना से है, और वह इस सीमा तक कि यदि उनकी पूर्ति नहीं होती है तो सम्बन्धित व्यक्ति या परिवार समाज की मर्यादित रीतियों एवं रिवाजों का पालन नहीं कर पाते, और इस कारण वे वृहत् सामाजिक प्रवाह से अलग हो जाते हैं। विकसित देशों में इन सभी आवश्यकताओं के प्रति एक समेकित दृष्टिकोण अपनाया जाता है, जिसमें मानव कल्याण की गणना एक पूर्ण और फलदायक जीवन के रूप में होती है। किन्तु भारत जैसे विकासमान देशों में निर्धनता-स्तर के निर्धारण में केवल भौतिक आवश्यकताओं पर ही बल दिया जाता है।

तालिका 41.1 से स्पष्ट ज्ञात होता है कि निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाली आबादी का प्रतिशत पूर्वी राज्यों में सर्वाधिक अखिल भारतीय प्रतिशत से ऊंचा है। असम एवं बंगाल में यह प्रतिशत क्रमशः 51 11 प्रतिशत तथा 52 54 प्रतिशत है, बिहार और उड़ीसा के ये प्रतिशत और अधिक ऊंचे हैं। निर्धनता-रेखा से नीचे रहने वाले आबादी का प्रतिशत उड़ीसा में पूर्वी राज्यों की अपेक्षा ही नहीं बल्कि देश के सभी राज्यों

[8]भारत सरकार, पंचवर्षीय योजना (1978-83) प्रारूप, पृ० 3
[9]भारत सरकार, छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) पृ० 51

की अपेक्षा अधिक है। इस दृष्टि से बिहार का स्थान पूर्वी भारत मे दूसरा, और समस्त भारत म तीसरा है। पूर्वी भारत मे असम और प० बगाल विकसित राज्यों के श्रेणी मे आते हैं। बिहार और उडीसा को अधिकतम पिछडा माना जाता है।

तालिका 41 1 पूर्वी राज्यों मे गरीबी, बेरोजगारी एव आय

	मदें	असम	प० बगाल	बिहार	उडीसा	भारत
1	निर्धनता रेखा से नीचे आबादी प्रतिशत	51 10	52 54	57 49	66 40	48 13
2	अखिल भारतीय बेकारी में प्रतिशत भाग	0 5	9 4	8 8	3 7	100
3	बेरोजगारी प्रतिशत	3 81	10 15	8 01	8 13	8 18
4	प्रति व्यक्ति शुद्ध घरेलू उत्पादन (i) 1970 मूल्य	539	735	402	482	363
	(ii) 1979 मूल्य	960	1330	773	843	1379
5	अखिल भारतीय घरेलू उत्पादन में प्रतिशत भाग	2 3	8 5	6 1	2 5	100

जैसा कि तालिका 41 2 से विदित होता है, स्थूल-रूप से शुद्ध घरेलू उत्पादन के बढने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। किन्तु प्रति व्यक्ति अखिल भारतीय आय-सूचक की दृष्टि से सभी पूर्वी राज्या मे अधोगामी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। उदाहरण के लिए, 1970 71 के स्थिर मूल्य स्तर पर बिहार की प्रतिव्यक्ति घरेलू उत्पादन जो 1970-71 मे 402 रुपया था, बढकर 1981-82 मे 448 रुपये पर पहुचा। किन्तु अखिल भारतीय प्रति व्यक्ति औसत आय के सन्दर्भ मे इस राज्य का सूचकाक जो 1970 71 मे 63 5 था, गिरकर 1980-81 म 60 पर आ गया। वस्तुत यह सूचकाक प्रत्येक पूर्वी राज्य मे गिर गया। पश्चिमी बगाल का विकसित राज्य भी इसका अपवाद न रह सका।

तालिका 41 2 से स्पष्ट होता है कि असम का प्रति व्यक्ति शुद्ध घरेलू राज्यीय उत्पादन जो 1970-71 म 535 रु० था बढकर 1981-82 मे 546 रुपया हो गया। किन्तु पश्चिमी बगाल का प्रति व्यक्ति शुद्ध राज्यीय घरेलू उत्पादन जो 1970-71 म 722 रु० था, घटकर 1981-82 म केवल 720 रु० पर आ गया। बिहार का सबधित प्रति व्यक्ति उत्पादन 1970-71 म 402 रु० था, बढकर 1981-82 मे 448 रुपया हो गया। उडीसा में भी यह बढकर 482 रुपयो से 530 रुपयो पर पहुचा। किन्तु समूचे भारत का प्रति व्यक्ति घरेलू उत्पादन जो 1970-71 म 633 रुपया था, बढकर

तालिका 41 2. पूर्वी राज्यों का प्रति व्यक्ति राज्यीय घरेलू उत्पादन
(1970-71 के मूल्य-स्तर पर रुपयों में)

वर्ष	असम	प० बंगाल	बिहार	उड़ीसा	समस्त भारत
1970-71	535	722	402	482	633
1971-72	544	738	406	434	627
1972-73	532	701	397	457	604
1973 74	549	703	382	481	621
1974 75	530	715	394	427	618
1975-76	559	717	413	490	661
1976-77	538	753	423	421	650
1977-78	565	794	437	500	693
1979-80	516	716	406	424	622
1980-81	558	761	447	525	700
1981-82	546	720	448	530	720

स्रोत आर० के० सिन्हा, रीजनल इम्बैलेन्सेज एण्ड फिस्कल इक्वलाइजेशन इन इंडिया, 1984 परिशिष्ट III टेबुल—III

1981-82 में 720 रुपया हो गया। इस तरह यह स्पष्ट होता है कि विकास की अखिल भारतीय दौड़ में पूर्वी राज्य पिछड़ गये हैं। जैसा अगली तालिका 41 3 से विदित होगा, इस पिछड़ेपन में लगातार वृद्धि होती गयी है

तालिका 41 3 अखिल भारतीय औसत प्रति व्यक्ति
आय की तुलना में राज्यों का सूचकांक

(अखिल भारत=100)

वर्ष	असम	प० बंगाल	बिहार	उड़ीसा	भारत
1960-61	102.0	127.5	70 3	70 [illegible]	100
1965-66	93 7	124 9	77 9	77.2	100
1970-71	85 2	116 1	63 5	76 1	100
1975-76	71 1	109 4	64 6	69 8	100
1978 79	81 5	100.2	61.8	68 1	100
1979 80	82.3	101 1	60.4	64 1	100
1980-81	80 8	—	—	—	100

स्रोत : जैसा तालिका 41.2

1960-61 और 1979-80 के बीच अखिल भारतीय प्रति व्यक्ति औसत आय में इन राज्यों का प्रति व्यक्ति औसत आय-सूचकांक असम में 102 0 से घटकर 82 3 पर प०बंगाल में 127 5 से घटकर 101 1 पर, बिहार में 70 3 से गिरकर 60 4 पर और उड़ीसा में 70 ▪ से नीचे आकर 64 1 पर पहुंच गया। फलस्वरूप पूर्वी क्षेत्र के विकसित राज्यों का तुलनात्मक स्थान प्रति व्यक्ति शुद्ध घरेलू उत्पादन की दृष्टि से नीचे गिर गया, और इस क्षेत्र के पिछड़े राज्य उतने ही पीछे रह गये जितना भारत में विकासात्मक योजनाओं के आरम्भ के समय थे। इसका और अधिक स्पष्टीकरण अगली तालिका से होता है।

तालिका 41 4. राज्यों का सापेक्ष स्थान (प्रति व्यक्ति शुद्ध घरेलू उत्पादन)

वर्ष	असम	प० बंगाल	बिहार	उड़ीसा	महाराष्ट्र	पंजाब
1950-51	5	1	14	11	4	2
1955-56	5	1	14	13	2	3
1960 61	5	2	14	13	1	4
1964-65	5	4	14	13	2	1
1969-70	7	4	14	9	3	1
1975-76	10	4	14	11	2	1

स्रोत . इकानामिक एन्ड पालिटिकल वीकली, वाल्यूम XVII, ऐनुअल नम्बर 1982, पृ० 609

जब आयोजन का भारत में श्रीगणेश हुआ, तो प्रति व्यक्ति शुद्ध घरेलू उत्पादन की दृष्टि से असम और प० बंगाल भारत के पांच उच्चतम राज्यों में से थे। प० बंगाल का तुलनात्मक स्थान प्रथम तथा असम का पंचम था। इस क्षेत्र के दो राज्यों (बिहार एवं उड़ीसा) ने न्यूनतम प्रति व्यक्ति शुद्ध घरेलू उत्पादन वाले राज्यों में अपना स्थान लगभग वही रखा है।

स्पष्ट है कि पूर्वी राज्यों में जो भी न्यूनाधिक प्रगति हुई है, निर्धनता-निवारण की दिशा में उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। अपितु दरिद्रता की गहराइयां और बढ़ गयी हैं।

क्षेत्रीय अन्तर : पूर्वागत मानचित्र

प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से भारतीय संघ ही के राज्यों में विभिन्नता है, यह कोई नवीन बात नहीं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भी अन्तर्क्षेत्रीय विभिन्नताएं पायी जाती हैं। राष्ट्रीय औसत की तुलना में न्यूयार्क राज्य 20 प्रतिशत ऊंचा है तो मिसीसीपी 30 प्रतिशत नीचा है। कनाडा-संघ में भी ऐसी विभिन्नताएं हैं। वहां राष्ट्रीय औसत की

अपेक्षा ओन्टोरियो प्रदेश 15 प्रतिशत ऊंचा है, तो न्यूफाउन्डलैंड 43 प्रतिशत नीचे है। आस्ट्रेलियन संघ भी इन अन्तर्क्षेत्रीय विभिन्नताओं से अछूता नहीं। जहा राष्ट्रीय औसत के मुकाबले मे विक्टोरिया तथा न्यूसाउथवेल्स 5 प्रतिशत के आसपास ऊंचे हैं, तो तसमानिया राज्य राष्ट्रीय औसत से 13 प्रतिशत नीचे है।[10] प्रश्न यह है कि न्यूनतम एवं अधिकतम के बीच अन्तर कितना है। इस दृष्टि से भारत की अन्तर्क्षेत्रीय विभिन्नताएं अधिक विस्तृत हैं। प्रति व्यक्ति आय यहा राष्ट्रीय औसत की अपेक्षा पजाब मे 73 प्रतिशत अधिक है, तो बिहार मे यह 36 प्रतिशत न्यून है। विभिन्नता की यह अन्तक्षेत्रीय खाई बावजूद पिछले तीन दशकों के आर्थिक विकास के विद्यमान है।

इन अन्तर्क्षेत्रीय विभिन्नताओं का अपना खास राजकोषीय महत्त्व है। ये विभिन्नताएं राज्यों की सापेक्ष आयार्जन-क्षमता को प्रभावित करती हैं, उनके निवासियों के लिए आवश्यक सरकारी सेवाओं के स्वभाव और विस्तार की सीमा बनाती हैं, और सभवत ऐसी सेवाओं के सापेक्ष प्रशासकीय व्यय को प्रभावित करती हैं। गरीब राज्यों की राजकोषीय क्षमता तो न्यून होती ही है पर साथ-साथ उनकी कल्याणगत तथा शैक्षणिक आवश्यकताएं भी अधिक होती हैं। और यदि उनकी जनसख्या अपक्षाकृत बिखरी अथवा न्यून हुई, तो उनका प्रति व्यक्ति प्रशासकीय व्यय भी अधिक होता है। ऐसी अवस्था में ऐसे गरीब राज्यों के लिए दो ही विकल्प रह जाते हैं, या तो वे अपने करारोपण की दरें ऊंची करें या अन्य राज्यों की तुलना मे अपनी सामाजिक एव सरकारी सेवा-सुविधाओं को सीमित करें।

राजकोषीय समानीकरण की आवश्यकता

वित्त किसी भी सरकार की जीवनी शक्ति है। इसके सघीय प्रशासन में कई महत्त्वपूर्ण समस्याएं उठ खड़ी होती हैं। इनमे प्रमुख हैं करारोपण-अधिकार का केन्द्र एवं राज्यों के बीच वितरण, तथा वित्तीय प्रबन्धन के लिए इनके बीच उचित उपायों का निर्धारण। एक बात निर्विवाद है। सघीय प्रशासन की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें विकेन्द्रीकृत निर्णायन के अवसर राज्यों को प्राप्त होते हैं, और राज्यों के अन्दर रहने वाले विभिन्न वर्गों एव स्वार्थों के प्रति सरकार अत्यधिक संवेदनशील होती है। साथ ही एकीकृत आयोजन तथा नीति के व्यापक ढाचे मे केन्द्रीकृत निर्णायन से कुशलता वृद्धि होती है, और स्वय राज्य के भीतर तथा विभिन्न राज्यों के बीच समानता-प्राप्ति के अवसर प्रशस्त होते हैं। सघीय शासन की धारणा मे इस प्रक्रिया पर विशेष बल होता है, जिसके माध्यम से इसमें एकता, कुशलता तथा समानता का मधुर समन्वय सम्भव होता है।

सभी सघीय प्रशासनों मे सम्बवत एव समानान्तर राजकोषीय असन्तुलन होते हैं।

[10] आर० के० मित्र, रीजनल इम्बैलेन्सेज एण्ड फिस्कल इक्वलाइजेशन, भारत पब्लिकेशन परिषद, नई दिल्ली, पृ० 58

लम्बवत राजकोषीय सन्तुलन का अर्थ उस अवस्था से है जिसमें प्रत्येक स्तर की सरकार को अपने व्यय-उत्तरदायित्व निभाने के लिए वित्तीय ससाधन निकासी के अधिकार होते हैं। ऐसी सरकार व्यय तथा करारोपण-सबंधी निर्णयों के लिए स्वय जिम्मेवार होती है। समय-प्रवाह के साथ व्यय की आवश्यकताए परिवर्तित होती हैं। लम्बवत सन्तुलन के अन्तर्गत प्रत्येक स्तर पर सरकार को कर से प्राप्त आमदनी के लचीले समाधन उपलब्ध होते हैं। समानान्तर राजकोषीय सन्तुलन की स्थिति इसके विपरीत होती है। इस अवस्था मे सघ के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य सरकार म यह क्षमता होनी है कि वह अपने समकक्ष अन्य राज्यों के समान, एक प्रमाणित आधार पर अपने नागरिकों को सेवाएं उपलब्ध करा सके। यह मात्र सयोग ही हो सकता है कि सभी राज्य सरकारो के पास वित्तीय साधन-निकासी की क्षमताए समान हों। इसमे भिन्नता होती ही है। इसलिए समानान्तर राजकोषीय सन्तुलन की व्यवस्था मे किसी-न-किसी रूप में आय जिम्मेदारी, या कहिए, समानीकरण-अनुदानों का प्रावधान होता है। ऐसा प्रावधान विषमताओ के उन्मूलन हेतु रखा गया है।

असन्तुलन की इस उपस्थिति के ही कारण प्रत्येक सघीय प्रशासन के अन्तर्गत पैसो के अन्तर्सरकारी हस्तान्तरण प्रवाह के निर्णय म राजकोषीय समानीकरण एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। कनाडा म समानीकरण-अनुदान उन राज्यो को दिये जाते हैं, जिनकी साधन-निकासी-क्षमता समूचे देश की सम्वर्धित क्षमता स नीचे होती है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे 'राज्य एव स्थानीय सहायता अधिनियम 1972 म पारित हुआ। इसमें एक सीमा तक समानीकरण का प्रावधान है, जिसके तहत उन राज्यो को निश्चिततः ऊची मात्रा में अनुदान उपलब्ध किये जाते हैं जिनकी प्रति व्यक्ति आय न्यून होती है। पुरानी सघीय व्यवस्थाओ मे आस्ट्रेलिया एक उदाहरण है जहा अन्तर्राज्यीय आय समानीकरण शायद न्यूनतम है। फिर भी कम आबादी वाले या वित्तीय दृष्टि से कमजोर राज्यों को विशेष अनुदान की व्यवस्था कर राजकोषीय समानीकरण की उद्देश्यपूर्ति का प्रयत्न किया जाता है। भारत मे अन्तर्सरकारी हस्तान्तरण का निर्धारण वित्त-आयोग तथा योजना-आयोग द्वारा होता है।

पूर्वी राज्य तथा राजकोषीय समानीकरण

भारतीय सघ की वित्तीय व्यवस्था मे हस्तान्तरण के कई स्वरूप हैं, और उनका निष्पादन वित्त-आयोग, योजना-आयोग तथा भारतीय सरकार के विभिन्न विभागों द्वारा कई आधारों पर किया जाता है। तालिका 41 5 में 1979-80 से 1983-84 की अवधि के लिये इस हस्तान्तरण की एकीकृत विन्दु सामान्य झलक उपलब्ध होती है। वस्तुत इन हस्तान्तरणों का 54 प्रतिशत प्रगतिशील है अथवा समानीकरण की प्रवृत्ति से प्राणशील है, और 15 प्रतिशत हस्तान्तरणों की प्रवृत्ति अप्रगतिशील है। चूकि भारत के सभी राज्य सभी आधारों पर अपने अपने हिस्सों की माग करते हैं,

समानीकरण-हस्तान्तरणों का पुनर्वितरण-सम्बन्धी [प्रभाव न्यून हो जाता है। पुनः, चूंकि संघीय हस्तान्तरण की प्राप्ति के पूर्व राज्यों के निजी साधनों में बड़ी विभिन्नता रहती है, हस्तान्तरण का समानीकरण प्रभाव प्राय लुप्त हो जाता है।

तालिका 41.5. वित्तीय हस्तान्तरण-वितरण के आधार

(1979-80—1983-84)

आधार	सापेक्षिक भार
1 जनसंख्या	25
2. निवासी	14
3 प्रति व्यक्ति राज्यीय घरेलू उत्पादन—विपरीत (दलवर्ग)	11
पैमाना (दिगदर्शन)	03
4 आय-समानीकरण	07
5. सापेक्ष निर्धनता-अनुपात	07
6 कर-प्रयत्न	01
7. घाटा की बजट-आवश्यकता	08
8 विशिष्ट कार्यक्रम	08
9 फुटकर (अन्य)	16
	100

तालिका 41 6 अ, ब, स, द में संघ-सरकार द्वारा पूर्वी राज्यों को दी गयी विभिन्न हस्तान्तरित-रकमें प्रस्तुत की गयी हैं। तालिका 6 अ से यह स्पष्ट होता है कि बिहार को छोड़कर प्रत्येक पूर्वी राज्य को मिली बजेटरी हस्तान्तरण-मात्रा राष्ट्रीय औसत से अधिक है। प्रथम योजना-काल को छोड़कर सभी वर्षों में बिहार को प्राप्त प्रति व्यक्ति हस्तान्तरण-मात्रा राष्ट्रीय औसत से कम है। स्टेट्यूटरी हस्तान्तरण के संबंध में भी यही बात है। जहां तक कुछ प्रति व्यक्ति योजनागत हस्तान्तरण का प्रश्न है प्रत्येक पूर्वी राज्य को राष्ट्रीय औसत से कम ही रकम मिली है। 1956-81 की अवधि में सभी राज्यों को मिली कुल प्रति व्यक्ति योजनागत हस्तान्तरण-मात्रा 1902 रुपया है, जबकि यह रकम प्रति व्यक्ति असम में 675 रु०, प० बंगाल में 314 रु०, बिहार में 363 रु० और उड़ीसा में 536 रु० है। प्रति व्यक्ति कुल ऐच्छिक हस्तान्तरण के संबंध में अवश्य नक्शा बदला नजर आता है। प्रत्येक पूर्वी राज्य को मिली प्रति व्यक्ति ऐच्छिक हस्तान्तरण-मात्रा अखिल भारतीय सम्बन्धित मात्रा से अधिक है, हालांकि इन चारों पूर्वी राज्यों में बिहार को प्राप्त यह मात्रा न्यूनतम है।

इस भांति पूर्वी राज्यों में अपनी विकास-आवश्यकताओं की पूर्ति की अक्षमता दीर्घ

तालिका 41.6 पूर्वी राज्यों को संघीय हस्तान्तरण 1956-81

(प्रति व्यक्ति रुपयों)

(अ) कुल घमेंटरी हस्तान्तरण

	असम	प० बंगाल	बिहार	उड़ीसा	समस्त भारत
द्वितीय योजना	107	101	79	139	77
तृतीय योजना	244	119	110	181	129
वार्षिक योजनाएं	240	95	110	177	122
चतुर्थ योजना	492	273	233	341	278
पंचम योजना	673	488	421	556	467
षष्टम योजना	320	248	246	356	263
सभी योजनाएं	2076	1324	1137	1720	1336

(ब) कुल स्टेट्यूटरी हस्तान्तरण

	असम	प० बंगाल	बिहार	उड़ीसा	समस्त भारत
द्वितीय योजना	44	35	20	[illegible]	25
तृतीय योजना	58	33	27	64	36
वार्षिक योजनाएं	76	31	26	80	40
चतुर्थ योजना	135	101	88	133	99
पंचम योजना	334	215	178	259	202
षष्टम योजना	95	106	117	144	114
सभी योजनाएं	742	471	456	708	516

(स) कुल योजनागत हस्तान्तरण

	असम	प० बंगाल	बिहार	उड़ीसा	समस्त भारत
द्वितीय योजना	35	28	22	45	54
तृतीय योजना	86	45	47	78	120
वार्षिक योजनाएं	72	32	33	45	164
चतुर्थ योजना	117	48	79	71	354
पंचम योजना	230	104	113	169	769
षष्टम योजना	135	57	69	128	433
सभी योजनाएं	675	314	363	536	1902

(द) कुल ऐच्छिक हस्तान्तरण

	असम	प० बंगाल	बिहार	उड़ीसा	समस्त भारत
द्वितीय योजना	28	38	37	36	22
तृतीय योजना	100	41	28	39	35
वार्षिक योजना	92	29	45	52	41
चतुर्थ योजना	240	124	42	137	91
पंचम योजना	109	169	116	128	120
षष्टम योजना	90	85	50	84	69
सभी योजनाएं	659	486	318	476	380

स्रोत अष्टम वित्त आयोग को विभिन्न राज्यों द्वारा प्रस्तुत निवेदनों से आकलित

पड़ती है। चूंकि इन राज्यों के अपने निजी संसाधन-आधार कमजोर हैं, वे पर्याप्त मात्रा में अपनी आवश्यकताओं के लिये साधनों की निकासी नहीं कर पाते। साथ ही साधनों के हस्तान्तरण की दृष्टि से सघ की भी यथेष्ट कृपा के भागी नहीं हो सके ये पूर्वी राज्य। फलस्वरूप ये पूर्वी राज्य देश के निर्धनता-प्रवाहित क्षेत्र बनकर रह गये।

तालिका 41 5 से एक बात स्पष्ट होती है कि हमारे आयोजकों की प्राथमिकता-तसवीर में राजकोषीय समानीकरण को कभी भी स्थान नहीं मिला। हस्तान्तरण-व्यवस्था मे एक मिली-जुली सुलह जैसी चीज नजर आती है, जिसमें साथ-साथ यह कोशिश की गयी है कि—

(i) निर्धन राज्यो को प्रति व्यक्ति योजनागत सहायता अधिक मिले।

(ii) केन्द्रीय सहायता की रकम इतनी पर्याप्त हो जिससे सभी राज्यों को आयोजित विकास-प्रक्रिया मे अधिकाधिक भागीदारी करने की प्रेरणा और उत्साह मिलते रहें।

(iii) सहायता-मात्रा का वितरण विभिन्न राज्यों के बीच ऐसा हो, जो राज्यो की संसाधन-प्रयोग-क्षमता तथा कुशलता का अभिवर्द्धन करे,

और इस सन्तुलन अभ्यास मे राजनैतिक चाल को अवरोधक सफलता मिलती रही है।

यह बात पहले भी कही है कि निर्धन राज्यो के आय-आधार कमजोर हैं, जिनसे वे पर्याप्त मात्रा मे साधन नहीं जुटा पाते, और जो भी आय प्राप्त होती है, वह अधिकांशतया आयगत व्यय मे समाप्त हो जाती है। फलस्वरूप विकासात्मक आवश्यकताओं की यथेष्ट पूर्ति नही होती, या उनका निरादर होता जाता है। तालिका 41 7 पर दृष्टिपात कीजिये। इनमें बिहार एव उड़ीसा जैसे कुछ ऐसे राज्य हैं जिनके कुल राज्यीय व्यय में राज्यीय योजनागत व्यय का प्रतिशत सम्बन्धित अखिल

भारतीय प्रतिशत से कम है। आंकड़ों पर सरसरी नजर डालने पर भी यह जाहिर होगा कि बिहार का यह प्रतिशत सभी राज्यों के सम्बन्धित औसत से हमेशा कम रहा है—1976-77 तथा 1981 82 के मात्र दो ही वर्ष इसके अपवाद रहे हैं। पूर्वी भारत के दूसरे राज्यों की भी लगभग ऐसी ही अवस्था है।

तालिका 41 7 कुल राज्यीय व्यय में राज्यीय योजनागत व्यय का प्रतिशत

	असम	प० बंगाल	बिहार	उड़ीसा	सभी राज्य
1971 72	[illegible] 52	9 68	13 48	20 70	18 32
72 73	13 67	12 83	16 61	1[illegible] 43	[illegible] 60
73 74	19 58	13 25	17 94	[illegible] 36	[illegible] 93
74 75	18 56	22 04	18 57	24 52	22 9[illegible]
75 76	[illegible] 93	21 [illegible]	21 60	20 64	23 55
76 77	28 13	21 89	21 99	21 22	27 40
77 78	27 66	21 80	21 99	21 22	27 40
78 79	36 54	21 70	23 33	28 96	29 55
79-80	35 97	19 96	28 47	31 24	30 48
80-81	21 29	19 7[illegible]	26 00	30 60	27 73
81-82	26 22	18 31	28 56	26 49	27 71
82 83	19 99	13 51	19 68	[illegible] 39	25 27

स्रोत मिनिस्ट्री ऑफ फाइनेंस एन० एम० ए० एन० एम० क्यू० 195 24 2 1984

प० बंगाल में भी अखिल भारतीय औसत की तुलना में साधनों का न्यून प्रतिशत ही विकास कार्यों पर व्यय हुआ है। कुफल स्पष्ट हुआ है। ये चारों पूर्वी राज्य अपनी 1951 की विकास अवस्था से आगे बढ़ने में असमर्थ रहे हैं। प० बंगाल तो सापेक्ष दृष्टि से और पीछे खिसक गया है। निष्कर्ष यह है कि हमारे विकास प्रयत्नों का इन राज्यों पर कोई भी धनात्मक प्रभाव नहीं पड़ा है।

सार्थक दृष्टिकोण की आवश्यकता

हमारे विश्लेषण का निष्कर्ष यह है कि वित्तीय अप्रगतिशील हस्तान्तरण पूर्वी भारत के राज्यों के पिछड़ेपन का एक प्रमुख कारण रहा है। यदि हम इस क्षेत्र के पिछड़ेपन को दूर करना है तो इन हस्तान्तरणों में प्रगतिशीलता का समावेश करना होगा। परन्तु

अध्याय 42

श्रीमती इंदिरा गांधी और भारत का आर्थिक पुनर्जागरण

"मेरे खून की हर एक बूंद इस देश के विकास को एक नई शक्ति देगी तथा देश मजबूत व ऊर्जावान बनेगा।" उड़ीसा में तीस अक्तूबर की आमसभा के इस अन्तिम भाषण में स्वर्गीय इंदिरा गांधी ने अपनी उस जीवन यात्रा के अन्त की कल्पना की थी, जिसकी हर एक सांस देश के विकास के लिए समर्पित थी। इस सांस ने देश की 1966 की अचेत अर्थव्यवस्था को नई चेतना दी। अकाल से घिरे दो वर्षों (1966 व 1967) से देश को निकालकर हरित क्रांति के द्वार पर खड़ा किया, आर्थिक विषमता के कुचक्रों की चुनौतियों का सामना किया और स्थायित्व प्रदान किया। उन्होंने सत्ता अकाल की छाया में संभाली थी, पर 15 करोड़ टन वार्षिक की अनाज-उत्पादन की सम्पन्नता देकर हमारे बीच से उठ गईं। आर्थिक इतिहास में अन्नपूर्णा का यह रूप और कार्य सदा अंकित रहेगा।

वे अन्तिम समय तक इस प्रयास में थीं कि अनाज की सम्पन्नता सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से रोजगार प्रधान कार्यक्रमों के कार्यरत गरीब वर्गों तक पहुंचे। अनाज भण्डार में 2 करोड़ 30 लाख टन अनाज की खरीदी के साथ-साथ राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम का विस्तार और एकीकृत ग्रामीण विकास योजनाओं का सक्रिय योगदान रोजगार व उचित दामों पर अनाज उपलब्धि बढ़ाने के महत्वपूर्ण कदम थे।

स्वर्गीय इंदिरा गांधी के कार्यकाल को आर्थिक चिंतन और नीतियों के क्रियान्वयन के आधार पर चार चरणों में विभक्त किया जा सकता है। ये हैं

1. संक्रमण काल
2. संस्थागत परिवर्तन काल
3. आयोजन प्राथमिकताओं का पुनः निर्धारण
4. प्रगतिशील सामाजिक न्याय का काल।

संक्रमण काल

1966 में प्रधान मंत्री बनते ही उन्हें विरासत में 1965 के युद्ध से प्रभावित एवं सूखे से ग्रस्त अर्थव्यवस्था मिली। उत्पादन में कमी और बढ़ती हुई मुद्रास्फीति एवं

विदेशी मुद्रा में कमी के बीच भारतीय मुद्रा के अवमूल्यन की समस्याओं में वे उलझी रहीं। योजना-तंत्र पूरी तरह टूट गया। तीन वर्षों तक वार्षिक योजनाओं का ही सहारा लिया गया।

संस्थात्मक परिवर्तन काल

देश की चौथी योजना (1969-74) में पहली बार उत्पादन व आय वृद्धि के साथ निर्धनता-निवारण पर जोर दिया गया। बैंकों के राष्ट्रीयकरण व प्रिवी पर्स की समाप्ति के साथ विकास के लाभ गरीब व पिछड़े वर्गों तक को पहुंचाने का विचार जड़ पकड़ने लगा।

इन प्रयासों पर 1971 के भारत-पाकिस्तान संघर्ष, 1972 के व्यापक सूखे और बढ़ती तेल की कीमतों का प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। 1973-74 की महंगाई-वृद्धि और काली मुद्रा के बढ़ते चरणों ने सामाजिक न्याय को बड़ा धक्का पहुंचाया। आर्थिक साधनों का नियंत्रण और वितरण मूल्य-निर्धारकों, काले बाजारियों, व तस्करों इत्यादि वर्गों के पास पहुंच गया।

आयोजन प्राथमिकताओं का पुनःनिर्धारण

पांचवीं योजना (1974-78) की प्राथमिकता का परिवर्तन और 1975 में बीस-सूत्री कार्यक्रम की घोषणा और तात्कालिक क्रियान्वयन ने विकास-पद्धति को नई दिशा दी। श्रीमती गांधी का आर्थिक चिंतन गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे (तब लगभग 29 करोड़) भारतवासियों के गुणात्मक सुधार और आर्थिक शोषण की कमी करने पर आधारित रहा। आयोजन की दिशा और नीति व्यवहार और उपलब्धियों का अंतर उन्हें सदैव चिंतित करता रहा। पहली बार ग्रामीण गरीबों और बेरोजगारी ने देशवासियों का इतना ध्यान खींचा।

प्रगतिशील सामाजिक-न्याय काल

सत्ता में दूसरी बार आने के साथ ही छठी योजना (1980-85) ने अपना अधिकांश ध्यान गरीबी की रेखा पर ही टिकाए रखा। उत्पादन प्रक्रिया में औद्योगिक, कृषि, राष्ट्रीय और विदेशी बाजारों इत्यादि में वर्गीय क्षेत्रीय क्षेत्रों में वर्गीय असंतुलन के साथ-साथ पिछड़े वर्गों का आर्थिक विकास उनको सदैव आकर्षित करता रहा। पिछड़े क्षेत्रों व पिछड़े वर्गों तक विकास के लाभ पहुंचाना उनका प्रमुख उद्देश्य रहा। बीस-सूत्री कार्यक्रम का नया रूप इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित था। आन्तरिक गरीबी के साथ-साथ अन्य विकासशील गरीब राष्ट्रों की अन्तर्राष्ट्रीय गरीबी व उन्नत राष्ट्रों द्वारा डाले गए विकास अवरोधों के विरुद्ध भी उन्होंने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में आवाज उठाई।

स्वर्गीय इंदिराजी के आर्थिक दर्शन और व्यवहार की निम्न प्रमुख विशेषताएं उनकी स्थायी यादगार के साथ मार्गदर्शक प्रकाश स्तम्भ भी रहेंगे :

1 वे प्रत्येक आर्थिक चुनौती को अवसर में बदलने में कुशल थी। जैसे अकाल की छाया को हरित क्रांति में, आर्थिक विषमता को बैंकों के राष्ट्रीयकरण व राजाओं के प्रिवी पर्स की समाप्ति, 1970 के दशक में तेल की कीमतों में वृद्धि को तेल की खोज और तेल कुओं की खुदाई में, परावलम्बन को स्वावलम्बन में, उन्नत राष्ट्रों के प्रतिबंधों शोषण को विकासशील राष्ट्रों के पारस्परिक सहयोग में बदला।

2 उनके विचार में उत्पादन और उत्पादकता वृद्धि हेतु समस्त राष्ट्रीय संसाधनों और औद्योगिक इकाइयों की स्थापित क्षमता का पूरा उपयोग होना ही भविष्य के विकास का स्थायी आधार था। अर्थात वर्तमान के उपलब्ध साधनों व क्षमताओं की उपयोगिता और एक निश्चितता भविष्य की अनेक अनिश्चितताओं में अधिक महत्त्वपूर्ण है। योजना आयोग की बैठक में उनका अंतिम भाषण यह स्पष्ट करता था।

3 आर्थिक समृद्धि की सार्थकता उसके सामाजिक वितरण व न्याय में निहित है। न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम, शिक्षित बेरोजगारों को बैंक ऋण सुविधा इत्यादि कार्यक्रम गरीबी की रेखा को गरीबी की रेखा के नीचे संघर्ष कर रहे करोड़ों गरीबों को गरीबी की रेखा पार कराने के प्रयास थे।

4 संस्थात्मक परिवर्तन व सस्थान लाभ, बिना संरचनात्मक परिवर्तन किए अमीर वर्ग को ही लाभ पहुंचाते हैं। हाल ही में किया गया संवैधानिक संशोधन (जिसके अन्तर्गत भूमि सुधारों को संविधान के 9वें अनुच्छेद में शामिल किया गया) और सार्वजनिक क्षेत्र की सामाजिक आर्थिक महत्ता में वृद्धि के साथ-साथ कुशल प्रबंध उनके चिंतन की मुख्य धाराएं थी। राजकोषीय व औद्योगिक नीतियों में समय-समय पर परिवर्तन व आयात नीति का उदारीकरण भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम थे।

5 बदलती हुई उत्पादन तकनीकों और पद्धतियों के बीच भारत के लिए वही तकनीक सही है, जो राष्ट्रीय मानवीय साधनों के उपयोगी रोजगार के साथ-साथ उत्पादन की कुशलता में वृद्धि करे। उचित तकनीक ही स्थायी प्रगति का सही आधार है। फिर भी, भारत उन्नत तकनीक और वैज्ञानिक उपलब्धियों से अपने को अछूता नहीं रख सकता। आधुनिकीकरण ही जर्जर मशीनों का विकल्प है। चालू वर्ष के बजट में तो इस हेतु कपड़ा, कागज व सीमेन्ट उद्योगों को ब्याज की दर में एक प्रतिशत की कमी की थी।

6 गरीबी व बेरोजगारी एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। बिना रोजगार बढ़ाए गरीबी नहीं मिट सकती और बिना जनोपयोगी वस्तुओं के उत्पादन वृद्धि और मूल्य स्थिरता के गरीबी मिटाने के प्रयास अर्थहीन होंगे। राष्ट्रीय योजना आयोग के समक्ष उनके विचार विशेषकर, अनाज, रोजगार और उत्पादकता

की प्राथमिकता का निर्धारण उनके चिंतन को स्पष्ट करते थे।

7 भारत जैसे कृषि प्रधान देश का आर्थिक भविष्य कृषि-विकास पर ही आधारित रहेगा। कृषि विकास औद्योगिक जगत को कच्चे माल के साथ-साथ बाजार भी प्रदान करेगा। उनके चिंतन और नीति निर्धारण में कृषि और उद्योग परस्पर पूरक थे। श्रीमती इंदिरा गांधी के कार्यकाल में विकास-व्यय का 35 से 40 प्रतिशत भाग कृषि (सिंचाई सहित) व ग्रामीण विकास पर खर्च किया गया।

8 औद्योगिक विकेन्द्रीयकरण व फैलाव, विशेषकर पिछड़े इलाकों में इंदिराजी के कार्यकाल की प्रमुख विशेषता थी। जवाहरलाल नेहरू द्वारा औद्योगिकरण का शुभारम्भ श्रीमती गांधी ने जारी रखा। तेल खुदाई व सफाई, कोयला खदानों में मशीनीकरण, लोहा-उत्पादन इकाइयों में क्षमता विस्तार, मुख्य उद्योगों में आत्म निर्भरता इत्यादि के साथ-साथ मध्यम व लघु उद्योग का प्रसार उनकी नीति के प्रमुख अंग थे।

9 वे बीस-सूत्री कार्यक्रमों के माध्यम से प्राथमिकताओं का निर्धारण और गति प्रदान करना चाहती थी। यह कार्यक्रम ऐसा था, जिसकी घोषणा और क्रियान्वयन एक साथ हुआ। व्यवहार में कमियां या असफलता उनके चिंतन या नीति की महत्ता को कम नहीं करती।

10. और अंत में, उनके आर्थिक विचारों की अन्तर्निर्भरता प्रमुख अंग थी। राष्ट्र के विभिन्न राज्य आर्थिक दृष्टि से चाहे उन्नत या पिछड़े हों, पर राष्ट्रीय विकास की दृष्टि से खुशहाली की डोरी में पिरोए विभिन्न फूल थे। पूंजी, श्रम, कच्चे पदार्थ, मध्यम वस्तुओं इत्यादि में राष्ट्र आतंरिक परस्पर निर्भरता से गुथा हुआ एक ही स्वरूप रहता है। यह स्वरूप है उन्नत और विकसित भारत का। तब ही तो विकास की चिंता से उनके मुंह से ये शब्द फूट पड़े, "मेरे खून की हर एक बूंद इस देश के विकास को एक नई शक्ति देगी तथा देश मजबूत व ऊर्जावान बनेगा"।

तालिका 42.1 भारत के विभिन्न प्रधान मंत्रियों के कार्यकाल के विभिन्न राजनीतिक चरणों की शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद और प्रति व्यक्ति उत्पाद के विकास की दर को स्पष्ट करती है। पं० जवाहरलाल नेहरू सार्वजनिक क्षेत्र के जनक थे तो श्रीमती गांधी जन-क्षेत्र की निर्माता थी। सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र सम्पत्ति बनाते है। दो हाथ वाले जन क्षेत्र भी ऐसे स्थायी स्रोत हैं जो अन्य उत्पादन क्षेत्रों को सार्थकता प्रदान करते हैं। रोजगार प्रधान योजनाएं इसी "जन-क्षेत्र" की स्थायी विधि है।

तालिका 42 1- भारत के विभिन्न प्रधानमंत्रियों के कार्यकाल मे शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद व प्रति व्यक्ति उत्पाद

प्रधानमंत्री	कार्य काल	शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (प्रचलित मूल्यों पर)	शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (1970-71 के मूल्यों पर)	प्रति व्यक्ति उत्पाद (प्रचलित मूल्यो पर)	प्रति व्यक्ति उत्पाद (1970-71 के मूल्यों पर)
1 प० जवाहरलाल नेहरू	1952 53 स 1964 65	5 5	3 7	3 6 (248 78)	1 8 (464 32 रु०)
2 श्री लालबहादुर शास्त्री	1965-65 स जनवरी 1966	3 1	5 8	0 9 (427 00 रु०)	8 0 (587 71 रु०)
3 श्रीमती इन्दिरा गाधी (प्रथम चरण)	1966-68 से 1977 78	11 1	3 5	8 2 (755 90 रु०)	1 5 (615 24 रु०)
4 श्री मोरारजी देसाई	1977 78 स 1979-80	8 0	0 3	5 8 (1251 93 रु०)	2 3 (684 89 रु०)
5 श्रीमती इन्दिरा गांधी (दूसरा चरण)	1979-80 से 1983 84	17 2	3 4	14 4 (1772 14 रु०)	0 9 (700 73 रु०)